जैन धर्म और दर्शन

लेखक

मुनि नथमल

•

प्रबन्ध-सम्पादक

छगनलाल शास्त्री

श्री तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में

जैन दर्शन ग्रन्थमाला : ग्यारहवाँ पुष्प

•

प्रकाशक— •
सेठ मन्नालालजी सुराना
मेमोरियल ट्रस्ट, ८१ सदर्न एवेन्यू,
कलकत्ता-२९

•

प्रबन्धक—
आदर्श साहित्य संघ
चूरू (राजस्थान)

•

प्रथम संस्करण : १०००
अगस्त, १९६०
मूल्य : आठ रुपये

•

मुद्रक—
रैफिल आर्ट प्रेस
३१ बड़तल्ला स्ट्रीट,
कलकत्ता-७

श्रीतुलसीचरणयोः

तवैव ज्ञानलेशोऽयं, यस्त्वया मह्यमर्पितः ।
तवैव कृतिरेषा तत्, तुभ्यमेव समर्प्यते ॥

—मुनिः नथमलः

प्रस्तावना

प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व' का संक्षिप्त रूप है। जिज्ञासा और रुचि के दो रूप होते हैं—संक्षिप्त और विस्तृत। कुछ लोग विस्तार से जानना चाहते हैं पर अवकाश के अभाव में उन्हें अपनी रुचि को संक्षिप्त करना पड़ता है। संक्षेप में सारा तत्त्व एक-दो शब्द में समाजाता है और विस्तार में उसकी जानकारी के लिए सारा शब्द-कोष भी पर्याप्त नहीं होता। संक्षेप और विस्तार आखिर सापेक्ष ही हैं। संक्षिप्त रुचि वाले तथा अवकाश की कमी की अनुभूति करने वाले लोगों के लिए इसे एक रूप दिया गया। जो इसका बृहद् रूप है, उससे अतिरिक्त इसमें कुछ नहीं है।

विद्वान् बैरिस्टर कालीप्रसाद खेतान ने सुझाया कि 'जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व' का संक्षिप्त रूप हो तो वह विद्यार्थियों के लिए अधिक उपयोगी होगा। थोड़े में उन्हें मुख्य-मुख्य जानकारी हो जाएगी। आचार्य श्री तुलसी ने उनके सुझाव को पसन्द किया। मुझे संकेत मिला और मैंने इस पुस्तक का रूप निश्चित कर दिया। इससे जिज्ञासा की परितृप्ति नहीं होगी किन्तु वह बढ़ेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

बाल निकेतन, राजसमंद।
आषाढ़ कृष्णा १३, सं० २०१७।

—मुनि नथमल

प्रज्ञापना

आज का युग संघर्षों, वादों और विवादों के झंझा वात से आक्रान्त है। मानव उत्तरोत्तर बहिर्द्रष्टा बनता जा रहा है। अन्तर्-दर्शन के लिए उसे अवकाश कहाँ? बहिर्दर्शन ने उसकी वृत्ति को संकीर्ण बना दिया। वह विविध समस्याओं में उलझा है।

इस वैषम्यपूर्ण वातावरण में जैन दर्शन की अपनी विशेष उपयोगिता है। वह आत्म-मार्जन का दर्शन है। व्यक्ति-व्यक्ति के अन्तरतम की परिशुद्धि और परिष्कृति उसका अभिप्रेत है। व्यक्ति के माध्यम द्वारा समष्टि तक अन्तर्-शुद्धि का संचार उसका विधि-क्रम है। इस प्रकार वह समस्याओं के मूल का उच्छेद करता है। मूल के उच्छिन्न होने पर शाखाएं कहाँ प्रसार पायेंगी? सारांश है—शान्ति, समता, मैत्री, सहिष्णुता, अशोषण के संचार का जैन दर्शन एक व्यवहार्य मार्ग देता है। अतएव अपेक्षित है, सत् की ओर उन्मुख प्रत्येक व्यक्ति उसका अनुशीलन करे, मनन करे, निदिध्यासन करे।

इस युग के महान् द्रष्टा, अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी के अन्तेवासी मुनिश्री नथमलजी की यह कृति, जो उन द्वारा रचित 'जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व' का संक्षिप्त रूप है, जैन संस्कृति और आदर्शों पर संक्षेप में प्रकाश डालनेवाला एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम है। तीर्थंकरों और मनीषियों द्वारा उपदिष्ट ज्ञान-विज्ञान के महोदधि का विलोडन कर मुनिश्री ने सार रूप में जो तत्त्व-नवनीत इस ग्रन्थ द्वारा उपस्थित किया है, निःसन्देह आत्म-दर्शन के निकट पहुँचने का यह एक सफल माध्यम है। विशेषतः जैन दर्शन के विद्यार्थियों के लिए यह ग्रन्थ मुनिश्री की एक बहुमूल्य देन है।

श्री तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह के अभिनन्दन में 'जैन धर्म और दर्शन' नामक इस ग्रन्थ के प्रकाशन का दायित्व सेठ मन्नालालजी सुराना मेमोरियल ट्रस्ट, कलकत्ता ने स्वीकार किया, यह अत्यन्त हर्ष का विषय है।

तेरापंथ का प्रसार, तत्सम्बन्धी साहित्य का प्रकाशन, अणुव्रत आन्दोलन का जन-जन में संचार ट्रस्ट के उद्देश्यों में से मुख्य हैं। इस ग्रन्थ के प्रकाशन द्वारा अपनी उद्देश्य-पूर्ति का जो स्पृहणीय कदम ट्रस्ट ने उठाया है, वह सर्वथा अभिनन्दनीय है।

जन-जन में सत्तत्त्व-प्रसार, नैतिक जागरण की प्रेरणा और जन-सेवा के उद्देश्य से चलने वाले इस ट्रस्ट के संस्थापन द्वारा प्रमुख समाजसेवी, साहित्यानुरागी श्री हनूतमलजी सुराना ने समाज के साधन-सम्पन्न महानुभावों के समक्ष एक अनुकरणीय कदम रखा है। इसके लिए उन्हें सादर धन्यवाद है।

आदर्श साहित्य संघ, जो सत्साहित्य के प्रकाशन एवं प्रचार-प्रसार का ध्येय लिए कार्य करता आरहा है, लोक-जीवन में अन्तर्-जागरण की प्रेरणा देने वाले इस महत्त्वपूर्ण प्रकाशन का प्रबन्ध-भार ग्रहण कर अत्यधिक प्रसन्नता अनुभव करता है।

आशा है, पाठकों को इस ग्रन्थ द्वारा जैन तत्त्व-दर्शन में प्रवेश पाने का मार्ग प्राप्त होगा।

सरदारशहर
श्रावण शुक्ला १५, २०१७

जयचन्दलाल दफ्तरी
व्यवस्थापक
आदर्श साहित्य संघ

विषयानुक्रमणिका

पहला खण्ड

परम्परा और कालचक्र

एक

जैन संस्कृति का प्राग् ऐतिहासिक काल

सामूहिक परिवर्तन

विश्व के कई भागों में काल की अपेक्षा से जो सामूहिक परिवर्तन होता है, उसे 'क्रम-ह्रासवाद' या 'क्रम-विकासवाद' कहा जाता है। काल के परिवर्तन से कभी उन्नति और कभी अवनति हुआ करती है। उस काल के मुख्यतया दो भाग होते हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी।

अवसर्पिणी में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान, आयुष्य, शरीर, सुख आदि पदार्थों की क्रमशः अवनति होती है।

उत्सर्पिणी में उक्त पदार्थों की क्रमशः उन्नति होती है। पर वह अवनति और उन्नति समूहापेक्षा से है, व्यक्ति की अपेक्षा से नहीं।

अवसर्पिणी की चरम सीमा ही उत्सर्पिणी का प्रारम्भ है और उत्सर्पिणी का अन्त अवसर्पिणी का जन्म है। क्रमशः यह काल-चक्र चलता रहता है।

प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के छह-छह भाग होते हैं :—

(१) एकान्त-सुषमा
(२) सुषमा
(३) सुषम-दुःषमा
(४) दुःषम-सुषमा
(५) दुःषमा
(६) दुःषम-दुःषमा

ये छह अवसर्पिणी के विभाग हैं। उत्सर्पिणी के छह विभाग इस व्यतिक्रम से होते हैं :—

(१) दुःषम-दुःषमा
(२) दुःषमा
(३) दुःषम-सुषमा
(४) सुषम-दुःषमा
(५) सुषमा
(६) एकान्त-सुषमा

आज हम अवसर्पिणी के पांचवें पर्व—दुःषमा में जी रहे हैं। हमारे युग का जीवन-क्रम एकान्त-सुषमा से शुरू होता है। उस समय भूमि स्निग्ध थी। वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अत्यन्त मनोज्ञ थे। मिट्टी का मिठास आज की चीनी से अनन्त-गुणा अधिक था। कर्म-भूमि थी किन्तु अभी कर्म-युग का प्रवर्तन नहीं हुआ था। पदार्थ अति स्निग्ध थे, इसलिए उस जमाने के लोग तीन दिन से थोड़ी-सी वनस्पति खाते और तृप्त हो जाते। खाद्य पदार्थ अप्राकृतिक नहीं थे। विकार बहुत कम थे, इसलिए उनका जीवन-काल बहुत लम्बा होता था। वे तीन पल्य तक जीते थे। अकाल मृत्यु कभी नहीं होती थी। वातावरण की अत्यन्त अनुकूलता थी। उनका शरीर तीन कोस ऊँचा होता था। वे स्वभाव से शान्त और सन्तुष्ट होते थे। यह चार कोड़ सागर का एकान्त सुखमय काल-विभाग बीत गया। तीन कोड़ाकोड़ सागर का दूसरा सुखमय भाग शुरू हुआ। इसमें भोजन दो दिन से होने लगा। जीवन-काल दो पल्य का हो गया और शरीर की ऊँचाई दो कोस की रह गई। इनकी कमी का कारण था भूमि और पदार्थों की स्निग्धता की कमी। काल और आगे बढ़ा। तीसरे सुख-दुखमय काल-विभाग में और कमी आ गई। एक दिन से भोजन होने लगा। जीवन का काल-मान एक पल्य हो गया और शरीर की ऊँचाई एक कोस की हो गई। इस युग की काल-मर्यादा थी एक कोड़ाकोड़ सागर। इसके अन्तिम चरण में पदार्थों की स्निग्धता में बहुत कमी हुई। सहज नियमन टूटने लगे, तब कृत्रिम व्यवस्था आई और इसी दौरान में कुलकर-व्यवस्था को जन्म मिला।

यह कर्म-युग के शैशव-काल की कहानी है। समाज-संगठन अभी हुआ नहीं था। यौगलिक व्यवस्था चल रही थी, एक जोड़ा ही सब कुछ होता था। न कुल था, न वर्ग और न जाति। समाज और राज्य की बात बहुत दूर थी। जन-संख्या कम थी। माता-पिता की मौत से दो या तीन मास पहले एक युगल जन्म लेता, वही दम्पति होता। विवाह-संस्था का उदय नहीं हुआ था। जीवन की आवश्यकताएं बहुत सीमित थीं। न खेती होती थी, न कपड़ा बनता था और न मकान बनते थे, उनके भोजन, वस्त्र और निवास के साधन कल्प-वृक्ष थे, शृंगार और आमोद-प्रमोद, विद्या, कला और विज्ञान का कोई नाम

नहीं जानता था। न कोई वाहन था और न कोई यात्री। गांव बसे नहीं थे। न कोई स्वामी था और न कोई सेवक। शासक और शासित भी नहीं थे। न कोई शोषक था और न कोई शोषित। पति-पत्नी या जन्य-जनक के सिवा सम्बन्ध जैसी कोई वस्तु ही नहीं थी।

धर्म और उसके प्रचारक भी नहीं थे, उस समय के लोग सहज धर्म के अधिकारी और शान्त-स्वभाव वाले थे। चुगली, निन्दा, आरोप जैसे मनोभाव जन्मे ही नहीं थे। हीनता और उत्कर्ष की भावनाएं भी उत्पन्न नहीं हुई थीं। लड़ने झगड़ने की मानसिक ग्रन्थियाँ भी नही बनी थीं। वे शस्त्र और शास्त्र दोनों से अनजान थे।

अब्रह्मचर्य सीमित था, मारकाट और हत्या नहीं होती थी। न संग्रह था, न चोरी और न असत्य। वे सदा सहज आनन्द और शान्ति में लीन रहते थे।

काल-चक्र का पहला भाग (अर) बीता। दूसरा और तीसरा भी लगभग बीत गया।

सहज समृद्धि का क्रमिक ह्रास होने लगा। भूमि का रस चीनी से अनन्त-गुणा मीठा था, वह कम होने लगा। उसके वर्ण, गन्ध और स्पर्श की श्रेष्ठता भी कम हुई।

युगल मनुष्यों के शरीर का परिमाण भी घटता गया। तीन, दो और एक दिन के बाद भोजन करने की परम्परा भी टूटने लगी। कल्प-वृक्षों की शक्ति भी क्षीण हो चली।

यह यौगलिक व्यवस्था के अन्तिम दिनो की कहानी है।

कुलकर-व्यवस्था

असंख्य वर्षों के बाद नए युग का आरम्भ हुआ। यौगलिक व्यवस्था धीरे-धीरे टूटने लगी। दूसरी कोई व्यवस्था अभी जन्म नहीं पाई। संक्रान्ति-काल चल रहा था। एक ओर आवश्यकता-पूर्ति के साधन कम हुए तो दूसरी ओर जन-संख्या और जीवन की आवश्यकताएं कुछ बढ़ीं। इस स्थिति में संघर्ष और लूट-खसोट होने लगी। परिस्थिति की विवशता ने क्षमा,

सौम्य आदि सहज गुणों में परिवर्तन ला दिया। अपराधी मनोवृत्ति का बीज अंकुरित होने लगा।

अपराध और अव्यवस्था ने उन्हे एक नई व्यवस्था के निर्माण की प्रेरणा दी। उसके फलस्वरूप 'कुल' व्यवस्था का विकास हुआ। लोग 'कुल' के रूप में संगठित होकर रहने लगे। उन कुलो का एक मुखिया होता, वह कुलकर कहलाता। उसे दण्ड देने का अधिकार होता। वह सब कुलों की व्यवस्था करता, उनकी सुविधाओं का ध्यान रखता और लूट-खसोट पर नियन्त्रण रखता—यह शासन-तन्त्र का ही आदि रूप था। सात या चौदह कुलकर आए। उनके शासन-काल में तीन नीतियो का प्रवर्तन हुआ। सबसे पहले "हाकार" नीति का प्रयोग हुआ। आगे चलकर वह असफल हो गई तब "माकार" नीति का प्रयोग चला। उसके असफल होने पर "धिक्कार" नीति चली।

उस युग के मनुष्य अति-मात्र ऋजु, मर्यादा-प्रिय और स्वयं शासित थे। खेद-प्रदर्शन, निषेध और तिरस्कार—ये मृत्यु-दण्ड से अधिक होते।

मनुष्य प्रकृति से पूरा भला ही नही होता और पूरा बुरा ही नही होता। उसमें भलाई और बुराई दोनो के बीज होते हैं। परिस्थिति का योग पा वे अंकुरित हो उठते हैं। देश, काल, पुरुषार्थ, कर्म और नियति की सह-स्थिति का नाम है परिस्थिति। वह व्यक्ति की स्वभाव गत वृत्तियो की उत्तेजना का हेतु बनती है। उससे प्रभावित व्यक्ति बुरा या भला बन जाता है।

जीवन की आवश्यकताएं कम थीं, उसके निर्वाह के साधन सुलभ थे। उस समय मनुष्य को संग्रह करने और दूसरो द्वारा अधिकृत वस्तु को हड़पने की बात नही सूझी। इनके बीज उसमें थे, पर उन्हे अंकुरित होने का अवसर नही मिला।

ज्यों ही जीवन की थोड़ी आवश्यकताएं बढ़ीं, उसके निर्वाह के साधन कुछ दुर्लभ हुए कि लोगों में संग्रह और अपहरण की भावना उभर आई। जब तक लोग स्वयं शासित थे, तब तक बाहर का शासन नही था। ज्यो-ज्यो स्वगत-शासन टूटता गया, त्यों-त्यों बाहरी शासन बढ़ता गया—यह कार्य-कारणवाद और एक के चले जाने पर दूसरे के विकसित होने की कहानी है।

विवाह-पद्धति

नाभि अन्तिम कुलकर थे। उनकी पत्नी का नाम था—'मरुदेवा'। उनके पुत्र का जन्म हुआ। उनका नाम रखा गया 'उसभ' या 'ऋषभ'। इनका शैशव बदलते हुए युग का प्रतीक था। युगल के एक साथ जन्म लेने और मरने की सहज-व्यवस्था भी शिथिल हो गई। उन्हीं दिनों एक युगल जन्मा, थोड़े समय बाद पुरुष चल बसा। स्त्री अकेली रह गई। इधर ऋषभ युवा हो गए। उनने परम्परा के अतिरिक्त उस कन्या को स्वयं ब्याहा—यहीं से विवाह-पद्धति का उदय हुआ। इसके बाद लोग अपनी सहोदरी के सिवा भी दूसरी कन्याओं से विवाह करने लगे।

समय ने करवट ली। आवश्यकता-पूर्ति के साधन सुलभ नहीं रहे। यौगलिकों में क्रोध, अभिमान, माया और लोभ बढ़ने लगे। हाकार, माकार और धिक्कार-नीतियों का उल्लंघन होने लगा। समर्थ शासक की मांग हुई।

कुलकर व्यवस्था का अन्त हुआ। ऋषभ पहले राजा बने। उन्होंने अयोध्या को राजधानी बनाया। गाँवों और नगरों का निर्माण हुआ। लोग अरण्य-वास से हट भवन-वासी बन गए। ऋषभ की क्रान्तिकारी और जन्मजात प्रतिभा से लोग नए युग के निर्माण की ओर चल पड़े।

ऋषभदेव ने उग्र, भोग, राजन्य और क्षत्रिय—ये चार वर्ग स्थापित किए। आरक्षक वर्ग 'उग्र' कहलाया। मंत्री आदि शासन को चलाने वाले 'भोग', राजा के समस्थिति के लोग 'राजन्य' और शेष 'क्षत्रिय' कहलाए।

खाद्य-समस्या का समाधान

कुलकर युग में लोगों की भोजन-सामग्री थी—कन्द, मूल, पत्र, पुष्प और फल[१]। बढ़ती हुई जन-संख्या के लिए कन्द आदि पर्याप्त नहीं रहे और वन-वासी लोग गृह-वासी होने लगे। तब अनाज खाना सीखा। वे पकाना नहीं जानते थे और न उनके पास पकाने का कोई साधन था। वे कच्चा अनाज खाते थे। समय बदला। कच्चा अनाज दुष्पाच्य हो गया। लोग ऋषभदेव के पास पहुँचे और अपनी समस्या का उनसे समाधान मांगा। ऋषभदेव ने को हाथों से घिसकर खाने की सलाह दी। लोगों ने वैसा ही कि...

समय बाद वह विधि भी असफल होने लगी। ऋषभदेव अग्नि की बात जानते थे। किन्तु वह काल एकान्त स्निग्ध था। वैसे काल में अग्नि उत्पन्न हो नहीं सकती। एकान्त स्निग्ध और एकान्त रूक्ष--दोनो काल अग्नि की उत्पत्ति के योग्य नहीं होते। समय के चरण आगे बढ़े। काल स्निग्ध-रूक्ष बना तब वृक्षों की टक्कर से अग्नि उत्पन्न हुई, वह फैली। बन जलने लगे। लोगो ने उस अपूर्व वस्तु को देखा और उसकी सूचना ऋषभदेव को दी। उनने पात्र-निर्माण और पाक-विद्या सिखाई। खाद्य-समस्या का समाधान हो गया।

अध्ययन और विकास

राजा ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को ७२ कलाएं सिखाई। बाहुबली को प्राणी की लक्षण-विद्या का उपदेश दिया। बड़ी पुत्री ब्राह्मी को १८ लिपियों और सुन्दरी को गणित का अध्ययन कराया। धनुर्वेद, अर्थ-शास्त्र, चिकित्सा, क्रीड़ा-विधि आदि आदि का प्रवर्तन कर लोगो को सुव्यवस्थित और सुसंस्कृत बना दिया।

अग्नि की उत्पत्ति ने विकास का स्रोत खोल दिया। पात्र, औजार, वस्त्र, चित्र आदि-आदि शिल्प का जन्म हुआ। अन्न-पाक के लिए पात्र-निर्माण आवश्यक हुआ। कृषि, गृह-निर्माण आदि के लिए औजार आवश्यक थे, इसलिए लोहकार-शिल्प का आरम्भ हुआ। वस्त्र-वृक्षों की कमी ने वस्त्र-शिल्प और गृहाकार कल्प-वृक्षों की कमी ने गृह-शिल्प को जन्म दिया।

नख, केश आदि काटने के लिए नापित-शिल्प (क्षौर-कर्म) का प्रवर्तन हुआ। इन पांचों शिल्पों का प्रवर्तन अग्नि की उत्पत्ति के बाद हुआ।

कृषिकार, व्यापारी और रक्षक-वर्ग भी अग्नि की उत्पत्ति के बाद बने। कहा जा सकता है—अग्नि ने कृषि के उपकरण, आयात्त-निर्यात के साधन और अस्त्र-शस्त्रों को जन्म दे मानव के भाग्य को बदल दिया[२]।

पदार्थ बढ़े, तब परिग्रह में ममता बढ़ी,[३] संग्रह होने लगा। कौटुम्बिक ममत्व भी बढ़ा[४]। लोकैषणा और धनैषणा के भाव जाग उठे।

राज्यतंत्र और दण्डनीति

कुलकर व्यवस्था में तीन दण्ड-नीतियां प्रचलित हुईं। पहले कुलकर

विमलवाहन के समय में 'हाकार' नीति का प्रयोग हुआ। उस समय के मनुष्य स्वयं अनुशासित और लज्जाशील थे। "हा ! तूने यह क्या किया," ऐसा कहना गुरुतर दण्ड था।

दूसरे कुलकर चक्षुष्मान् के समय भी यही नीति चली।

तीसरे और चौथे—यशस्वी और अभिचन्द्र कुलकर के समय में छोटे अपराध के लिए 'हाकार' और बड़े अपराध के लिए 'माकार' (मत करो) नीति का प्रयोग किया गया।

पांचवें, छठे और सातवें—प्रश्रेणि, मरुदेव और नाभि कुलकर के समय में 'धिक्कार' नीति और चली। छोटे अपराध के लिए 'हाकार,' मध्यम अपराध के लिए 'माकार' और बड़े अपराध के लिए 'धिक्कार' नीति का प्रयोग किया गया।

अभी नाभि का नेतृत्व चल ही रहा था। युगलों को जो कल्पवृक्षों से प्रकृति-सिद्ध भोजन मिलता था, वह अपर्याप्त हो गया। जो युगल शान्त और प्रसन्न थे, उनमें क्रोध का उदय होने लगा। आपस में लड़ने-झगड़ने लगे। 'धिक्कार' नीति का उल्लंघन होने लगा। जिन युगलों ने क्रोध, लड़ाई जैसी स्थितियां न कभी देखीं और न कभी सुनीं—वे इन स्थितियों से घबड़ा गए। वे मिले और ऋषभकुमार के पास पहुँचे और मर्यादा के उल्लंघन से उत्पन्न स्थिति का निवेदन किया। ऋषभ ने कहा—"इस स्थिति पर नियन्त्रण पाने के लिए राजा की आवश्यकता है।"

राजा कौन होता है ?—युगलों ने पूछा।

ऋषभ ने राजा का कार्य समझाया। शक्ति के केन्द्रीकरण की कल्पना उन्हें दी। युगलों ने कहा—"हम में आप सर्वाधिक समर्थ हैं। आप ही हमारे राजा बनें।"

ऋषभकुमार बोले—"आप मेरे पिता नाभि के पास जाइये, उनसे राजा की याचना कीजिए। वे आपको राजा देंगे।" वे चले, नाभि को सारी स्थिति से परिचित कराया। नाभि ने ऋषभ को उनका राजा घोषित किया। वे प्रसन्न हो लौट गए[४]।

ऋषभ का राज्याभिषेक हुआ। उन्होंने राज्य-संचालन के लिए नगर

बसाया। वह बहुत विशाल था और उसका निर्माण देवों ने किया था। उसका नाम रखा विनीता—अयोध्या। ऋषभ राजा बने। शेष जनता प्रजा बन गई। वे प्रजा का अपनी सन्तान की भाँति पालन करने लगे।

असाधु लोगो पर शासन और साधु लोगो की सुरक्षा के लिए उन्होंने अपना मन्त्रि-मण्डल बनाया।

चोरी, लूट-खसोट न हो, नागरिक जीवन व्यवस्थित रहे—इसके लिए उन्होंने आरक्षक-दल स्थापित किया।

राज्य की शक्ति को कोई चुनौती न दे सके, इसलिए उन्होंने चतुरंग सेना और सेनापतियों की व्यवस्था की[६]।

साम, दाम, भेद और दण्ड-नीति का प्रवर्त्तन किया[७]।

परिमाण—थोड़े समय के लिए नजरबन्द करना—क्रोधपूर्ण शब्दों में अपराधी को "यहीं बैठ जाओ" का आदेश देना।

मण्डल-बन्ध—नजरबन्द करना—नियमित क्षेत्र से बाहर जाने का आदेश देना।

चारक—कैद में डालना।

छविच्छेद—हाथ-पैर आदि काटना[८]।

ये चार दण्ड भरत के समय में चले। दूसरी मान्यता के अनुसार इनमें से पहले दो ऋषभ के समय में चले और अन्तिम दो भरत के समय[९]।

आवश्यक निर्युक्ति (गाथा २१७, २१८) के अनुसार बन्ध—(बेड़ी का प्रयोग) और घात—(डंडे का प्रयोग) ऋषभ के राज्य में प्रवृत्त हुए तथा मृत्यु-दण्ड भरत के राज्य में चला।

औषध को व्याधि का प्रतिकार माना जाता है—वैसे दण्ड अपराध का प्रतिकार माना जाने लगा[१०]। इन नीतियों में राज्यतन्त्र जमने लगा और अधिकारी चार भागों में बंट गए। आरक्षक-वर्ग के सदस्य 'उग्र', मन्त्रि-परिषद् के सदस्य 'भोग', परामर्शदात्री समिति के सदस्य या प्रान्तीय प्रतिनिधि 'राजन्य' और शेष कर्मचारी 'क्षत्रिय' कहलाए[११]।

ऋषभ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अपना उत्तराधिकारी चुना। यह क्रम राज्यतन्त्र का अंग बन गया। यह युगों तक विकसित होता रहा।

धर्म-तीर्थ-प्रवर्तन

कर्त्तव्य बुद्धि से लोक व्यवस्था का प्रवर्तन कर ऋषभदेव राज्य करने लगे। बहुत लम्बे समय तक वे राजा रहे। जीवन के अन्तिम भाग में राज्य त्याग कर वे मुनि बने। मोक्ष-धर्म का प्रवर्तन हुआ। यौगलिक काल में क्षमा, सन्तोष आदि सहज धर्म ही था। हजार वर्ष की साधना के बाद भगवान् ऋषभदेव को कैवल्य-लाभ हुआ। साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका—इन चार तीर्थों की स्थापना की। मुनि धर्म के पांच महाव्रत और गृहस्थ-धर्म के बारह व्रतों का उपदेश दिया। साधु-साध्वियों का संघ बना, श्रावक-श्राविकाएं भी बनी।

साम्राज्य-लिप्सा और युद्ध का प्रारम्भ

भगवान् ऋषभदेव कर्म-युग के पहले राजा थे। अपने सौ पुत्रों को अलग-अलग राज्यों का भार सौंप वे मुनि बन गए। सबसे बड़ा पुत्र भरत था। वह चक्रवर्ती सम्राट् बनना चाहता था। उसने अपने ९९ भाइयों को अपने अधीन करना चाहा। सबके पास दूत भेजे। ९८ भाई मिले। आपस में परामर्श कर भगवान् ऋषभदेव के पास पहुंचे। सारी स्थिति भगवान् के सामने रखी। द्विविधा की भाषा में पूछा—भगवन्! क्या करें? बड़े भाई से लड़ना नहीं चाहते और अपनी स्वतन्त्रता को खोना भी नहीं चाहते भाई भरत ललचा गया है। आपके दिये हुए राज्यों को वह वापिस लेना चाहता है। हम उससे लड़ें तो भ्रातृ-युद्ध की गलत परम्परा पड़ जाएगी। बिना लड़े राज्य सौंप दें तो साम्राज्य का रोग बढ़ जाएगा। परम पिता! इस द्विविधा से उबारिए। भगवान् ने कहा—पुत्रों! तुमने ठीक सोचा। लड़ना भी बुरा है और क्लीव बनना भी बुरा है। राज्य दो परों वाला पक्षी है। उसका मजबूत पर युद्ध है। उसकी उड़ान में पहले वेग होता है अन्त में थकान। वेग में से चिनगारियाँ उछलती हैं। उड़ाने वाले लोग उनसे जल जाते हैं। उड़ने वाला चलता-चलता थक जाता है। शेष रहती है निराशा और अनुताप। पुत्रों! तुम्हारी समझ सही है। युद्ध बुरा है—विजेता के लिए भी और पराजित के लिए भी। पराजित अपनी सत्ता को गंवा कर पछताता है और [illegible] कुछ नहीं पा कर पछताता है। प्रतिशोध की [illegible]

स्वयं न जले—यह कभी नहीं होता। राज्य रूपी पक्षी का दूसरा पर दुर्बल है। वह है कायरता। मैं तुम्हें कायर बनने की सलाह भी कैसे दे सकता हूँ? पुत्रो! मैं तुम्हें ऐसा राज्य देना चाहता हूँ, जिसके साथ लड़ाई और कायरता की कड़ियाँ जुड़ी हुई नहीं हैं।

भगवान् की आश्वासन भरी वाणी सुन वे सारे के सारे खुशी से झूम उठे। आशा-भरी दृष्टि से एक टक भगवान् की ओर देखने लगे। भगवान् की भावना को वे नहीं पकड़ सके। भौतिक जगत् की सत्ता और अधिकारों से परे कोई राज्य हो सकता है—यह उनकी कल्पना में नहीं समाया। उनकी किसी विचित्र भू-खण्ड को पाने की लालसा तीव्र हो उठी। भगवान् इसीलिए तो भगवान् थे कि उनके पास कुछ भी नहीं था। उत्सर्ग की चरम रेखा पर पहुँचने वाले ही भगवान् बनते हैं। संग्रह के चरम बिन्दु पर पहुंच कोई भगवान् बना हो—ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है।

भगवान् ने कहा—संयम का क्षेत्र निर्बाध राज्य है। इसे लो। न तुम्हें कोई अधीन करने आयेगा और न वहाँ युद्ध और कायरता का प्रसंग है।

पुत्रो ने देखा पिता उन्हें राज्य त्यागने की सलाह दे रहे हैं। पूर्व कल्पना पर पटाक्षेप हो गया। अकल्पित चित्र सामने आया। आखिर वे भी भगवान् के बेटे थे। भगवान् के मार्ग-दर्शन का सम्मान किया। राज्य को त्याग स्वराज्य की ओर चल पड़े। इस राज्य की अपनी विशेषताएं हैं। इसे पाने वाला सब कुछ पा जाता है। राज्य की मोहकता तब तक रहती है, जब तक व्यक्ति स्व-राज्य की सीमा में नहीं चला आता। एक संयम के बिना व्यक्ति सब कुछ पाना चाहता है। संयम के आने पर कुछ भी पाए बिना सब कुछ पाने की कामना नष्ट हो जाती है।

त्याग शक्तिशाली अस्त्र है। इसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। भरत का आक्रामक दिल पसीज गया। वह दौड़ा-दौड़ा आया। अपनी भूल पर पछतावा हुआ। भाइयों से क्षमा मांगी। स्वतन्त्रता पूर्वक अपना-अपना राज्य सम्हालने को कहा। किन्तु वे अब राज्य-लोभी सम्राट् भरत के भाई नहीं रहे थे। वे अकिञ्चन, जगत् के भाई बन चुके थे। भरत का भ्रातृ-प्रेम अब उन्हें नहीं ललचा सका। वे उसकी लालची आँखों को देख चुके थे। इसलिए उसकी

गीली आँखों का उन पर कोई असर नहीं हुआ। भरत हाथ मलते हुए घर लौट गया।

साम्राज्यवाद एक मानसिक प्यास है। वह उभरने के बाद सहसा नहीं बुझती। भरत ने एक-एक कर सारे राज्यों को अपने अधीन कर लिया। बाहुबलि को उसने नहीं छुआ। अट्ठानवें भाइयों के राज्य-त्याग को वह अब भी नहीं भूला था। अन्तर्द्वन्द्व चलता रहा। एकछत्र राज्य का सपना पूरा नहीं हुआ। असंयम का जगत् ही ऐसा है, जहाँ सब कुछ पाने पर भी व्यक्ति को अकिञ्चनता की अनुभूति होने लगती है।

क्षमा

दूत के मुंह से भरत का सन्देश सुन बाहुबलि की भृकुटि तन गई। दबा हुआ रोष उभर आया। कांपते ओठों से कहा—दूत! भरत अब भी भूखा है? अपने अट्ठानवें सगे भाइयों का राज्य हड़प कर भी तृप्त नहीं बना। हाय! यह कैसी हीन मनोदशा है। साम्राज्यवादी के लिए निषेध जैसा कुछ होता ही नहीं। मेरा बाहु-बल किससे कम है? क्या मैं दूसरे राज्यों को नहीं हड़प सकता? किन्तु यह मानवता का अपमान व शक्ति का दुरुपयोग और व्यवस्था का भंग है। मैं ऐसा कार्य नहीं कर सकता। व्यवस्था के प्रवर्तक हमारे पिता हैं। उनके पुत्रों को उसे तोड़ने में लज्जा का अनुभव होना चाहिए। शक्ति का प्राधान्य पशु-जगत् का चिह्न है। मानव-जगत् में विवेक का प्राधान्य होना चाहिए। शक्ति का सिद्धान्त पनपा तो बच्चों और बूढ़ों का क्या बनेगा? युवक उन्हें चट कर जाएंगे। रोगी, दुर्बल और अपंग के लिए यहाँ कोई स्थान नहीं रहेगा। फिर तो यह सारा विश्व रौद्र बन जाएगा। क्रूरता के साथी हैं, ज्वाला-स्फुलिंग, ताप और सर्वनाश। क्या मेरा भाई अभी-अभी समूचे जगत् को सर्वनाश की ओर ढकेलना चाहता है? आक्रमण एक उन्माद है। आक्रान्ता उससे बेभान हो दूसरों पर टूट पड़ता है।

भरत ने ऐसा ही किया। मैं उसे चुप्पी साधे देखता रहा। अब उस उन्माद के रोगी का शिकार मैं हूँ। हिंसा से हिंसा की आग नहीं बुझती—यह मैं जानता हूँ। आक्रमण को मैं अभिशाप मानता हूँ। किन्तु आक्रमणकारी को सहूँ—यह मेरी तितिक्षा से परे है। तितिक्षा मनुष्य के उदात्त चरित्र

की विशेषता है। किन्तु उसकी भी एक सीमा है। मैंने उसे निभाया है। तोडने वाला समझता ही नहीं तो आखिर जोडने वाला कब तक जोडे ?

भरत की विशाल सेना 'वहली' की सीमा पर पहुँच गई। इधर बाहुबलि अपनी छोटी-सी सेना सजा आक्रमण को विफल करने आगया। भाई-भाई के बीच युद्ध छिड़ गया। स्वाभिमान और स्वदेश-रक्षा की भावना से भरी हुई बाहुबलि की छोटी-सी सेना ने सम्राट् की विशाल सेना को भागने के लिए विवश कर दिया। सम्राट् के सेनानी ने फिर पूरी तैयारी के साथ आक्रमण किया। दुबारा भी मुंह की खानी पड़ी। लम्बे समय तक आक्रमण और बचाव की लड़ाइयां होती रहीं। आखिर दोनों भाई सामने आ खड़े हुए। तादात्म्य आँखों पर छा गया। संकोच के घेरे में दोनो ने अपने आपको छिपाना चाहा, किन्तु दोनो विवश थे। एक के सामने साम्राज्य के सम्मान का प्रश्न था, दूसरे के सामने स्वाभिमान का। विनय और वात्सल्य की मर्यादा को जानते हुए भी रण-भूमि में उतर आये। दृष्टि-युद्ध, मुष्टि-युद्ध आदि पांच प्रकार के युद्ध निर्णीत हुए। उन सब में सम्राट् पराजित हुआ। विजयी हुआ बाहुबलि। भरत को छोटे भाई से पराजित होना बहुत चुभा। वह आवेग को रोक न सका। मर्यादा को तोड़ बाहुबलि पर चक्र का प्रयोग कर डाला। इस अप्रत्याशित घटना से बाहुबलि का खून उबल गया। प्रेम का स्रोत एक साथ ही सूख गया। बचाव की भावना से विहीन हाथ उठा तो सारे सन्न रह गए। भूमि और आकाश बाहुबलि की विरुदावलियों से गूंज उठे। भरत अपने अविचारित प्रयोग से लज्जित हो सिर झुकाए खड़ा रहा। सारे लोग भरत की भूल को भुला देने की प्रार्थना में लग गए।

एक साथ लाखों कण्ठों से एक ही स्वर गूंजा—"महान् पिता के पुत्र भी महान् होते हैं। सम्राट् ने अनुचित किया पर छोटे भाई के हाथ से बड़े भाई की हत्या और अधिक अनुचित कार्य होगा ? महान् ही क्षमा कर सकता है। क्षमा करने वाला कभी छोटा नहीं होता। महान् पिता के महान् पुत्र ! हमें क्षमा कीजिए, हमारे सम्राट् को क्षमा कीजिए।" इन लाखों कण्ठों की विनम्र स्वर-लहरियों ने बाहुबलि के शौर्य को मार्गान्तरित कर दिया। बाहुबलि ने अपने आपको सम्हाला। महान् पिता की स्मृति ने वेग का

शमन किया। उठा हुआ हाथ विफल नहीं लौटता। उसका प्रहार भरत पर नहीं हुआ। वह अपने सिर पर लगा। सिर के बाल उखाड़ फैंके और अपने पिता के पथ की ओर चल पड़ा।

विनय

बाहुबलि के पैर आगे नहीं बढ़े। वे पिता की शरण में चले गए पर उनके पास नहीं गए। अहंकार अब भी बच रहा था। पूर्व दीक्षित छोटे भाइयों को नमस्कार करने की बात याद आते ही उनके पैर रुक गए। वे एक वर्ष तक ध्यान-मुद्रा में खड़े रहे। विजय और पराजय की रेखाएं अनगिनत होती हैं। असंतोष पर विजय पाने वाले बाहुबलि अहं से पराजित हो गए। उनका त्याग और क्षमा उन्हें आत्म-दर्शन की ओर ले गए। उनके अहं ने उन्हें पीछे ढकेल दिया। बहुत लम्बी ध्यान-मुद्रा के उपरांत भी वे आगे नहीं बढ़ सके।

"ये पैर स्तब्ध क्यों हो रहे हैं? सरिता का प्रवाह रुक क्यों रहा है? इन चट्टानों को पार किए बिना साध्य पूरा होगा?" ये शब्द बाहुबलि के कानों को बींध हृदय को पार कर गए। बाहुबलि ने आँखें खोलीं। देखा, ब्राह्मी और सुन्दरी सामने खड़ी हैं। बहिनों की विनम्र-मुद्रा को देख उनकी आँखें झुक गईं। अवस्था से छोटे-बड़े की मान्यता एक व्यवहार है। वह सार्वभौम सत्य नहीं है। ये मेरे पैर गणित के छोटे से प्रश्न में उलझ गए। छोटे भाइयों को मैं नमस्कार कैसे करूँ—इस तुच्छ चिन्तन में मेरा महान् साध्य विलीन हो गया। अवस्था लौकिक मानदण्ड है। लोकोत्तर जगत् में छुटपन और बड़प्पन के मानदण्ड बदल जाते हैं। वे भाई मुझसे छोटे नहीं हैं। उनका चारित्र विशाल है। मेरे अहं ने मुझे और छोटा बना दिया। अब मुझे अविलम्ब भगवान् के पास चलना चाहिए।

पैर उठे कि बन्धन टूट पड़े। नम्रता के उत्कर्ष में समता का प्रवाह बह चला। वे केवली बन गए। सत्य का साक्षात् ही नहीं हुआ, वे स्वयं सत्य बन गए। शिव अब उनका साध्य नहीं रहा, वे स्वयं शिव बन गए। आनन्द अब उनके लिए प्राप्य नहीं रहा, वे स्वयं आनन्द बन गए।

अनासक्त योग

भरत अब असहाय जैसा हो गया। भाई जैसा शब्द उसके लिए अर्थ-वान् नहीं रहा। वह सम्राट् बना रहा किन्तु उसका हृदय अब साम्राज्य-वादी नहीं रहा। पदार्थ मिलते रहे पर आसक्ति नहीं रही। वह उदासीन भाव से राज्य-संचालन करने लगा।

भगवान् अयोध्या आये। प्रवचन हुआ। एक प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—"भरत मोक्ष-गामी है।" एक सदस्य भगवान् पर बिगड़ गया और उन पर पुत्र के पक्षपात का आरोप लगाया। भरत ने उसे फांसी की सजा दे दी। वह घबड़ा गया। भरत के पैरों में गिर पड़ा और अपराध के लिए क्षमा मांगी। भरत ने कहा—तैल भरा कटोरा लिए सारे नगर में घूम आओ। तैल की एक बूँद नीचे न डालो तो तुम छूट सकते हो। दूसरा कोई विकल्प नहीं है।

अभियुक्त ने वैसा ही किया। बड़ी सावधानी से नगर में घूम आया और सम्राट् के सामने प्रस्तुत हुआ।

सम्राट् ने पूछा—नगर में घूम आए? जी, हाँ। अभियुक्त ने सफलता के भाव से कहा।

सम्राट्—नगर में कुछ देखा तुमने?

अभियुक्त—नहीं, सम्राट्! कुछ भी नहीं देखा।

सम्राट्—कई नाटक देखे होंगे?

अभियुक्त—जी, नहीं। मौत के सिवाय कुछ भी नहीं देखा।

सम्राट्—कुछ गीत तो सुने होंगे?

अभियुक्त—सम्राट् की साक्षी से कहता हूँ, मौत की गुनगुनाहट के सिवा कुछ भी नहीं सुना।

सम्राट्—मौत का इतना डर?

अभियुक्त—सम्राट् इसे क्या जाने? यह मृत्यु-दण्ड पाने वाला ही समझ सकता है।

सम्राट्—क्या सम्राट् अमर रहेगा? कभी नहीं। मौत के मुंह से कोई नहीं बच सकता, तुम एक जीवन की मौत से डर गए। न तुमने नाटक देखे और

न गीत सुने। मैं मौत की लम्बी परम्परा से परिचित हूँ। यह साम्राज्य मुझे नहीं लुभा सकता।

सम्राट् की करुणापूर्ण आँखों ने अभियुक्त को अभय बना दिया। मृत्यु-दंड उसके लिए केवल शिक्षा-प्रद था। सम्राट् की अमरत्व-निष्ठा ने उसे मौत से सदा के लिए उबार लिया।

श्रामण्य की ओर

सम्राट् भरत नहाने को थे। स्नान-घर में गए, अंगूठी खोली। अंगुली की शोभा घट गई। फिर उसे पहना, शोभा बढ़ गई। पर पदार्थ से शोभा बढ़ती है, यह सौन्दर्य कृत्रिम है—इस चिन्तन में लगे और लगे सहज सौन्दर्य को ढूँढ़ने। भावना का प्रवाह आगे बढ़ा। कर्म-मल को धो डाला। क्षणों में ही मुनि बने, वीतराग बने और केवली बने। भावना की शुद्धि ने व्यवहार की सीमा तोड़ दी। न वेष बदला, न राज-प्रासाद से बाहर निकले, किन्तु इनका आन्तरिक संयम इनसे बाहर निकल गया और वे पिता के पथ पर चल पड़े।

ऋषभदेव के पश्चात्

काल का चौथा 'दुःख-सुखमय' चरण आया। बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ सागर तक रहा। इस अवधि में कर्म-क्षेत्र का पूर्ण विकास हुआ और धर्म-सम्प्रदाय भी बहुत फले-फूले। जैन धर्म के बीस तीर्थङ्कर और हुए, यह सारा दर्शन प्राग्-ऐतिहासिक युग का है। इतिहास अनन्त—अतीत की चरण-धूलि को भी नहीं छू सका है। वह पांच हजार वर्ष को भी कल्पना की आँख से देख पाता है।

सौराष्ट्र की आध्यात्मिक चेतना

बौद्ध साहित्य का जन्म-काल महात्मा बुद्ध के पहले का नहीं है। जैन साहित्य का विशाल भाग भगवान् महावीर के पूर्व का नहीं है। पर थोड़ा भाग भगवान् पार्श्व की परम्परा का भी उसीमें मिश्रित है, यह बहुत संभव है। भगवान् अरिष्टनेमि की परम्परा का साहित्य उपलब्ध नहीं है।

वेदों का अस्तित्व ५ हजार वर्ष प्राचीन माना जाता है। उपलब्ध-साहित्य श्रीकृष्ण के युग का उत्तरवर्ती है। इस साहित्यिक उपलब्धि द्वारा कृष्ण-युग तक का एक रेखा-चित्र खींचा जा सकता है। उससे पूर्व की स्थिति सुदूर अतीत में चली जाती है।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु घोर आंगिरस ऋषि थे[१२]।

जैन आगमों के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि थे[१३]। घोर आंगिरस ने श्रीकृष्ण को जो धारणा का उपदेश दिया है, वह विचार जैन-परम्परा से भिन्न नहीं है। तू अक्षित-अक्षय है, अच्युत-अविनाशी है और प्राण-संशित—अतिसूक्ष्मप्राण है। इस त्रयी को सुन कर श्रीकृष्ण अन्य विद्याओं के प्रति तृष्णा-हीन हो गए[१४]। वेदों में आत्मा की स्थिर मान्यता का प्रतिपादन नहीं है। जैन दर्शन आत्मवाद की भित्ति पर ही अवस्थित है[१५]। संभव है अरिष्टनेमि ही वैदिक साहित्य में आंगिरस के रूप में उल्लिखित हुए हों अथवा वे अरिष्टनेमि के ही विचारों से प्रभावित कोई दूसरे व्यक्ति हों।

कृष्ण और अरिष्टनेमि का पारिवारिक सम्बन्ध भी था। अरिष्टनेमि समुद्र-विजय और कृष्ण वसुदेव के पुत्र थे। समुद्रविजय और वसुदेव सगे भाई थे। कृष्ण ने अरिष्टनेमि के विवाह के लिए प्रयत्न किया[१६]। अरिष्टनेमि की दीक्षा के समय वे उपस्थित थे[१७]। राजिमती को भी दीक्षा के समय में उन्होंने भावुक शब्दों में आशीर्वाद दिया[१८]।

कृष्ण के प्रिय अनुज गजसुकुमार ने अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ली[१९]।

कृष्ण की ८ पत्नियां अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित हुईं[२०]। कृष्ण के पुत्र और अनेक पारिवारिक लोग अरिष्टनेमि के शिष्य बने[२१]। अरिष्टनेमि के और कृष्ण के वार्तालापों, प्रश्नोत्तरों और विविध चर्चाओं के अनेक उल्लेख मिलते हैं[२२]।

वेदों में कृष्ण के देव-रूप की चर्चा नहीं है। छान्दोग्य उपनिषद में भी कृष्ण के यथार्थ रूप का वर्णन है[२३]। पौराणिक काल में कृष्ण का रूप-परिवर्तन होता है। वे सर्व-शक्तिमान् देव बन जाते हैं। कृष्ण के यथार्थ-रूप का

वर्णन जैन आगमों में मिलता है[२४]। अरिष्टनेमि और उनकी वाणी से वे प्रभावित थे, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

उस समय सौराष्ट्र की आध्यात्मिक चेतना का आलोक समूचे भारत को आलोकित कर रहा था।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष हैं। उनका तीर्थ-प्रवर्तन भगवान् महावीर से २५० वर्ष पहले हुआ। भगवान् महावीर के समय तक उनकी परम्परा अविच्छिन्न थी। भगवान् महावीर के माता-पिता भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। भगवान् महावीर ने समय की मांग को पहचान पंच महाव्रत का उपदेश दिया। भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य भगवान् महावीर व उनके शिष्यों से मिले, चर्चाएं कीं और अन्ततः पंचयाम स्वीकार कर भगवान् महावीर के तीर्थ में सम्मिलित हो गए।

धर्मानन्द कौसम्बी ने भगवान् पार्श्व के बारे में कुछ मान्यताएं प्रस्तुत की हैं[1] :—

"ज्यादातर पाश्चात्य पण्डितों का यह मत है कि जैनों के २३ वें तीर्थंकर पार्श्व ऐतिहासिक व्यक्ति थे। उनके चरित्र में भी काल्पनिक बातें हैं। पर वे पहले तीर्थंकरों के चरित्र में जो बातें हैं, उनसे बहुत कम हैं। पार्श्व का शरीर ६ हाथ लम्बा था। उनकी आयु १०० वर्ष की थी। सोलह हजार साधु-शिष्य, अड़तीस हजार साध्वी-शिष्या, एक लाख चौंसठ हजार श्रावक तथा तीन लाख उनतालीस हजार श्राविकाएं इनके पास थीं। इन सब बातों में जो मुख्य ऐतिहासिक बात है, वह यह है कि चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान के जन्म के एक सौ अठहत्तर साल पहले पार्श्व तीर्थंकर का परिनिर्वाण हुआ।

वर्धमान या महावीर तीर्थंकर बुद्ध के समकालीन थे, इस बात को सब लोग जानते हैं। बुद्ध का जन्म वर्धमान के जन्म के कम से कम १५ साल बाद हुआ होगा। इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्ध का जन्म तथा पार्श्व तीर्थंकर का परिनिर्वाण इन दोनों में १९३ साल का अन्तर था। मरने से पूर्व लगभग ५० साल तो पार्श्व तीर्थंकर उपदेश देते रहे होंगे। इस प्रकार बुद्ध-जन्म के करीब दो सौ तैंतालीस वर्ष पूर्व पार्श्व मुनि ने उपदेश देना शुरू किया। निर्ग्रन्थ श्रमणों का संघ भी पहले पहल उन्होंने स्थापित किया होगा।

ऊपर दिखाया जा चुका है कि परीचित का राज्य-काल बुद्ध से तीन शताब्दियों के पूर्व नहीं जा सकता[२]। परीचित के बाद जनमेजय गद्दी पर आया और उसने कुरु-देश में महायज्ञ कर वैदिक धर्म का झण्डा फहराया। इसी समय काशी-देश में पार्श्व एक नई संस्कृति की नींव डाल रहे थे। पार्श्व का जन्म वाराणसी नगर में अश्वसेन नामक राजा की वामा नामक रानी से हुआ। ऐसी कथा जैन ग्रन्थों में आई है[३]। उस समय राजा ही अधिकारी, जमींदार हुआ करता था। इसलिए ऐसे राजा के यह लड़का होना कोई असम्भव बात नही है। पार्श्व की नई संस्कृति काशी राज्य में अच्छी तरह टिकी रही होगी क्योंकि बुद्ध को भी अपने पहले शिष्यों को खोजने के लिए वाराणसी ही जाना पड़ा था।

पार्श्व का धर्म बिल्कुल सीधा साधा था। हिंसा, असत्य, स्तेय तथा परिग्रह—इन चार बातों के त्याग करने का वे उपदेश देते थे[४]। इतने प्राचीन काल में अहिंसा को इतना सुसम्बद्ध रूप देने का यह पहला ही उदाहरण है।

सिनाई पर्वत पर मोजेस को ईश्वर ने जो दश आज्ञाएं (Ten Commandments) सुनाईं, उनमें हत्या मत करो, इसका भी समावेश था। पर उन आज्ञाओं को सुन कर मोजेस और उनके अनुयायी पैलेस्टाइन में घुसे और वहां खून की नदियां बहाईं। न जाने कितने लोगों को कत्ल किया और न जाने कितनी युवती स्त्रियों को पकड़ कर आपस में बांट लिया। इन बातों को अहिंसा कहना हो तो फिर हिंसा किसे कहा जाय? तात्पर्य यह है कि पार्श्व के पहले पृथ्वी पर सच्ची अहिंसा से भरा हुआ धर्म या तत्त्व-ज्ञान था ही नहीं।

पार्श्व मुनि ने एक और भी बात की। उन्होंने अहिंसा को सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह—इन तीनों नियमों के साथ जकड़ दिया। इस कारण पहले जो अहिंसा ऋषि-मुनियों के आचरण तक ही थी और जनता के व्यवहार में जिसका कोई स्थान न था, वह अब इन नियमों के सम्बन्ध से सामाजिक एवं व्यावहारिक हो गई।

पार्श्व मुनि ने तीसरी बात यह की कि अपने नवीन धर्म के प्रचार के लिए उन्होंने संघ बनाए। बौद्ध साहित्य से इस बात का पता लगता है कि बुद्ध के

समय जो संघ विद्यमान थे, उन सबों में जैन साधु और साध्वियों का संघ सबसे बड़ा था।

पार्श्व के पहले ब्राह्मणों के बड़े-बड़े समूह थे, पर वे सिर्फ यज्ञ-याग का प्रचार करने के लिए ही थे। यज्ञ-याग का तिरस्कार कर उसका त्याग करके जंगलों में तपस्या करने वालों के संघ भी थे। तपस्या का एक अंग समझ कर ही वे अहिंसा धर्म का पालन करते थे पर समाज में उसका उपदेश नहीं देते थे। वे लोगों से बहुत कम मिलते-जुलते थे।

बुद्ध के समय जो श्रमण थे, उनका वर्णन आगे किया जाएगा। यहाँ पर इतना ही दिखाना है कि बुद्ध के पहले यज्ञ-याग को धर्म मानने वाले ब्राह्मण थे और उसके बाद यज्ञ-याग से ऊब कर जंगलों में जाने वाले तपस्वी थे। बुद्ध के समय ऐसे ब्राह्मण और तपस्वी न थे—ऐसी बात नहीं है। पर इन दो प्रकार के दोषों को देखने वाले तीसरे प्रकार के भी संन्यासी थे और उन लोगों में पार्श्व मुनि के शिष्यों को पहला स्थान देना चाहिए।"

जैन परम्परा के अनुसार चातुर्याम धर्म के प्रथम प्रवर्तक भगवान् अजित-नाथ और अन्तिम प्रवर्तक भगवान् पार्श्वनाथ हैं। दूसरे तीर्थंकर से लेकर तेईसवें तीर्थंकर तक चातुर्याम धर्म का उपदेश चला। केवल भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर ने पंच महाव्रत धर्म का उपदेश दिया। निर्ग्रन्थ श्रमणों के संघ भगवान् ऋषभदेव से ही रहे हैं, किन्तु वे वर्तमान इतिहास की परिधि से परे हैं। इतिहास की दृष्टि से कौशम्बीजी की संघ-बद्धता सम्बन्धी धारणा सच भी है।

भगवान् महावीर

संसार धुआ है। उसे खींचने वाले दो बैल हैं—जन्म और मौत। संसार का दूसरा पार्श्व है—मुक्ति। वहाँ जन्म और मौत दोनों नहीं। वह अमृत है। वह अमरत्व की साधना का साध्य है। मनुष्य किसी साध्य की पूर्ति के लिए जन्म नहीं लेता। जन्म लेना संसार की अनिवार्यता है। जन्म लेने वाले में योग्यता होती है, संस्कारों का संचय होता है। इसलिए वह अपनी योग्यता के अनुकूल अपना साध्य चुन लेता है। जिसके जैसा विवेक, उसके

वैसा ही साध्य और वैसी ही साधना—यह एक तथ्य है। इसका अपवाद कोई नहीं होता। भगवान् महावीर भी इसके अपवाद नहीं थे।

जन्म और परिवार

दुषमा-सुषमा (चतुर्थअर) पूरा होने में ७४ वर्ष ११ महीने ७॥ दिन बाकी थे। ग्रीष्म ऋतु थी। चैत्र का महीना था। शुक्ला त्रयोदशी की मध्य-रात्रि की वेला थी। उस समय भगवान् महावीर का जन्म हुआ। यह ई० पूर्व ५६६ की बात है। भगवान् की माता त्रिशला क्षत्रियाणी और पिता सिद्धार्थ थे। वे भगवान् पार्श्व की परम्परा के श्रमणोपासक थे। भगवान् की जन्म-भूमि क्षत्रिय कुण्डग्राम नगर था। वैशाली, वाणिज्यग्राम, ब्राह्मण-कुण्डनगर क्षत्रिय-कुण्डग्राम—जन्मभूमि के बारे में तीन मान्यताएं हैं[५]।

१—श्वेताम्बर-मान्यता

"प्राचीन मान्यतानुसार लखीसराय स्टेशन से नैऋत्य दक्षिण में १८ मील सिंकदरा से दक्षिण में २ मील, नवादा से पूर्व में ३८ मील और जमुई से पश्चिम में १४ मील दूर नदी के किनारे लछवाड़ गाँव है, जो लिच्छवियों की भूमि थी। यहाँ जैन पाठशाला है और भगवान् महावीर स्वामी का मन्दिर भी। लछवाड़ से दक्षिण में ३ मील पर नदी किनारे कुंडेघाट है। वहाँ भगवान् महावीर के दीक्षा-स्थान पर दो जैन मन्दिर हैं और भाथा तलहटी भी है। वहाँ से एक देवडा की, दो किंदुआ की, एक सकसकिया की और तीन चिकना की—ऐसी कुल सात पहाड़ी घाटियाँ हैं, जिन्हें पार करने पर ३ मील दूर 'जन्म-स्थान' नामक भूमि है। वहाँ भगवान् महावीर स्वामी का मन्दिर है। चिकना के चढ़ाव से पूर्व में ६ मील जाने पर लोधापानी नामक स्थान आता है। वहाँ शीतल जल का झरना है, पुराना पक्का कुआँ है, पुराने खंडहर हैं और टीला भी, जिसमें से पुरानी गजिया ईंटें मिलती हैं। वास्तव में यही भगवान् महावीर का 'जन्म-स्थान' है, जिसका दूसरा नाम 'क्षत्रियकुंड' है। किसी भी कारणवश क्यों न हो पर आज वहाँ पर कोई मन्दिर नहीं है बल्कि जहाँ मन्दिर है, वहाँ २५० वर्ष पहले भी वह था और उसके पूर्व में ३ कोस पर क्षत्रियकुंड-स्थान माना जाता था—यह उस समय की तीर्थ-भूमियों के उल्लेख

से बराबर जान सकते हैं। अर्थात् लोधापानी का स्थान ही असली चत्रिय-कुंड की भूमि है।"

२—दिगम्बर-मान्यता

कई बातों में दिगम्बर-संघ, श्वेताम्बर-संघ से बिलकुल अलग मत रखता है। वैसे ही कई एक तीर्थ-भूमियों के बारे में भी अपना अलग विचार रखता है। दिगम्बर सम्प्रदाय भगवान् महावीर का जन्म-स्थान कुँडपुर में मानता है पर उसका अर्थ 'कुँडलपुर' ही करते हैं। राजगृही व नालन्दा के पास आया कुँडलपुर ही उनकी वास्तविक जन्म-भूमि है।

श्वेताम्बर संघ इस कुँडलपुर को 'बडगाँव' के नाम से पहचानता है, जिसके दूसरे नाम गुब्बरगाँव (गुब्बर ग्राम) तथा कुँडलपुर हैं। संवत् १६६४ में यहाँ पर कुल १६ जिनालय थे, किन्तु आज केवल एक श्वेताम्बर जिनालय, धर्मशाला और उसके बीच का श्री गौतम स्वामी का पादुका-मन्दिर है।

दिगम्बर मान्यतानुसार नालन्दा स्टेशन से पश्चिम में २ मील पर आया कुँडलपुर ही भगवान् महावीर का जन्मस्थान—चत्रियकुण्ड है।

३—पाश्चात्य विद्वानों की मान्यता

"पाश्चात्य संशोधक विद्वद्-वर्ग चत्रियकुण्ड के विषय में तीसरा ही मत रखता है। उनका कहना है कि वैशाली नगरी, जिसका वर्तमान में वेसाउपट्टी नाम है अथवा उसका उपनगर ही वास्तविक चत्रियकुण्ड है।

सर्व प्रथम उपरोक्त मान्यता को डा० हर्मन जैकोबी तथा डा० ए० एफ० आर० हॉर्नले आदि ने करार दिया तथा पुरातत्त्ववेत्ता पंडित श्री कल्याण-विजयजी महाराज एवं इतिहास-तत्त्व-महोदधि आचार्य श्री विजयेन्द्र सूरिजी ने एक स्वर से अनुमोदन किया। फलतः यह मत संशोधित रूप में अधिक विश्वसनीय बनता जा रहा है।"

कोल्लाग-सन्निवेश—ये उसके पार्श्ववर्ती नगर और गांव थे।

त्रिशला वैशाली गणराज्य के प्रमुख चेटक की बहन थी। सिद्धार्थ चत्रिय-कुण्ड ग्राम के अधिपति थे।

भगवान् के बड़े भाई का नाम नन्दिवर्धन था। उनका विवाह चेटक की

पुत्री ज्येष्ठा के साथ हुआ था[६]। भगवान् के काका का नाम सुपार्श्व और बड़ी बहन का नाम सुदर्शना था[७]।

नाम और गोत्र

भगवान् जब त्रिशला के गर्भ में आए, तब से सम्पदाएँ बढ़ीं, इसलिए माता-पिता ने उनका नाम वर्धमान रखा[८]। वर्धमान ज्ञात नामक क्षत्रिय-कुल में उत्पन्न हुए, इसलिए कुल के आधार पर उनका नाम ज्ञात-पुत्र हुआ[९]।

साधना के दीर्घकाल में उन्होंने अनेक कष्टों का वीर-वृत्ति से सामना किया। अपने लक्ष्य से कभी भी विचलित नहीं हुए। इसलिए उनका नाम महावीर हुआ[१०]। यही नाम सबसे अधिक प्रचलित है।

सिद्धार्थ कश्यप-गोत्रीय क्षत्रिय थे[११]। पिता का गोत्र ही पुत्र का गोत्र होता है। इसलिए महावीर कश्यप-गोत्रीय कहलाए।

यौवन और विवाह

बाल-क्रीड़ा के बाद अध्ययन का समय आता है। तीर्थंकर गर्भ-काल से ही अवधि-ज्ञानी होते हैं। महावीर भी अवधि-ज्ञानी थे[१२]। वे पढ़ने के लिए गए। अध्यापक जो पढ़ाना चाहता था, वह उन्हें ज्ञात था। आखिर अध्यापक ने कहा—आप स्वयं सिद्ध हैं। आपको पढ़ने की आवश्यकता नहीं।

यौवन आया। महवीर का विवाह हुआ। वे सहज विरक्त थे। विवाह करने की उनकी इच्छा नहीं थी। पर माता-पिता के आग्रह से उन्होंने विवाह किया[१३]।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार महावीर अविवाहित ही रहे। श्वेताम्बर-साहित्य के अनुसार उनका विवाह क्षत्रिय-कन्या यशोदा के साथ हुआ[१४] उनके प्रियदर्शना नाम की एक कन्या हुई[१५]। उसका विवाह सुदर्शना के पुत्र (अपने भानजे) जमालि के साथ किया[१६]।

उनके एक शेषवती (दूसरा नाम यशस्वती) नाम की दौहित्री—धेवती हुई[१७]। वे घर में रहे पर उनकी वृत्तियाँ अनासक्त थीं।

महाभिनिष्क्रमण

वे जब २८ वर्ष के हुए तब उनके माता-पिता का स्वर्गवास होगया[१८]। उन्होंने तत्काल श्रमण बनना चाहा पर नन्दिवर्धन के आग्रह से वैसा हो न सका। उनने महावीर से घर में रहने का आग्रह किया। वे उसे टाल न सके। दो वर्ष तक फिर घर में रहे। यह जीवन उनका एकान्त-विरक्तिमय बीता। इस समय उन्होंने कच्चा जल पीना छोड़ दिया, रात्रि-भोजन नहीं किया और ब्रह्मचारी रहे[१९]।

३० वर्ष की अवस्था में उनका अभिनिष्क्रमण हुआ। वे अमरत्व की साधना के लिए निकल गए। आज से सब पाप-कर्म अकरणीय हैं—इस प्रतिज्ञा के साथ वे श्रमण बने[२०]।

शान्ति उनके जीवन का साध्य था। क्रान्ति था उसका सहचर परिणाम। उन्होंने बारह वर्ष तक शान्त, मौन और दीर्घ तपस्वी जीवन बिताया।

साधना और सिद्धि

जहाँ हित है, अहित है ही नहीं—ऐसा धर्म किसने कहा? जहाँ यथार्थवाद है, अर्थवाद है ही नहीं—ऐसा धर्म किसने कहा?

यह पूछा—श्रमणों ने, ब्राह्मणों ने, गृहस्थों ने और अन्यान्य दार्शनिकों ने जम्बू से और जम्बू ने पूछा—सुधर्मा से। यह प्रश्न अहित से तपे और अर्थवाद से ऊबे हुए लोगों का था।

जम्बू बोले—गुरुदेव! मेरी जिज्ञासाएं उभरती आ रही हैं। लोग भगवान् महावीर के धर्म को गहरी श्रद्धा से सुन रहे हैं। उनके जीवन के बारे में बड़े कुतूहल भरे प्रश्न पूछ रहे हैं। उनने मुझमें भी कुतूहल भर दिया है। मैं उनके जीवन का दर्शन चाहता हूँ। आपने उनको निकटता से देखा है, सुना है, निश्चय किया है, इसलिए मैं आपसे उनके ज्ञान, श्रद्धा और शील के बारे में कुछ सुनना चाहता हूँ।

सुधर्मा बोले—जम्बू! जिस धर्म से दूसरे लोगों को और मुझे महावीर के जीवन-दर्शन की प्रेरणा मिली है, उसका महावीर के पौद्गलिक जीवन से लगाव नहीं है।

आध्यात्मिक जगत् में ज्ञान, दर्शन, और शील की संगति ही जीवन है। भगवान् महावीर अनन्त ज्ञानी, अनन्त दर्शनी और खेदज्ञ थे—यह है उनके यशस्वी जीवन का दर्शन। जो दूसरों के खेद को नहीं जानता, वह अपने खेद को भी नहीं जानता। जो दूसरों की आत्मा में विश्वास नहीं करता, वह अपने आपमें भी विश्वास नहीं करता।

भगवान् महावीर ने आत्मा को आत्मा से तोला। वे आत्म-तुला के मूर्त्त-दर्शन थे। उनने खेद सहा, किन्तु किसी को खेद दिया नहीं। इसलिए वे खेदज्ञ थे। उनकी खेदज्ञता से धर्म का अजस्र प्रवाह बहा।

भगवान् महावीर का जीवन घटना-बहुल नहीं, तपस्या-बहुल है। वे दीर्घ तपस्वी थे। उनका जीवन-दर्शन धर्म का दर्शन है। धर्म उनकी वाणी का प्रवाह नहीं है। वह उनकी साधना से फूटा है।

उनने देखा—ऊपर, नीचे और बीच में सब जगह जीव हैं। वे चल भी हैं और अचल भी। वे नित्य भी हैं और अनित्य भी। आत्मा कभी अनात्मा नहीं होती, इसलिए वह नित्य है। पर्याय का विवर्त्त चलता रहता है, इसलिए वह अनित्य है। जन्म और मौत उसीके दो पहलू हैं। दोनों दुःख हैं, दुःख का हेतु विषमता है। विषमता का बीज है—राग और द्वेष। भगवान् ने समता धर्म का निरूपण किया। उसका मूल है—वीतराग-भाव।

भगवान् ने सबके लिए एक धर्म कहा। बड़ों के लिए भी और छोटों के लिए भी।

भगवान् ने क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद आदि सभी वादों को जाना और फिर अपना मार्ग चुना[२१]। वे स्वयं-सम्बुद्ध थे।
भगवान् निर्ग्रन्थ बनते ही अपनी जन्म-भूमि से चल पड़े। हेमन्त ऋतु था। भगवान् के पास केवल एक देव-दूष्य वस्त्र था। भगवान् ने नहीं सोचा कि सर्दी में मैं यह वस्त्र पहनूँगा। वे कष्ट-सहिष्णु थे। तेरह महीनों तक वह वस्त्र भगवान् के पास रहा। फिर उसे छोड़ भगवान् पूर्ण अचेल हो गए। वे पूर्ण अपरिग्रही थे।

काटने वाले कीड़े भगवान् को चार महीने तक काटते रहे। लहू पीते और मांस खाते रहे। भगवान् अडोल रहे। वे क्षमा-शूर थे।

भगवान् प्रहर-प्रहर तक किसी लक्ष्य पर आंखें टिका ध्यान करते। उस समय गांव के बाल-बच्चे उधर से आ निकलते और भगवान् को देखते ही हल्ला मचाते, चिल्लाते। फिर भी वे स्थिर रहते। वे ध्यान-लीन थे।

भगवान् को प्रतिकूल कष्टों की भांति अनुकूल कष्ट भी सहने पड़ते। भगवान् जब कभी जनाकीर्ण वस्ती में ठहरते, उनके सौन्दर्य से ललचा अनेक ललनायें उनका प्रेम चाहतीं। भगवान् उन्हें साधना की वाधा मान उनसे परहेज करते। वे स्व-प्रवेशी (आत्म-लीन) थे।

साधना के लिए एकान्तवास और मौन—ये आवश्यक हैं। जो पहले अपने को न साधे, वह दूसरों का हित नहीं साध सकता। स्वयं अपूर्ण पूर्णता का मार्ग नहीं दिखा सकता।

भगवान् गृहस्थों से मिलना-जुलना छोड़ ध्यान करते, पूछने पर भी नहीं बोलते। लोग घेरा डालते तो वे दूसरी जगह चले जाते।

कई आदमी भगवान् का अभिवादन करते। फिर भी वे उनसे नहीं बोलते। कई आदमी भगवान् को मारते-पीटते, किन्तु उन्हें भी वे कुछ नहीं कहते। भगवान् वैसी कठोरचर्या—जो सबके लिए सुलभ नहीं है, में रम रहे थे।

भगवान् असह्य कष्टों को सहते। कठोरतम कष्टों की वे परवाह नहीं करते। व्यवहार-दृष्टि से उनका जीवन नीरस था। वे नृत्य और गीतों में जरा भी नहीं ललचाते। दण्ड-युद्ध, मुष्टि-युद्ध आदि लड़ाइयाँ देखने को उत्सुक भी नही होते।

सहज आनन्द और आत्मिक चैतन्य जाग्रत नहीं होता, तब तक बाहरी उपकरणों के द्वारा आमोद पाने की चेष्टा होती है। जिनके चैतन्य का पर्दा खुल जाता है, सहज सुख का स्रोत फूट पड़ता है—वे नीरस होते ही नहीं। वे सदा समरस रहते हैं। बाहरी साधनों के द्वारा अन्तर के नीरस भाव को सरस बनाने का यत्न करनेवाले भले ही उसका मूल्य न आंक सकें।

भगवान् स्त्री-कथा, भक्त-कथा, देश-कथा और राज-कथा में भाग नहीं लेते। उन्हें मध्यस्थ भाव से टाल देते। ये सारे कष्ट अनुकूल और प्रतिकूल, जो साधना के पूर्ण विराम हैं, भगवान् को लक्ष्य-च्युत नहीं कर सके।

भगवान् ने विजातीय तत्त्वों (पुद्गल-आसक्ति) को न शरण दी और न उनकी शरण ली। वे निरपेक्ष भाव से जीते रहे।

निरपेक्षता का आधार वैराग्य-भावना है। राग-द्विष्ट आत्मा के साथ अपेक्षाएं जुड़ी रहती हैं। अपेक्षा का अर्थ है—दुर्बलता। व्यक्ति का सबल और दुर्बल होने का मापदण्ड अपेक्षाओं की न्यूनाधिकता है।

भगवान् श्रमण बनने से दो वर्ष पहले ही अपेक्षाओं को ठुकराने लगे। सजीव पानी पीना छोड़ दिया, अपना अकेलापन देखने लग गए, क्रोध, मान, माया और लोभ की ज्वाला को शान्त कर डाला। सम्यग्-दर्शन का रूप निखर उठा। पौद्गलिक आस्थाएं हिल गईं।

भगवान् ने मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और चर जीवों का अस्तित्व जाना। उन्हें सजीव मान उनकी हिंसा से विलग हो गए।

अचर जीव दूसरे जन्म में चर और चर जीव दूसरे जन्म में अचर हो सकते हैं। राग-द्वेष से बंधे हुए सब जीव सब प्रकार की योनियों में जन्म लेते रहते हैं।

यह संसार रंग-भूमि है। इसमें जन्म-मौत का अभिनय होता रहता है। भगवान् ने इस विचित्रता का चिन्तन किया और वे वैराग्य की दृढ़ भूमिका पर पहुँच गए।

भगवान् ने संसार के उपादान को ढूंढ निकाला। उसके अनुसार उपाधि-परिग्रह से बंधे हुए जीव ही कर्म-बद्ध होते हैं। कर्म ही संसार-भ्रमण का हेतु है। वे कर्मों के स्वरूप को जान उनसे अलग हो गए। भगवान् ने स्वयं अहिंसा को जीवन में उतारा। दूसरों को उसका मार्ग-दर्शन दिया। वासना को सर्व कर्म-प्रवाह का मूल मान भगवान् ने स्त्री-संग छोड़ा।

अहिंसा और ब्रह्मचर्य—ये दोनों साधना के आधारभूत तत्त्व हैं। अहिंसा अवैर साधना है। ब्रह्मचर्य जीवन की पवित्रता है। अवैर भाव के बिना आत्म-साम्य की अनुभूति और पवित्रता के बिना विकास का मार्ग-दर्शन नहीं हो सकता। इसलिए भगवान् ने उन पर बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से मनन किया।

भगवान् ने देखा—बन्ध कर्म से होता है। उनने पाप को ही नहीं, उसके मूल को ही उखाड़ फेंका।

भगवान् अपने लिए बनाया हुआ भोजन नहीं लेते। वे शुद्ध भिक्षा के द्वारा अपना जीवन चलाते। आहार का विवेक करना अहिंसा और ब्रह्मचर्य —इन दोनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जीव-हिंसा का हेतुभूत आहार जैसे सदोष होता है, वैसे ही ब्रह्मचर्य में बाधा डालने वाला आहार भी सदोष है। आहार की मीमांसा में अहिंसा-विशुद्धि के बाद ब्रह्मचर्य की विशुद्धि की ओर ध्यान देना सहज प्राप्त होता है। भगवान् आहार-पानी की मात्रा के जानकार थे। रस-गृद्धि से वे किनारा कसते रहे। वे जीमनवार में नहीं जाते और दुर्भिक्ष-भोजन भी नहीं लेते। उनने सरस भोजन का संकल्प तक नहीं किया। वे सदा अनासक्त और यात्रा-निर्वाह के लिए भोजन करते रहे। भगवान् ने अनासक्ति के लिए शरीर की परिचर्या को भी त्याग रखा था। वे खाज नहीं खनते। आंख को भी साफ नहीं करते। भगवान् संग-त्याग की दृष्टि से गृहस्थ के पात्र में खाना नहीं खाते और न उनके वस्त्र ही पहनते।

भगवान् का दृष्टि-संयम अनुत्तर था। वे चलते समय इधर-उधर नहीं देखते, पीछे नहीं देखते, बुलाने पर भी नहीं बोलते, सिर्फ मार्ग को देखते हुए चलते।

भगवान् प्रकृति-विजेता थे। वे सर्दी में नंगे बदन घूमते। सर्दी से डरे बिना हाथों को फैला कर चलते। भगवान् अप्रतिबन्धविहारी थे, परिव्राजक थे। बीच-बीच में शिल्प-शाला, सूना घर, झोपड़ी, प्रपा, दुकान, लोहकार-शाला, विश्राम-गृह, आराम-गृह, श्मशान, वृक्ष-मूल आदि स्थानों में ठहरते। इस प्रकार भगवान् बारह वर्ष और साढ़े छह मास तक कठोर चर्या का पालन करते हुए आत्म-समाधि में लीन रहे। भगवान् साधना-काल में समाहित हो गए। अपने आप में समा गए। भगवान् दिन रात यतमान रहते। उनका अन्तःकरण सतत क्रियाशील या आत्मान्वेषी हो गया।

भगवान् अप्रमत्त बन गए। वे भय और दोषकारक प्रवृत्तियों से हट सतत जागरूक बन गए।

ध्यान करने के लिए समाधि (आत्म-लीनता या चित्त-स्वास्थ्य), यतना और जागरूकता—ये सहज अपेक्षित हैं। भगवान् ने आत्मिक वातावरण को ध्यान के अनुकूल बना लिया। बाहरी वातावरण पर विजय पाना व्यक्ति के

सामर्थ्य की बात है, उसे बदलना उसके सामर्थ्य से परे भी हो सकता है। आत्मिक वातावरण बदला जा सकता है। भगवान् ने इस सामर्थ्य का पूरा उपयोग किया। भगवान् ने नींद पर भी विजय पाली। वे दिन-रात का अधिक भाग खड़े रह कर ध्यान में बिताते। विश्राम के लिए थोड़े समय लेटते, तब भी नींद नहीं लेते। जब कभी नींद सताने लगती तो भगवान् फिर खड़े होकर ध्यान में लग जाते। कभी-कभी तो सर्दी की रातों में घड़ियों तक बाहर रह कर नींद टालने के लिए ध्यान-मग्न हो जाते।

भगवान् ने पूरे साधना-काल में सिर्फ एक मुहूर्त तक नींद ली। शेष सारा समय ध्यान और आत्म-जागरण में बीता।

भगवान् तितिक्षा की परीक्षा-भूमि थे। चंड-कौशिक सांप ने उन्हें काट खाया। और भी सांप, नेवले आदि सरीसृप जाति के जन्तु उन्हें सताते। पक्षियों ने उन्हें नोचा।

भगवान् को मौन और शून्य गृह-वास के कारण अनेक कष्ट झेलने पड़े। ग्राम-रक्षक, राजपुरुष और दुष्कर्मा व्यक्तियों का कोप-भाजन बनना पड़ा। उनने कुछ प्रसंगो पर भगवान् को सताया, यातना देने का प्रयत्न किया।

भगवान् अबहुवादी थे। वे प्रायः मौन रहते। आवश्यकता होने पर भी विशेष नहीं बोलते। एकान्तस्थान में उन्हें खड़ा देख लोग पूछते—तुम कौन हो? तब भगवान् कभी-कभी बोलते। भगवान् के मौन से चिढ़ कर वे उन्हें सताते। भगवान् क्षमा-धर्म को स्व-धर्म मानते हुए सब कुछ सह लेते। वे अपनी समाधि (मानसिक सन्तुलन या स्वास्थ्य) को भी नहीं खोते।

कभी-कभी भगवान् प्रश्नकर्ता को संक्षिप्त-सा उत्तर भी देते। मैं भिक्षु हूँ, यह कह कर फिर अपने ध्यान में लीन हो जाते।

देवों ने भी भगवान् को अछूता नहीं छोड़ा। उनने भी भगवान् को घोर उपसर्ग दिए। भगवान् ने गन्ध, शब्द और स्पर्श सम्बन्धी अनेक कष्ट सहे।

सामान्य बात यह है कि कष्ट किसी के लिए भी इष्ट नहीं होता। स्थिति यह है कि जीवन में कष्ट आते हैं। फिर वे प्रिय लगें या न लगें। कुछ व्यक्ति कष्टों को विशुद्धि के लिए वरदान मान उन्हें हंस-हंस झेल लेते हैं। कुछ व्यक्ति

अधीर हो जाते हैं। अधीर को कष्ट सहन करना पड़ता है, धीर कष्ट को सहते हैं।

साधना का मार्ग इससे भी और आगे है। वहाँ कष्ट निमंत्रित किये जाते हैं। साधनाशील उन्हें अपने भवन का दृढ़ स्तम्भ मानते हैं। कष्ट आने पर साधना का भवन गिर न पड़े, इस दृष्टि से वह पहले ही उसे कष्टों के खंभों पर खड़ा करता है। जो जान-बूझ कर कष्टों को न्यौता दे, उसे उनके आने पर अरति और न आने पर रति नहीं हो सकती। अरति और रति—ये दोनों साधना की बाधाएं हैं। भगवान् महावीर इन दोनों को पचा लेते थे। वे मध्यस्थ थे।

मध्यस्थ वही होता है, जो अरति और रति की ओर न झुके।

भगवान् तृण-स्पर्श को सहते। तिनकों के आसन पर नंगे बदन बैठते और लेटते और नंगे पैर चलते तब वे चुभते। भगवान् उनकी चुभन से घबरा कर वस्त्र-धारी नहीं बने।

भगवान् ने शीत-स्पर्श सहा। शिशिर में जब ठण्डी हवाएं फुंकारें मारतीं लोग उनके स्पर्शमात्र से कांप उठते; दूसरे साधु पवन-शून्य (निर्वात) स्थान की खोज में लग जाते; और कपड़ा पहनने की बात सोचने लग पाते; कुछ तापस धूनी तप सर्दी से बचते; कुछ लोग ठिठुरते हुए किवाड़ को बन्द कर विश्राम करते; वैसी कड़ी और असह्य सर्दी में भी भगवान् शरीर-निरपेक्ष होकर खुले बरामदों और कभी-कभी खुले द्वार वाले स्थानों में बैठ उसे सहते।

भगवान् ने आतापनाएं लीं। सूर्य के सम्मुख होकर ताप सहा। वस्त्र न पहनने के कारण मच्छर व क्षुद्र जन्तु काटते। वे उसे समभाव से सह लेते।

भगवान् ने साधना की कसौटी चाही। वे वैसे जनपदों में गए, जहाँ के लोग जैन साधुओं से परिचित नहीं थे[२२]। वहां भगवान् ने स्थान और आसन सम्बन्धी कष्टों को हंसते-हंसते सहा। वहाँ के लोग रूक्षभोजी थे, इसलिए उनमें क्रोध की मात्रा अधिक थी। उसका फल भगवान् को भी सहना पड़ा। भगवान् वहाँ के लिए पूर्णतया अपरिचित थे, इसलिए कुत्ते भी उन्हें एक ओर से दूसरी ओर सुविधापूर्वक नहीं जाने देते। बहुत सारे कुत्ते भगवान् को घेर लेते। तब कुछ एक व्यक्ति ऐसे थे, जो उनको हटाते। बहुत से लोग ऐसे थे

जो कुत्तों को भगवान् को काटने के लिए प्रेरित करते। वहाँ जो दूसरे श्रमण थे, वे लाठी रखते, फिर भी कुत्तों के उपद्रव से मुक्त नहीं थे। भगवान् के पास अपने बचाव का कोई साधन नहीं था, फिर भी वे शान्तभाव से वहाँ घूमते रहे।

भगवान् का संयम अनुत्तर था। वे स्वस्थ दशा में भी अवमौदर्य करते (कम खाते), रोग होने पर भी वे चिकित्सा नहीं करते, औषध नहीं लेते। वे विरेचन, वमन, तैल-मर्दन, स्नान, दतौन आदि नहीं करते। उनका पथ इन्द्रिय के कांटो से अबाध था। कम खाना और औषध न लेना स्वास्थ्य के लिए हितकर है। भगवान् ने वह स्वास्थ्य के लिए नहीं किया। वे वही करते जो आत्मा के पक्ष में होता। उनकी सारी कठोरचर्या आत्म-लक्षी थी। अन्न-जल के बिना दो दिन, पक्ष, मास, छह मास बिताए। उत्कटुक, गोदोहिका आदि आसन किए, ध्यान किया, कषाय को जीता, आसक्ति को जीता, यह सब निरपेक्ष-भाव से किया। भगवान् ने मोह को जीता, इसलिए वे 'जिन' कहलाए। भगवान् की अप्रमत्त साधना सफल हुई।

ग्रीष्म ऋतु का वैशाख महीना था। शुक्ल दशमी का दिन था। छाया पूर्व की ओर ढल चुकी थी। पिछले पहर का समय, विजय मुहूर्त्त और उत्तराफाल्गुनी का योग था। उस वेला में भगवान् महावीर जंभियग्राम नगर के बाहर ऋजुबालिका नदी के उत्तर किनारे श्यामक गाथापति की कृषि-भूमि में व्यावृत नामक चैत्य के निकट, शाल-वृक्ष के नीचे 'गोदोहिका' आसन में बैठे हुए ईशानकोण की ओर मुंह कर सूर्य का आताप ले रहे थे।

दो दिन का निर्जल उपवास था। भगवान् शुक्ल ध्यान में लीन थे। ध्यान का उत्कर्ष बढ़ा। क्षपक श्रेणी ली। भगवान् उत्क्रान्त बन गए। उत्क्रान्ति के कुछ ही क्षणों में वे आत्म-विकास की आठ, नौ और दशवीं भूमिका को पार कर गए। बारहवीं भूमिका में पहुंचते ही उनके मोह का बन्धन पूर्णांशतः टूट गया। वे वीतराग बन गए। तेरहवीं भूमिका का प्रवेश-द्वार खुला। वहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय के बन्धन भी पूर्णांशतः टूट पड़े।

भगवान् अब अनन्त-ज्ञानी, अनन्त-दर्शनी और अनन्त-वीर्य बन गए।

अब वे सर्व लोक के, सर्व जीवों के, सर्वभाव जानने-देखने लगे। उनका साधना-काल समाप्त हो चुका। अब वे सिद्धि-काल की मर्यादा में पहुँच गए[२३]। तेरहवें वर्ष के सातवें महीने में केवली बन गए।

तीर्थ-प्रवर्त्तन

भगवान् ने पहला प्रवचन देव-परिषद् में किया। देव अति विलासी होते हैं। वे व्रत और संयम स्वीकार नहीं करते। भगवान् का पहला प्रवचन निष्फल हुआ[२४]।

भगवान् जंभियग्राम नगर से विहार कर मध्यम पावापुरी पधारे। वहाँ सोमिल नामक ब्राह्मण ने एक विराट् यज्ञ का आयोजन कर रखा था। उस अनुष्ठान की पूर्ति के लिए वहाँ इन्द्रभूति प्रमुख ग्यारह वेदविद् ब्राह्मण आये हुए थे[२५]।

भगवान् की जानकारी पा उनमें पाण्डित्य का भाव जागा। इन्द्रभूति उठे। भगवान् को पराजित करने के लिए वे अपनी शिष्य-सम्पदा के साथ भगवान् के समवसरण में आये।

उन्हें कई जीव के बारे में सन्देह था। भगवान् ने उनके गूढ़ प्रश्न को स्वयं सामने ला रखा। इन्द्रभूति सहम गए। उन्हें सर्वथा प्रच्छन्न अपने विचार के प्रकाशन पर अचरज हुआ। उनकी अन्तर-आत्मा भगवान् के चरणों में झुक गई।

भगवान् ने उनका सन्देह-निवर्तन किया। वे उठे, नमस्कार किया और श्रद्धापूर्वक भगवान् के शिष्य बने। भगवान् ने उन्हें छह जीव-निकाय, पांच महाव्रत और पचीस भावनाओं का उपदेश दिया[२६]।

इन्द्रभूति गौतम गोत्री थे। जैन-साहित्य में इनका सुविश्रुत नाम गौतम है। भगवान् के साथ इनके सम्वाद और प्रश्नोत्तर इसी नाम से उपलब्ध होते हैं। वे भगवान् के पहले गणधर और ज्येष्ठ शिष्य बने। भगवान् ने उन्हें श्रद्धा का सम्बल और तर्क का बल दोनों दिए। जिज्ञासा की जागृति के लिए भगवान् ने कहा—"जो संशय को जानता है, वह संसार को जानता है, जो संशय को नहीं जानता, वह संसार को नहीं जानता[२७]।"

इसी प्रेरणा के फलस्वरूप उन्हें जब-जब संशय हुआ, कुतूहल हुआ,

हुई, वे झट भगवान् के पास पहुंचे और उनका समाधान लिया[२८]।

तर्क के साथ श्रद्धा को सन्तुलित करते हुए भगवान् ने कहा—गौतम! कई व्यक्ति प्रयाण की वेला में श्रद्धाशील होते हैं और अन्त तक श्रद्धाशील ही बने रहते हैं।

कई प्रयाण की वेला में श्रद्धाशील होते हैं किन्तु पीछे अश्रद्धाशील बन जाते हैं।

कई प्रयाण की वेला में सन्देहशील होते हैं किन्तु पीछे श्रद्धाशील बन जाते हैं।

जिसकी श्रद्धा असम्यक् होती है, उसमें अच्छे या बुरे सभी तत्त्व असम्यक् परिणत होते हैं।

जिसकी श्रद्धा सम्यक् होती है, उसमें सम्यक् या असम्यक् सभी तत्त्व सम्यक् परिणत होते हैं[२९]। इसलिए गौतम! तू श्रद्धाशील बन। जो श्रद्धाशील है, वही मेधावी है।

इन्द्रभूति की घटना सुन दूसरे पंडितों का क्रम बंध गया। एक-एक कर वे सब आये और भगवान् के शिष्य बन गए। उन सबके एक-एक सन्देह था[३०]। भगवान् उनके प्रच्छन्न सन्देह को प्रकाश में लाते गए। और वे उसका समाधान पा अपने को समर्पित करते गए। इस प्रकार पहले प्रवचन में ही भगवान् की शिष्य-सम्पदा समृद्ध हो गई।

भगवान् ने इन्द्रभूति आदि ग्यारह विद्वान् शिष्यों को गणधर पद पर नियुक्त किया और अब भगवान् का तीर्थ विस्तार पाने लगा। स्त्रियों ने प्रव्रज्या ली। साध्वी-संघ का नेतृत्व चन्दनबाला को सौंपा। आगे चलकर १४ हजार साधु और ३६ हजार साध्वियाँ हुईं।

स्त्रियों को साध्वी होने का अधिकार देना भगवान् महावीर का विशिष्ट मनोबल था। इस समय दूसरे धर्म के आचार्य ऐसा करने में हिचकते थे। आचार्य विनोबा भावे ने इस प्रसंग का बड़े मार्मिक ढंग से स्पर्श किया है—उनके शब्दों में—"महावीर के सम्प्रदाय में—स्त्री-पुरुषों का किसी प्रकार कोई भेद नहीं किया गया है। पुरुषों को जितने अधिकार दिये गए हैं, वे सब अधिकार बहनों को दिये गए थे। मैं इन मामूली अधिकारों की बात नहीं करता हूँ, जो इन

दिनों चलता है और जिनकी चर्चा आजकल बहुत चलती है। उस समय ऐसे अधिकार प्राप्त करने की आवश्यकता भी महसूस नहीं हुई होगी। परन्तु मैं तो आध्यात्मिक अधिकारों की बात कर रहा हूँ।

पुरुषों को जितने आध्यात्मिक अधिकार मिलते हैं, उतने ही स्त्रियों को भी अधिकार हो सकते हैं। इन आध्यात्मिक अधिकारों में महावीर ने कोई भेद-बुद्धि नहीं रखी, जिसके परिणाम-स्वरूप उनके शिष्यों में जितने श्रमण थे, उनसे ज्यादा श्रमणियाँ थी। वह प्रथा आज तक जैन धर्म में चली आई है। आज भी जैन संन्यासिनी होती हैं। जैन धर्म में यह नियम है कि संन्यासी अकेले नहीं घूम सकते हैं। दो से कम नहीं, ऐसा संन्यासी और संन्यासिनियो के लिए नियम है। तदनुसार दो-दो बहनें हिन्दुस्तान में घूमती हुई देखते हैं। बिहार, मारवाड़, गुजरात, कोल्हापुर, कर्नाटक और तमिलनाड की तरफ इस तरह घूमती हुई देखने को मिलती है, यह एक बहुत बड़ी विशेषता माननी चाहिए।

महावीर के पीछे ४० ही साल के बाद गौतम बुद्ध हुए, जिन्होंने स्त्रियो को संन्यास देना उचित नहीं माना। स्त्रियो को संन्यास देने में धर्म-मर्यादा नहीं रहेगी, ऐसा अन्दाजा उनको था। लेकिन एक दिन उनका शिष्य आनन्द एक बहन को ले आया और बुद्ध भगवान् के सामने उसे उपस्थित किया और बुद्ध भगवान् से कहा कि "यह बहन आपके उपदेश के लिए सर्वथा पात्र है, ऐसा मैंने देख लिया है। आपका उपदेश अर्थात् संन्यास का उपदेश इसे मिलना चाहिए।" तो बुद्ध भगवान् ने उसे दीक्षा दी और बोले कि—"हे आनन्द, तेरे आग्रह और प्रेम के लिए यह काम मैं कर रहा हूँ। लेकिन इससे अपने सम्प्रदाय के लिए एक बड़ा खतरा मैंने उठा लिया है।" ऐसा वाक्य बुद्ध भगवान् ने कहा और वैसा परिणाम बाद में आया भी। बौद्धों के इतिहास में बुद्ध को जिस खतरे का अन्देशा था, वह पाया जाता है। यद्यपि बौद्ध धर्म का इतिहास पराक्रमशाली है। उसमें दोष होते हुए भी वह देश के लिए अभिमान रखने के लायक है। लेकिन जो डर बुद्ध को था, वह महावीर को नहीं था, यह देखकर आश्चर्य होता है। महावीर निडर दीख पड़ते हैं। इसका मेरे मन पर बहुत असर है। इसीलिए मुझे महावीर की तरफ विशेष

आकर्षण है। बुद्ध की महिमा भी बहुत है। सारी दुनिया में उनकी करुणा की भावना फैल रही है, इसीलिए उनके व्यक्तित्व में किसी प्रकार की न्यूनता होगी, ऐसा मैं नहीं मानता हूँ। महापुरुषों की भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ होती हैं, लेकिन कहना पड़ेगा कि गौतम बुद्ध को व्यावहारिक भूमिका छू सकी और महावीर को व्यावहारिक भूमिका छू नहीं सकी। उन्होंने स्त्री-पुरुषों में तत्त्वतः भेद नहीं रखा। वे इतने दृढ़प्रतिज्ञ रहे कि मेरे मन में उनके लिए एक विशेष ही आदर है। इसी में उनकी महावीरता है।

रामकृष्ण परमहंस के सम्प्रदाय में स्त्री सिर्फ एक ही थी और वह थी श्री शारदा देवी, जो रामकृष्ण परमहंस की पत्नी थीं और नाममात्र की ही पत्नी थी। वैसे तो वह उनकी माता ही हो गई थी और सम्प्रदाय के सभी भाइयों के लिए वह मातृ-स्थान में ही थी। परन्तु उनके सिवा और किसी स्त्री को दीक्षा नहीं दी गई थी।

महावीर स्वामी के बाद २५०० साल हुए, लेकिन हिम्मत नहीं हो सकती थी कि बहनों को दीक्षा दे। मैंने सुना कि चार साल पहले रामकृष्ण परमहंस-मठ में स्त्रियों को दीक्षा दी जाय—ऐसा तय किया गया। स्त्री और पुरुषों का आश्रम अलग रखा जाय, यह अलग बात है। लेकिन अब तक स्त्रियों को दीक्षा ही नहीं मिलती थी, वह अब मिल रही है। इस पर से अंदाज लगता है कि महावीर ने २५०० साल पहले उसे करने में कितना बड़ा पराक्रम किया [३१]।

गृहस्थ उपासक और उपासिकाएं, श्रावक और श्राविकाएं कहलाए। आनन्द आदि १० प्रमुख श्रावक बने। ये बारह व्रती थे। इनकी जीवन-चर्या का वर्णन करने वाला एक अंग (उपासक दशा) है। जयन्ती आदि श्राविकाएं थीं, जिनके प्रौढ़ तत्त्व-ज्ञान की सूचना भगवती से मिलती है [३२]। धर्म-आराधना के लिए भगवान् का तीर्थ सचमुच तीर्थ बन गया। भगवान् ने तीर्थ चतुष्टय (साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका) की स्थापना की, इसलिए वे तीर्थंकर कहलाए।

श्रमण-संघ-व्यवस्था

भगवान् ने श्रमण-संघ की बहुत ही सुदृढ़ व्यवस्था की। अनुशासन की

दृष्टि से भगवान् का संघ सर्वोपरि था। पाँच महाव्रत और व्रत—ये मूल गुण थे। इनके अतिरिक्त उत्तर गुणों की व्यवस्था की। विनय, अनुशासन और आत्म-विजय पर अधिक बल दिया। व्यवस्था की दृष्टि से श्रमण-संघ को ११ या ९ भागो में विभक्त किया[३३]। पहले सात गणधर सात गणों के और आठवे, नवें तथा दशवें, इग्यारहवें क्रमशः आठवें और नवें गण के प्रमुख थे।

गणो की सारणा-वारणा और शिक्षा-दीक्षा के लिए पद निश्चित किए। (१) आचार्य (२) उपाध्याय (३) स्थविर (४) प्रवर्त्तक (५) गणी (६) गणधर (७) गणावच्छेदक।

सूत्र के अर्थ की वाचना देना और गण का सर्वोपरि संचालन का कार्य आचार्य के जिम्मे था।

सूत्र की वाचना देना, शिक्षा की वृद्धि करना उपाध्याय के जिम्मे था।

श्रमणो को संयम में स्थिर करना, श्रामण्य से डिगते हुए श्रमणों को पुनः स्थिर करना, उनकी कठिनाइयो का निवारण करना स्थविर के जिम्मे था।

आचार्य द्वारा निर्दिष्ट धर्म-प्रवृत्तियों तथा सेवा-कार्य में श्रमणो को नियुक्त करना प्रवर्त्तक का कार्य था।

श्रमणों के छोटे-छोटे समूहो का नेतृत्व करना गणी का कार्य था।

श्रमणो की दिनचर्या का ध्यान रखना—गणधर का कार्य था।

धर्म-शासन की प्रभावना करना, गण के लिए विहार व उपकरणों की खोज तथा व्यवस्था करने के लिए कुछ साधुओ के साथ संघ के आगे-आगे चलना, गण की सारी व्यवस्था की चिन्ता करना गणावच्छेदक का कार्य था[३४]। इनकी योग्यता के लिए विशेष मानदण्ड स्थिर किए। इनका निर्वाचन नही होता था। ये आचार्य द्वारा नियुक्त किए जाते थे। किन्तु स्थविरो की सहमति होती थी[३५]।

निर्वाण

भगवान् तीस वर्ष की अवस्था में श्रमण बने। साढ़े बारह वर्ष तक तपस्वी जीवन बिताया। तीस वर्ष तक धर्मोपदेश किया। भगवान् ने काशी, कौशल, पंचाल, कलिंग, कम्बोज, कुरु-जांगल, बाह्लीक, गांधार, सिंधु-सौवीर आदि देशों में विहार किया।

भगवान्-के चौदह हजार साधु और ३६ हजार साध्वियाँ बनीं। नन्दी के अनुसार भगवान् के चौदह हजार साधु प्रकीर्णकार थे[३६]। इससे जान पड़ता है, सर्व साधुओं की संख्या और अधिक हो। १ लाख ५६ हजार श्रावक[३७] और ३ लाख १८ हजार श्राविकाएं थीं[३८]। यह व्रती श्रावक-श्राविकाओं की संख्या प्रतीत होती है। जैन धर्म का अनुगमन करने वालों की संख्या इससे अधिक थी, ऐसा सम्भव है। भगवान् के उपदेश का समाज पर व्यापक प्रभाव हुआ। उनका क्रान्ति-स्वर समाज के जागरण का निमित्त बना। उसका विवरण इसी खण्ड के अन्तिम अध्याय में मिल सकेगा। वि० पू० ४७० (ई० पू० ५२७) पावापुर में कार्तिक कृष्णा अमावस्या को भगवान् का निर्वाण हुआ।

उत्तरवर्ती संघ-परम्परा

भगवान् के निर्वाण के पश्चात् सुधर्मा स्वामी और जम्बू स्वामी—ये दो आचार्य केवली हुए। प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूतिविजय, भद्रबाहु और स्थूलभद्र—ये छह आचार्य 'श्रुत-केवली' हुए[३९]।

(१) महागिरि (२) सुहस्ती (३) गुणसुन्दर (४) कालकाचार्य (५) स्कन्दिलाचार्य (६) रेवतिमित्र (७) मंगु (८) धर्म (९) चन्द्रगुप्त (१०) आर्य-वज्र—ये दश पूर्वधर हुए।

तीन प्रधान परम्पराए :—

(१) गणधर-वंश

(२) वाचक-वंश—विद्याधर-वंश

(३) युग-प्रधान

आचार्य सुहस्ती तक के आचार्य गणनायक और वाचनाचार्य दोनों होते थे। वे गण की सार सम्हाल और गण की शैक्षणिक व्यवस्था—इन दोनों के उत्तरदायित्वों को निभाते थे। आचार्य सुहस्ती के बाद ये कार्य विभक्त हो गए। चारित्र की रक्षा करने वाले 'गणाचार्य' और श्रुतज्ञान की रक्षा करने वाले 'वाचनाचार्य' कहलाए। गणाचार्यों की परम्परा (गणधरवंश) अपने २ गण के गुरु-शिष्य क्रम से चलती है। वाचनाचार्यों और युग-प्रधानों की परम्परा एक ही गण से सम्बन्धित नहीं है। जिस किसी भी गण या शाखा में

एक के बाद दूसरे समर्थ वाचनाचार्य व युग-प्रधान आचार्य हुए हैं, उनका क्रम जोड़ा गया है।

आचार्य सुहस्ती के बाद भी कुछ आचार्य गणाचार्य और वाचनाचार्य दोनों हुए हैं। जो आचार्य विशेष लक्षण-सम्पन्न और अपने युग में सर्वोपरि प्रभावशाली हुए, उन्हें युग-प्रधान माना गया। वे गणाचार्य और वाचनाचार्य दोनों में से हुए हैं।

हिमवंत की स्थविरावलि के अनुसार वाचक-वंश या विद्याधर वंश की परम्परा इस प्रकार है [४०] :—

(१) आचार्य सुहस्ती
(२) आर्य बहुल और बलिसह
(३) आचार्य (उमा) स्वाति
(४) आचार्य श्यामाचार्य
(५) आचार्य सांडिल्य या स्कन्दिल (वि० सं० ३७६ से ४१४ तक युग-प्रधान)
(६) आचार्य समुद्र
(७) आचार्य मंगुसूरि
(८) आचार्य नन्दिलसूरि
(९) आचार्य नागहस्तीसूरि
(१०) आचार्य रेवतिनक्षत्र
(११) आचार्य सिंहसूरि
(१२) आचार्य स्कन्दिल (वि० सं० ८२६ वाचनाचार्य)
(१३) आचार्य हिमवन्त क्षमाश्रमण
(१४) आचार्य नागार्जुनसूरि
(१५) आचार्य भूतदिन्न
(१६) आचार्य लोहित्यसूरि
(१७) आचार्य दुष्यगणी (नन्दी सूत्र में इतने ही नाम हैं)
(१८) आचार्य देववाचक (देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण)
(१९) आचार्य कालिकाचार्य (चतुर्थ)
(२०) आचार्य सत्यमित्र (अन्तिम पूर्वविद्)

दुस्सम-काल-समण-संघत्थव और विचार-श्रेणी के अनुसार 'युग-प्रधान-पट्टावली' और समय :—

(१) आचार्यों के नाम	समय (वीर निर्वाण से)
१—गणधर सुधर्मा स्वामी	१ से २०
२—आचार्य जम्बू स्वामी	२० से ६४
३—आचार्य प्रभव स्वामी	६४ से ७५
४—आचार्य शय्यंभवसूरि	७५ से ६८
५—आचार्य यशोभद्रसूरि	६८ से १४८
६—आचार्य संभूतिविजय	१४८ से १५६
७—आचार्य भद्रबाहु स्वामी	१५६ से १७०
८—आचार्य स्थूलभद्र	१७० से २१५
९—आचार्य महागिरि	२१५ से २४५
१०—आचार्य सुहस्तिसूरि	२४५ से २९१
११—आचार्य गुणसुन्दरसूरि	२९१ से ३३५
१२—आचार्य श्यामाचार्य	३३५ से ३७६
१३—आचार्य स्कन्दिल	३७६ से ४१४
१४—आचार्य रेवतिमित्र	४१४ से ४५०
१५—आचार्य धर्मसूरि	४५० से ४९५
१६—आचार्य भद्रगुप्तसूरि	४९५ से ५३३
१७—आचार्य श्रीगुप्तसूरि	५३३ से ५४८
१८—आचार्य वज्रस्वामी	५४८ से ५८४
१९—आचार्य आर्यरक्षित	५८४ से ५९७
२०—आचार्य दुर्बलिकापुष्यमित्र	५९७ से ६१७
२१—आचार्य वज्रसेनसूरि	६१७ से ६२०
२२—आचार्य नागहस्ती	६२० से ६८९
२३—आचार्य रेवतिमित्र	६८९ से ७४८
२४—आचार्य सिंहसूरि	७४८ से ८२६
२५—आचार्य नागार्जुनसूरि	८२६ से ९०४

२६—आचार्य भूतदिन्न सूरि ९०४ से ९८३
२७—आचार्य कालिकसूरि (चतुर्थ) ९८३ से ९९४
२८—आचार्य सत्यमित्र ९९४ से १०००
२९—आचार्य हारिल्ल १००० से १०५५
३०—आचार्य जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण १०५५ से १११५
३१—आचार्य (उमा) स्वातिसूरि १११५ से ११९०
३२—आचार्य पुष्यमित्र ११९० से १२५०
३३—आचार्य संभूति १२५० से १३००
३४—आचार्य माठर संभूति १३०० से १३६०
३५—आचार्य धर्मऋषि १३६० से १४००
३६—आचार्य ज्येष्ठांगगणी १४०० से १४७१
३७—आचार्य फल्गुमित्र १४७१ से १५२०
३८—आचार्य धर्मघोष १५२० से १५९८

(२) वालभी-युगप्रधान-पट्टावली

१—आर्य सुधर्मा स्वामी २० वर्ष
२—आचार्य जम्बू स्वामी ४४ वर्ष
३—आचार्य प्रभव स्वामी ११ वर्ष
४—आचार्य शय्यंभव २३ वर्ष
५—आचार्य यशोभद्र ५० वर्ष
६—आचार्य सम्भूतिविजय ८ वर्ष
७—आचार्य भद्रबाहु १४ वर्ष
८—आचार्य स्थूलभद्र ४५ वर्ष
९—आचार्य महागिरि ३० वर्ष
१०—आचार्य सुहस्ती ४६ वर्ष
११—आचार्य गुणसुन्दर ४४ वर्ष
१२—आचार्य कालकाचार्य ४१ वर्ष
१३—आचार्य स्कन्दिलाचार्य ३८ वर्ष
१४—आचार्य रेवतिमित्र ३६ वर्ष

१५—आचार्य मंगु	२० वर्ष
१६—आचार्य धर्म	२४ वर्ष
१७—आचार्य भद्रगुप्त	४१ वर्ष
१८—आचार्य आर्यवज्र	३६ वर्ष
१९—आचार्य रक्षित	१३ वर्ष
२०—आचार्य पुष्यमित्र	२० वर्ष
२१—आचार्य वज्रसेन	३ वर्ष
२२—आचार्य नागहस्ती	६९ वर्ष
२३—आचार्य रेवतिमित्र	५९ वर्ष
२४—आचार्य सिंहसूरि	७८ वर्ष
२५—आचार्य नागार्जुन	७८ वर्ष
२६—आचार्य भूतदिन्न	७९ वर्ष
२७—आचार्य कालकाचार्य	११ वर्ष
	कुल ९८१ वर्ष

(३) माथुरी-युगप्रधान-पट्टावली

१—आर्य सुधर्मा स्वामी
२—आचार्य जम्बू स्वामी
३—आचार्य प्रभव स्वामी
४—आचार्य शय्यंभव
५—आचार्य यशोभद्र
६—आचार्य सम्भूत विजय
७—आचार्य भद्रबाहु
८—आचार्य स्थूलभद्र
९—आचार्य महागिरि
१०—आचार्य सुहस्ती
११—आचार्य बलिसह
१२—आचार्य स्वाति
१३—आचार्य श्यामाचार्य
१४—आचार्य सांडिल्य
१५—आचार्य समुद्र
१६—आचार्य मंगु
१७—आचार्य आर्यधर्म
१८—आचार्य भद्रगुप्त
१९—आचार्य वज्र
२०—आचार्य रक्षित
२१—आचार्य आनन्दिल
२२—आचार्य नागहस्ती
२३—आचार्य रेवतिनक्षत्र
२४—आचार्य ब्रह्म-दीपक सिंह
२५—आचार्य स्कन्दिलाचार्य
२६—आचार्य हिमवंत

२७—आचार्य नागार्जुन	३०—आचार्य लौहित्य
२८—आचार्य गोविन्द	३१—आचार्य दूष्यगणि
२९—आचार्य भूतदिन्न	३२—आचार्य देवर्द्धिगणि

सम्प्रदाय भेद

(निह्नव विवरण)

विचार का इतिहास जितना पुराना है, लगभग उतना ही पुराना विचार-भेद का इतिहास है। विचार व्यक्ति-व्यक्ति की ही उपज होता है, किन्तु संघ में रूढ़ होने के बाद संघीय कहलाता है।

तीर्थंकर वाणी जैन-संघ के लिए सर्वोपरि प्रमाण है। वह प्रत्यक्ष दर्शन है, इसलिए उसमें तर्क की कर्कशता नहीं है। वह तर्क से बाधित भी नहीं है। वह सूत्र-रूप है। उसकी व्याख्या में तर्क का लचीलापन आया है। भाष्यकार और टीकाकार प्रत्यक्षदर्शी नहीं थे। उन्होंने सूत्र के आशय को परम्परा से समझा। कहीं समझ में नहीं आया, हृदयंगम नहीं हुआ तो अपनी युक्ति और जोड़ दी। लम्बे समय में अनेक सम्प्रदाय बन गए। श्वेताम्बर और दिगम्बर जैसे शासन-भेद हुए। भगवान् महावीर के समय में कुछ श्रमण वस्त्र पहनते, कुछ नहीं भी पहनते। भगवान् स्वयं वस्त्र नहीं पहनते थे। वस्त्र पहनने से मुक्ति होती ही नहीं या वस्त्र नहीं पहनने से ही मुक्ति होती है, ये दोनों बातें गौण हैं— मुख्य बात है—राग-द्वेष से मुक्ति। जैन-परम्परा का भेद मूल तत्वों की अपेक्षा ऊपरी बातों या गौण प्रश्नों पर अधिक टिका हुआ है।

गोशालक जैन-परम्परा से सर्वथा अलग हो गया, इसलिए उसे निह्नव नहीं माना गया। थोड़े से मत-भेद को लेकर जो जैन शासन से अलग हुए, उन्हें निह्नव माना गया[११]।

बहुरतवाद

(१) जमाली पहला निह्नव था। वह क्षत्रिय-पुत्र और भगवान् महावीर का दामाद था। मां-बाप के अगाध प्यार और अतुल ऐश्वर्य को ठुकरा वह निर्ग्रन्थ बना। भगवान् महावीर ने स्वयं उसे प्रव्रजित किया। पांच सौ व्यक्ति उसके साथ थे। मुनि जमाली अब आगे बढ़ने लगा। ज्ञान, दर्शन और चारित्र की आराधना में अपने आप को लगा दिया। सामायिक आदि ग्यारह अंग

पड़े। विचित्र तप-कर्म—उपवास, वेला, तेला यावत् अर्द्ध मास और मास की तपस्या से आत्मा को भावित करते हुए विहार करने लगा।

एक दिन की बात है, ज्ञानी और तपस्वी जमाली भगवान् महावीर के पास आया। वन्दना की, नमस्कार किया और बोला—भगवन्! मैं आपकी अभ्यनुज्ञा पा कर पांच सौ निर्ग्रन्थों के साथ जनपद विहार करना चाहता हूँ। भगवान् ने जमाली की बात सुनली। उसे आदर नहीं दिया। मौन रहे। जमाली ने दुबारा और तिबारा अपनी इच्छा को दोहराया। भगवान् पहले की भांति मौन रहे। जमाली उठा। भगवान् को वन्दना की, नमस्कार किया। बहुशाला नामक चैत्य से निकला। अपने साथी पांच सौ निर्ग्रन्थों को ले भगवान् से अलग विहार करने लगा।

श्रावस्ती के कोष्ठक चैत्य में जमाली ठहरा हुआ था। संयम और तप की साधना चल रही थी। निर्ग्रन्थ-शासन की कठोरचर्या और वैराग्यवृत्ति के कारण वह अरस-विरस, अन्त-प्रान्त, रूखा-सूखा, कालातिक्रान्त, प्रमाणातिक्रान्त आहार लेता। उससे जमाली का शरीर रोगातंक से घिर गया। उज्ज्वल—विपुल वेदना होने लगी। कर्कश—कटु दुःख उदय में आया। पित्तज्वर से शरीर जलने लगा। घोरतम वेदना से पीड़ित जमाली ने अपने साधुओं से कहा—देवानुप्रिय! बिछौना करो। साधुओं ने विनयावनत हो उसे स्वीकार किया। बिछौना करने लगे। वेदना का वेग बढ़ रहा था। एक-एक पल भारी हो रहा था। जमाली ने अधीर स्वर से पूछा—मेरा बिछौना बिछा दिया या बिछा रहे हो? श्रमणों ने उत्तर दिया—देवानुप्रिय! आपका बिछौना किया नहीं, किया जा रहा है। दूसरी वार फिर पूछा—देवानुप्रिय! बिछौना किया या कर रहे हो? श्रमण-निर्ग्रन्थ बोले—देवानुप्रिय! आपका बिछौना किया नहीं, किया जा रहा है। इस उत्तर ने वेदना से अधीर बने जमाली को चौंका दिया। शारीरिक वेदना की टक्कर से सैद्धान्तिक धारणा हिल उठी। विचारों ने मोड़ लिया। जमाली सोचने लगा—भगवान् चलमान को चलित, उदीर्यमाण को उदीरित यावत् निर्जीर्यमाण को निर्जीर्ण कहते हैं, वह मिथ्या है। यह सामने दीख रहा है। मेरा बिछौना बिछाया जा रहा है, किन्तु बिछा नहीं है। इसलिए क्रियमाण अकृत, संस्तीर्यमाण असंस्तृत है—

किया जा रहा है किन्तु किया नहीं गया है, बिछाया जा रहा है किन्तु बिछा नहीं है—का सिद्धान्त सही है। इसके विपरीत भगवान् का क्रियमाण कृत और संस्तीर्यमाण संस्तृत करना शुरू हुआ, वह कर लिया गया, बिछाना शुरू किया, वह बिछा लिया गया—यह सिद्धान्त गलत है। चलमान को चलित, यावत् निर्जीर्यमाण को निर्जीर्ण मानना मिथ्या है। चलमान को अचलित यावत् निर्जीर्यमाण को अनिर्जीर्ण मानना सही है। बहुरतवाद-कार्य की पूर्णता होने पर उसे पूर्ण कहना ही यथार्थ है। इस सैद्धान्तिक उथल-पुथल ने जमाली की शरीर-वेदना को निर्वीर्य बना दिया। उसने अपने साधुओं को बुलाया और अपना सारा मानसिक आन्दोलन कह सुनाया। श्रमणों ने आश्चर्य के साथ सुना। जमाली भगवान् के सिद्धान्त को मिथ्या और अपने परिस्थिति-जन्य अपरिपक्व विचार को सच बता रहा है। माथे-माथे का विचार अलग-अलग होता है। कुछेक श्रमणों को जमाली का विचार रुचा, मन को भाया, उस पर श्रद्धा जमी। वे जमाली की शरण में रहे। कुछ एक जिन्हें जमाली का विचार नहीं जंचा, उस पर श्रद्धा या प्रतीति नहीं हुई, वे भगवान् की शरण में चले गए। थोड़ा समय बीता। जमाली स्वस्थ हुआ। श्रावस्ती से चला। एक गांव से दूसरे गांव विहार करने लगा। भगवान् उन दिनों चम्पा के पूर्णभद्र-चैत्य में विराज रहे थे। जमाली वहाँ आया। भगवान् के पास बैठ कर बोला—देवानुप्रिय ! आपके बहुत सारे शिष्य असर्वज्ञ-दशा में गुरुकुल से अलग होते हैं (छद्मस्थापक्रमण करते हैं) वैसे मैं नहीं हुआ हूँ। मैं सर्वज्ञ (अर्हत्, जिन, केवली) होकर आपसे अलग हुआ हूँ। जमाली की यह बात सुन कर भगवान् के ज्येष्ठ अन्तेवासी गौतम स्वामी बोले—जमाली ! सर्वज्ञ का ज्ञान-दर्शन शैल-स्तम्भ और स्तूप से रुद्ध नहीं होता। जमाली ! यदि तुम सर्वज्ञ होकर भगवान् से अलग हुए हो तो लोक शाश्वत है या अशाश्वत ! जीव शाश्वत है या अशाश्वत ! इन दो प्रश्नों का उत्तर दो। गौतम के प्रश्न सुन वह शंकित हो गया। उनका यथार्थ उत्तर नहीं दे सका। मौन हो गया। भगवान् बोले—"जमाली ! मेरे अनेक छद्मस्थ शिष्य भी मेरी भांति प्रश्नों का उत्तर देने में समर्थ हैं। किन्तु तुम्हारी भांति अपने आपको सर्वज्ञ कहने में समर्थ नहीं हैं।

जमाली ! यह लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी। लोक कभी नहीं था, नहीं है, नहीं होगा—ऐसा नहीं है। किन्तु यह था, है और रहेगा। इसलिए यह शाश्वत है। अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी होती है, उत्सर्पिणी के बाद फिर अवसर्पिणी—इस काल-चक्र की दृष्टि से लोक अशाश्वत है। इसी प्रकार जीव भी शाश्वत और अशाश्वत दोनों हैं। त्रैकालिक सत्ता की दृष्टि से वह शाश्वत है। वह कभी नैरयिक बन जाता है, कभी तिर्यंच, कभी मनुष्य और कभी देव। इस रूपान्तर की दृष्टि से वह अशाश्वत है।" जमाली ने भगवान् की बातें सुनी पर वे अच्छी नहीं लगी। उन पर श्रद्धा नहीं हुई। वह उठा भगवान् से अलग चला गया। मिथ्या-प्ररूपणा करने लगा—झूठी बातें कहने लगा। मिथ्या-अभिनिवेश (एकान्त आग्रह) से वह आग्रही बन गया। दूसरों को भी आग्रही बनाने का जी भर जाल रचा। बहुतों को झगड़ाखोर बनाया। इस प्रकार की चर्चा चलती रही। लम्बे समय तक श्रमण-वेश में साधना की। अन्त काल में एक पक्ष की संलेखना की। तीस दिन का अनशन किया। किन्तु मिथ्या-प्ररूपणा या झूठे आग्रह की आलोचना नहीं की, प्रायश्चित नहीं किया। इसलिए आयु पूरा होने पर वह लान्तक-कल्प (छठे देवलोक) के नीचे किल्विषिक (निम्न श्रेणी का) देव बना।

गौतम ने जाना—जमाली मर गया है। वे उठे। भगवान् के पास आये, वन्दना-नमस्कार कर बोले—भगवन् ! आपका अन्तेवासी कुशिष्य जमाली मर कर कहाँ गया है ? कहाँ उत्पन्न हुआ है ? भगवान् बोले—गौतम ! वह किल्विषिक देव बना है।

गौतम—भगवन् ! किन कर्मों के कारण किल्विषिक देव-योनि मिलती है ?

भगवान्—गौतम ! जो व्यक्ति आचार्य, उपाध्याय, कुल, गण और संघ के प्रत्यनीक (विद्वेषी) होते हैं, आचार्य और उपाध्याय का अपयश बखानते हैं, अवर्ण बोलते हैं और अकीर्ति गाते हैं, मिथ्या प्रचार करते हैं, एकान्त-आग्रही होते हैं, लोगों में पाण्डित्य के मिथ्याभिमान का भाव भरते हैं, वे साधुपन की विराधना कर किल्विषिक देव बनते हैं।

गौतम—भगवन् ! जमाली अणगार अरस-विरस, अन्त-प्रान्त, रूखा-

सूखा आहार करता था। वह अरस-जीवी यावत् तुच्छ-जीवी था। उपशान्त-जीवी, प्रशान्त-जीवी और विविक्त-जीवी था।

भगवान्—हां गौतम ! वह ऐसा था।

गौतम—तो फिर भगवन् ! वह किल्विषिक देव क्यों बना ?

भगवान्—गौतम ! जमाली अणगार आचार्य और उपाध्याय का प्रत्यनीक था। उनका अयश बखानता, अवर्ण बोलता और अकीर्ति गाता था। एकान्त-आग्रह का प्रचार करता और लोगों को मिथ्याभिमानी बनाता था। इसलिए वह साधुपन का आराधक नहीं बना। जीवन की अन्तिम घड़ियों में भी उसने मिथ्या स्थान का आलोचन और प्रायश्चित नहीं किया। यही हेतु है गौतम ! वह तपस्वी और वैरागी होते हुए भी किल्विषिक देव बना। संलेखना और अनशन भी उसे आराधक नहीं बना सके।

गौतम—भगवन् ! जमाली देवलोक से लौट कर कहाँ उत्पन्न होगा ?

भगवान्—गौतम ! जमाली देव, अनेक बार तिर्यंच, मनुष्य और देव-गति में जन्म लेगा। संसार-भ्रमण करेगा। दीर्घकाल के बाद साधुपन ले, कर्म खपा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा।

जीव प्रादेशिकवाद

(२) दूसरे निह्नव का नाम तिष्यगुप्त है। इनके आचार्य वसु चतुर्दशपूर्वी थे। वे तिष्यगुप्त को आत्म-प्रवाद-पूर्व पढ़ा रहे थे। उसमें भगवान् महावीर और गौतम का सम्वाद आया। गौतम ने पूछा—भगवन् ! क्या जीव के एक प्रदेश को जीव कहा जा सकता है ?

भगवान्—नहीं।

गौतम—भगवन् ! क्या दो, तीन यावत् संख्यात प्रदेश से कम जीव के प्रदेशों को जीव कहा जा सकता है ?

भगवान्—नहीं। असंख्यात प्रदेशमय चैतन्य पदार्थ को ही जीव कहा जा सकता है।

यह सुन तिष्यगुप्त ने कहा—अन्तिम प्रदेश के बिना शेष प्रदेश जीव नहीं हैं। इसलिए अन्तिम प्रदेश ही जीव है। गुरु के समझाने पर भी अपना आग्रह नहीं छोड़ा। तब उन्हें संघ से पृथक् कर दिया। ये जीव-प्रदेश ... आग्रह के कारण जीव प्रादेशिक कहलाए।

अव्यक्तवाद

(३) श्वेतविका नगरी के पौलाषाढ़ चैत्य में आचार्य आषाढ विहार कर रहे थे। उनके शिष्यों में योग-साधना का अभ्यास चल रहा था। आचार्य का आकस्मिक स्वर्गवास हो गया। उनने सोचा—शिष्यों का अभ्यास अधूरा रह जाएगा। फिर अपने शरीर में प्रविष्ट हो गए। शिष्यों को इसकी कोई जानकारी नहीं थी। योग-साधना का क्रम पूरा हुआ। आचार्य देव रूप में प्रगट हो बोले—श्रमणों ! मैंने असंयत होते हुए भी संयतात्माओं से वन्दना कराई, इसलिए मुझे क्षमा करना। सारी घटना सुना देव अपने स्थान पर चले गए। श्रमणों को सन्देह हो गया कि कौन जाने कौन साधु है और कौन देव ? निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह अव्यक्त मत कहलाया। आषाढ़ के कारण यह विचार चला। इसलिए इसके आचार्य आषाढ हैं— ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं पर वास्तव में उसके प्रवर्त्तक आषाढ के शिष्य ही होने चाहिए।

सामुच्छेदिकवाद

(४) अश्वमित्र अपने आचार्य कौण्डिल के पास पूर्व-ज्ञान पढ़ रहे थे। पहले समय के नारक विच्छिन्न हो जायेंगे, दूसरे समय के भी विच्छिन्न हो जायेंगे, इस प्रकार सभी जीव विच्छिन्न हो जायेंगे—यह पर्यायवाद का प्रकरण चल रहा था।

उनने एकान्त-समुच्छेद का आग्रह किया। वे संघ से पृथक् कर दिये गए। उनका मत "सामुच्छेदिकवाद" कहलाया।

द्वैक्रियवाद

(५) गंग मुनि आचार्य धनगुप्त के शिष्य थे। वे शरद् ऋतु में अपने आचार्य को वन्दना करने जा रहे थे। मार्ग में उल्लुका नदी थी। उसे पार करते समय सिर को सूर्य की गरमी और पैरों को नदी की ठंडक का अनुभव हो रहा था। मुनि ने सोचा—आगम में कहा है—एक समय में दो क्रियाओं की अनुभूति नहीं होती। किन्तु मुझे एक साथ दो क्रियाओं की अनुभूति हो रही है। गुरु के पास पहुँचे और अपना अनुभव सुनाया। गुरु ने कहा—वास्तव में एक समय में एक ही क्रिया की अनुभूति होती है। मन का क्रम बहुत सूक्ष्म है,

इसलिए हमें उसकी पृथकता का पता नहीं चलता। गुरु की बात उन्हें नहीं जंची। वे संघ से अलग होकर "द्वैक्रियवाद" का प्रचार करने लगे।

त्रैराशिकवाद

(६) छठे निह्नव रोहगुप्त (षडुलूक) हुए। वे अन्तरंजिका के भूतगृह चैत्य में ठहरे हुए अपने आचार्य श्री गुप्त को वन्दन करने जा रहे थे। वहाँ पोट्टशाल परिव्राजक अपनी विद्याओं के प्रदर्शन से लोगों को अचम्भे में डाल रहा था और दूसरे सभी धार्मिकों को वाद के लिए चुनौती दे रहा था। आचार्य ने रोहगुप्त को उसकी चुनौती स्वीकार करने का आदेश दिया और मयूरी, नकुली, विडाली, व्याघ्री, सिंही आदि अनेक विद्याएं भी सिखाईं।

रोहगुप्त ने उसकी चुनौती को स्वीकार किया। राज-सभा में चर्चा का प्रारम्भ हुआ।

पोट्टशाल ने जीव और अजीव—इन दो राशियों की स्थापना की। रोहगुप्त ने जीव, अजीव और निर्जीव—इन तीन राशियों की स्थापना कर उसे पराजित कर दिया।

पोट्टशाल की वृश्चिकी, सर्पी, मूषिकी आदि विद्याएं भी विफल करदी। उसे पराजित कर रोहगुप्त अपने गुरु के पास आये, सारा घटनाचक्र निवेदित किया। गुरु ने कहा—राशि दो हैं। तूने तीन राशि की स्थापना की, यह अच्छा नहीं किया। वापस सभा में जा, इसका प्रतिवाद कर। आग्रहवश गुरु की बात स्वीकार नहीं कर सके। गुरु उन्हें 'कुत्रिकापण' में ले गए। वहाँ जीव मांगा, वह मिल गया, अजीव मांगा वह भी मिल गया, तीसरी राशि नहीं मिली। गुरु राज-सभा में गए और रोहगुप्त के पराजय की घोषणा की। इस पर भी उनका आग्रह कम नहीं हुआ। इसलिए उन्हें संघ से अलग कर दिया गया।

अबद्धिकवाद

(७) सातवें निह्नव गोष्ठामाहिल थे। आर्यरक्षित के उत्तराधिकारी दुर्बलिका-पुष्यमित्र हुए। एक दिन वे विन्ध्य नामक मुनि को कर्मप्रवाद का बन्धाधिकार पढ़ा रहे थे। उसमें कर्म के दो रूपों का वर्णन आया। कोई कर्म गीली दीवार पर मिट्टी की भांति आत्मा के साथ चिपक जाता है—एक रूप

हो जाता है और कोई कर्म सूखी दीवार पर मिट्टी की भांति आत्मा का स्पर्श कर नीचे गिर जाता है—अलग हो जाता है।

गोष्ठामाहिल ने यह सुना। वे आचार्य से कहने लगे—आत्मा और कर्म यदि एक रूप हो जाएं तो फिर वे कभी भी अलग-अलग नहीं हो सकते। इसलिए यह मानना ही संगत है कि कर्म आत्मा का स्पर्श करते हैं, उससे एकीभूत नही होते। वास्तव में वन्ध होता ही नहीं। आचार्य ने दोनो दशाओं का मर्म वताया पर उनने अपना आग्रह नही छोड़ा। आखिर उन्हें संघ से पृथक् कर दिया।

जमाली, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल के सिवाय शेष निह्नव आ प्रायश्चित्त ले फिर से जैन-परम्परा में सम्मिलित हो गए। जो सम्मिलित नहीं हुए उनकी भी अब कोई परम्परा प्रचलित नही है।

यंत्र देखिए :—

आचार्य	मत-स्थापन	उत्पत्ति-स्थान	कालमान
जमाली	वहुरतवाद	श्रावस्ती	कैवल्य के १४ वर्ष पश्चात्
तिष्यगुप्त	जीवप्रादेशिकवाद	ऋषभपुर (राजगृह)	कैवल्य के १६ वर्ष पश्चात्
आषाढ-शिष्य	अव्यक्तवाद	श्वेतविका	निर्वाण के ११४ वर्ष पश्चात्
अश्वमित्र	सामुच्छेदिकवाद	मिथिला	निर्वाण के २२० वर्ष पश्चात्
गंग	द्वैक्रियवाद	उल्लुकातीर	निर्वाण के २२८ वर्ष पश्चात्
रोहगुप्त (षडुलूक)	त्रैराशिकवाद	अन्तरंजिका	निर्वाण के ५४४ वर्ष पश्चात्
गोष्ठामाहिल	अवद्धिकवाद	दशपुर	निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात्

स्थानांग में सात निह्नवों का ही उल्लेख है। जिनभद्र गणी आठवें निह्नव वोटिक का उल्लेख और करते हैं, जो वस्त्र त्याग कर संघ से पृथक् हुए थे [४३]।

श्वेताम्बर-दिगम्बर

दिगम्बर-सम्प्रदाय की स्थापना कब हुई ? यह अब भी अनुसन्धान सापेक्ष है। परम्परा से इसकी स्थापना विक्रम की सातवीं शताब्दी में मानी जाती है। श्वेताम्बर नाम कब पड़ा—यह भी अन्वेषण का विषय है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सापेक्ष शब्द हैं। इनमें से एक का नाम-करण होने के बाद ही दूसरे के नाम-करण की आवश्यकता हुई है।

भगवान् महावीर के संघ में सचेल और अचेल दोनों प्रकार के श्रमणों का समवाय था। आचारांग १।८ में सचेल और अचेल दोनों प्रकार के श्रमणों के मोह-विजय का वर्णन है।

सचेल मुनि के लिए वस्त्रैषणा का वर्णन आचारांग २।५ में है। अचेल मुनि का वर्णन आचारांग १।६ में है। उत्तराध्ययन २।१३ में अचेल और सचेल दोनों अवस्थाओं का उल्लेख है। आगम-काल में अचेल मुनि जिनकल्पिक[४३] और सचेल मुनि स्थविरकल्पिक कहलाते थे[४४]।

भगवान् महावीर के महान् व्यक्तित्व के कारण आचार की द्विविधता का जो समन्वित रूप हुआ, वह जम्बू स्वामी तक उसी रूप में चला। उनके पश्चात् आचार्य-परम्परा का भेद मिलता है। श्वेताम्बर-पट्टावलि के अनुसार जम्बू के पश्चात् शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूत विजय और भद्रबाहु हुए और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार नन्दी, नन्दीमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु हुए।

जम्बू के पश्चात् कुछ समय तक दोनों परम्पराएं आचार्यों का भेद स्वीकार करती हैं और भद्रबाहु के समय फिर दोनों एक बन जाती हैं। इस भेद और अभेद से सैद्धान्तिक मत-भेद का निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता। उस समय संघ एक था, फिर भी गण और शाखाएं अनेक थीं। आचार्य और चतुर्दशपूर्वी भी अनेक थे। किन्तु प्रभव स्वामी के समय से ही कुछ मत-भेद के अंकुर फूटने लगे हों, ऐसा प्रतीत होता है।

शय्यम्भव ने दशवै० में—'वस्त्र रखना परिग्रह नहीं है'—इस पर जो बल दिया है और ज्ञातपुत्र महावीर ने संयम और लज्जा के निमित्त वस्त्र रखने को परिग्रह नहीं कहा है—इस वाक्य द्वारा भगवान् के अभिमत को यादन किया

है [४५]। उससे आन्तरिक मत-भेद की सूचना मिलती है। कुछ शताब्दियों के पश्चात् शय्यम्भव का 'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो' वाक्य परिग्रह की परिभाषा बन गया। उमास्वाति का 'मूर्च्छा-परिग्रह-सूत्र' इसी का उपजीवी है [४६]।

जम्बू स्वामी के पश्चात् 'दस वस्तुओं' का लोप माना गया है। उनमें एक जिनकल्पिक अवस्था भी है [४७]। यह भी परम्परा-भेद की पुष्टि करता है। भद्रबाहु के समय (वी० नि० १६० के लगभग) पाटलिपुत्र में जो वाचना हुई, उन दोनों परम्पराओं का मत-भेद तीव्र हो गया। इससे पूर्व श्रुत विषयक एकता थी। किन्तु लम्बे दुष्काल में अनेक श्रुतधर मुनि दिवंगत हो गए। भद्रबाहु की अनुपस्थिति में ग्यारह अंगों का संकलन किया गया। वह सब को पूर्ण मान्य नहीं हुआ दोनों का मत-भेद स्पष्ट हो गया। माथुरी वाचना में श्रुत का जो रूप स्थिर हुआ, उसका अचेलत्व-समर्थकों ने पूर्ण बहिष्कार कर दिया। इस प्रकार आचार और श्रुत विषयक मत-भेद तीव्र होते-होते वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी में एक मूल दो भागों में विभक्त हो गया।

श्वेताम्बर से दिगम्बर-शाखा निकली, यह भी नहीं कहा जा सकता और दिगम्बर से श्वेताम्बर-शाखा का उद्भव हुआ, यह भी नहीं कहा जा सकता। एक दूसरा सम्प्रदाय अपने को मूल और दूसरे को अपनी शाखा बताता है। पर सच तो यह है कि साधना की दो धाराएं, समन्वय और सहिष्णुता के विराट् प्रकाण्ड का आश्रय लिए हुए थीं, वे उसका निर्वाह नहीं कर सकीं, काल-परिपाक से पृथक् हो गईं। अथवा यों कहा जा सकता है कि एक दिन साधना के दो बीजों ने समन्वय के महातरु को अंकुरित किया और एक दिन वही महातरु दो भागों में विभक्त हो गया। किंवदन्ती के अनुसार वीर-निर्वाण-६०६ वर्ष के पश्चात् दिगम्बर-सम्प्रदाय का जन्म हुआ, यह श्वेताम्बर मानते हैं और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार वीर-निर्वाण ६०६ में श्वेताम्बर-सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ।

सचेलत्व और अचेलत्व का आग्रह और समन्वय दृष्टि

जब तक जैन-शासन पर प्रभावशाली व्यक्तित्व का अनुशासन रहा, तब तक सचेलत्व और अचेलत्व का विवाद उग्र नहीं बना। कुन्द-कुन्द (जिनका समय विक्रम की दूसरी शताब्दी है) के समय यह विवाद तीव्र हो उठा था [४८]।

बीच-बीच में इसके समन्वय के प्रयत्न भी होते रहे हैं। यापनीय संघ (जिसकी स्थापना वी० नि० की सातवीं शताब्दी के लगभग हुई) श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं का समन्वित रूप था। इस संघ के मुनि अचेलत्व आदि की दृष्टि से दिगम्बर-परम्परा का अनुसरण करते थे और मान्यता की दृष्टि से श्वेताम्बर थे। वे स्त्री-मुक्ति को मानते थे और श्वेताम्बर-सम्मत आगम-साहित्य का अध्ययन करते थे।

समन्वय की दृष्टि और भी समय-समय पर प्रस्फुटित होती रही है। कहा गया है :—

कोई मुनि दो वस्त्र रखता है, कोई तीन, कोई एक और कोई अचेल रहता है। वे परस्पर एक दूसरे की अवज्ञा न करे। क्योंकि यह सब जिनाज्ञा-सम्मत है। यह आचार-भेद शारीरिक शक्ति और धृति के उत्कर्ष और अपकर्ष के आधार पर होता है। इसलिए सचेल मुनि अचेल मुनियों की अवज्ञा न करें और अचेल मुनि सचेल मुनियों को अपने से हीन न मानें। जो मुनि महाव्रत-धर्म का पालन करते हैं और उद्यत-विहारी हैं, वे सब जिनाज्ञा में हैं [४९]।

चैत्यवास और संविग्न

स्थानांग सूत्र में भगवान् महावीर के नौ गणों का उल्लेख मिलता है[५०]। इनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं :—

१—गोदास-गण २—उत्तर-बलिस्सइ-गण ३—उद्देह-गण
४—चारण-गण ५—उडुपाटित-गण ६—वेशपाटिक-गण
७—कामर्द्धि-गण ८—मानव-गण ९—कोटिक-गण।

गोदास भद्रबाहु स्वामी के प्रथम शिष्य थे। उनके नाम से गोदास-गण का प्रवर्तन हुआ। उत्तर बलिस्सह आर्य महागिरि के शिष्य थे। दूसरे गण का प्रवर्तन इनके द्वारा हुआ।

आर्य सुहस्ती के शिष्य स्थविर रोहण से उद्देह-गण, स्थविर श्री गुप्त से चारण-गण, भद्रयश से उडुपाटित-गण, स्थविर कामर्द्धि से वेशपाटिक-गण और उसका अन्तर कुल कामर्द्धिगण, स्थविर ऋषिगुप्त से मानव-गण स्थविर सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध से कोटिक गण प्रवर्तित हुए[५१]।

आर्य सुहस्ती के समय शिथिलाचार की एक स्फुट रेखा निर्मित

वे स्वयं सम्राट् सम्प्रति के आचार्य बन कुछ सुविधा के उपभोक्ता बने थे। पर आर्य महागिरि के संकेत से शीघ्र ही सम्हल गए थे। माना जाता है कि उनके सम्हल जाने पर भी एक शिथिल परम्परा चल पड़ी।

वी० नि० की नवीं शताब्दी (८५०) में चैत्यवास की स्थापना हुई। कुछ शिथिलाचारी मुनि उग्र-विहार छोड़ कर मंदिरों के परिपार्श्व में रहने लगे। वी० नि० की दशवी शताब्दी तक इनका प्रमुत्व नहीं बढ़ा। देवर्द्धिगणी के दिवंगत होते ही इनका सम्प्रदाय शक्तिशाली हो गया। विद्या-बल और राज्य बल दोनो के द्वारा इन्होने उग्र-विहारी श्रमणों पर पर्याप्त प्रहार किया। हरिभद्रसूरि ने 'सम्बोध-प्रकरण' में इनके आचार-विचार का सजीव वर्णन किया है।

अभयदेव सूरि देवर्द्धिगणी के पश्चात् जैन-शासन की वास्तविक परम्परा का लोप मानते हैं[५२]।

चैत्यवास से पूर्व गण, कुल और शाखाओं का प्राचुर्य होते हुए भी उनमें पारस्परिक विग्रह या अपने गण का अहंकार नहीं था। वे प्रायः अविरोधी थे। अनेक गण होना व्यवस्था-सम्मत था। गणो के नाम विभिन्न कारणों से परिवर्तित होते रहते थे। भगवान् महावीर के उत्तराधिकारी सुधर्मा के नाम से गण को सौधर्म गण कहा गया।

सामन्त भद्रसूरि ने वन-वास स्वीकार किया, इसलिए उसे वन-वासी गण कहा गया।

चैत्यवासी -शाखा के उद्‌भव के साथ एक पक्ष संविग्न, विधि-मार्ग या सुविहित मार्ग कहलाया और दूसरा पक्ष चैत्यवासी।

स्थानक वासी

इस सम्प्रदाय का उद्भव मूर्ति-पूजा के अस्वीकार पक्ष में हुआ। वि० की सोलहवीं शताब्दी में लोकाशाह ने मूर्ति-पूजा का विरोध किया और आचार की कठोरता का पक्ष प्रबल किया। इन्हीं लोकाशाह के अनुयायियों में से स्थानकवासी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। यह थोड़े ही समय में शक्तिशाली बन गया।

तेरापंथ

स्थानक वासी सम्प्रदाय के आचार्य श्री रुघनाथजी के शिष्य 'संत भीखणजी'

(आचार्य भिक्षु) ने वि० सं० १८१७ में तेरापंथ का प्रवर्तन किया। आचार्य भिक्षु ने आचार-शुद्धि और संगठन पर बल दिया। एक सूत्रता के लिए उन्होंने अनेक मयार्दाओं का निर्माण किया। शिष्य-प्रथा को समाप्त कर दिया। थोड़े ही समय में एक आचार्य, एक आचार और एक विचार के लिए तेरापंथ प्रसिद्ध हो गया। आचार्य भिक्षु आगम के अनुशीलन द्वारा कुछ नये तत्त्वों को प्रकाश में लाए। सामाजिक भूमिका में उस समय वे कुछ अपूर्व से लगे। आध्यात्मिक-दृष्टि से वे बहुत ही मूल्यवान हैं, कुछ तथ्य तो वर्तमान समाज के भी पथ-दर्शक बन गए हैं।

उन्होंने कहा—

(१) धर्म को जाति, समाज और राज्यगत नीति से मुक्त रखा जाय।

(२) साधन-शुद्धि का उतना ही महत्त्व है, जितना कि साध्य का।

(३) हिंसक साधनों से अहिंसा का विकास नहीं किया जा सकता।

(४) हृदय-परिवर्तन हुए बिना किसी को अहिंसक नहीं बनाया जा सकता।

(५) आवश्यक हिंसा को अहिंसा नहीं मानना चाहिए।

(६) धर्म और अधर्म क्रिया-काल में ही होते हैं, उसके पहले पीछे नहीं होते।

(७) बड़ों की सुरक्षा के लिए छोटे जीवों का वध करना अहिंसा नहीं है।

उन्होंने दान और दया के धार्मिक विश्वासों की आलोचना की और उनकी ऐकान्तिक आध्यात्मिकता को अस्वीकार किया।

मिश्र-धर्म को अमान्य करते हुए उन्होंने आगम की भाषा में कहा—

"संक्षेप में क्रिया के दो स्थान हैं। १—धर्म, २—अधर्म[५३]। धर्म और अधर्म का मिश्र नहीं होता।"

गौतम स्वामी ने पूछा—"भगवन्! अन्य तीर्थिक ऐसा कहते हैं, प्रज्ञापना और प्ररूपणा करते हैं—एक जीव एक समय में दो क्रियाएं करता है। वे दो क्रियाएं हैं—सम्यक् और मिथ्या। जिस समय सम्यक् क्रिया करता है, उस समय मिथ्या क्रिया भी करता है और जिस समय मिथ्या क्रिया करता है, उस समय सम्यक् क्रिया भी करता है। सम्यक् क्रिया करने के द्वारा मिथ्या

करता है और मिथ्या क्रिया करने के द्वारा सम्यक् क्रिया करता है—इस प्रकार एक जीव एक समय में दो क्रियाएं करता है। यह कैसे है भगवन् ?"

भगवान्—"गौतम ! एक जीव एक समय में दो क्रियाएं करता है—यह जो कहा जाता है, वह सच नहीं है—मैं इस प्रकार कहता हूँ, प्रज्ञापना और प्ररूपणा करता हूँ। एक जीव एक समय में एक ही क्रिया करता है—सम्यक् या मिथ्या। जिस समय सम्यक् क्रिया करता है, उस समय मिथ्या क्रिया नहीं करता और जिस समय मिथ्या क्रिया करता है, उस समय सम्यक् क्रिया नहीं करता। सम्यक् क्रिया करने के द्वारा मिथ्या क्रिया नहीं करता और मिथ्या क्रिया करने के द्वारा सम्यक् क्रिया नहीं करता है। इस प्रकार एक जीव एक समय में एक ही क्रिया करता है—सम्यक् या मिथ्या[५४]।"

अन्य तीर्थिक लोग "एक साथ धर्म और अधर्म दोनों क्रियाएं होती हैं"—ऐसा मानते थे। उनका भगवान् महावीर ने इस सूत्र में प्रतिवाद किया और बताया—"सम्यक् और असम्यक्—शुभ अध्यवसाय वाली और अशुभ अध्यवसाय वाली—ये दोनों क्रियाएं एक साथ नहीं हो सकतीं। आत्मा क्रिया करने में सर्वात्मना प्रवृत्त होती है। इसलिए क्रिया का अध्यवसाय एक साथ द्विरूप नहीं हो सकता। जिस समय निर्जरा होती है, उस समय आस्रव भी विद्यमान रहता है। पुण्य-बंध होता है, उस समय पाप भी बंधता है। किन्तु ये दोनों प्रवृत्तियां स्वतन्त्र हैं, इसलिए यह मिश्र नहीं कहलाता। जिससे कर्म लगता है, उसीसे कर्म नहीं टूटता तथा जिससे पुण्य का बंध होता है, उसीसे पाप का बंध नहीं होता। एक ही प्रवृत्ति से धर्म-अधर्म दोनों हों, पुण्य-पाप दोनों बंधे, उसका नाम मिश्र है। धर्म मिश्र नहीं होता।"

ये विचार आदि-काल में बहुत ही अपरिचित से लगे किन्तु अब इनकी गहराई से लोगों का निकट परिचय हुआ है।

तेरापंथ के आठ आचार्य हो चुके हैं। वर्तमान नेता आचार्य श्री तुलसी हैं। अणुव्रत-आन्दोलन जो अहिंसा, मैत्री, धर्म-समन्वय और धर्म के सम्प्रदायातीत रूप का उज्ज्वल प्रतीक है, आचार्य श्री के विचार-मन्थन का नवनीत है।

आन्दोलन-प्रवर्तक के व्यक्तित्व पर जैन धर्म का समन्वयवाद और सम्प्रदायातीत धार्मिकता की अमिट छाप है।

तीन

परवर्ती-प्राकृत-साहित्य
संस्कृत-साहित्य
प्रादेशिक-साहित्य
गुजराती-साहित्य
राजस्थानी-साहित्य
हिन्दी-साहित्य

में दो विचार धाराएं हैं—एक के अनुसार भगवान् महावीर के पूर्व से ज्ञान-राशि का यह भाग चला आ रहा था। इसलिए उत्तरवर्ती साहित्य-रचना के समय इसे पूर्व कहा गया। दूसरी विचारणा के अनुसार द्वादशांगी से पूर्व ये चौदह शास्त्र रचे गए, इसलिए इन्हें पूर्व कहा गया[३]। पूर्वों में सारा श्रुत समा जाता है। किन्तु साधारण बुद्धि वाले उसे पढ़ नहीं सकते। उनके लिए द्वादशांगी की रचना की गई[४]। आगम-साहित्य में अध्ययन-परम्परा के तीन क्रम मिलते हैं। कुछ श्रमण चतुर्दश पूर्वी होते थे, कुछ द्वादशांगी के विद्वान् और कुछ सामायिक आदि ग्यारह अंगों को पढ़ते थे। चतुर्दश पूर्वी श्रमणों का अधिक महत्त्व रहा है। उन्हें श्रुत-केवली कहा गया है।

चौदह पूर्व

नाम	विषय	पद-परिमाण
१—उत्पाद	द्रव्य और पर्यायों की उत्पत्ति	एक करोड़
२—अग्रायणीय	द्रव्य, पदार्थ और जीवों का परिमाण	छियानवे लाख
३—वीर्य-प्रवाद	सकर्म और अकर्म जीवों के वीर्य का वर्णन	सत्तर लाख
४—अस्तिनास्ति-प्रवाद	पदार्थ की सत्ता और असत्ता का निरूपण	साठ लाख
५—ज्ञान-प्रवाद	ज्ञान का स्वरूप और प्रकार	एक कम एक करोड़
६—सत्य-प्रवाद	सत्य का निरूपण	एक करोड़ छह
७—आत्म-प्रवाद	आत्मा और जीव का निरूपण	छब्बीस करोड़
८—कर्म-प्रवाद	कर्म का स्वरूप और प्रकार	एक करोड़ अस्सी लाख
९—प्रत्याख्यान-प्रवाद	व्रत-आचार, विधि-निषेध	चौरासी लाख
१०—विद्यानुप्रवाद	सिद्धियों और उनके साधनों का निरूपण	एक करोड़ दस लाख
११—अवन्ध्य (कल्याण)	शुभाशुभ फल की अवश्यंभाविता का निरूपण	छब्बीस करोड़

१२—प्राणायुप्रवाद	इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, आयुष्य और प्राण का निरूपण	एक करोड़ छप्पन लाख
१३—क्रियाविशाल	शुभाशुभ क्रियाओं का निरूपण	नौ करोड़
१४—लोकविन्दुसार	लोक विन्दुसार लब्धि का स्वरूप और विस्तार	साढ़े बारह करोड़

उत्पाद पूर्व में दस वस्तु और चार चूलिकावस्तु हैं। अग्रायणीय पूर्व में चौदह वस्तु और बारह चूलिकावस्तु हैं। वीर्यप्रवाद पूर्व में आठ वस्तु और आठ चूलिकावस्तु हैं। अस्ति-नास्ति-प्रवाद पूर्व में अठारह वस्तु और दस चूलिकावस्तु हैं। ज्ञान-प्रवाद पूर्व में बारह वस्तु हैं। सत्य-प्रवाद पूर्व में दो वस्तु हैं। आत्म-प्रवाद पूर्व में सोलह वस्तु हैं। कर्म प्रवाद पूर्व में तीस वस्तु हैं। प्रत्याख्यान पूर्व में बीस। विद्यानुप्रवाद पूर्व में पन्द्रह। अवन्ध्य पूर्व में बारह। प्राणायु पूर्व में तेरह। क्रियाविशाल पूर्व में तीन। लोक बिन्दु-सार पूर्व में पचीस। चौथे से आगे के पूर्वों में चूलिकावस्तु नहीं है[५]।

इनकी भाषा संस्कृत मानी जाती है। इनका विषय गहन और भाषा सहज सुबोध नहीं थी। इसलिए अल्पमति लोगों के लिए द्वादशांगी रची गई। कहा भी है :—

"बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां, नृणां चारित्रकाङ्क्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृते कृतः॥

आचारांग का स्थान पहला है। वह योजना की दृष्टि से है। रचना की दृष्टि से पूर्व का स्थान पहला है[६]।

आगमों की भाषा

जैन आगमों की भाषा अर्ध-मागधी है। आगम-साहित्य के अनुसार तीर्थंकर अर्ध-मागधी में उपदेश देते हैं[७]। इसे उस समय की दिव्य भाषा[८] और इसका प्रयोग करने वाले को भाषार्य कहा है[९]। यह प्राकृत का ही एक रूप है[१०]। यह मगध के एक भाग में बोली जाती है, इसलिए अर्ध-मागधी कहलाती है। इसमें मागधी और दूसरी भाषाओं—अठारह देशी भाषाओं के लक्षण मिश्रित हैं। इसलिए यह अर्ध-मागधी कहलाती है[११]। भगवान् महावीर के शिष्य मगध, मिथिला, कौशल आदि अनेक प्रदेश, वर्ग और जाति के थे।

आर्य शय्यम्भव ने किया [१५]। शेष आगमों के निर्यूहक श्रुत-केवली भद्रबाहु हैं [१६]। प्रज्ञापना के कर्त्ता श्यामार्य, अनुयोग-द्वार के आर्य-रक्षित और नन्दी के देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण माने जाते हैं।

भाषा की दृष्टि से आगमों को दो युगों में विभक्त किया जा सकता है। ई० पू० ४०० से ई० १०० तक का पहला युग है। इसमें रचित अंगों की भाषा अर्ध-मागधी है। दूसरा युग ई० १०० से ई० ५०० तक का है। इसमें रचित या निर्यूढ आगमों की भाषा जैन महाराष्ट्री प्राकृत है [१७]।

अर्द्धमागधी और जैन महाराष्ट्री प्राकृत में जो अन्तर है, उसका संक्षिप्त रूप यह है :—

शब्द-भेद

१—अर्ध मागधी में ऐसे प्रचुर शब्द हैं, जिनका प्रयोग महाराष्ट्री में प्रायः उपलब्ध नहीं होता; यथा—अज्झत्थिय, अज्झोवण्ण, अणुवीति, आघवणा, आघवेत्तग, आणापाणू, आवीकम्म, कण्हुइ, केमहालय, दुरूढ़, पंचत्थिमिल्ल, पउकुव्वं, पुरत्थिमिल्ल, पोरेवच्च, महतिमहालिया, वक्क, विउस इत्यादि।

२—ऐसे शब्दों की संख्या भी बहुत बड़ी है, जिनके रूप अर्धमागधी और महाराष्ट्री में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। उनके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

अर्धमागधी	महाराष्ट्री	जाया	जत्ता
अभियागम	अब्भाअम	णिगण, णिगिण (नग्न)	नग्ग
आउंटण	आउंचण	णिगिणिण (नागन्य)	णग्गत्तणं
आहरण	उआहरण	तच्च (तृतीय)	तइअ
उप्पिं	उवरिं, अवरिं	तच्च (तथ्य)	तच्छ
किया	किरिआ	तेगिच्छा	चिइच्छा
कीस, केस	केरिस	दुवालसंग	वारसंग
केवचिर	किअच्चिर	दोच्च	दुइअ
गेहि	गिद्धि	नितिय	णिच्च
चियत्त	चइअ	निएय	णिअअ
छच्च	छक्क	पडुप्पन्न	पच्चुप्पण्ण

इसलिए जैन-साहित्य की प्राचीन प्राकृत में देश्य शब्दों की बहुलता है। मागधी और देश्य शब्दों का मिश्रण अर्ध-मागधी कहलाता है। यह जिनदास महत्तर की व्याख्या है, जो सम्भवतः सब से अधिक प्राचीन है। इसे आर्ष भी कहा जाता है [१२]। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे आर्ष कहा—उसका मूल आगम का ऋषि-भाषित शब्द है [१३]।

आगमों का प्रामाण्य और अप्रामाण्य

केवली, अवधि-ज्ञानी, मनः पर्यव-ज्ञानी, चतुर्दश पूर्वधर और दशपूर्वधर की रचना को आगम कहा जाता है। आगम में प्रमुख स्थान द्वादशांगी या गणि-पिटक का है। वह स्वतः प्रमाण है। शेष आगम परतः प्रमाण हैं—द्वादशांगी के अविरुद्ध हैं, वे प्रमाण हैं, शेष अप्रमाण।

आगम-विभाग

आगम-साहित्य प्रणेता की दृष्टि से दो भागों में विभक्त होता है। (१) अंग-प्रविष्ट (२) अनंग-प्रविष्ट। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों ने जो साहित्य रचा, वह अंग-प्रविष्ट कहलाता है। स्थाविरों ने जो साहित्य रचा, वह अनंग-प्रविष्ट कहलाता है। बारह अंगों के अतिरिक्त सारा आगम-साहित्य अनंग-प्रविष्ट है। गणधरों के प्रश्न पर भगवान् ने त्रिपदी—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का उपदेश दिया। उसके आधार पर जो आगम-साहित्य रचा गया, वह अंग-प्रविष्ट और भगवान् के मुक्त व्याकरण के आधार पर स्थविरों ने जो रचा, वह अनंग-प्रविष्ट है।

द्वादशांगी का स्वरूप सभी तीर्थंकरों के समक्ष नियत होता है। अनंग-प्रविष्ट नियत नहीं होता [१४]। अभी जो एकादश अंग उपलब्ध हैं वे सुधर्मा गणधर की वाचना के हैं। इसलिए सुधर्मा द्वारा रचित माने जाते हैं।

अनंग-प्रविष्ट आगम-साहित्य की दृष्टि से दो भागों में बंटता है। कुछेक आगम स्थविरों के द्वारा रचित हैं और कुछेक निर्यूढ। जो आगम द्वादशांगी या पूर्वों से उद्धृत किये गए, वे निर्यूढ कहलाते हैं। दशवैकालिक, आचारांग का दूसरा श्रुत-स्कन्ध, निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प, दशाश्रुत-स्कन्ध—ये निर्यूढ आगम हैं।

दशवैकालिक का निर्यूहन अपने पुत्र मनक की आराधना के लिए

आर्य शय्यम्भव ने किया [१५]। शेष आगमों के निर्यूहक श्रुत-केवली भद्रबाहु हैं [१६]। प्रज्ञापना के कर्त्ता श्यामार्य, अनुयोग-द्वार के आर्य-रक्षित और नन्दी के देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण माने जाते हैं।

भाषा की दृष्टि से आगमों को दो युगों में विभक्त किया जा सकता है। ई० पू० ४०० से ई० १०० तक का पहला युग है। इसमें रचित अंगों की भाषा अर्ध-मागधी है। दूसरा युग ई० १०० से ई० ५०० तक का है। इसमें रचित या निर्यूढ़ आगमों की भाषा जैन महाराष्ट्री प्राकृत है [१७]।

अर्द्धमागधी और जैन महाराष्ट्री प्राकृत में जो अन्तर है, उसका संक्षिप्त रूप यह है :—

शब्द-भेद

१—अर्ध मागधी में ऐसे प्रचुर शब्द हैं, जिनका प्रयोग महाराष्ट्री में प्रायः उपलब्ध नहीं होता; यथा—अज्झत्थिय, अज्झोवण्ण, अणुवीति, आघवणा, आधवेत्तग, आणापाणू, आवीकम्म, कण्हुइ, केमहालय, दुरूढ़, पंचत्थिमिल्ल, पउकुव्वं, पुरत्थिमिल्ल, पोरेवच, महतिमहालिया, वक्क, विउस इत्यादि।

२—ऐसे शब्दों की संख्या भी बहुत बड़ी है, जिनके रूप अर्धमागधी और महाराष्ट्री में भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। उनके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

अर्धमागधी	महाराष्ट्री		
अभियागम	अब्भाअम	णिगण, णिगिण (नग्न)	नग्ग
आउंटण	आउंचण	णिगिणिण (नाग्न्य)	णग्गत्तणं
आहरण	उआहरण	तच्च (तृतीय)	तइअ
उप्पि	उवरिं, अवरिं	तच्च (तथ्य)	तच्छ
किया	किरिआ	तेगिच्छा	चिइच्छा
कीस, केस	केरिस	दुवालसंग	वारसंग
केवच्चिर	किअच्चिर	दोच्च	दुइअ
गेहि	गिद्धि	नितिय	णिच्च
चियत्त	चइअ	निएय	णिअअ
छच्च	छक्क	पडुप्पन्न	पच्चुप्पण्ण

पच्छेकम्म	पच्छाकम्म	वग्गू	वाश्रा
पाय (पाल)	पत्त	वाहणा (उपानह)	उवाहणा
पुढो (पृथक)	पुहं, पिहं	सहेज्ज	सहाश्र
पुरेकम्म	पुराकम्म	सीश्राण, सुसाण	मसाण
पुव्विं	पुव्वं	सुमिण	सिमिण
माय (माल)	श्रत्त, मेत्त	सुहम, सुहुम	सण्ह
माहण	वम्हण	सोहि	सुद्धि
मिलक्खु, मेच्छ	मिलिच्छ		

और दुवालस, वारस, तेरस, अउण्वीसइ, वत्तीस, पणत्तीस, इगयाल, तेयालीस, पणयाल, अठयाल, एगट्ठि, वावट्ठि, तेवट्ठि, छावट्ठि, अट्ठसट्ठि, अउणत्तरि, बावत्तरि, पण्णत्तरि, सत्तहत्तरि, तेयासी, छलसीइ, बाणउइ प्रभृति संख्या-शब्दों के रूप अर्धमागधी में मिलते हैं, महाराष्ट्री में वैसे नहीं।

नाम-विभक्ति

१—अर्धमागधी में पुल्लिंग अकारान्त शब्द के प्रथमा के एक वचन में प्रायः सर्वत्र 'ए' और क्वचित् 'ओ' होता है, किन्तु महाराष्ट्री में 'ओ' ही होता है।

२—उसमी का एक वचन 'स्सिं' होता है जब महाराष्ट्री में 'म्मि'।

३—चतुर्थी के एक वचन में 'आए' या 'आते' होता है, जैसे देवाए, सवणयाए, गमणाए, अट्ठाए, अहिताते, असुभाते, अखमाते (ठा० पत्र ३५८) इत्यादि, महाराष्ट्री में यह नहीं है।

४—अनेक शब्दों के तृतीया के एक वचन में 'सा' होता है, यथा—मणसा, वयसा, कायसा, जोगसा, वलसा, चक्खुसा; महाराष्ट्री में इनके स्थान में क्रमशः मणेण, वएण, काएण, जोगेण, वलेण, चक्खुणा।

५—'कम्म' और 'धम्म' शब्द के तृतीया के एक वचन में पाली की तरह 'कम्मुणा' और धम्मुणा' होता है, जबकि महाराष्ट्री में 'कम्मेण' और 'धम्मेण'।

६—अर्धमागधी में 'तत्' शब्द के पंचमी के बहुवचन में 'तेब्भो' रूप भी देखा जाता है।

७—'युष्मत्' शब्द का षष्ठी का एक वचन संस्कृत की तरह 'तव' और 'अस्मत्' का षष्ठी का बहुवचन 'अस्माकं' अर्धमागधी में पाया जाता है, जो महाराष्ट्री में नहीं है।

आख्यात-विभक्ति

१—अर्धमागधी में भूतकाल के बहुवचन में 'इंसु' प्रत्यय है, जैसे—पुच्छिंसु, गच्छिंसु आभासिंसु इत्यादि। महाराष्ट्री में यह प्रयोग लुप्त हो गया है।

धातु-रूप

१—अर्धमागधी में आइक्खइ, कुव्वइ, भुविं, होक्खती, बूया, अब्बवी, होत्था, हुत्था, पट्टारेत्था, आघं, दुरुहइ, विगिंचए, तिवायए, अकासी, तिउट्टई, तिउट्टिज्जा, पडिसंधयाति, सारयती, धेच्छिइ, समुच्छिहिंति, आहंसु प्रभृति प्रभूत प्रयोगों में धातु की प्रकृति, प्रत्यय अथवा—ये दोनों जिस प्रकार में पाये जाते हैं, महाराष्ट्री में वे भिन्न-भिन्न प्रकार के देखे जाते हैं।

धातु-प्रत्यय

१—अर्धमागधी में 'त्वा' प्रत्यय के रूप अनेक तरह के होते हैं :—

(क) ट्टु; जैसे—कट्टु; साहट्टु, अवहट्टु इत्यादि।

(ख) इत्ता, एत्ता, इत्ताणं और एत्ताणं; यथा—चइत्ता, विउट्टित्ता, पासित्ता, करेत्ता, पासित्ताणं, करेत्ताणं इत्यादि।

(ग) इत्तु; यथा—दुरुहित्तु, जाणित्तु, वधित्तु, प्रभृति।

(घ) चा; जैसे—किच्चा, णच्चा, सोच्चा, भोच्चा, चेच्चा आदि।

(ङ) इंया; यथा—परिजाणिया, दुरुहिया आदि।

(च) इनके अतिरिक्त विउक्कम्म, निसम्म. समिच्च, संखाए, अणुवीति, लद्धं, लद्धूण, दिस्सा आदि प्रयोगों में त्वा' के रूप भिन्न-भिन्न तरह के पाये जाते हैं।

२—'तुम्' प्रत्यय के स्थान में इत्तए या इत्तते प्रायः देखने में आता है। जैसे—करित्तए, गच्छित्तए, संभुंजित्तए, उवासमित्तते (विपा० १३) विहरित्तए आदि।

३—अकारान्त धातु के 'त' प्रत्यय के स्थान में 'ड' होता है, जैसे—कड, मड, अभिहड, वावड, संवुड, वियुड, वित्थड प्रभृति।

तद्धित

१—'तर' प्रत्यय का तराय रूप होता है, यथा अणिढतराए, अप्पतराए, बहुतराए, कंततराए इत्यादि।

२—आउसो, आउसंतो, गोमी, बुसिमं, भगवंतो, पुरत्थिम, पंचत्थिम, ओयंसी, दोसिणो, पोरेवच्च आदि प्रयोगों में 'मतुप्', और अन्य 'तद्धित' प्रत्ययों के जैसे रूप जैन अर्धमागधी में देखे जाते हैं, महाराष्ट्री में वे भिन्न तरह के होते हैं।

महाराष्ट्री से जैन अर्धमागधी में इनके अतिरिक्त और भी अनेक सूक्ष्म भेद हैं, जिनका उल्लेख विस्तार-भय से यहाँ नहीं किया गया है।

आगम-वाचनाएं

वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी में (१६० वर्ष पश्चात्) पाटलीपुत्र में १२ वर्ष का दुर्भिक्ष हुआ [१९]। उस समय श्रमण-संघ छिन्न-भिन्न सा हो गया। बहुत सारे बहुश्रुत मुनि अनशन कर स्वर्ग-वासी हो गए। आगम-ज्ञान की शृङ्खला टूट सी गई। दुर्भिक्ष मिटा तब संघ मिला। श्रमणो ने ग्यारह अंग संकलित किए। बारहवें अंग के ज्ञाता भद्रबाहु स्वामी के सिवाय कोई नहीं रहा। वे नेपाल में महाप्राण-ध्यान की साधना कर रहे थे। संघ की प्रार्थना पर उन्होंने बारहवें अंग की वाचना देना स्वीकार कर लिया। पन्द्रह सौ साधु गए। उनमें पाँच सौ विद्यार्थी थे और हजार साधु उनकी परिचर्या में नियुक्त थे। प्रत्येक विद्यार्थी-साधु के दो-दो साधु परिचारक थे। अध्ययन प्रारम्भ हुआ। लगभग विद्यार्थी-साधु थक गए। एकमात्र स्थूलभद्र बच रहे। उन्हें दस पूर्व की वाचना दी गई। बहिनो को चमत्कार दिखाने के लिए उन्होंने सिंह का रूप बना लिया। भद्रबाहु ने इसे जान लिया। वाचना बन्द करदी। फिर बहुत आग्रह करने पर चार पूर्व दिये पर उनका अर्थ नहीं बताया। स्थूलभद्र पाठ की दृष्टि से अन्तिम श्रुत केवली थे। अर्थ की दृष्टि से अन्तिम श्रुत-केवली भद्रबाहु ही थे। स्थूलभद्र के बाद दश पूर्व का ज्ञान ही शेष-रहा। वज्रस्वामी अन्तिम दश-पूर्वधर हुए। वज्रस्वामी के उत्तराधिकारी आर्य-रक्षित हुए। वे नौ पूर्व पूर्ण और दसवें पूर्व के २४ यविक जानते थे। आर्य-रक्षित के शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र ने नौ पूर्वों का अध्ययन किया किन्तु अनभ्यास के

कारण वे नवें पूर्व को भूल गए। विस्मृति का यह क्रम आगे बढ़ता गया।

आगम-संकलन का दूसरा प्रयत्न वीर-निर्वाण ८२७ और ८४० के बीच हुआ। आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में आगम लिखे गए। यह कार्य मथुरा में हुआ। इसलिए इसे माथुरी-वाचना कहा जाता है। इसी समय वल्लभी में आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में आगम संकलित हुए। उसे वल्लभी-वाचना या नागार्जुनीय वाचना कहा जाता है।

वीर-निर्वाण की १० वीं शताब्दी-माथुरी-वाचना के अनुयायियों के अनुसार वीर-निर्वाण के ९८० वर्ष पश्चात् तथा वल्लभी-वाचना के अनुयायियों के अनुसार वीर-निर्वाण के ९९३ वर्ष पश्चात् देवर्द्धिगणी ने वल्लभी में फिर से आगमों का व्यवस्थित लेखन किया। इसके पश्चात् फिर कोई सर्वमान्य वाचना नहीं हुई। वीर की दसवीं शताब्दी के पश्चात् पूर्वज्ञान की परम्परा विच्छिन्न हो गई [११]।

आगम-विच्छेद का क्रम

भद्रबाहु का स्वर्गवास वीर-निर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् हुआ। आर्थी-दृष्टि से अन्तिम चार पूर्वों का विच्छेद इसी समय हुआ। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार यह वीर-निर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात् हुआ।

शाब्दी दृष्टि से अन्तिम चार पूर्व स्थूलभद्र की मृत्यु के समय वीर-निर्वाण के २१६ वर्ष पश्चात् विच्छिन्न हुए। इनके बाद दशपूर्वों की परम्परा आर्यवज्र तक चली। उनका स्वर्गवास वीर-निर्वाण के ५७१ (विक्रम संवत् १०१) वर्ष पश्चात् हुआ। उसी समय दशवां पूर्व विच्छिन्न हुआ। नवां पूर्व दुर्बलिका-पुष्यमित्र की मृत्यु के साथ—वीर-निर्वाण ६०४ वर्ष (वि० संवत् १३४) में लुप्त हुआ।

पूर्वज्ञान का विच्छेद वीर-निर्वाण (वि० संवत् ५३०) के हजार वर्ष पश्चात् हुआ।

दिगम्बर-मान्यता के अनुसार वीर-निर्वाण के ६२ वर्ष तक केवल-ज्ञान रहा। अन्तिम केवली जम्बूस्वामी हुए। उनके पश्चात् १०० वर्ष तक चौदह पूर्वों का ज्ञान रहा। अन्तिम चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु हुए। उनके पश्चात् १८३ वर्ष तक दशपूर्व रहे। धर्मसेन अन्तिम दशपूर्वी थे। उनके पश्चात् ग्यारह

अंगों की परम्परा २२० वर्ष तक चली। उनके अन्तिम अध्येता ध्रुवसेन हुए। उनके पश्चात् एक अंग-आचारांग का अध्ययन ११८ वर्ष तक चला। इसके अन्तिम अधिकारी लोहार्य हुए। वीर-निर्वाण ६८३ (विक्रम संवत् २१३) के पश्चात् आगम-साहित्य सर्वथा लुप्त हो गया। केवल-ज्ञान की लोप की मान्यता में दोनों सम्प्रदाय एक मत हैं। चार पूर्वों का लोप भद्रबाहु के पश्चात् हुआ, इसमें ऐक्य है। केवल काल-दृष्टि से आठ वर्ष का अन्तर है। श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार उनका लोप वीर-निर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् हुआ और दिगम्बर-मान्यता के अनुसार १६२ वर्ष पश्चात्। यहाँ तक दोनों परम्पराएं आस-पास चलती हैं। इसके पश्चात् उनमें दूरी बढ़ती चली जाती हैं। दशवें पूर्व के लोप की मान्यता मे दोनों में काल का बड़ा अन्तर है। श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार दशपूर्वी वीर-निर्वाण से ५८४ वर्ष तक हुए और दिगम्बर-परम्परा के अनुसार २४५ वर्ष तक। श्वेताम्बर एक पूर्व की परम्परा को देवर्द्धिगणि तक ले जाते और आगमों के कुछ मौलिक भाग को अब तक सुरक्षित मानते हैं। दिगम्बर वीर-निर्वाण ६८३ वर्ष पश्चात् आगमों का पूर्ण लोप स्वीकार करते हैं।

आगम का मौलिक रूप

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार वीर-निर्वाण के ६८३ के पश्चात्—आगमों का मौलिक स्वरूप लुप्त हो गया।

श्वेताम्बर-मान्यता है कि आगम-साहित्य का मौलिक स्वरूप बड़े परिमाण में लुप्त हो गया किन्तु पूर्ण नहीं, अब भी वह शेष है। अंगों और उपांगों की जो तीन बार संकलना हुई, उसमें मौलिक रूप अवश्य ही बदला है। उत्तरवर्ती घटनाओं और विचारणाओं का समावेश भी हुआ है। स्थानांग में सात निह्नवों और नव गणों का उल्लेख स्पष्ट प्रमाण है। प्रश्न-व्याकरण का जो विषय-वर्णन है, वह वर्तमान रूप में उपलब्ध नहीं है। इस स्थिति के उपरान्त भी अंगों का अधिकांश भाग मौलिक है। भाषा और रचना शैली की दृष्टि से यह प्राचीन है। आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध शैली की दृष्टि से शेष सब अंगों से भिन्न है। आज के भाषा शास्त्री इसे ढाई हजार वर्ष प्राचीन बतलाते

हैं। सूत्र कृतांग, स्थानांग और भगवती भी प्राचीन हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं, आगम का मूल आज भी सुरक्षित है।

अनुयोग

अनुयोग का अर्थ है—सूत्र और अर्थ का उचित सम्बन्ध, वे चार हैं (१) चरणकरणानुयोग (२) धर्मकथानुयोग (३) गणितानुयोग (४) द्रव्यानुयोग। आर्य-वज्र तक अनुयोग के विभाग नहीं थे। प्रत्येक सूत्र में चारों अनुयोगों का प्रतिपादन किया जाता था। आर्य-रक्षित ने इस पद्धति में परिवर्तन किया। इसके निमित्त उनके शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र बने। आर्य-रक्षित के चार प्रमुख शिष्य थे। दुर्बलिका पुष्य, फल्गुरक्षित, विन्ध्य और गोष्ठामाहिल। विन्ध्य इनमें मेधावी था। उसने आर्य-रक्षित से प्रार्थना की—"प्रभो! मुझे सहपाठ में अध्ययन-सामग्री बहुत विलम्ब से मिलती है। इसलिए शीघ्र मिले, ऐसी व्यवस्था कीजिए।" आर्य-रक्षित ने उसे आलापक देने का भार दुर्बलिका पुष्य को सौंपा। कुछ दिन तक वे उसे वाचना देते रहे। फिर एक दिन दुर्बलिका पुष्य ने आर्य-रक्षित से निवेदन किया—गुरुदेव! इसे वाचना दूंगा तो मेरा नवां पूर्व विस्मृत हो जाएगा। अब जो आर्यवर का आदेश हो वही करूं। आर्य-रक्षित ने सोचा—दुर्बलिका पुष्य की यह गति है। अब प्रज्ञा-हानि हो रही है। प्रत्येक सूत्र में चारों अनुयोगों को धारण करने की क्षमता रखने वाले अब अधिक समय तक नहीं रह सकेंगे। चिन्तन के पश्चात् उन्होंने आगमों को—चार अनुयोगों के रूप में विभक्त कर दिया[२०]।

आगमों का पहला संस्करण भद्रबाहु के समय में हुआ था और दूसरा संस्करण आर्य-रक्षित ने (वीर निर्वाण ५८४-५९७ में) किया। इस संस्करण में व्याख्या की दुरुहता मिट गई। चारों अनुयोगों में आगमों का विभाग इस प्रकार किया :—

(१) चरण-करण-अनुयोग	—कालिक सूत्र
(२) धर्मकथानुयोग	—उत्तराध्ययन आदि ऋषि-भाषित
(३) गणितानुयोग (कालानुयोग)	—सूर्य प्रज्ञप्ति आदि
(४) द्रव्यानुयोग	—दृष्टिवाद[२१]

दिगम्बर-परम्परा में ये चार अनुयोग कुछ रूपान्तर से मिलते हैं। उनके नाम क्रमशः ये हैं :—

(१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग (४) द्रव्यानुयोग [२२]।

श्वेताम्बर-मान्यता के अनुसार चार अनुयोगों का विषय क्रमशः इस प्रकार है—

(१) आचार

(२) चरित, दृष्टान्त, कथा आदि

(३) गणित, काल

(४) द्रव्य, तत्त्व

दिगम्बर-मान्यता के अनुसार चार अनुयोगों का विषय क्रमशः इस प्रकार है :—

(१) महापुरुषों के जीवन-चरित

(२) लोकालोक विभक्ति, काल, गणित

(३) आचार

(४) द्रव्य, तत्त्व।

दिगम्बर आगमों को लुप्त मानते हैं, इसलिए वे प्रथमानुयोग में महापुराण और पुराण, करणानुयोग में त्रिलोक-प्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार, चरणानुयोग में मूलाचार और द्रव्यानुयोग में प्रवचनसार, गोम्मटसार आदि को समाविष्ट करते हैं।

लेखन और प्रतिक्रिया

जैन-साहित्य के अनुसार लिपि का प्रारम्भ प्राग्-ऐतिहासिक है। प्रज्ञापना में १८ लिपियों का उल्लेख मिलता है[२३]। भगवान् ऋषभनाथ ने अपनी पुत्री ब्राह्मी को १८ लिपियां सिखाई—ऐसा उल्लेख विशेषावश्यक भाष्यवृत्ति, त्रिषष्टि श्लाका पुरुष चरित्र आदि में मिलता है[२४]। जैन-सूत्र वर्णित ७२ कलाओं में लेख-कला का पहला स्थान है[२५]। भगवान् ऋषभनाथ ने ७२ कलाओं का उपदेश किया तथा असि, मषि और कृषि—ये तीन प्रकार के व्यापार चलाए[२६]। इनमें आये हुए लेख-कला और मषि शब्द लिखने की परम्परा को कर्म-युग के आरम्भ-तक ले जाते हैं। नन्दी सूत्र में तीन प्रकार

का अक्षर-श्रुत बतलाया है। इसमें पहला संज्ञाक्षर है। इस का अर्थ होता है—अक्षर की आकृति—संस्थान-लिपि।

लेख-सामग्री

प्राग्-ऐतिहासिक काल में लिखने की सामग्री कैसी थी, यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता[२७]। राजप्रश्नीय सूत्र में पुस्तक रत्न का वर्णन करते हुए कम्बिका (कामी), मोरा, गांठ, लिप्यासन (मषिपात्र) छंदन, (ढक्कन) सांकली, मषि और लेखनी—इन लेख-सामग्री के उपकरणों की चर्चा की गई है। प्रज्ञापना में 'पोत्थारा' शब्द आता है[२८]। जिसका अर्थ होता है—लिपिकार—पुस्तक-विज्ञान-आर्य—इसे शिल्पार्य में गिना गया है तथा इसी सूत्र में बताया गया है कि अर्ध-मागधी भाषा और ब्राह्मी लिपि का प्रयोग करने वाले भाषार्य होते हैं[२९]। भगवती सूत्र के आरम्भ में ब्राह्मी लिपि को नमस्कार किया गया है, उसकी पृष्ठभूमि में भी लिखने का इतिहास है। भाव-लिपि के पूर्व वैसे ही द्रव्य-लिपि रहती हैं, जैसे भाव-श्रुत के पूर्व द्रव्य-श्रुत होता है। द्रव्य-श्रुत श्रूयमाण शब्द और पठ्यमान शब्द दोनो प्रकार का होता है। इससे सिद्ध है कि द्रव्य-लिपि द्रव्य-श्रुत से अतिरिक्त नहीं, उसी का एक अंश है। स्थानांग में पांच प्रकार की पुस्तकें बतलाई हैं[३०]—(१) गण्डी (२) कच्छवी (३) मुष्टि (४) संपुट फलक (५) सृपाटिका। हरिभद्र सूरि ने भी दशवैकालिक टीका में प्राचीन आचार्यों की मान्यता का उल्लेख करते हुए इन्हीं पुस्तकों का उल्लेख किया है[३१]। निशीथ चूर्णी में भी इनका उल्लेख है[३२]। अनुयोग द्वार का पोत्थकम्म (पुस्तककर्म) शब्द भी लिपि की प्राचीनता का एक प्रबल प्रमाण है। टीकाकार ने पुस्तक का अर्थ ताड़-पत्र अथवा संपुटक-पत्र संचय किया है और कर्म का अर्थ उसमें वर्तिका आदि से लिखना। इसी सूत्र में आये हुए पोत्थकार (पुस्तककार) शब्द का अर्थ टीकाकार ने 'पुस्तक के द्वारा जीविका चलाने वाला' किया है। जीवाभिगम (३ प्रति ४ अधि०) के पोत्थार (पुस्तककार) शब्द का भी यही अर्थ होता है। भगवान् महावीर की पाठशाला में पढ़ने-लिखने की घटना भी तात्कालिक लेखन-प्रथा का एक प्रमाण है। वीर-निर्वाण की दूसरी शताब्दी में आक्रान्ता सम्राट् सिकन्दर के सेनापति निआर्कस ने लिखा है[३३]—'भारतवासी लोग कागज बनाते

थे[३४]। ईसवी के दूसरे शतक में ताड़-पत्र और चौथे में भोज-पत्र लिखने के व्यवहार में लाए जाते थे[३५]। वर्तमान में उपलब्ध-लिखित ग्रन्थो में ई० सं० पांचवीं में लिखे हुए पत्र मिलते हैं[३६]। तथ्यो के आधार पर हम जान सकते हैं कि भारत में लिखने की प्रथा प्राचीनतम है। किन्तु समय-समय पर इसके लिए किन-किन साधनों का उपयोग होता था, इसका दो हजार वर्ष पुराना रूप जानना अति कठिन है। मोटे तौर पर हमें यह मानना होगा कि भारतीय वाङ्मय का भाग्य लम्बे समय तक कण्ठस्थ-परम्परा में ही सुरक्षित रहा है। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनो परम्पराओं के शिष्य उत्तराधिकार के रूप में अपने-अपने आचार्यों द्वारा विधान का अक्षय-कोष पाते थे।

आगम लिखने का इतिहास

जैन दृष्टि के अनुसार श्रुत-आगम की विशाल ज्ञान-राशि १४ पूर्व में संचित है। वे कभी लिखे नहीं गए। किन्तु अमुक-अमुक परिमाण स्याही से उनके लिखे जा सकने की कल्पना अवश्य हुई है—द्वादशवर्षीय दुष्काल के बाद मथुरा में आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में साधु-संघ एकत्र हुआ। आगमो को संकलित कर लिखा गया और आर्य स्कन्दिल ने साधुओं को अनुयोग की वाचना दी। इसलिए उनकी वाचना माथुरी वाचना कहलाई। इनका समय वीर-निर्वाण ८२७ से ८४० तक माना जाता है। मथुरा-वाचना के ठीक समय पर वलभी में नागार्जुन सूरि ने श्रमण-संघ को एकत्र कर आगमों को संकलित किया। नागार्जुन और अन्य श्रमणों को जो आगम और प्रकरण याद थे, वे लिखे गए। संकलित आगमों की वाचना दी गई, यह 'नागार्जुनीय' वाचना कहलाती है। कारण कि इसमें नागार्जुन की प्रमुखता थी। वीर-निर्वाण ९८० वर्ष में देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने फिर आगमों को पुस्तकारूढ़ किया और संघ के समक्ष उनका वाचन किया[३७]। यह कार्य वलभी में सम्पन्न हुआ। पूर्वोक्त दोनों वाचनाओं के समय लिखे गए आगमों के अतिरिक्त अन्य प्रकरण-ग्रन्थ भी लिखे गए। दोनों वाचनाओं के सिद्धान्तों का समन्वय किया गया और जो महत्त्वपूर्ण भेद थे उन्हें 'पाठान्तर' आदि वाक्यावली के साथ आगम, टीका, चूर्णि में संगृहीत किया गया[३८]।

प्रतिक्रिया

आगमों के लिपि-बद्ध होने के उपरान्त भी एक विचारधारा ऐसी रही कि साधु पुस्तक लिख नहीं सकते और अपने साथ रख भी नहीं सकते। पुस्तक लिखने और रखने में दोष बताते हुए लिखा है। १—अक्षर लिखने में कुन्थु आदि त्रस जीवों की हिंसा होती है, इसलिए पुस्तक लिखना संयम विराधना का हेतु है[३९]। २—पुस्तकों को ग्रामान्तर ले जाते हुए कंधे छिल जाते हैं, व्रण हो जाते हैं। ३—उनके छेदों की ठीक तरह 'पडिलेहना' नहीं हो सकती। ४—मार्ग में भार बढ़ जाता है। ५—वे कुन्थु आदि जीवों के आश्रय होने के कारण अधिकरण हैं अथवा चोर आदि से चुराए जाने पर अधिकरण हो जाते हैं। ६—तीर्थंकरों ने पुस्तक नामक उपधि रखने की आज्ञा नहीं दी है। ७—उनके पास में होते हुए सूत्र—गुणन में प्रमाद होता है—आदि-आदि। साधु जितनी बार पुस्तकों को बांधते हैं, खोलते हैं और अक्षर लिखते हैं उन्हें उतने ही चतुर्लघुकों का दण्ड आता है और आज्ञा आदि दोष लगते हैं[४०]। आचार्य श्री भिक्षु के समय भी ऐसी विचारधारा थी। उन्होंने इसका खण्डन भी किया है[४१]।

कल्प्य-अकल्प्य-मीमांसा

आगम सूत्रों में साधु को न तो लिखने की स्पष्ट शब्दों में आज्ञा ही है और न निषेध भी किया है। लिपि की अनेक स्थानों में चर्चा होने पर साधु लिखते थे, इसकी कोई चर्चा नहीं मिलती। साधु के लिए स्वाध्याय और ध्यान का विधान किया है। उसके साथ लिखने का विधान नहीं मिलता। ध्यान कोष्ठोपगत, स्वाध्याय और सद्ध्यान रक्त आदि पदों की भांति—'लेख-रक्त' आदि शब्द नहीं मिलते[४२]। साधु की उपधि-संख्या में भी लेखन-सामग्री के किसी उपकरण का उल्लेख नहीं मिलता। ये सब पुराकाल में 'जैन साधु नहीं लिखते थे'—इसके पोषक हैं। ऐसा एक मन्तव्य है। फिर भी उनको लिखने का कल्प नहीं था—ऐसा उनके आधार पर नहीं कहा जा सकता। इनमें एक बात अवश्य ध्यान देने योग्य है। वह है उपधि की संख्या। कई आचार्यों का १४ उपधि से अधिक उपधि न रखने का आग्रह था। आचार्य भिक्षु ने इसके प्रतिकार में यह बताया कि साधु इनके

अतिरिक्त उपकरण रख सकता है[४३]। प्रश्न व्याकरण में साधु के लिए लगातार १६ उपधि गिनाये हैं[४४]। अन्य सूत्रों की साक्षी से उपधि का संकलन किया जाय तो उनकी संख्या ३० तक पहुँच जाती है। साध्वी के लिए ४ उपधि और स्थविर के लिए ११ उपधि और अधिक बतलाए गए हैं[४५]। अब प्रश्न यह होता है कि उपकरणों की इस संख्या से अतिरिक्त उपकरण जो रखे जाते हैं, वे कैसे? इसके उत्तर में कहना होगा कि वह हमारे आचार्यों की स्थापना है। सूत्र से विरुद्ध न समझ कर उन्होंने वैसी आज्ञा दी है। जैसा कि आचार्य भिक्षु ने कहा है[४६]। केवल लिखने के लिए सम्भवतः २०-२५ या उससे भी अधिक उपकरणों की जरूरत होती है। सूत्रों में इनके रखने की साफ शब्दों में आज्ञा तो दूर चर्चा तक नहीं है। इसी आधार पर कइयों ने पुस्तक-पन्नों तथा लेख-सामग्री रखने का विरोध किया। इस पर आचार्य भिक्षु ने कहा कि सूत्रों में शुद्ध साधुओं के लिए लिखना चला बताया गया है[४७]। इसलिए पन्नें तथा लेख-सामग्री रखने में कोई दोष नहीं है। क्योंकि जो लिखेंगे, उन्हें पत्र और लेखनी भी रखने होंगे। स्याही भी और स्याही-पात्र भी[४८]। आचार्य भिक्षु ने साधु को लिखना कल्पता है और जब लिखने का कल्प है तब उसके लिए सामग्री भी रखनी होगी, ऐसा स्थिर विचार प्रस्तुत ही नहीं किया अपितु प्रमाणों से समर्थित भी किया है। इसके समर्थन में चार शास्त्रीय प्रमाण दिए हैं[४९]। इनमें निशीथ की प्रशस्ति-गाथा को छोड़ कर शेष तीनों प्रमाण लिखने की प्राचीनता के साधक हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं। बहुविध–अवग्रह वाली मति-सम्पदा से साधुओं के लिखने की पद्धति की स्पष्ट जानकारी मिलती है। निशीथ की प्रशस्ति गाथा का लिखित (लिहियं) शब्द महत्तर विशाख गणि की लिपि का सूचक माना जाए तो यह भी लिखने का एक पुष्ट प्रमाण माना जा सकता है। किन्तु यदि इस लिखित शब्द को अन्य अर्थ में लिया जाए तो हमें मानना होगा कि मूल पाठ में लिखने की बात नहीं मिलती। इसलिए हमें इसे आचार्यों के द्वारा की हुई सयौक्तिक स्थापना ही मानना होगा। पूर्ववर्ती आचार्यों ने शास्त्रों का विच्छेद न हो, इस दृष्टि से आगे चल कर पुस्तक रखने का विधान किया, यह भी उनकी जीत-व्यवहार-परम्परा है[५०]।

अंग-उपांग तथा छेद और मूल

दिगम्बर-साहित्य में आगमों के दो ही विभाग मिलते हैं—अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य।

श्वेताम्बर-परम्परा में भी मूल-विभाग यही रहा। स्थानांग, नन्दी आदि में यही मिलता है। आगम-विच्छेद काल में पूर्वों और अंगों के निर्यूहण और शेषांश रहे, उन्हें पृथक् संज्ञाएं मिलीं। निशीथ, व्यवहार, बृहत्कल्प और दशाश्रुत-स्कन्ध को छेद-सूत्र कहा गया।

आगम-पुरुष की कल्पना हुई, तब अंग-प्रविष्ट को उसके अंग स्थानीय और बारह सूत्रों का उपांग-स्थानीय माना गया। पुरुष के जैसे दो पैर, दो जंघाएं, दो ऊरु, दो गात्रार्ध, दो बाहु, ग्रीवा और सिर—ये बारह अंग होते हैं, वैसे ही आचार आदि श्रुत-पुरुष के बारह अंग हैं। इसलिए ये अंग-प्रविष्ट कहलाते हैं[१]।

कान, नाक, आँख, जंघा, हाथ और पैर—ये उपांग हैं। श्रुत-पुरुष के भी औपपातिक आदि बारह उपांग हैं।

बारह अंगों और उनके उपांगों की व्याख्या इस प्रकार है :—

अंग	उपांग
आचार	औपपातिक
सूत्र	राजप्रश्नीय
स्थान	जीवाभिगम
समवाय	प्रज्ञापना
भगवती	सूर्य-प्रज्ञप्ति
ज्ञातृधर्म कथा	जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति
उपासकदशा	चन्द्रप्रज्ञप्ति
अन्तकृद्-दशा	कल्पिका
अनुत्तरोपपातिक दशा	कल्पावतंसिका
प्रश्न-व्याकरण	पुष्पिका
विपाक	पुष्प-चूलिका
दृष्टिवाद	वृष्णि-दशा[२]

उपांग का प्रयोग उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ-भाष्य में किया है[५३]। अंग स्वतः और उपांग परतः प्रमाण हैं, इसलिए अर्थाभिव्यक्ति की दृष्टि से यह प्रयोग समुचित है।

छेद का प्रयोग उनके भाष्यों में मिलता है। मूल का प्रयोग संभवतः सबसे अधिक अर्वाचीन है। दशवैकालिक, नन्दी, उत्तराध्ययन और अनुयोगद्वार—ये चार मूल माने जाते हैं। कई आचार्य महानिशीथ और जीतकल्प को मिला छेद-सूत्र छह मानते हैं। कई जीतकल्प के स्थान में पंचकल्प को छेद-सूत्र मानते हैं।

मूल-सूत्रों की संख्या में भी एक मत नहीं है। कई आचार्य आवश्यक और ओघ-निर्युक्ति को भी मूल-सूत्र मान इनकी संख्या छह बतलाते हैं। कई ओघनिर्युक्ति के स्थान में पिण्ड-निर्युक्ति को मूल-सूत्र मानते हैं।

कई आचार्य नन्दी और अनुयोगद्वार को मूल-सूत्र नहीं मानते। उनके अनुसार ये चूलिका-सूत्र हैं। इस प्रकार अंग-बाह्य श्रुत की समय-समय पर विभिन्न रूपों में योजना हुई है।

आगमों का वर्तमान रूप और संख्या

द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के पश्चात् देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में श्रमण-संघ मिला। बहुत सारे बहु-श्रुत मुनि काल कर चुके थे। साधुओं की संख्या भी कम हो गई थी। श्रुत की अवस्था चिन्तनीय थी। दुर्भिक्ष जनित कठिनाइयों से प्रासुक भिक्षाजीवी साधुओं की स्थिति बड़ी विचारणीय थी। श्रुत की विस्मृति हो गई।

देवर्द्धिगणि ने अवशिष्ट संघ को वलभी में एकत्रित किया। उन्हें जो श्रुत कण्ठस्थ था, वह उनसे सुना। आगमों के आलापक छिन्न-भिन्न, न्यूनाधिक मिले। उन्होंने अपनी मति से उनका संकलन किया, संपादन किया और पुस्तकारूढ़ किया।

आगमों का वर्तमान संस्करण देवर्द्धिगणि का है। अंगो के कर्त्ता गणधर हैं। अंग बाह्य-श्रुत के कर्त्ता स्थविर हैं। उन सबका संकलन और सम्पादन करने वाले देवर्द्धिगणि हैं। इसलिए वे आगमों के वर्तमान-रूप के कर्त्ता भी माने जाते हैं[५४]।

नंदी सूत्र में आगमों की सूची इस प्रकार है :—

उत्तराध्ययन, दशाश्रुत-स्कन्ध, कल्प, व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ, ऋषिभाषित, जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति, दीप सागर प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, क्षुल्लिका विमान प्रविभक्ति, महल्लिका विमान-प्रविभक्ति, अंगचूलिका, वग्गचूलिका, विवाहचूलिका, अरुणोवपात, वरुणोवपात, गरुलोवपात, धरणोवपात, वेसमणोवपात, वेलंधरोवपात, देविंदोवपात, उत्थानश्रुत, समुत्थान श्रुत, नागपरियापनिका, निरयावलिका, कल्पिका, कल्पवंतसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा, आशीविषभावना, दृष्टिविषभावना, चारण-भावना, महास्वप्न-भावना, तेजोग्निनिसर्ग।

दशवैकालिक, कल्पिकाकल्पिक, चुल्लकल्प श्रुत, महाकल्प श्रुत,
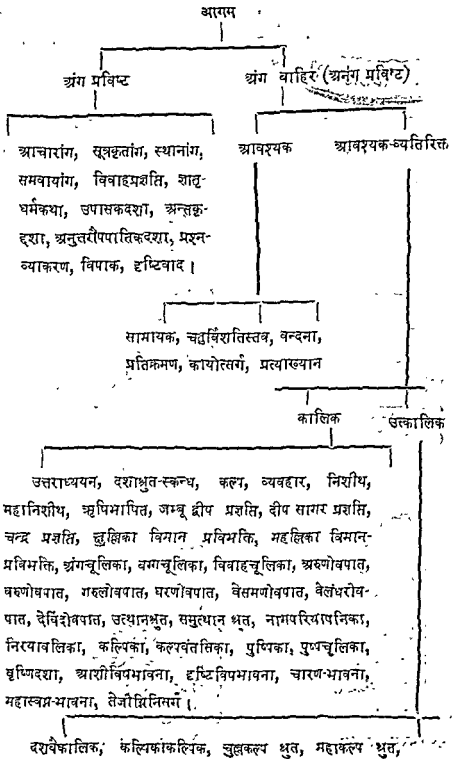
औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, महाप्रज्ञापना, प्रमादाप्रमाद, नन्दी, अनुयोगद्वार, देवेन्द्रस्तव, तन्दुलवैचारिक, चन्द्रावेध्यक, सूर्यप्रज्ञप्ति, पौरुषी मंडल, मंडल प्रवेश, विद्या–चरण-विनिश्चय, गणि-विद्या, ध्यान-विभक्ति, मरण विभक्ति, आत्म-विशोधि, वीतराग-श्रुत, संलेखना-श्रुत, विहार-कल्प, चरणविधि, आतुर-प्रत्याख्यान, महा-प्रत्याख्यान। (नं० ४६)

इनमें से कुछ आगम उपलब्ध नहीं हैं। जो उपलब्ध हैं, उनमें मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय कुछ निर्युक्तियों को मिला ४५ या ८४ आगमो को प्रमाण मानता है।

४५ आगमों की सूची

(१) आचारांग
(२) सूत्रकृतांग
(३) स्थानांग
(४) समवायांग
(५) व्याख्या प्रज्ञप्ति
(६) ज्ञातृ धर्म कथा
(७) उपासकदशा
(८) अन्तकृद्दशा
(९) अनुत्तरौपपातिक
(१०) प्रश्न-व्याकरण
(११) विपाक
(१२) औपपातिक
(१३) राजप्रश्नीय
(१४) जीवाजीवाभिगम
(१५) प्रज्ञापना
(१६) सूर्य-प्रज्ञप्ति
(१७) चन्द्र-प्रज्ञप्ति
(१८) जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति
(१९) कल्पिका
(२०) कल्पावतंसिका
(२१) पुष्पिका
(२२) पुष्प-चूलिका
(२३) वृष्णि-दशा
(२४) आवश्यक
(२५) दशवैकालिक
(२६) उत्तराध्ययन
(२७) पिण्ड-निर्युक्ति
अथवा ओघ-निर्युक्ति
(२८) नन्दी
(२९) अनुयोगद्वार
(३०) निशीथ
(३१) महा-निशीथ
(३२) बृहत्कल्प
(३३) व्यवहार
(३४) दशाश्रुत-स्कंध
(३५) पंचकल्प (विच्छिन्न)
(३६) आतुर-प्रत्याख्यान
(३७) भक्त-परिज्ञा
(३८) तन्दुल-वैचारिक
(३९) चन्द्र-वेध्यक

(४०) देवेन्द्रस्तव
(४१) गणि-विद्या
(४२) महा-प्रत्याख्यान
(४३) चतुःशरण
(४४) वीरस्तव
(४५) संस्तारक

८४ आगमों की सूची

१ से ४५—पूर्वोक्त
४६—कल्प-सूत्र (पर्युषणाकल्प, जिन चरित, स्थविरावलि, समाचारी)
४७—यतिजीत-कल्प (सोमप्रभ सूरि) } दोनों जीत-कल्प
४८—श्राद्धजीत-कल्प (धर्मघोषसूरि) }
४९—पाक्षिक-सूत्र } आवश्यक सूत्र के अंग हैं।
५०—क्षमापना-सूत्र }
५१—वंदित्तु
५२—ऋषि-भाषित
५३—अजीव-कल्प
५४—गच्छाचार
५५—मरण-समाधि
५६—सिद्ध-प्राभृत
५७—तीर्थोद्गार
५८—आराधना-पताका
५९—द्वीपसागर प्रज्ञप्ति
६०—ज्योतिष-करण्डक
६१—अंग-विद्या
६२—तिथि-प्रकीर्णक
६३—पिण्ड-विशुद्धि
६४—सारावलि
६५—पर्यन्ताराधना
६६—जीव-विभक्ति
६७—कवच-प्रकरण
६८—योनि-प्राभृत
६९—अंगचूलिया
७०—वग्गचूलिया
७१—वृद्ध-चतुः शरण
७२—जम्बू-पयन्ना
७३—आवश्यक-निर्युक्ति
७४—दशवैकालिक-निर्युक्ति
७५—उत्तराध्ययन-निर्युक्ति
७६—आचारांग-निर्युक्ति
७७—सूत्रकृतांग-निर्युक्ति
७८—सूर्य-प्रज्ञप्ति
७९—बृहत्कल्प-निर्युक्ति
८०—व्यवहार
८१—दशाश्रुतस्कंध-निर्युक्ति
८२—ऋषिभाषित-निर्युक्ति (अनुपलब्ध)
८३—संसक्त निर्युक्ति
८४—विशेष-आवश्यक-भाष्य

स्थानकवासी और तेरापन्थ के अनुसार मान्य आगम ३२ हैं। वे ये हैं :—

आगम

अंग	उपांग	मूल	छेद
१–आचारांग	१–औपपातिक	१–दशवैकालिक	१–निशीथ
२–सूत्रकृतांग	२–राजप्रश्नीय	२–उत्तराध्ययन	२–व्यवहार
३–स्थानांग	३–जीवाभिगम	३–अनुयोगद्वार	३–बृहत्कल्प
४–समवायांग	४–प्रज्ञापना	४–नन्दी	४–दशाश्रुतस्कन्ध
५–भगवती	५–जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति		
६–ज्ञातृधर्मकथा	६–चन्द्र-प्रज्ञप्ति		
७–उपासकदशा	७–सूर्य प्रज्ञप्ति		
८–अन्तकृद्दशा	८–निरयावलिका		
९–अनुत्तरौपपातिक	९–कल्पवतंसिका		
१०–प्रश्न-व्याकरण	१०–पुष्पिका		
११–विपाक	११–पुष्पचूलिका		
	१२–वृष्णिदशा		

१–आवश्यक

आगम का व्याख्यात्मक साहित्य

आगम के व्याख्यात्मक साहित्य का प्रारम्भ निर्युक्ति से होता है और वह "स्तबक" व जोड़ों तक चलता है।

द्वितीय भद्रबाहु ने ११ निर्युक्तियां लिखीं :—

१—आवश्यक-निर्युक्ति
२—दशवैकालिक-निर्युक्ति
३—उत्तराध्ययन-निर्युक्ति
४—आचारांग-निर्युक्ति
५—सूत्रकृतांग-निर्युक्ति
६—दशाश्रुतस्कंध-निर्युक्ति
७—बृहत्कल्प-निर्युक्ति
८—व्यवहार-निर्युक्ति
९—पिण्ड-निर्युक्ति
१०—ओघ-निर्युक्ति
११—ऋषिभाषित-निर्युक्ति

इनका समय विक्रम की पांचवीं, छठी शताब्दी है। बृहत्कल्प की निर्युक्ति भाष्य-मिश्रित अवस्था में मिलती है, व्यवहार-निर्युक्ति भी भाष्य में मिली हुई है :—

भाष्य और भाष्यकार

१—दशवैकालिक-भाष्य
२—व्यवहार-भाष्य
३—बृहत्कल्प-भाष्य
४—निशीथ-भाष्य
५—विशेषावश्यक-भाष्य—जिनभद्र क्षमाश्रमण (सातवीं शताब्दी)
६—पंचकल्प-भाष्य—धर्मसेन गणी (छठी शताब्दी)

निर्युक्ति और भाष्य पद्यात्मक हैं, वे प्राकृत भाषा में लिखे गए हैं।

चूर्णियां और चूर्णिकार

चूर्णियां गद्यात्मक हैं। इनकी भाषा प्राकृत या संस्कृत-मिश्रित प्राकृत है। निम्न आगम ग्रन्थों पर चूर्णियां मिलती हैं :—

१—आवश्यक
२—दशवैकालिक
३—नन्दी
४—अनुयोगद्वार
५—उत्तराध्ययन
६—आचारांग
७—सूत्रकृतांग
८—निशीथ
९—व्यवहार
१०—दशाश्रुत-स्कंध
११—बृहत्कल्प
१२—जीवाभिगम
१३—भगवती
१४—महा-निशीथ
१५—जीतकल्प
१६—पंचकल्प
१७—ओघ-निर्युक्ति

प्रथम आठ चूर्णियों के कर्त्ता जिनदास महत्तर हैं। इनका जीवनकाल विक्रम की सातवीं शताब्दी है। जीतकल्प-चूर्णी के कर्त्ता सिद्धसेन सूरि हैं। उनका जीवनकाल विक्रम की १२ वीं शताब्दी है। बृहत्कल्प चूर्णी प्रलम्ब सूरि की कृति है। शेष चूर्णिकारों के विषय में अभी जानकारी नहीं मिल रही है। दशवैकालिक की एक चूर्णि और है। उसके कर्त्ता हैं—अगस्त्यसिंह सूरि। उनका समय अभी भलीभांति निर्णीत नहीं हुआ।

टीकाएं और टीकाकार

आगमों के पहले संस्कृत-टीकाकार हरिभद्र सूरि हैं। उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार, जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति और जीवाभिगम पर टीकाएं लिखीं।

विक्रम की तीसरी शताब्दी में उमास्वाति ने जैन परम्परा में जो संस्कृत-वाङ्मय का द्वार खोला, वह अब विस्तृत होने लगा। शीलांक सूरि ने आचारांग और सूत्रकृतांग पर टीकाएं लिखीं। शेष नव अंगों के टीकाकार हैं—अभयदेव सूरि। अनुयोगद्वार पर मलधारी हेमचन्द्र की टीका है। नन्दी, प्रज्ञापना, व्यवहार, चन्द्र-प्रज्ञप्ति, जीवाभिगम, आवश्यक, वृहत्कल्प, राज-प्रश्नीय आदि के टीकाकार मलयगिरि हैं।

आगम-साहित्य की समृद्धि के साथ-साथ न्याय-शास्त्र के साहित्य का भी विकास हुआ। वैदिक और बौद्ध न्याय-शास्त्रियों ने अपने-अपने तत्वों को तर्क की कसौटी पर कस कर जनता के सम्मुख रखने का यत्न किया। तब जैन न्याय-शास्त्री भी इस ओर मुड़े। विक्रम की पांचवीं शताब्दी में न्याय का जो नया स्रोत चला, वह बारहवीं शताब्दी में बहुत व्यापक हो चला।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में न्याय-शास्त्रियों की गति कुछ शिथिल हो गई। आगम के व्याख्याकारों की परम्परा आगे भी चली। विक्रम की १६ वीं सदी में श्रीमद् भिक्षु स्वामी और जयाचार्य आगम के यशस्वी व्याख्याता हुए। श्रीमद् भिक्षु स्वामी ने आगम के सैकड़ों दुरुह स्थलों पर प्रकीर्ण व्याख्याएं लिखी हैं। जयाचार्य ने आचारांग प्रथम श्रुत-स्कन्ध, ज्ञाता, प्रज्ञापना, उत्तराध्ययन (२७ अध्ययन) और भगवती सूत्र पर पद्यात्मक व्याख्या लिखी। आचारांग (द्वितीय श्रुत-स्कंध) का वार्तिक और आगम-स्पर्शी अनेक प्रकरण रचे।

इस प्रकार जैन-साहित्य आगम, आगम-व्याख्या और न्याय-शास्त्र से बहुत ही समृद्ध है। इनके आधार पर ही हम जैन दर्शन के हृदय को छूने का यत्न करेंगे।

परवर्ती-प्राकृत-साहित्य

आगम-लोप के पश्चात् दिगम्बर-परम्परा में जो साहित्य रचा गया, उसमें सर्वोपरि महत्व षट्-खण्डागम और कषाय-प्राभृत का है।

पूर्वों और अंगों के बचे-खुचे अंशों के लुप्त होने का प्रसंग आया। तब आचार्य धरसेन (विक्रम दूसरी शताब्दी) ने भूतबलि और पुष्पदन्त नाम दो साधुओं को श्रुताभ्यास कराया। इन दोनों ने षट्खण्डागम की रचना की। लगभग इसी समय में आचार्य गुणधर हुए। उन्होंने कषाय-प्राभृत रचा। ये पूर्वों के शेषांश हैं। इसलिए इन्हें पूर्वों से उद्धृत माना जाता है। इनपर प्राचीन कई टीकाएं लिखी गई हैं, वे उपलब्ध नहीं हैं। जो टीका वर्तमान में उपलब्ध है, वह आचार्य वीरसेन की है। इन्होंने विक्रम सम्वत् ८७३ में षट्खण्डागम की ७२ हजार श्लोक-प्रमाण धवला टीका लिखी।

कषाय-पाहुड़ पर २० हजार श्लोक-प्रमाण टीका लिखी। वह पूर्ण न हो सकी, बीच में ही उनका स्वर्ग-वास हो गया। उसे उन्हीं के शिष्य जिनसेनाचार्य ने पूर्ण किया। उसकी पूर्ति विक्रम सम्वत् ८६४ में हुई। उसका शेष भाग ४० हजार श्लोक-प्रमाण और लिखा गया। दोनों को मिला इसका प्रमाण ६० हजार श्लोक होता है। इसका नाम जय-धवला है। यह प्राकृत और संस्कृत के संक्रान्ति काल की रचना है। इसीलिए इसमें दोनों भाषाओं का मिश्रण है।

षट्-खण्ड का अन्तिम भाग महा-बंध है। इसके रचयिता आचार्य भूतबलि हैं। यह ४१ हजार श्लोक-प्रमाण है। इन तीनों ग्रन्थों में कर्म का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन है।

विक्रम की दूसरी शती में आचार्य कुन्दकुन्द हुए। इन्होंने अध्यात्म-वाद का एक नया स्रोत प्रवाहित किया। इनका झुकाव निश्चयनय की ओर अधिक था। प्रवचनसार, समयसार और पंचास्तिकाय—ये इनकी प्रमुख रचनाएं हैं। इनमें आत्मानुभूति की वाणी आज भी उनके अन्तर-दर्शन की साक्षी है।

विक्रम दसवीं शताब्दी में आचार्य नेमिचन्द्र चक्रवर्ती हुए। उन्होंने गोम्मटसार और लब्धिसार-क्षपणासार—इन दो ग्रन्थों की रचना की। ये बहुत ही महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। ये प्राकृत-शौरसेनी भाषा की रचनाएं हैं।

श्वेताम्बर-आचार्यों ने मध्ययुग में जैन-महाराष्ट्री में लिखा। विक्रम की तीसरी शती में शिवशर्म सूरि ने कम्मपयडी, उमास्वाति ने जम्बूद्वीप समास

लिखा। विक्रम की छठी शताब्दी में संघदास क्षमाश्रमण ने वासुदेव हिन्दी नामक एक कथा-ग्रन्थ लिखा, इसका दूसरा खण्ड धर्मसेनगणी ने लिखा[५५]। इसमें वसुदेव के पर्यटन के साथ-साथ अनेक लोक-कथाओं, चरित्रों, विविध वस्त्रों, उत्सवों और विनोद-साधनों का वर्णन किया है। जर्मन विद्वान् आल्सफोर्ड ने इसे बृहत्कथा के समकक्ष माना है[५६]।

विक्रम की सातवीं शताब्दी में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हुए। विशेषावश्यक भाष्य इनकी प्रसिद्ध कृति है। यह जैनागमों की चर्चाओं का एक महान् कोष है। जीतकल्प, विशेषणवती, बृहत्-संग्रहणी और बृहत्-क्षेत्र-समास भी इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

हरिभद्र सूरि विक्रम की आठवीं शती के विद्वान् आचार्य हैं। "समराइच कहा" इनका प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ है। संस्कृत-युग में भी प्राकृत-भाषा में रचना का क्रम चलता रहा है।

मध्य काल में निमित्त, गणित, ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्र, आयुर्वेद, मन्त्र-विद्या, स्वप्न-विद्या, शिल्प-शास्त्र, व्याकरण, छन्द, कोष आदि अनेक विषयक ग्रन्थ लिखे गए हैं[५७]।

संस्कृत-साहित्य

विशिष्ट व्यक्तियों के अनुभव, उनकी संग्रहात्मक निधि, साहित्य और उसका आधार भाषा—ये तीनों चीजें दुनियां के सामने तत्त्व रखा करती हैं। सूरज, हवा और आकाश की तरह ये तीनों चीजें सबके लिए समान हैं। यह एक ऐसी भूमिका है, जहाँ पर साम्प्रदायिक, सामाजिक और जातीय या इसी प्रकार के दूसरे-दूसरे सब भेद मिट जाते हैं।

संस्कृत-साहित्य की समृद्धि के लिए किसने प्रयास किया या किसने न किया—यह विचार कोई महत्त्व नहीं रखता। वाङ्मय-सरिता सदा अभेद की भूमि में बहती है। फिर भी जैन, बौद्ध और वैदिक की त्रिपथ-गामिनी विचार धाराएँ हैं। वे त्रिपथगा (गंगा) की तरह लम्बे अर्से तक बही हैं।

प्राचीन वैदिकाचार्यों ने अपने सारभूत अनुभवों को वैदिक संस्कृत में रखा। जैनों ने अर्धमागधी भाषा और बौद्धों ने पाली भाषा के माध्यम से अपने विचार प्रस्तुत किए। इसके बाद में इन तीनों धर्मों के उत्तरवर्ती

आचार्यों ने जो साहित्य बनाया, वह लौकिक (वर्तमान में प्रचलित) संस्कृत को पल्लवित करने वाला ही है।

लौकिक संस्कृत में लिखने के सम्बन्ध में किसने पहल की और कौन पीछे से लिखने लगा, यह प्रश्न हो सकता है किन्तु ग्रन्थ किसने कम रचे और किसने अधिक रचे—यह कहना जरा कठिन है।

सक्कयं पागयं चेव, पसत्थं इसि भासियं[१८]

संस्कृत और प्राकृत—ये दोनों श्रेष्ठ भाषाएं हैं और ऋषियों की भाषाएं हैं। इस तरह आगम-प्रणेताओं ने संस्कृत और प्राकृत की समकक्षता स्वीकार करके संस्कृत का अध्ययन करने के लिए जैनों का मार्ग प्रशस्त बना दिया।

संस्कृत-भाषा तार्किकों के तीखे तर्क-बाणों के लिए तूणीर बन चुकी। इसलिए इस भाषा का अध्ययन न करने वालों के लिए अपने विचारों की सुरक्षा खतरे में थी। अतः सभी दार्शनिक संस्कृत-भाषा को अपनाने के लिए तेजी से पहल करने लगे।

जैनाचार्य भी इस दौड़ में पीछे नहीं रहे। वे समय की गति को पहचान ने वाले थे, इसलिए उनकी प्रतिभा इस ओर चमकी और स्वयं इस ओर मुड़े। उन्होंने पहले ही कदम में प्राकृत-भाषा की तरह संस्कृत-भाषा पर भी अधिकार जमा लिया।

जिस तरह से वैदिक लोग वेदों को और बौद्ध त्रिपिटक को स्वतः प्रमाण मानते हैं, उसी प्रकार जैनों के लिए गणिपिटक (द्वादशांगी) स्वतः प्रमाण है। गणिपिटक के अंग रूप में जो चौदह पूर्व थे, वे संस्कृत-भाषा में ही रचे गए—परम्परा से ऐसी अनुश्रुति चल रही है। किन्तु उन पूर्वों के विच्छिन्न हो जाने के कारण उनकी संस्कृत का क्या रूप था, यह बताने के लिए कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। जैन-साहित्य अभी जो उपलब्ध हो रहा है, वह विक्रम सम्वत् से पहले का नहीं है। इतिहासकार यह मानते हैं कि विक्रम की तीसरी शताब्दी में उमास्वाति ने तत्त्वार्थ-सूत्र (मोक्ष-शास्त्र) की रचना की। जैन-परम्परा में संस्कृत कल्पवृक्ष का यह पहला फूल था। उमास्वाति ने सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यग्-चारित्र जिन्हें जैन दर्शन मोक्ष-मार्ग के रूप में मानता है, को सूत्रों में सुव्यवस्थित किया। जैनेतर विद्वानों के लिए जैन-

लिखा। विक्रम की छठी शताब्दी में संघदास क्षमाश्रमण ने वासुदेव हिन्दी नामक एक कथा-ग्रन्थ लिखा, इसका दूसरा खण्ड धर्मसेनगणी ने लिखा[५५]। इसमें वसुदेव के पर्यटन के साथ-साथ अनेक लोक-कथाओं, चरित्रों, विविध वस्त्रों, उत्सवों और विनोद-साधनों का वर्णन किया है। जर्मन विद्वान् आल्सफोर्ड ने इसे बृहत्कथा के समकक्ष माना है[५६]।

विक्रम की सातवीं शताब्दी में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हुए। विशेषावश्यक भाष्य इनकी प्रसिद्ध कृति है। यह जैनागमों की चर्चाओं का एक महान् कोष है। जीतकल्प, विशेषणवती, बृहत्-संग्रहणी और बृहत्-क्षेत्र-समास भी इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

हरिभद्र सूरि विक्रम की आठवीं शती के विद्वान् आचार्य हैं। "समराइच्च कहा" इनका प्रसिद्ध कथा-ग्रन्थ है। संस्कृत-युग में भी प्राकृत-भाषा में रचना का क्रम चलता रहा है।

मध्य काल में निमित्त, गणित, ज्योतिष, सामुद्रिक शास्त्र, आयुर्वेद, मन्त्र-विद्या, स्वप्न-विद्या, शिल्प-शास्त्र, व्याकरण, छन्द, कोष आदि अनेक विषयक ग्रन्थ लिखे गए हैं[५७]।

संस्कृत-साहित्य

विशिष्ट व्यक्तियों के अनुभव, उनकी संग्रहात्मक निधि, साहित्य और उसका आधार भाषा—ये तीनों चीजें दुनियां के सामने तत्त्व रखा करती हैं। सूरज, हवा और आकाश की तरह ये तीनों चीजें सबके लिए समान हैं। यह एक ऐसी भूमिका है, जहाँ पर साम्प्रदायिक, सामाजिक और जातीय या इसी प्रकार के दूसरे-दूसरे सब भेद मिट जाते हैं।

संस्कृत-साहित्य की समृद्धि के लिए किसने प्रयास किया या किसने न किया—यह विचार कोई महत्त्व नहीं रखता। वाङ्मय-सरिता सदा अभेद की भूमि में बहती है। फिर भी जैन, बौद्ध और वैदिक की त्रिपथ-गामिनी विचार धाराएँ हैं। वे त्रिपथगा (गंगा) की तरह लम्बे अर्से तक बही हैं।

प्राचीन वैदिकाचार्यों ने अपने सारभूत अनुभवों को वैदिक संस्कृत में रखा। जैनों ने अर्धमागधी भाषा और बौद्धों ने पाली भाषा के माध्यम से अपने विचार प्रस्तुत किए। इसके बाद में इन तीनों धर्मों के उत्तरवर्ती

आचार्यों ने जो साहित्य बनाया, वह लौकिक (वर्तमान में प्रचलित) संस्कृत को पल्लवित करने वाला ही है।

लौकिक संस्कृत में लिखने के सम्बन्ध में किसने पहल की और कौन पीछे से लिखने लगा, यह प्रश्न हो सकता है किन्तु ग्रन्थ किसने कम रचे और किसने अधिक रचे—यह कहना जरा कठिन है।

सक्कयं पागयं चेव, पसत्थं इसि भासियं[१८]

संस्कृत और प्राकृत—ये दोनों श्रेष्ठ भाषाएं हैं और ऋषियों की भाषाएं हैं। इस तरह आगम-प्रणेताओं ने संस्कृत और प्राकृत की समकक्षता स्वीकार करके संस्कृत का अध्ययन करने के लिए जैनों का मार्ग प्रशस्त बना दिया।

संस्कृत-भाषा तार्किकों के तीखे तर्क-बाणों के लिए तूणीर बन चुकी। इसलिए इस भाषा का अध्ययन न करने वालों के लिए अपने विचारों की सुरक्षा खतरे में थी। अतः सभी दार्शनिक संस्कृत-भाषा को अपनाने के लिए तेजी से पहल करने लगे।

जैनाचार्य भी इस दौड़ में पीछे नहीं रहे। वे समय की गति को पहचानने वाले थे, इसलिए उनकी प्रतिभा इस ओर चमकी और स्वयं इस ओर मुड़े। उन्होंने पहले ही कदम में प्राकृत-भाषा की तरह संस्कृत-भाषा पर भी अधिकार जमा लिया।

जिस तरह से वैदिक लोग वेदों को और बौद्ध त्रिपिटक को स्वतः प्रमाण मानते हैं, उसी प्रकार जैनों के लिए गणिपिटक (द्वादशांगी) स्वतः प्रमाण है। गणिपिटक के अंग रूप में जो चौदह पूर्व थे, वे संस्कृत-भाषा में ही रचे गए—परम्परा से ऐसी अनुश्रुति चल रही है। किन्तु उन पूर्वों के विच्छिन्न हो जाने के कारण उनकी संस्कृत का क्या रूप था, यह बताने के लिए कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। जैन-साहित्य अभी जो उपलब्ध हो रहा है, वह विक्रम सम्वत् से पहले का नहीं है। इतिहासकार यह मानते हैं कि विक्रम की तीसरी शताब्दी में उमास्वाति ने तत्त्वार्थ-सूत्र (मोक्ष-शास्त्र) की रचना की। जैन-परम्परा में संस्कृत कल्पवृक्ष का यह पहला फूल था। उमास्वाति ने सम्यग्-दर्शन, सम्यग्-ज्ञान और सम्यग्-चारित्र जिन्हें जैन दर्शन मोक्ष-मार्ग के रूप में मानता है, को सूत्रों में सुव्यवस्थित किया। जैनेतर विद्वानों के लिए जैन-

दर्शन का परिचय पाने के लिए यह ग्रन्थ आज भी प्रमुख साधन है। उमास्वाति ने और भी अनेक ग्रन्थों की रचना की, जिनमें 'प्रशमरति' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। उसमें प्रशम और प्रशम से पैदा होने वाले आनन्द का सुन्दर निरूपण और प्रासङ्गिक बहुत से तथ्यों का समावेश है, जैसे—

कालं, क्षेत्रं, मात्रां, सात्म्यं, द्रव्य-गुरु-लाघवं स्वबलम्
ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यं भुङ्क्ते किं भेषजैस्तस्य ॥

उमास्वाति की प्रतिभा तत्त्वों का संग्रह करने में बड़ी कुशल थी। तत्त्वार्थ-सूत्र में वह बहुत चमकी है आचार्य हेमचन्द्र ने भी कहा है—

—'उपोमास्वातिं संग्रहीतारः'[५९]—'

इतिहासकार मानते हैं कि सिद्धसेन दिवाकर चौथी और पांचवीं शताब्दी के बीच में हुए, वे महान् तार्किक, कवि और साहित्यकार थे। उन्होंने बत्तीस बत्तीसियों (द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका) की रचना की। वे रचना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें भावों की गहनता और तार्किक प्रतिभा का चमत्कार है। इनके विषय में कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के ये विचार हैं—

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्थाः ?
अशिक्षितालापकला क्व चैषा ?
तथापि यूथाधिपतेः पथस्थः,
स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः।[६०]

'अनुसिद्धसेनं कवयः, सिद्धसेन चोटी के कवि थे[६१]। उन्होंने अनेकान्त दृष्टि की व्यवस्था की और अनेक दृष्टियों का सुन्दर ढंग से समन्वय किया। आगमों में जो अनेकान्त के बीज बिखरे हुए पड़े थे, उनको पल्लवित करने में सिद्धसेन और समन्तभद्र—ये दोनों आचार्य स्मरणीय हैं। भारतीय न्याय-शास्त्र पर इन दोनों आचार्यों का वरद हाथ रहा, यह तो अति स्पष्ट है। सिद्धसेन ने भगवान् महावीर की स्तुति करते हुए साथ में विरोधी दृष्टिकोणों का भी समन्वय किया—

क्वचिन्नियतिपक्षपातगुरु गम्यते ते वचः,
स्वभावनियता प्रजाः समयतंत्रवृत्ताः क्वचित् !

स्वयं कृतभुजः क्वचित् परकृतोपभोगाः पुन-
नर्वा विशद-वाद! दोष--मलिनोऽस्यहो विस्मयः[१२]।

परमात्मा में अपने को विलीन करते हुए सिद्धसेन कहते हैं—

न शब्दो, न रूपं रसो नापि गन्धो,
न वा स्पर्शलेशो न वर्णो न लिङ्गम्।
न पूर्वापरत्वं न यस्यास्ति संज्ञा,
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः[६३]॥

जैन-न्याय की परिभाषाओं का पहला रूप न्यायावतार में ही मिलता है।

आचार्य समन्तभद्र के विषय के दो मत हैं—कुछ एक इतिहासकार इनका अस्तित्व सातवीं शताब्दी में मानते हैं और कुछ एक चौथी शताब्दी में[६४]। उनकी रचनाएं देवागम-स्तोत्र, युक्त्यनुशासन, स्वयंभू-स्तोत्र आदि हैं। आधुनिक युग का जो सब से अधिक प्रिय शब्द 'सर्वोदय' है, उसका प्रयोग आचार्य समन्तभद्र ने बड़े चामत्कारिक ढंग से किया है—

सर्वान्तवत् तद् गुणमुख्यकल्पं,
सर्वान्तशून्यञ्च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं,
सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव[६५]॥

विक्रम की तीसरी शताब्दी में जैन-परम्परा में जो संस्कृत-साहित्य किशोरावस्था में था, वह पांचवीं से अठारहवीं शताब्दी तक तरुणावस्था में रहा।

अठारहवीं शताब्दी में उपाध्याय यशोविजयजी हुए, जो एक विशिष्ट श्रुतधर विद्वान् थे। जिन्होंने संस्कृत-साहित्य को खूब समृद्ध बनाया। उनके कुछ एक तथ्य भविष्य की बात को स्पष्ट करने वाले या क्रान्त-दर्शन के प्रमाण हैं।

आत्मप्रवृत्तावति जागरूकः, परप्रवृत्तौ बधिरान्धमूकः।
सदा चिदानन्दपदोपयोगी, लोकोत्तरं साम्यमुपैति योगी[६६]॥

महात्मा गांधीजी को जो भेंट स्वरूप तीन बन्दर मिले थे, उनमें जो आरोपित कल्पनाएं हैं, वे इस श्लोक के 'बधिरान्धमूक' शब्द में स्पष्ट संकेतित हैं।

उपाध्याय यशोविजयजी ने केवल दर्शन-क्षेत्र में ही समन्वय नहीं किया, बल्कि योग के विषय में भी बहुत बड़ा समन्वय प्रस्तुत किया। पातञ्जल योग-सूत्र का तुलनात्मक विवरण, योगदीपिका, योगविंशिका की टीका आदि अनेक ग्रन्थ उसके प्रमाण हैं।

इन्होंने नव्य-न्याय की शैली में अधिकार पूर्वक जैन-न्याय के ग्रन्थ तैयार किए। बनारस में विद्वानों से सम्पर्क स्थापित करके जैन-न्याय की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ाई। ये लघुहरिभद्र' के नाम से भी प्रसिद्ध हुए।

हरिभद्र सूरि का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने १४४४ प्रकरणों की रचना की ऐसा सुप्रसिद्ध है [१७]। इनमें से जो प्रकरण प्राप्य हैं, वे इनके प्रखर पाण्डित्य को बताने वाले हैं। अनेकान्त-जय-पताका आदि आकर (बड़े) ग्रन्थ दार्शनिक जगत् के गौरव को पराकाष्ठा तक पहुँचा देते हैं। यशोविजय ने योग के जिस मार्ग को विशद बनाया उसके आदि बीज हरिभद्र सूरि ही थे। योग-दृष्टि समुच्चय, योग-बिन्दु, योग-विंशिका आदि समन्वयात्मक ग्रन्थ योग के रास्ते में नये कदम थे। दिङ्नाग-रचित न्याय-प्रवेश की टीका लिख कर इन्होंने जैनों को बौद्ध-न्याय का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया। समन्वय की दृष्टि से इन्होंने नई दिशा दिखाई। लोकतत्त्व-निर्णय की कुछ एक सूक्तियां दृष्टि में ताजगी भर देती हैं जैसे —

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

दार्शनिक-मूर्धन्य अकलंक, उद्योतन सूरि, जिनसेन, सिद्धर्षि आदि-आदि अनेक दूसरे-दूसरे बड़े प्रतिभाशाली साहित्यकार हुए। समस्त साहित्यकारों के नाम बताना और उनके ग्रन्थों की गणना करना जरा कठिन है। यह स्पष्ट है कि जैनाचार्यों ने प्रचलित समस्त विषयों में अपनी लेखनी उठाई। अनेक ग्रन्थ ऐसे बृहत्काय बनाए, जिनका श्लोक-परिमाण ५० हजार से भी अधिक है। सिद्धर्षि की बनाई हुई 'उपमिति-भव-प्रपञ्च कथा' कथा-साहित्य का एक उदाहरणीय ग्रन्थ है। कुवलयमाला, तिलक मञ्जरी, यशस्तिलक—चम्पू आदि अनेक गद्यात्मक ग्रन्थ भाषा की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। चरित्रात्मक काव्य

भी बहुत बड़ी संख्या में लिखे गए। जो लोग संस्कृत नहीं जानते हैं, उनका भी संस्कृत के प्रति जो आकर्षण है उसका एकमात्र यही कारण है कि उसमें महापुरुषों के जीवन-चरित्र संकलित किये गए हैं।

नीति-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र के जो ग्रन्थ लिखे गए, उनकी भाषा ने भी लोगों को अपनी ओर अधिक आकृष्ट किया। संस्कृत-साहित्य की रसभरी सूक्तियां और अपनी स्वतन्त्र विशेषताएं रखने वाले सिद्धान्त जन-जन की जबान पर आज भी अपना स्थान बनाये हुए हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने अर्हन्नीति नामक जो एक संक्षिप्त ग्रन्थ बनाया है, उसमें कुछ एक ऐसे तत्त्व हैं जो युद्ध के नशे में अपने विवेक को खो बैठे हैं, उनके भी विवेक को जगाने वाले हैं। उदाहरण के तौर पर एक श्लोक पढ़िए—

सन्दिग्धो विजयो युद्धे, ऽसन्दिग्धः पुरुषक्षयः।
सत्स्वन्येष्वित्युपायेषु, भूपो युद्धं विवर्जयेत् [१८]॥

व्याकरण भाषा का आधार होता है। गुजरात और बंगाल में पाणिनि-व्याकरण का प्रचलन बहुत थोड़ा था। वहाँ पर कालापक और कातन्त्र व्याकरण की मुख्यता थी। किन्तु ये दोनों व्याकरण सर्वाङ्गपूर्ण और सांगोपांग नहीं थे। आचार्य हेमचन्द्र ने सांगोपाङ्ग 'सिद्ध हेम शब्दानुशासन' नामक व्याकरण की रचना की। उनका गौरव बड़े श्रद्धा भरे शब्दों में गाया गया है—

किं स्तुमः शब्दपाथोधेर्हेमचन्द्रयतेर्मतिम्।
एकेनापि हि येनेदृक्, कृतं शब्दानुशासनम्॥

व्याकरण के पाँच अंग हैं! सूत्र, गणपाठ सहित वृत्ति, धातुपाठ, उणादि और लिङ्गानुशासन। इन सब अंगों की स्वयं अकेले हेमचन्द्र ने रचना करके सर्वथा स्वतन्त्र व्याकरण बनाया। जैनों के दूसरे भी चार व्याकरण हैं—विद्यानन्द, मुष्टि, जैनेन्द्र और शाकटायन।

अठारहवीं शताब्दी के बाद संस्कृत का प्रवाह सर्वथा रुक गया हो, यह बात नहीं। बीसवीं सदी में तेरापन्थ सम्प्रदाय के मुनि श्री चौथमलजी ने 'भिक्षु शब्दानुशासन' नामक महाव्याकरण की रचना की। आचार्य लावण्य सूरि

ने धातु-रत्नाकर के संकलन में बहुत बड़ा प्रयत्न किया। इस सदी में दूसरे भी बहुत से प्रयत्न संस्कृत-साहित्य की रचना के लिए हुए।

जैनों ने केवल साहित्य-प्रणयन के द्वारा ही संस्कृत के गौरव को नहीं बढ़ाया किन्तु साहित्य को सुन्दर अक्षरों में लिपिबद्ध करके पुस्तक-भण्डारों में उसकी सुरक्षा करते हुए संस्कृत की धारा को अविच्छिन्न रूप से चालू रखा। बहुत से बौद्ध और वैदिक-शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ आज भी जैन-भण्डारों में सुरक्षित हैं।

जैनाचार्यों ने बहुत से जैनेतर-ग्रन्थों की टीकाएं बना कर अपने अनेकान्त-वादी दृष्टिकोण का सुन्दर परिचय दिया। भानुचन्द्र और सिद्धचन्द्र की बनाई हुई जो कादम्बरी की टीका है, उसे पंडितों ने मुख्य रूप से मान्य किया है। जैनाचार्यों ने रघुवंश, कुमारसम्भव, नैषध आदि अनेक काव्यों की टीकाएँ बनाई हैं। सारस्वत, कातन्त्र आदि व्याकरण, न्याय-शास्त्र तथा और भी दूसरे विषयों को लेकर इस तरह अपनी लेखनी चलाई कि साहित्य सभी की समान सम्पत्ति है—यह कहावत चरितार्थ हो गई।

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र का समय संस्कृत के ह्रास की ओर झुकने वाला समय था। आचार्य हेमचन्द्र प्राकृत और अपभ्रंश के समर्थक थे। फिर भी उन्होंने संस्कृत-साहित्य को खूब समृद्ध बनाया। फलतः उसके रुके हुए प्रवाह को अन्तिम श्वास गिनने का मौका न मिल सका। आचार्य हेमचन्द्र ने पूर्वाचार्यों की आलोचनाएं की और उनकी विशेषताओं का आदर भी किया। 'सूक्ष्मदर्शिना धर्म-कीर्तिना' आदि जो जैनेतर आचार्यों के विषय में इनके उद्‌गार निकले हैं, वे इनकी उदार-वृत्ति के परिचायक हैं।

समस्त जैन विद्वानों के प्रौढ़तम तर्कों, नये-नये उन्मेषवाले विचारों, चिरकाल के मन्थन से तैयार की हुई नवनीत जैसी सुकुमार रचनाओं, हिमालय जैसे उज्ज्वल अनुभवों और सदाचार का निरूपण संस्कृत-भाषा में हुआ है। मध्ययुगीय जैनाचार्यों ने अलौकिक संस्कृत-भाषा को जनसाधारण की भाषा करने का जो प्रयत्न किया है, सम्भवतः उसका मूल्यांकन ठीक नहीं हो पाया।

आगमों की वृत्तियों और टीकाओं में संस्कृत-भाषा को व्यापक बनाने के लिए मध्ययुग के इन आचार्यों ने प्रान्तीय शब्दों का बहुत संग्रह किया।

उत्तरवर्ती संस्कृत-लेखक भी उसी पद्धति का अनुकरण करते तो आज संस्कृत को मृत-भाषा की उपाधि न मिलती। यह सम्भव नहीं कि कोई भी भाषा जन-सम्पर्क से दूर रह कर चिरंजीवी बन सके। कोरे साहित्यिक रूप में रहने वाली भाषा ज्यादा टिक नहीं सकती।

अनेक व्यक्तियों ने संस्कृत को उपेक्षा की नजर से देखा किन्तु समय-समय पर उन्हें भी इसकी अपेक्षा रखनी पड़ी है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि संस्कृत में लोगों के श्रद्धा-स्पद धार्मिक विचारों का संग्रह और बहुत से स्तुत्यात्मक ग्रन्थ हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने परमार्हत राजा कुमारपाल के प्रातः स्मरण के लिए वीतराग-स्तव बनाया [६९]। उसका पाठ करते हुए भावुक व्यक्ति भक्ति-सरिता में गोते खाने लग जाते हैं।

> तव प्रेष्योऽस्मि दासोऽस्मि, सेवकोऽस्म्यस्मि किङ्करः।
> ओमिति प्रतिपद्यस्व, नाथ नातः परं ब्रुवे [७०]॥

इस श्लोक में आचार्य हेमचन्द्र वीतराग के चरणों में आत्म-समर्पण करके भार-मुक्त होना चाहते हैं। और कहीं पर यह कह बैठते हैं कि—

> कल्याणसिद्ध्यै साधीयान्, कलिरेव कषोपलः।
> विनाग्निं गन्ध-महिमा काकतुण्डस्य नैधते [७१]॥

वीतराग में भक्ति-विभोर बन कर आचार्य हेमचन्द्र कलिकाल के कष्टों को भी भूल जाते हैं।

काव्य के क्षेत्र में भी जैनाचार्य पीछे नहीं रहे। त्रिषष्टिशलाका, पुरुषचरित्र, शान्तिनाथ चरित्र, पद्मानन्द महाकाव्य और भरत-बाहुबलि आदि काव्य काव्य-जगत् में शीर्षस्थानीय हैं। उनकी टीकाएं न होने के कारण आज भी उनका प्रचार पर्याप्त नहीं है। बहुत सारे काव्य आज भी अप्रकाशित हैं, इसलिए लोग उनकी विशेषताओं से अपरिचित हैं। अष्टलक्षार्थी काव्य में 'राजानो ददते सौख्यम्' इन आठ अक्षरों के आठ लाख अर्थ किये गए हैं। इससे आचार्य ने दो तथ्य हमारे सामने रखे हैं—एक तो यह कि वर्णों में अनन्त पर्याय हैं। दूसरा तथ्य यह कि संस्कृत में एक ऐसा लचीलापन है कि जिससे वह अनेक विवर्तों (परिवर्तनों) को सह सकता है। सप्त-सन्धान काव्य में बुद्धि की विलक्षणता है। वह मानस को आश्चर्य-विभोर किये देती

है। उसके प्रत्येक श्लोक में सात व्यक्तियों का जीवन-चरित्र पढ़ा जाता है।

उन्होंने शब्द-लालित्य के साथ भाव-लालित्य का भी पूरा ध्यान रखा है। दुष्ट स्वभाव वाले व्यक्ति में दो व्यक्तियों के बीच दरार डालने की विशाल शक्ति होती है। उसकी विशालता के सामने कवि को बड़े-बड़े समुद्र और पहाड़ भी छोटे से दीखने लगते हैं।

भवतात् तटिनीश्वरोन्तरा विषमोऽस्तु क्षितिभृद्‌द्वयोन्तरा।
सरिदस्तु जलाधिकान्तरा पिशुनो मास्तु किलान्तरावयोः [७२]॥

अपने बड़े भाई सम्राट् भरत को मारने के लिए पराक्रम-मूर्ति बाहुबलि की मुष्टि ज्योंही उठती है, त्योंही देववाणी से वह शान्त हो जाती है। कवि इस स्थिति को ऐसे सुन्दर ढंग से रखता है कि पाठक शमरस-विभोर बन जाते हैं [७३]।

अयिबाहुबले कलहायबलं, भवतो भवदायतिचारु किमु
प्रजिघांसुरसित्वमपि स्वगुरुं,
यदि तद्‌गुरुशासनकृतक इह ॥ ६९ ॥

नृप ! संहर संहर कोपमिमं तव येन पथा चरितश्चपिता
सर तां सरणिं हि पितुः पदवीं,
न जहत्यनघास्तनयाः क्वचन ॥७१॥

धरिणी हरिणीनयना नयते,
वशतां यदि भूप ! भवन्तमलम्
विधुरो विधिरेष तदा भविता,
गुरुमाननरूप इहा चायतः ॥७२॥

तव मुष्टिमिमां सहते भुवि को,
हरिहेतिमिवाधिकघातवतीम्।
भरता चरितं चरितं मनसा, स्मर मा स्मर केलिमिव श्रमणः ॥७३॥

अयि साधय साधय साधुपदं
भज शान्तरसं तरसा सरसम्।
ऋषभध्वज वंशनभस्तरणे ! तरणाय
मनः किल धावतु ते ॥७४॥

इति यावदिमा गगनाङ्गणतो,
मरुतां विचरन्ति गिरः शिरसः।
अपनेतुमिमांश्चिकुरानकरोद्,
बलमात्मकरेण स तावदयम् ॥७५॥

अप्रकाशित महाकाव्य की गरिमा से लोग अवगत हों इस दृष्टि से उसके कुछ श्लोक यहाँ प्रस्तुत किये गए हैं।

मुझे आशंका है कि विषय अधिक लम्बा न हो जाय। फिर भी काव्य-रस का आस्वाद छोड़ना जरा कठिन होता है। खैर, काव्य-पराग का थोड़ा-सा आस्वाद और चख लें।

अहह चुल्लिगृहेषु वधूकर-प्रथितभस्ममहावसना अपि।
गुप्ततरामपि जाग्रति यामिनीं, हुतभुजोपि हिमैः स्मृदुता इव [७४]॥

कवि यहाँ पर रात्रि-जागरण का वर्णन करता हुआ पाठकों के दिलों में भी सर्दी की विभीषिका पैदा करता है। कवि विश्व की गोद में रमने वाले चेतन और अचेतन पदार्थों का निकटता से अनुभव करता है। उनमें वह किसी की भी उपेक्षा नहीं करता। मरुस्थल के मुख्य वाहन ऊँट तो भूले भी कैसे जा सकते हैं। उनके बारे में वह बड़े मजेदार ढंग से कहता है—

भरे यथा रोहति भूरि रावा, निरस्यमाने रवणास्तथासन्।
सदैव सर्वाङ्ग वहिर्मुखानां, हिताहितज्ञानपराङ्मुखत्वम् [७५]॥

यहाँ हमने अतीत के साहित्य पर एक सरसरी नजर डाली है या यों कहिए कि 'स्थाली पुलाक' के न्यायानुसार हमने कुछ एक स्थलों की परीक्षा की है। सिर्फ सुन्दर अतीत की रट लगाने से भविष्य उज्ज्वल बना नहीं करता। इसलिए ताजी दृष्टिवालों को वर्तमान देखना चाहिए। जिस युग में यह आवाज बुलन्द हो रही हैं कि संस्कृत मृत-भाषा है, उस युग में भी जैन उसे सजीव बना रहे हैं। आज भी नये काव्य, टीकाएं, प्रकरण और दूसरे ग्रन्थ बनाए जा रहे हैं। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी इस विषय में बहुत बड़ा प्रयत्न कर रहे हैं। आचार्य श्री के अनेक शिष्य आशुकवि हैं। बहुत-सी साध्वियां बड़ी तत्परता से संस्कृत के अध्ययन में संलग्न हैं। सभी

है। उसके प्रत्येक श्लोक में सात व्यक्तियों का जीवन-चरित्र पढ़ा जाता है।

उन्होंने शब्द-लालित्य के साथ भाव-लालित्य का भी पूरा ध्यान रखा है। दुष्ट स्वभाव वाले व्यक्ति में दो व्यक्तियों के बीच दरार डालने की विशाल शक्ति होती है। उसकी विशालता के सामने कवि को बड़े-बड़े समुद्र और पहाड़ भी छोटे से दीखने लगते हैं।

भवतात् तटिनीश्वरोन्तरा विषमोऽस्तु क्षितिभृच्चयोन्तरा।
सरिदस्तु जलाधिकान्तरा पिशुनो मास्तु किलान्तरावयोः [७२]॥

अपने बड़े भाई सम्राट् भरत को मारने के लिए पराक्रम-मूर्ति बाहुबलि की मुष्टि ज्योंही उठती है, त्योंही देववाणी से वह शान्त हो जाती है। कवि इस स्थिति को ऐसे सुन्दर ढंग से रखता है कि पाठक शमरस-विभोर बन जाते हैं [७३]।

अयिबाहुबले कलहायवलं, भवतो भवदायतिचारु किमु
प्रजिघांसुरसित्वमपि स्वगुरुं,
यदि तद्गुरुशासनकृतक इह ॥ ६६ ॥
नृप ! संहर संहर कोपमिमं तव येन पथा चरितश्चपिता
सर तां सरणिं हि पितुः पदवीं,
न जहत्यनवास्तनयाः क्वचन ॥७१॥
धरिणी हरिणीनयना नयते,
बशतां यदि भूप ! भवन्तमलम्
विधुरो विधिरेष तदा भविता,
गुरुमाननरूप इहा च्यवतः ॥७२॥
तव मुष्टिमिमां सहते भुवि को,
हरिहेतिमिवाधिकघातवतीम्।
भरता चरितं चरितं मनसा, स्मर मा स्मर केलिमिव श्रमणः ॥७३॥
अयि साधय साधय साधुपदं
भज शान्तरसं तरसा सरसम्।
ऋषभध्वज वंशनभस्तरणे ! तरणाय
मनः किल धावतु ते ॥७४॥

महर्षियों ने इस भाषा में लिखा। विशेष जानकारी के लिए 'जैन गुर्जर कविश्रो' देखिए।

राजस्थानी साहित्य

राजस्थानी में जैन-साहित्य विशाल है। इस सहस्राब्दी में राजस्थान जैन-मुनियों का प्रमुख विहार-स्थल रहा है। यति, संविग्न, स्थानकवासी और तेरापन्थ सभी ने राजस्थानी में लिखा है। रास और चरित्तों की संख्या प्रचुर है। पूज्य जयमलजी का प्रदेशी राजा का चरित बहुत ही रोचक है। कवि समय सुन्दरजी की रचनाओं का संग्रह अगरचन्दजी नाहटा ने अभी प्रकाशित किया है। फुटकल ढालों का संकलन किया जाए तो इतिहास को कई नई झांकियां मिल सकती हैं।

राजस्थानी भाषाओं का स्रोत प्राकृत और अपभ्रंश हैं। काल-परिवर्तन के साथ-साथ दूसरी भाषाओं का भी सम्मिश्रण हुआ है।

राजस्थानी साहित्य तीन शैलियों में लिखा गया है—(१) जैन शैली (२) चारणी शैली (३) लौकिक शैली। जैन शैली के लेखक जैन-साधु और यति अथवा उनसे सम्बन्ध रखने वाले लोग हैं। इस शैली में प्राचीनता की झलक मिलती है। अनेक प्राचीन शब्द और मुहावरे इसमें आगे तक चले आये हैं।

जैनों का सम्बन्ध गुजरात के साथ विशेष रहा है। अतः जैन शैली में गुजराती का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। चारणी शैली के लेखक प्रधानतया चारण और गौण रूप में अन्यान्य लोग हैं (जैनों, ब्राह्मणों, राजपूतों, भाटों आदि ने भी इस शैली में रचना की है)। इसमें भी प्राचीनता की पुट मिलती है पर वह जैन शैली से भिन्न प्रकार की है, यद्यपि जैनों की अपभ्रंश रचनाओं में भी, विशेष कर युद्ध-वर्णन में, उसका मूल देखा जा सकता है। डिंगल वस्तुतः अपभ्रंश शैली का ही विकसित रूप है[७९]।

तेरापन्थ के आचार्य भिक्षु ने राजस्थानी-साहित्य में एक नया स्रोत बहाया, अध्यात्म, अनुशासन, ब्रह्मचर्य, धार्मिक-समीक्षा, रूपक, लोक-कथा और अपनी अनुभूतियों से उसे व्यापकता की ओर ले चले। उन्होंने गद्य भी ..त लिखा। उनकी सारी रचनाओं का प्रमाण ३८ हजार श्लोक के लगभग है। ... के ठेठ शब्दों में लिखना और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना

क्षेत्रों में यदि इस तरह का व्यापक प्रचार हो तो आशा की जाती है कि मृत कही जाने वाली संस्कृत-भाषा अमृत बन जाय।

शान्त रस के आस्वाद के साथ अब मैं इस विषय को पूरा कर रहा हूँ। गीति-काव्य की मधुर स्वर-लहरियां सुनने से सिर्फ कानों को ही तृप्त नहीं करतीं बल्कि देखने से आँखों में भी अनूठा उल्लास भर देती हैं।

शत्रुजनाः सुखिनः समे, मत्सरमपहाय,
सन्तु गन्तु मनसोऽप्यमी, शिवसौख्यगृहाय।
सकृदपि यदि समतालवं हृदयेन लिहन्ति
विदितरसास्तत इह रतिं, स्वत एव वहन्ति [७६]॥

प्रादेशिक साहित्य

दिगम्बर-आचार्यों का प्रमुख विहार-क्षेत्र दक्षिण रहा। दक्षिण की भाषाओं में उन्होंने विपुल साहित्य रचा।

कन्नड़ भाषा में जैन कवि पोन्न का शान्तिपुराण, पंप का आदिपुराण और पम्पभारत आज भी बेजोड़ माना जाता है। रत्न का गदा-युद्ध भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। ईसा की दसवीं शती से १६ वीं शती तक जैन महर्षियों ने काव्य, व्याकरण, शब्द-कोष, ज्योतिष, वैद्यक आदि विविध विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे और कर्णाटक-संस्कृति को पर्याप्त समृद्ध बनाया। दक्षिण भारत की पांच द्राविड-भाषाओं में से कन्नड़ एक प्रमुख भाषा है। उसमें जैन-साहित्य और साहित्यकार आज भी अमर हैं [७७]। तामिल भी दक्षिण की प्रसिद्ध भाषा है। इसका जैन-साहित्य भी बहुत समृद्ध है। इसके पाँच महाकाव्यों में से तीन महाकाव्य चिन्तामणि, सिलप्पडिकारम् और वलैतापति—जैन कवियों द्वारा रचित हैं। नन्नोल तामिल का विश्रुत व्याकरण है। कुरल और नालदियार जैसे महान् ग्रन्थ भी जैन महर्षियों की कृति है।

गुजराती साहित्य

उत्तर भारत श्वेताम्बर-आचार्यों का विहार-क्षेत्र रहा। उत्तर भारत की भाषाओं में दिगम्बर-साहित्य प्रचुर है। पर श्वेताम्बर-साहित्य की अपेक्षा वह कम है। आचार्य हेमचन्द्र के समय से गुजरात जैन-साहित्य और संस्कृति से प्रभावित रहा है। आनन्दघनजी, यशोविजयजी आदि अनेक योगियों व

महर्षियों ने इस भाषा में लिखा। विशेष जानकारी के लिए 'जैन गुर्जर कविओ' देखिए।

राजस्थानी साहित्य

राजस्थानी में जैन-साहित्य विशाल है। इस सहस्राब्दी में राजस्थान जैन-मुनियों का प्रमुख विहार-स्थल रहा है। यति, संविग्न, स्थानकवासी और तेरापन्थ सभी ने राजस्थानी में लिखा है। राम और चरितों की संख्या प्रचुर है। पूज्य जयमलजी का प्रदेशी राजा का चरित बहुत ही रोचक है। कवि समय सुन्दरजी की रचनाओं का संग्रह अगरचन्दजी नाहटा ने अभी प्रकाशित किया है। फुटकल ढालों का संकलन किया जाए तो इतिहास को कई नई झांकियां मिल सकती हैं।

राजस्थानी भाषाओं का स्रोत प्राकृत और अपभ्रंश हैं। काल-परिवर्तन के साथ-साथ दूसरी भाषाओं का भी सम्मिश्रण हुआ है।

राजस्थानी साहित्य तीन शैलियों में लिखा गया है—(१) जैन शैली (२) चारणी शैली (३) लौकिक शैली। जैन शैली के लेखक जैन-साधु और यति अथवा उनसे सम्बन्ध रखने वाले लोग हैं। इस शैली में प्राचीनता की झलक मिलती है। अनेक प्राचीन शब्द और मुहावरे इसमें आगे तक चले आये हैं।

जैनों का सम्बन्ध गुजरात के साथ विशेष रहा है। अतः जैन शैली में गुजराती का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। चारणी शैली के लेखक प्रधानतया चारण और गौण रूप में अन्यान्य लोग हैं (जैनो, ब्राह्मणों, राजपूतों, भाटों आदि ने भी इस शैली में रचना की है)। इसमें भी प्राचीनता की पुट मिलती है पर वह जैन शैली से भिन्न प्रकार की है, यद्यपि जैनों की अपभ्रंश रचनाओं में भी, विशेष कर युद्ध-वर्णन में, उसका मूल देखा जा सकता है। डिंगल वस्तुतः अपभ्रंश शैली का ही विकसित रूप है ७८।

तेरापन्थ के आचार्य भिक्षु ने राजस्थानी-साहित्य में एक नया स्रोत बहाया, अध्यात्म, अनुशासन, ब्रह्मचर्य, धार्मिक-समीक्षा, रूपक, लोक-कथा और अपनी अनुभूतियों से उसे व्यापकता की ओर ले चले। उन्होंने गद्य भी बहुत लिखा। उनकी सारी रचनाओं का प्रमाण ३८ हजार श्लोक के लगभग है। मारवाड़ी के ठेठ शब्दों में लिखना और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करना

उनकी अपनी विशेषता है। उनकी वाणी का स्रोत क्रान्ति और शान्ति दोनों धाराओं में बहा है। ब्रह्मचारी को मित-भोजी होना चाहिए। अमित-भोजी की शारीरिक और मानसिक दुर्दशा का उन्होंने सजीव चित्र खींचा है :—

अति आहार थी दुख हुवै, गलै रूप बल गात।
परमाद निद्रा आलस हुवै, वलै अनेक रोग होय जात॥
अति आहार थी विषय वधे, घणोइज फाटै पेट।
धान अमाऊ ऊरतां, हांडी फाटै नेट[७९]॥
फाटै पेट अत्यन्त रे, वन्ध हुवै नाड़ियां।
वले श्वास लेवै, अबखो थकी ए॥
वले होवे अजीरण रोग रे।
मुख वासै बुरो, पेट फाले आफरो ए॥
ते उठै उकाला पेट रे, चालै कलमली।
वले छूटै मुख थूकनी ए॥
डील फिरे चक्डोल रे, पित घूमे घणा।
चालै मुजल वले मुलकणी ए॥
आवै मीठी घणी डकार रे।
वले आवै गुचलका, जद आहार भाग उलटो पड़ै ए॥
हांडी फाटै नेट रे, अधिको ऊरियां।
तो पेट न फाटै किण विधे ए॥
ब्रह्मचारी इम जाण रे, अधिको नहीं जीमिए।
उणोदरी में ए गुण घणा ए[८०]॥

नव पदार्थ, विनीत-अविनीत, मतामत, अनुकम्पा, शील री नववाड़ आदि, उनकी प्रमुख रचनाएं हैं।

तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य महाकवि थे। उन्होंने अपने जीवन में लगभग साढ़े तीन लाख श्लोक प्रमाण गद्य-पद्य लिखे।

उनकी लेखनी में प्रतिभा का चमत्कार था। वे साहित्य और अध्यात्म के क्षेत्र में अनिरुद्ध गति से चले। उनकी सफलता का स्वतः प्रमाण उनकी अमर कृतियां हैं। उनका तत्त्व-ज्ञान प्रौढ़ था। श्रद्धा, तर्क और व्युत्पत्ति की

की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। उत्तर भारत और दक्षिण भारत की विविध भाषाएं आज भी जैन-धर्म की व्यापकता की गाथा गा रही हैं। पार्श्वचन्द्रसूरी और धर्म सिंह[११] मुनि ने गुजराती में टब्बा लिखे[१२]। विस्तृत टीकाओं में रस-पान जिनके लिए सुगम नही था, उनके लिए ये बड़े उपयोगी बने। दूसरे, ज्यो-ज्यों संस्कृत का प्रसार कम हो रहा था, त्यों-यों लोग विषय से दूर होते जा रहे थे। इनकी रचना उस कमी की पूर्ति करने में सफल सिद्ध हुई। हजारो जैन-मुनि इन्ही के सहारे सिद्धान्त के निष्णात बने।

जयाचार्य २० वी सदी के महान् टीकाकार हैं। उनकी टीकाएं सैद्धान्तिक चर्चाओं से भरी-पूरी हैं। शास्त्रीय विषयो के आलोडन-प्रत्यालोडन में वे इतने गहरे उतरे जितना कि एक सफल टीकाकार को उतरना चाहिए। दार्शनिक व्याख्याएं लम्बी नहीं चली हैं। सैद्धान्तिक विधि-निषेध और विसंवादों पर उनकी लेखनी तब तक नहीं रुकी, जब तक जिज्ञासा का धागा नहीं टूटा। एक बात को सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण प्रस्तुत करने में उन्हें अपूर्व कौशल मिला है। सिद्धान्त-समालोचना की दृष्टि से उनकी टीकाएं बेजोड़ हैं—यह कहा जा सकता है और एक समीक्षक की दृष्टि से कहा जा सकता है।

प्रबन्धकार

आपने करीब १६ प्रबन्ध लिखे। उनमें कई छोटे हैं और कई बड़े। भाषा सहज और सरस है। सभी रसों के वर्णन के बाद शान्त-रस की धारा बहाना उनकी अपनी विशेषता है। जगह-जगह पर जैन-संस्कृति और तत्त्व-ज्ञान की स्फुट छाया है। इनके अध्ययन से पाठक को जीवन का लक्ष्य समझने में बड़ी सफलता मिलती है। कवि की भावुकता और संगीत की मधुर स्वर-लहरी से जगमगाते ये प्रबन्ध जीवन की सरसता और लक्ष्य-प्राप्ति के परम उपाय हैं।

अध्यात्मोपदेष्टा

उनकी लेखनी की नोक अध्यात्म के क्षेत्र में बड़ी तीखी रही है। आराधना मोक्षगीत, फुटकर ढालें—ये ऐसी रचनाएं हैं, जिनमें अचेतन को चेतनामय बनाने की क्षमता है।

विविध रचनाएं—चर्चा का नया स्रोत

भ्रम विध्वंसन, जिनाज्ञा मुखमंडन, कुमति विहंडन, सदेह विषौषधि आदि चार्चिक ग्रन्थ, श्रद्धा की चौपाई, फुटकर ढालें आदि संस्कृति के उद्बोधक ग्रन्थ, उनकी कुशाग्रीयता के सजग प्रहरी हैं।

आगम समन्वय के स्रष्टा

आचार्य भिक्षु की विविध रचनाओं का जैन-आगमो से समन्वय किया, यह आपकी मौलिक सूझ है। आपने इन कृतियों का नाम रखा 'सिद्धान्त सार'। आचार्य भिक्षु की विचार-धारा जैन सूत्रो से प्रमाणित है, यह स्वतः नितर आया है। इसके पहले आगम से दर्शन करने की प्रणाली का उद्गम हुआ प्रतीत नहीं होता। जयाचार्य इसके स्रष्टा हैं।

स्तुतिकार

जयाचार्य का हृदय जितना तात्त्विक था, उतना ही श्रद्धालु। उन्होने तीर्थंकर, आचार्य और साधुओं की स्तुति करने में कुछ उठा नहीं रखा। वे गुण के साथ गुणी का आदर करना जानते थे। उनकी प्रसिद्ध रचना 'चौबीसी' भक्ति-रस की सजल सरिता है। सिद्धसेन, समन्तभद्र, हेमचन्द्र और आनन्द-घन जैसे तपस्वी लेखकों की दार्शनिक स्तुतियो के साथ जयाचार्य ने एक नई कड़ी जोड़ी। उनकी स्तुति-रचना में आत्म-जागरण का उद्बोध है। साधक के लिए दर्शन और आत्मोद्बोध—ये दोनों आवश्यक हैं। आत्मोद्बोध के बिना दर्शन में आग्रह का भाव बढ़ जाता है। इसलिए दार्शनिक की ख्याति पाने से पहले अध्यात्म की शिक्षा पाना जरूरी है।

जीवनी-लेखक

भारत के प्राच्य साहित्य में जीवनियां लिखने की प्रथा रही है। उसमें अतिरंजन अधिक मिलता है। अपनी कथा अपने हाथो लिखना ठीक नहीं समझा जाता था। इसलिए जिन-किन्ही की लिखी गईं, वे प्रायः दूसरो के द्वारा लिखी गईं। दूसरे व्यक्ति विशेष श्रद्धा या अन्य किसी स्वार्थ से प्रेरित हो लिखते, इसलिए उनकी कृति में यथार्थवाद की अपेक्षा अर्थ-वाद अधिक रहता। जयाचार्य इसके अपवाद रहे हैं। उन्होंने बीसियों छोटी-मोटी जीवनियां लिखीं। सबमें यथार्थ-दृष्टि का पूरा-पूरा ध्यान रखा। वस्तु स्थिति को स्पष्ट

करने के सिवाय वे आगे नहीं बढ़े। जीवनी के लेखकों में जयाचार्य का एक विशिष्ट स्थान है। भिक्षुजश रसायन, हेम नवरसो आदि आपकी लिखी हुई प्रख्यात जीवनियां हैं।

इतिहासकार

तेरापंथ के इतिहास को सुरक्षित रखने का श्रेय जयाचार्य को ही है। उन्होंने आचार्य भिक्षु की विशेष घटनाओं का संकलन कर एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया। साधु-साध्वियों की 'ख्यात' का संग्रह करवाया। इस दिशा में और भी अनेक कार्य किए।

मर्यादा पुरुषोत्तम

जयाचार्य की शासन-शैली एक कुशल राजनीतिज्ञ की सी थी। वे अनुशासन और संगठन के महान् निर्देशक थे। उन्होंने संघ को सुव्यवस्थित रखने के लिए छोटे-बड़े अनेक मर्यादा-ग्रन्थ लिखे। आचार्य भिक्षु रचित मर्यादाओं की पद्य-बद्ध रचनाएं की। 'आचार्य भिक्षुकृत 'लिखनो की जोड़' एक अपूर्व रचना है।

गद्य-लेखक

प्राचीन लोक-साहित्य में गद्य बहुत कम लिखा गया। प्रत्येक रचना पद्यों में ही की जाती। जयाचार्य बहुत बड़े गद्य-लेखक हुए हैं। उन्होंने 'आचार्य भिक्षुके दृष्टान्त' इतनी सुन्दरता से लिखे हैं, जो अपनी प्रियता के लिए प्रसिद्ध हैं।

महान् शिक्षक

जीवन-निर्माण के लिए शिक्षा नितान्त आवश्यक तत्त्व है। शिक्षा का अर्थ तत्त्व की जानकारी नहीं। उसका अर्थ है जीवन के विश्लेषण से प्राप्त होनेवाली जीवन-निर्माण की विद्या। जयाचार्य ने एक मनोवैज्ञानिक की भांति अपने संघ के सदस्यों की मानसिक वृत्तियों का अध्ययन किया। गहरे मनन और चिन्तन के बाद उसपर लिखा। यद्यपि इस विषय पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं लिखा, कई फुटकर ढाले लिखीं, किन्तु उनमें मानव की मनोवृत्तियों का जिस सजीवता के साथ विश्लेषण हुआ है वह अपने ढङ्ग का निराला है। जीवन को बनाने के लिए, मनकी वृत्तियों को सुधारने के लिए, जो साधन सुझाये हैं, वे अचूक हैं।

आचार्य श्री तुलसी की राजस्थानी में अनेक रचनाएं हैं। उनमें कालू यशोविलास प्रमुख कृति है। उसमें अपने गुरुदेव कालुगणी के जीवन का सांगोपांग वर्णन है। उसका एक प्रसंग यह है :—

मेवाड़ के लोग श्रीकालुगणी को अपने देश पधारने की प्रार्थना करने आये हैं। उनके हृदय में बड़ी तड़फ है। उनकी अन्तर-भावना का मेवाड़ की मेदिनी में आरोप कर आपने बड़ा सुन्दर चित्रण किया है :—

"पतित-उधार पधारिए, संगे सबल लहि थाट।
मेदपाट नी मेदिनी, जोवे खड़ि-खड़ि वाट॥
सघन शिलोच्चयनें मिषे, ऊंचा करि-करि हाथ।
चंचल दल शिखरी मिषे, दे झाला जगनाथ॥
नयणां विरह तुमारडे, झरै निझरणा जास।
भ्रमराराव भ्रमे करी, लह लांबा निःश्वास॥
कोकिल-कूजित व्याज थी, प्रतिराज उड़ावै काग।
अरघट खट खटका करी, दिल खटक दिखावै जाग॥
मैं अबला अचला रही, किम पहुंचे मम सन्देश।
इम झुर झुर मनु झूरणा, संकोच्यो तनु सुविशेष"[१३]॥

इसमें केवल कवि-हृदय का सारस्य ही उद्वेलित नहीं हुआ है, किन्तु इसे पढ़ते-पढ़ते मेवाड़ के हरे-भरे जंगल, गगनचुम्बी पर्वतमाला, निर्झर, भँवरे, कोयल, घड़ियाल और स्तोकभूभाग का साक्षात् हो जाता है। मेवाड़ की ऊंची भूमि में खड़ी रहने का, गिरिशृङ्खला में हाथ ऊंचा करने का, वृक्षों के पवन-चालित दलों में आह्वान करने का, मधुकर के गुञ्जारव में दीर्घोष्ण निश्वास का, कोकिल-कूजन में काक उड़ाने का आरोपण करना आपकी कवि-प्रतिभा की मौलिक सूझ है। रहंट की घड़ियों में दिल की टीस के साथ-साथ रात्रि-जागरण की कल्पना से वेदना में मार्मिकता आ जाती है। उसका चरम रूप अन्तर्जगत् में न रह सकने के कारण बहिर्जगत् में आ साकार बन जाता है। उसे कवि-कल्पना सुनाने की अपेक्षा दिखाने में अधिक सजीव हुई है। अन्तर्व्यथा से पीड़ित मेवाड़ की मेदिनी का कृश शरीर वहाँ की भौगोलिक स्थिति का सजीव चित्र है।

मघवा गणी के स्वर्ग-वास के समय कालुगणी के मनोभावों का आकलन करते हुए आपने गुरु-शिष्य के मधुर सम्बन्ध एवं विरह-वेदना का जो सजीव वर्णन किया है, वह कवि की लेखनी का अद्भुत चमत्कार है :—

"नेहड़ला री म्यारी म्हांरी, मूकी निराधार।
इसड़ी कां कीधी म्हारा, हिवड़े रा हार॥
चितड़ो लाग्यो रे, मनड़ो लाग्यो रे।
खिण खिण समरूं, गुरु थांरो उपगार रे॥
किम विसराये म्हांरा, जीवन - आधार।
विमल विचार चारु, अव्वल आचार रे॥
कमल ज्यूं अमल, हृदय अविकार।
आज सुदि कदि नहीं, लोपी तुज कार रे॥
वह्यो वलि वलि तुम, मींट विचार।
तो रे क्यां पधारया, मोये मूकी इह वार रे॥
स्व स्वामी रु शिष्य-गुरु, सम्बन्ध विसार[१४]।
पिण सांची जन-श्रुति, जगत् मझार रे।
एक पक्खी प्रीत नहीं, पडै कदि पार॥
पिऊ पिऊ करत, पपैयो पुकार रे।
पिण नहीं मुदिर नै, फिकर लिगार[१५]।"

जैन-कथा-साहित्य में एक प्रसंग आता है। गजसुकुमार, जो श्रीकृष्ण के छोटे भाई थे, भगवान् अरिष्टनेमि के पास दीक्षित बन उसी रात को ध्यान करने के लिए श्मशान चले जाते हैं। वहाँ उनका श्वसुर सोमिल आता है। उन्हें साधु-मुद्रा में देख उसके क्रोध का पार नही रहता। वह जलते अंगारे ला मुनि के शिर पर रख देता है। मुनि का शिर खिचड़ी की भाँति कलकला उठता है। उस दशा में वे अध्यात्म की उच्च भूमिका में पहुंच 'चेतन-तन-भिन्नता' तथा 'समः शत्रौ च मित्रे च' की जिस भावना में आरूढ़ होते हैं, उसका साकार रूप आपकी एक कृति में मिलता है। उसे देखते-देखते द्रष्टा स्वयं आत्म-विभोर बन जाता है। अध्यात्म की उत्ताल ऊर्मियाँ उसे तन्मय किए देती हैं :—

"जब धरे शीश पर खीरे,
ध्यावे यों धृति-धर धीरे।
है कौन वरिष्ठ भुवन में,
जो मुझको आकर पीरे॥
मैं अपनो रूप पिछानूं,
हो उदय ज्ञानमय भानू।
वास्तव में वस्तु पराई,
क्यों अपनी करके मानूं॥
मैंने जो संकट पाये,
सब मात्र इन्हीं के कारण।
अब तोडूं सब जंजीरे,
ध्यावे यों धृति धर धीरे॥

कबके ये बन्धन मेरे,
अबलौं नहीं गये बिखेरे।
जब से मैंने अपनाये
तब से डाले दृढ़ डेरे॥
सम्बन्ध कहा मेरे से,
कहा भैंस गाय के लागे।
हैं निज गुण असली हीरे,
ध्यावे यो धृति धर धीरे॥

मैं चेतन चिन्मय चारु,
ये जड़ता के अधिकारू।
मैं अक्षय अज अविनाशी,
ये गलन - मिलन विशरारू॥
क्यों प्रेम इन्ही से ठायो,

दुर्गति की दलना पायो।
अब भी हो रहूँ प्रतीरे,
ध्यावे यों धृति धर धीरे॥

यह मिल्यो सखा हितकारी,
उत्तारूँ अघ की भारी।
नहिं द्वेष-भाव दिल लाऊँ,
कैवल्य पलक में पाऊँ॥
सच्चिदानन्द बन जाऊँ,
लोकाग्र स्थान पहुँचाऊँ।
प्रत्तय हो भव प्राचीरे,
ध्यावे यों धृत धर धीरे॥

नहिं मरूं न कबही जन्मूं,
कहिं परूं न जग झंझट में।
फिर जरूँ न आग-लपट में,
झर पड़ूं न प्रलय-झपट में॥
दुनियां के दारुण दुःख में,
धधकत शोकानल धुक में।
नहिं धुकूं सहाय समीरे,
ध्यावे यों धृति धर धीरे॥

नहिं बहूँ सलिल-स्रोतों में,
नहिं रहूँ भग्न पोतों में।
नहिं जहूँ रूप मैं म्हारो,
नहिं लहूँ कष्ट मौतों में॥
नहिं छिदूं धार तलवारां,

नहिं भिद् भन्न भलकारां,
चढ़े आये शत्रु समीरे,
ध्यावे यों धृति धर धीरे।"

इसमें आत्म-स्वरूप, मोक्ष, संसार-भ्रमण और जड़-तत्त्व की सहज-सरल व्याख्या मिलती है। वह ठेठ दिल के अन्तरतल में पैठ जाती है। दार्शनिक की नीरस भाषा को कवि किस प्रकार रस-परिपूर्ण बना देता है, उसका यह एक अनुपम उदाहरण है[१६]।

हिन्दी-साहित्य

हिन्दी का आदि स्रोत अपभ्रंश है। विक्रम की दसवीं शताब्दी से जैन विद्वान् इस ओर झुके। तेरहवीं शती में आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्रसिद्ध व्याकरण सिद्धहेमशब्दानुशासन में इसका भी व्याकरण लिखा। उसमें उदाहरण-स्थलों में अनेक उत्कृष्ट कोटि के दोहे उद्धृत किए हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के मनीषी इसी भाषा में पुराण, महापुराण, स्तोत्र आदि लिखते ही चले गए। महाकवि स्वयम्भू ने पद्मचरित लिखा। राहुलजी के अनुसार तुलसी रामायण उसमें बहुत प्रभावित रहा है। राहुलजी ने स्वयम्भू को विश्व का महाकवि माना है। चतुर्मुखदेव, कवि रइधु, महाकवि पुष्पदन्त के पुराण अपभ्रंश में हैं। योगीन्द्र का योगसार और परमात्म प्रकाश संत-साहित्य के प्रतीक ग्रन्थ हैं।

हिन्दी के नए-नए रूपों में जैन-साहित्य अपना योग देता रहा। पिछली चार-पाँच शताब्दियों में वह योग उल्लास-वर्धक नही रहा। इस शताब्दी में फिर जैन-समाज इस ओर जागरूक है—ऐसा प्रतीत हो रहा है।
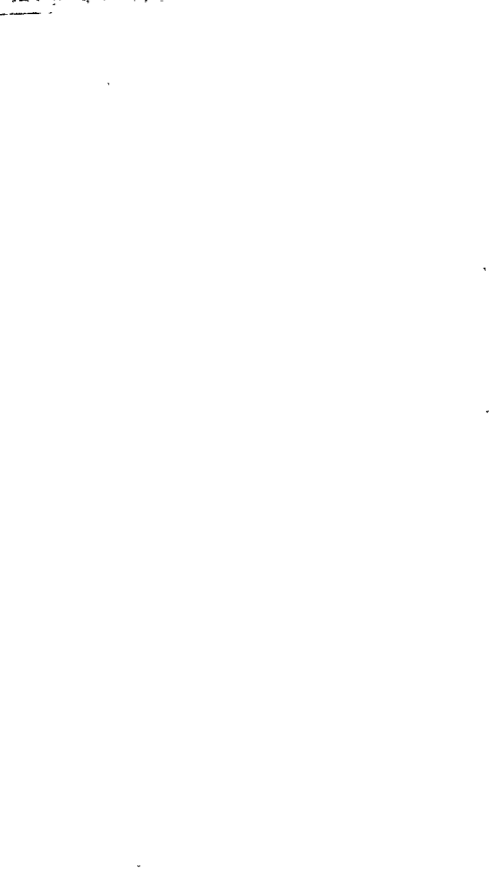
धर्म और समाज

धर्म अमामाजिक—वैयक्तिक तत्त्व है। किन्तु धर्म की आराधना करने वालों का समुदाय बनता है, इसलिए व्यवहार में धर्म भी सामाजिक बन जाता है।

सभी तीर्थंकरों की भाषा में धर्म का मौलिक रूप एक रहा है। धर्म का साध्य मुक्ति है, उसका साधन द्विरूप नहीं हो सकता। उसमें मात्रा-भेद हो सकता है, किन्तु स्वरूप भेद नहीं हो सकता। मुक्ति का अर्थ है—बाह्य का पूर्ण त्याग—सूक्ष्म शरीर का भी त्याग। इसलिए मुमुक्षु-वर्ग ने बाह्य के अस्वीकार पक्ष को पुष्ट किया। यही तत्त्व भिन्न-भिन्न युगों में निर्ग्रन्थ-प्रवचन, जिन-वाणी और जैन-धर्म की संज्ञा पाता रहा है। भारतीय-मानस पर त्याग और तपस्या का प्रतिबिम्ब है, उसका मूल जैन-धर्म ही है।

अहिंसा और सत्य की साधना को समाज-व्यापी बनाने का श्रेय भगवान् पार्श्व को है। भगवान् पार्श्व अहिंसक-परम्परा के उन्नयन द्वारा बहुत लोक-प्रिय हो गए थे। इसकी जानकारी हमें "पुरिसादाणीय"[1]—पुरुषादानीय विशेषण के द्वारा मिलती है। भगवान् महावीर भगवान् पार्श्व के लिए इस विशेषण का सम्मानपूर्वक प्रयोग करते थे। यह पहले बताया जा चुका है—आगम की भाषा में सभी तीर्थंकरों ने ऐसा ही प्रयत्न किया। प्रो० तान-युन-शान के अनुसार अहिंसा का प्रचार वैज्ञानिक तथा स्पष्ट रूप से जैन तीर्थंकरों द्वारा और विशेषकर २४ तीर्थंकरों द्वारा किया गया है, जिनमें अन्तिम महावीर-वर्धमान थे[2]।

विहार का क्रान्ति-घोष

भगवान् महावीर ने उसी शाश्वत सत्य का उपदेश दिया, जिसका उनसे पूर्ववर्ती तीर्थंकर दे चुके थे। किन्तु महावीर के समय की परिस्थितियों ने उनकी वाणी को ओजपूर्ण बनाने का अवसर दिया। हिंसा का प्रयोजन पक्ष सदा होता है—कभी मन्द और कभी तीव्र। उस समय हिंसा सैद्धान्तिक पक्ष में भी स्वीकृत थी। भगवान् ने इस हिंसा के आचरण को दोहरी मूर्खता कहा। उन्होंने कहा—प्रातः स्नानादि से मोक्ष नहीं होता[3]। जो सुबह और

शाम जल का स्पर्श करते हुए—
हैं[४]। हुत से जो मुक्ति बतलाते हैं, वे
स्नान, हवन आदि से मुक्ति
अग्नि में जीव हैं। सब जीव सुख
मोक्ष का मार्ग नहीं है—यह
जाति की कोई विशेषता नहीं है
जाति-मद का घोर विरोध किया।
उन्होंने जाति-समन्वय का आदर्श
उन्होंने लोक-भाषा में उपदेश
किया[९]। आचार-धर्म को प्रमुखता
स्पष्ट संकेत किया[१०]।

लक्ष्य का विपर्यय समझाते हुए
विष पीने वाले को मारता है, जिस
शस्त्रधारी को ही घातक होता है
हुआ वैताल मन्त्रधारी का ही विन
लिए ग्रहण किया हुआ धर्म आत्मा

वैषम्य के विरुद्ध आत्म-तुला
"प्रत्येक दर्शन को पहले जान कर
अप्रिय है या दुःख अप्रिय? यदि
तो तुम्हारी तरह ही सर्व प्राणियों
सत्वों को दुःख महा भयंकर,
कर किसी जीव की हिंसा नहीं करन

इस प्रकार भगवान् की वाणी
जातिवाद, भाषावाद और हिंसक
था। उसने समाज की अन्तर्-चेतन

तत्त्व-चर्चा का प्रवाह

भगवान् महावीर की
भगवान् पार्श्व की परम्परा के

गए [१३]। अन्य तीर्थिक संन्यासी भी भगवान् की परिषद् में आने लगे। अम्बड,[१४] स्कन्दक, पुद्गल[१५] और शिव[१६] आदि परिव्राजक भगवान् के पास आए, प्रश्न किए और समाधान पा भगवान् के शिष्य बन गए।

कालोदायी आदि अन्य यूथिको के प्रसंग भगवान् के तत्त्व-ज्ञान की व्यापक चर्चा पर प्रकाश डालते हैं[१७]। भगवान् का तत्त्व-ज्ञान बहुत सूक्ष्म था। वह युग भी धर्म-जिज्ञासुओं से भरा हुआ था। सोमिल ब्राह्मण,[१८] तुंगिया नगरी के श्रमणोपासक,[१९] जयन्ती श्राविका,[२०] माकन्दी,[२१] रोह, पिंगल[२२] आदि श्रमणों के प्रश्न तत्त्व-ज्ञान की बहती धारा के स्वच्छ प्रतीक हैं।

विम्बसार-श्रेणिक

भगवान् जीवित धर्म थे। उनका संयम अनुत्तर था। वह उनके शिष्यों को भी संयममूर्त्ति बनाए हुए था। महानिर्ग्रन्थ अनाथ के अनुत्तर संयम को देख कर मगध सम्राट् बिम्बसार—श्रेणिक भगवान् का उपासक बन गया। वह जीवन के पूर्व-काल में बुद्ध का उपासक था। उसकी पट्टराज्ञी चेलणा महावीर की उपासिका थी। उसने सम्राट् को जैन बनाने के अनेक प्रयत्न किये। सम्राट् ने उसे बौद्ध बनाने के प्रयत्न किये। पर कोई भी किसी ओर नहीं झुका। सम्राट् ने महानिर्ग्रन्थ अनाथ को ध्यान-लीन देखा। उनके निकट गए। वार्तालाप हुआ। अन्त में जैन बन गए [२३]।

इसके पश्चात् श्रेणिक का जैन प्रवचन के साथ घनिष्ट सम्पर्क रहा। सम्राट् के पुत्र और महामन्त्री अभयकुमार जैन थे। जैन-परम्परा में आज भी अभयकुमार की बुद्धि का वरदान मांगा जाता है। जैन-साहित्य में अभयकुमार सम्बन्धी अनेक घटनाओं का उल्लेख मिलता है [२४]।

श्रेणिक की २३ रानियां भगवान् के पास प्रव्रजित हुई [२५] उसके अनेक पुत्र भगवान् के शिष्य बने [२६]। सम्राट् श्रेणिक के अनेक प्रसंग आगमो में उल्लिखित हैं [२७]।

चेटक

वैशाली १८ देशों का गणराज्य था। उसके प्रमुख महाराजा चेटक थे। वे भगवान् महावीर के मामा थे। जैन श्रावकों में उनका प्रमुख स्थान था।

वे बारह व्रती श्रावक थे। उनके सात कन्याएं थीं। वे जैन के सिवाय किसी दूसरे के साथ अपनी कन्याओं का विवाह नहीं करते थे।

श्रेणिक ने चेलणा को कूटनीतिक ढंग से व्याहा था। चेटक के सभी जामाता प्रारम्भ से ही जैन थे। श्रेणिक पीछे जैन बन गया।

चेटक की पुत्रियों के नाम	चेटक के जामाताओं के नाम	उनकी राजधानी के नाम
प्रभावती	उदायन	सिंधु सौवीर
पद्मावती	दधिवाहन	चम्पा
मृगावती	शतानीक	कौशाम्बी
शिवा	चण्ड प्रद्योत	अवन्ती
ज्येष्ठा	भगवान् के भाई नन्दिवर्धन	कुण्डग्राम
सुज्येष्ठा	(साध्वी बन गई)	
चेलणा	बिम्बसार (श्रेणिक)	मगध

अपने दौहित्र कोणिक के साथ चेटक का भीषण संग्राम हुआ था। संग्राम-भूमि में भी वे अपने व्रतों का पालन करते थे। अनाक्रमणकारी पर प्रहार नहीं करते थे। एक दिन में एक बार से अधिक शस्त्र-प्रयोग नहीं करते थे। इनके गणराज्य में जैन-धर्म का समुचित प्रसार हुआ। गणराज्य के अठारह सदस्य-नृप नौ मल्लवी और नौ लिच्छवी भगवान् के निर्वाण के समय वहीं पौषध किये हुए थे।

राजर्षि

भगवान् के पास आठ राजा दीक्षित हुए—इसका उल्लेख स्थानांग सूत्र में मिलता है। उनके नाम इस प्रकार हैं:—(१) वीरांगक (२) वीरयशा (३) संजय (४) एणेयक (५) सेय (६) शिव (७) उदायन (८) शंख—काशीवर्धन। इनमें वीरांगक, वीरयशा और संजय—ये प्रसिद्ध हैं। टीकाकार अभयदेव सूरि ने इसके अतिरिक्त कोई विवरण प्रस्तुत नहीं किया है। एणेयक श्वेतविका नरेश प्रदेशी का सम्बन्धी कोई राजा था। सेय आमलकल्पा नगरी का अधिपति था। शिव हस्तिनापुर का राजा था। उसने सोचा—मैं धन-धान्य से सम्पन्न हूँ, यह मेरे पूर्वकृत शुभ कर्मों का फल है। मुझे वर्तमान में

भी शुभ कर्म करने चाहिए। यह सोच राज्य पुत्र को सौंपा। स्वयं दिशा-प्रोक्षित तापस बन गया। दो-दो उपवास की तपस्या करता और पारणा में पेड़ से गिरे हुए पत्तों को खा लेता, इस प्रकार की चर्या करते हुए उसे विभंग अवधि-ज्ञान उत्पन्न हुआ। उससे उसने सात द्वीप और सात समुद्रों को देखा। यह विश्व सात द्वीप और सात समुद्र प्रमाण है, इसका जनता में प्रचार किया।

भगवान् के प्रधान शिष्य गौतम भिक्षा के लिए जा रहे थे। लोगों में शिव राजर्षि के सिद्धान्त की चर्चा सुनी। वे भिक्षा लेकर लौटे। भगवान् से पूछा—भगवन्! द्वीप समुद्र कितने हैं? भगवान् ने कहा—असंख्य हैं। गौतम ने उसे प्रचारित किया। यह बात शिव राजर्षि तक पहुँची। वह संदिग्ध हुआ और उसका विभंग अवधि लुप्त हो गया। वह भगवान् के समीप आया, वार्तालाप कर भगवान् का शिष्य बन गया[२८]।

उदायन सिन्धु, सौवीर आदि सोलह जनपदों का अधिपति था। दस मुकुटबद्ध राजा इसके आधीन थे। भगवान् महावीर लम्बी यात्रा कर वहाँ पधारे। राजा ने भगवान् के पास मुनि-दीक्षा ली।

वाराणसी के राजा शंख के बारे में कोई विवरण नहीं मिलता। अन्तकृद् दशा के अनुसार भगवान् ने राजा अलक को वाराणसी में प्रव्रज्या दी थी। संभव है यह उन्हीं का दूसरा नाम है।

उस युग में शासक-सम्मत धर्म को अधिक महत्त्व मिलता था। इसलिए राजाओं का धर्म के प्रति आकृष्ट होना उल्लेखनीय माना जाता। जैन-धर्म ने समाज को केवल अपना अनुगामी बनाने का यत्न नहीं किया, वह उसे व्रती बनाने के पक्ष पर भी बल देता रहा। शाश्वत सत्यों की आराधना के साथ-साथ समाज के वर्तमान दोषों से बचने के लिए भी जैन श्रावक प्रयत्नशील रहते थे। चारित्रिक उच्चता के लिए भगवान् महावीर ने जो आचार-संहिता दी, वह समाज में मानसिक स्वास्थ्य का वातावरण बनाए रखने में क्षम है। बारह व्रतों के अतिचार इस दृष्टि से माननीय हैं[२९]।

स्थूल प्राणातिपात-विरमण-व्रत के पांच प्रधान अतिचार हैं, जिन्हें श्रमणोपासक को जानना चाहिए और जिनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं:—(१) बन्धन—बन्धन से बांधना (२) वध—पीटना (३) छवि-

च्छेद—चमड़ी या अवयवों का छेदन करना (४) अतिभार—अधिक भार लादना (५) भक्तपानविच्छेद—भोजन-पानी का विच्छेद करना—(आश्रित प्राणी को भोजन-पानी न देना)

द्वितीय स्थूल मृषावाद-विरमण व्रत के पांच प्रधान अतिचार हैं, जिन्हें श्रमणोपासक को जानना चाहिए और जिनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—(१) सहसाऽभ्याख्यान—सहसा (बिना आधार) मिथ्या आरोप करना (२) रहस्याऽभ्याख्यान—गुप्त मन्त्रणा करते देख कर आरोप लगाना अथवा रहस्य प्रकट करना (३) स्वदार-मन्त्रभेद—अपनी पत्नी का मर्म प्रकट करना (४) मृषोपदेश—असत्य का उपदेश देकर उसकी ओर प्रेरित करना और (५) कूट लेखकरण—झूठे खत—पत्र बनाना।

तीसरे स्थूल अदत्तादान-विरमण व्रत के पाँच प्रधान अतिचार हैं। श्रमणोपासक को उन्हें जानना चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—(१) स्तेनाहृत—चुराई हुई वस्तु खरीदना (२) तस्कर-प्रयोग—चोर की सहायता करना या चोरों को रख कर चोरी कराना (३) राज्य के आयात-निर्यात और जकात-कर आदि के नियमों के विरुद्ध व्यवहार करना अथवा परस्पर-विरोधी राज्यों के नियम का उल्लंघन करना (४) कूट-तोल कूटमान—खोटे तोल-माप रखना और (५) तत् प्रतिरूपक-व्यवहार—सदृश वस्तुओं का व्यवहार—उत्तम वस्तु में हल्की का मिश्रण करना या एक वस्तु दिखा कर दूसरी देना।

चतुर्थ स्थूल मैथुन-विरमण व्रत के पाँच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—

(१) इत्वरपरिगृहीतागमन—थोड़े समय के लिए दूसरे द्वारा गृहीत अविवाहित स्त्री के साथ आलाप-संलापरूप गमन करना (२) अपरिगृहीता-गमन—किसी के द्वारा अगृहीत वेश्या आदि से आलाप संलापरूप गमन करना (३) अनंग-क्रीड़ा—कामोत्तेजक आलिंगनादि क्रीड़ा करना अप्राकृतिक क्रीड़ा। (४) पर विवाहकरण—पर संतति का विवाह करना—और (५) कामभोग-तीव्राभिलाषा—काम-भोग की तीव्र आकांक्षा रखना।

स्थूल परिग्रह-परिमाण व्रत के पांच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—

(१) क्षेत्रवास्तु-प्रमाणातिक्रम—क्षेत्रवास्तु परिमाण का अतिक्रमण करना (२) हिरण्य-सुवर्ण-प्रमाणातिक्रम—चांदी और सोने के परिमाण का अतिक्रमण करना। (३) धनधान्य-प्रमाणातिक्रम—धन, रुपये, पैसे, रत्नादि और धान्य के परिमाण का अतिक्रमण—उल्लंघन करना (४) द्विपद चतुष्पद प्रमाणातिक्रम—द्विपद—*तोता, मैना, दास-दासी और चतुष्पद—गाय, भैंस आदि पशुओं* के परिमाण का अतिक्रमण—उल्लंघन करना और (५) कुप्यप्रमाणातिक्रम—घर के बर्तन आदि उपकरणों के परिमाण का अतिक्रमण—उल्लंघन करना।

छठे दिग्व्रत के पाँच अतिचार हैं, जो श्रमणोपासक को जानने चाहिए और जिनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—(१) ऊर्ध्व-दिक्-प्रमाणातिक्रम—ऊर्ध्व दिशा के प्रमाण का अतिक्रमण (२) अधोदिक्-प्रमाणातिक्रम—अधोदिशा के प्रमाण का अतिक्रमण (३) तिर्यग्-दिक-प्रमाणातिक्रम—अन्य सर्वदिशा-विदिशाओं के प्रमाण का अतिक्रमण (४) क्षेत्र-वृद्धि—एक दिशा में क्षेत्र घटा कर दूसरी में बढ़ाना और (५) *स्मृत्यन्तराधान—परिमाण के सम्बन्ध में स्मृति न रख आगे जाना।*

सातवाँ उपभोग परिभोग व्रत दो प्रकार का कहा गया है—भोजन से और कर्म से। उसमें से भोजन सम्बन्धी पाँच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—(१) सचित्ताहार—प्रत्याख्यान के उपरान्त—सचित्त—सजीव वनस्पति आदि का आहार करना (२) सचित्त प्रतिबद्धाहार—सचित्त वस्तु के साथ लगी अचित्त वस्तु का भोजन करना—जैसे गुठली सहित सूखे बेर या खजूर खाना। (३) अपक्वौषधि-भक्षण—अग्नि से न पकी औषधि—वनस्पति—*शाकभाजी* का भक्षण करना (४) दुष्पक्वौषधि-भक्षण—अर्द्ध पकी औषधि—वनस्पति का भक्षण करना और (५) तुच्छौषधि—असार वनस्पति—शाकभाजी का भक्षण करना।

कर्म-आश्रयी श्रमणोपासक को पन्द्रह कर्मादान जानने चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—(१) अंगार कर्म—जिसमें अंगार—अग्नि का विशेष प्रयोग होता हो, ऐसा उद्योग या व्यापार (२) वन कर्म—*जंगल, वृक्ष वनस्पति बेचने का व्यापार, वृक्षादि काटने का*

धंधा (३) शाकट-कर्म—गाड़ी आदि वाहन बनाने बेचने या चलाने का काम करना (४) भाटक कर्म—गाड़ा वगैरह वाहन भाड़े पर चलाने का काम (५) स्फोट-कर्म—जिसमें भूमि खोदने, पर्वत आदि स्फोट करने का काम हो (६) दन्त-वाणिज्य—हाथी दांत आदि प्राणियों के अवयवों का व्यापार (७) लाक्षावाणिज्य—लाख वगैरह का व्यापार (८) रस-वाणिज्य—मदिरा वगैरह का व्यापार (९) केशवाणिज्य—केश का व्यापार (१०) विष-वाणिज्य—जहरीली वस्तुएं और शस्त्रादि का व्यापार (११) यन्त्रपीलन-कर्म—तिल, ऊख वगैरह पीलने का काम (१२) निर्लाछन कर्म—बैल आदि को नपुंसक करने का काम (१३) दावाग्नि वापन—वन आदि को अग्नि लगा साफ करने का धन्धा (१४) सरदहतालाव-शोषण—सरोवर, दह, तालाब आदि के शोषण का काम और (१५) असतीजनपोषण—आजीविका के लिए वेश्यादि का पोषण अथवा पक्षियों का खेल-तमाशा, मांस, अण्डे आदि के व्यापार के लिए पोषण।

आठवें अनर्थ विरमण व्रत के पांच अतिचार हैं। जिन्हें श्रमणोपासक को जानना चाहिए और जिनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :— (१) कन्दर्प—कामोत्तेजक बातें करना (२) कौत्कुच्य—भौंहें, नेत्र, मुंह, हाथ, पैर आदि को विकृत कर परिहास उत्पन्न करना (३) मौखर्य—वाचालता, असंबद्ध आलाप (४) संयुक्ताधिकरण—हिंसा के साधन शस्त्रादि तैयार रखना और (५) उपभोग परिभोगा-तिरिक्तता—उपभोग परिभोग वस्तुओं की अधिकता।

नववें सामायिक व्रत के पांच अतिचार हैं, जो श्रमणोपासक को जानने चाहिए और जिनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :— (१) मनोदुष्प्रणिधान—मन की बुरी प्रवृत्ति (२) वाग्दुष्प्रणिधान—वाणी की दुष्प्रवृत्ति तथा (३) कायदुष्प्रणिधान—काया की दुष्प्रवृत्ति की हो (४) स्मृतिअकरण—सामायिक की स्मृति न रखना और (५) अनवस्थित-करण—सामायिक व्यवस्थित-नियत रूप से न करना।

दसवें देशावकाशिक व्रत के पांच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—(१) आनयन-

प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र के बाहर से सन्देशादि द्वारा कोई वस्तु मंगाना (२) प्रेष्यण-प्रयोग—मर्यादित क्षेत्र के बाहर भृत्यादि द्वारा कुछ भेजना (३) शब्दानुपात—खांसी वगैरह शब्दों द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर किसी को मनोगत भाव व्यक्त करना (४) रूपानुपात—रूप दिखा कर अथवा इंगितों द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर किसी को मनोगत भाव प्रगट करना (५) बहिः पुद्गल प्रक्षेप—कंकर आदि फेंक कर इशारा करना।

ग्यारहवें पौषधोपवास व्रत के पांच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :— (१) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-शय्या-संस्तारक—वसति और कम्बल आदि का प्रतिलेखन—निरीक्षण न करना अथवा अच्छी तरह न करना (२) अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्या-संस्तारक—वसति और कम्बल आदि वस्तुओं का प्रमार्जन न करना अथवा अच्छी तरह प्रमार्जन न करना (३) अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चारप्रस्रवणभूमि—उच्चार—टट्टी की जगह और प्रस्रवण-पेशाब करने की जगह का प्रतिलेखन—निरीक्षण न करना अथवा अच्छी तरह निरीक्षण न करना (४) अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित उचारप्रस्रवणभूमि—टट्टी की भूमि और पेशाब करने की भूमि का प्रमार्जन न करना अथवा अच्छी तरह से प्रमार्जन न करना (५) पौषधोपवास-सम्यक्अपालन—पौषधोपवास व्रत का विधिवत् पालन नहीं करना।

बारहवें यथासंविभाग व्रत के पाँच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :— (१) सचित्त-निक्षेप—साधु को देने योग्य आहारादि पर सचित वनस्पति वगैरह रखना (२) सचित्त-पिधान—आहार आदि सचित वस्तु से ढकना (३) कालातिक्रम—साधुओं को देने के समय को टालना (४) परव्यपदेश—'यह वस्तु दूसरे की है'—ऐसा कहना और (५) मत्सरिता—मात्सर्यपूर्वक दान देना।

संलेखना

अपश्चिममारणांतिक-संलेखनाजोषणाराधना के पाँच अतिचार श्रमणोपासक को जानने चाहिए और उनका आचरण नहीं करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं :—(१) इहलोकाशंसा—मैं 'राजा होऊं'—ऐसी इहलौकिक

कामना (२) परलोकाशंसा-प्रयोग—'मैं देव होऊं'—ऐसी परलोक की इच्छा करना (३) जीविताशंसा-प्रयोग—'मैं जीवत रहूँ'—ऐसी इच्छा करना (४) मरणाशंसा-प्रयोग—'मैं शीघ्र मरूं'—ऐसी इच्छा करना और (५) कामभोगाशंसा प्रयोग—कामभोग की कामना करना[३०]।

इनमें से कुछेक अतिचारों के वर्णन से केवल आध्यात्मिकता की पुष्टि होती है। किन्तु इसमें अधिकांश ऐसे हैं जो आध्यात्मिकता की पुष्टि के साथ-साथ जीवन के व्यावहारिक पक्ष को भी समुन्नत बनाए रखते हैं। दिग्व्रत के अतिचारों में आक्रमण, साम्राज्य-लिप्सा और भोग-विस्तार का भाव दिया है। ऊर्ध्व दिशा और अधो दिशा में जाने के साधनों पर अंकुश लगाया गया है। इन व्रतों और अतिचार—निषेधों का आज के चारित्रिक मूल्यों को स्थिर रखने में महत्त्वपूर्ण योग है। डा० अल्टेकर ने इसका अंकन इन शब्दों में किया है—"हमारे देश में आने वाले यूनानी, चीनी एवं मुसलमान यात्रियों ने बड़ी-बड़ी प्रशंसात्मक बातें कही हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि सदाचार और तपस्या सम्बन्धी भगवान् महावीर आदि महात्माओं के सिद्धान्त हमारे पूर्वजों के चरित्र में मूर्तिमन्त हुए थे। हम में यह दुर्बलता जो आज दिखाई पड़ रही है, वह विदेशी दासता के कारण ही उत्पन्न हुई है। इसलिए समाज से भ्रष्टाचार को दूर करने के लिए आज अणुव्रत के प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है[३१]।"

भगवान् महावीर के युग में जैन-धर्म भारत के विभिन्न भागों में फैला। सम्राट् अशोक के पुत्र सम्प्रति ने जैन-धर्म का सन्देश भारत से बाहर भी पहुँचाया। उस समय जैन-मुनियों का विहार-क्षेत्र भी विस्तृत हुआ। श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डे ने अहिंसक-परम्परा की चर्चा करते हुए लिखा है—"ई० सन् की पहली शताब्दी में और उसके बाद के हजार वर्षों तक जैन-धर्म मध्य पूर्व के देशों में किसी न किसी रूप में यहूदी धर्म, ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म को प्रभावित करता रहा है।" प्रसिद्ध जर्मन इतिहास लेखक वान क्रेमर के अनुसार मध्यपूर्व में प्रचलित 'समानिया' सम्प्रदाय 'श्रमण' शब्द का अपभ्रंश है। इतिहास-लेखक जी० एफ० मूर लिखता है कि "हजरत ईसा के जन्म की शताब्दी से पूर्व ईराक, श्याम और फिलस्तीन में जैन-मुनि और बौद्ध-भिक्षु

सैकड़ों की संख्या में फैले हुए थे। 'सिया हत नाम ए ना सिर' का लेखक लिखता है कि इस्लाम धर्म के कलन्दरी तबके पर जैन-धर्म का काफी प्रभाव पड़ा था। कलंदर चार नियमों का पालन करते थे—साधुता, शुद्धता, सत्यता और दरिद्रता। वे अहिंसा पर अखण्ड विश्वास रखते थे [३२]।"

महात्मा ईसु क्राइस्ट जैन सिद्धान्तों के सम्पर्क में आये और उनका प्रभाव ले गए थे। रामस्वामी अय्यर ने इस प्रसंग की चर्चा करते हुए लिखा है—"यहूदियों के इतिहास लेखक 'जोजक्स' के लेख से प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में गुजरात प्रदेश द्राविड़ों के तावे में था और गुजरात का पालीताणा नगर तामिलनाड प्रदेश के अधीन था। यही कारण है कि दक्षिण से दूर जा कर भी यहूदियों ने पालीताणा के नाम से ही "पैलिस्टाइन" नाम का नगर बसाया और गुजरात का पालीताणा ही पैलिस्टाइन हो गया। गुजरात का पालीताणा जैनों का प्राचीन और प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है। प्रतीत होता है कि ईसू खी्स्ट ने इसी पालीताणा में आकर बाईबिल लिखित ४० दिन के जैन उपवास द्वारा जैन शिक्षा लाभ की थी [३३]।"

जैन-धर्म का प्रचार अहिंसा, शान्ति, मैत्री और संयम का प्रसार था। इसलिए उस युग को भारतीय इतिहास का स्वर्ण-युग का कहा जाता है। पुरातत्त्व-विद्वान् पी० सी० राय चौधरी के अनुसार—"यह धर्म धीरे-धीरे फैला, जिस प्रकार ईसाई-धर्म का प्रचार यूरोप में धीरे-धीरे हुआ। श्रेणिक, कुणिक, चन्द्रगुप्त, सम्प्रति, खारवेल तथा अन्य राजाओं ने जैन-धर्म को अपनाया। वे शताब्द भारत के हिन्दू-शासन के वैभवपूर्ण युग थे। जिन युगों में जैन-धर्म सा महान् धर्म प्रचारित हुआ [३४]।"

कभी-कभी एक विचार प्रस्फुटित होता है—जैन-धर्म के अहिंसा-सिद्धान्त ने भारत को कायर बना दिया पर यह सत्य से बहुत दूर है। अहिंसक कभी कायर नहीं होता। यह कायरता और उसके परिणामस्वरूप परतन्त्रता हिंसा के उत्कर्ष से, आपसी वैमनस्य से आई और तब आई जब जैन-धर्म के प्रभाव से भारतीय मानस दूर हो रहा था।

भगवान् महावीर ने समाज के जो नैतिक मूल्य स्थिर किए, उनमें ये बातें सामाजिक और राजनैतिक दृष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। पहिली संकल्प-

हिंसा का त्याग—अनाक्रमण और दूसरी—परिग्रह का सीमाकरण। यह लोकतन्त्र या समाजवाद का प्रधान सूत्र है। वाराणसी संस्कृत विश्व-विद्यालय के उपकुलपति आदित्यनाथ झा ने इस तथ्य को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है—"भारतीय जीवन में प्रज्ञा और चारित्र्य का समन्वय जैन और बौद्धों की विशेष देन है। जैन दर्शन के अनुसार सत्य-मार्ग-परम्परा का अन्धानुसरण नहीं है, प्रत्युत तर्क और उपपत्तियों से सम्मत तथा बौद्धिक रूप से सन्तुलित दृष्टिकोण ही सत्य-मार्ग है। इस दृष्टिकोण की प्राप्ति तभी सम्भव हैं जब मिथ्या विश्वास पूर्णतः दूर हो जाय। इस बौद्धिक आधार-शिला पर ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के बल से सम्यक् चारित्र्य को प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

जैन-धर्म का आचार-शास्त्र भी जनतन्त्रवादी भावनाओं से अनुप्राणित है। जन्मतः सभी व्यक्ति समान हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य और रुचि के अनुसार गृहस्थ या मुनि हो सकता है।

अपरिग्रह सम्बन्धी जैन धारणा भी विशेषतः उल्लेखनीय है। आज इस बात पर अधिकाधिक बल देने की आवश्यकता है, जैसा कि प्राचीन काल के जैन विचारकों ने किया था। 'परिमित परिग्रह' उनका आदर्श वाक्य था। जैन विचारकों के अनुसार परिमित्त-परिग्रह का सिद्धान्त प्रत्येक गृहस्थ के लिए अनिवार्य रूप से आचरणीय था। सम्भवतः भारतीय आकाश में समाजवादी समाज के विचारों का यह प्रथम उद्घोष था [३५]।"

प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति के विकास की क्षमता, आत्मिक समानता, क्षमा, मैत्री, विचारों का अनाग्रह आदि के बीज जैन-धर्म ने बोए थे। महात्मा गांधी का निमित्त पा, वे केवल भारत के ही नहीं, विश्व की राजनीति के क्षेत्र में पल्लवित हो रहे हैं।

विस्तार और संक्षेप

भगवान् महावीर की जन्म-भूमि, तपोभूमि और विहारभूमि विहार था। इसलिए महावीर कालीन जैन-धर्म पहले विहार में पल्लवित हुआ। कालक्रम से वह बंगाल, उड़ीसा, उत्तरभारत, दक्षिणभारत, गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य-प्रान्त और राजपूताने में फैला। विक्रम की सहस्राब्दी के पश्चात् शैव,

लिंगायत, वैष्णव आदि वैदिक सम्प्रदायों के प्रबल विरोध के कारण जैन धर्म का प्रभाव सीमित हो गया। अनुयायियों की अल्प संख्या होने पर भी जैन-धर्म का सैद्धान्तिक प्रभाव भारतीय चेतना पर व्याप्त रहा। बीच-बीच में प्रभावशाली जैनाचार्य उसे उद्बुद्ध करते रहे। विक्रम की बारहवीं शताब्दी में गुजरात का वातावरण जैन-धर्म से प्रभावित था।

गूर्जर-नरेश जयसिंह और कुमारपाल ने जैन-धर्म को बहुत ही प्रश्रय दिया और कुमारपाल का जीवन जैन-आचार का प्रतीक बन गया था। सम्राट् अकबर भी हीरविजयसूरि से प्रभावित थे। अमेरिकी दार्शनिक विलड्यूरेन्ट ने लिखा है—"अकबर ने जैनों के कहने पर शिकार छोड़ दिया था और कुछ नियत तिथियों पर पशु-हत्याएँ रोक दी थी। जैन-धर्म के प्रभाव से ही अकबर ने अपने द्वारा प्रचारित दीन-इलाही नामक सम्प्रदाय में मांस-भक्षण के निषेध का नियम रखा था[३६]।

जैन मंत्री, दण्डनायक और अधिकारियों के जीवन-वृत्त बहुत ही विस्तृत हैं। वे विधर्मी राजाओं के लिए भी विश्वास-पात्र रहे हैं। उनकी प्रामाणिकता और कर्तव्यनिष्ठा की व्यापक प्रतिष्ठा थी। जैनत्व का अंकन पदार्थों से नहीं, किन्तु चारित्रिक मूल्यों से ही हो सकता है।

जैन संस्कृति और कला

माना जाता है—आर्य भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर ई० सन् से लगभग ३००० वर्ष पूर्व आये। आर्यों से पहले बसने वाले पुरु, भद्र, उर्वश, सुहृनू, अनु, कुनाश, शंबर, नमुचि, व्रात्य आदि मुख्य थे। जैन-धर्मों में व्रतों की परम्परा बहुत ही प्राचीन है। उसके संवाहक श्रमण व्रती थे। उनका अनुगामी समाज व्रात्य था—यह मानने में कोई कठिनाई नहीं है।

प्राग्-वैदिक और वैदिक काल में तपो-धर्म का प्राबल्य था। तपो-धर्म का परिष्कृत विकास ही जैन-धर्म है—कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं[३७]। तपस्या जैन-साधना-पद्धति का प्रमुख अंग है। भगवान् महावीर दीर्घ-तपस्वी कहलाते थे। जैन-श्रमणों को भी तपस्वी कहा गया है। "तवे सूरा अणगारा" तप में शूर अणगार होते हैं—यह जैन-परम्परा का प्रसिद्ध वाक्य है।

भगवान् महावीर के समय में जैन-धर्म को 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' कहा जाता

था। वौद्ध-साहित्य में भगवान् का उल्लेख 'निगंठ नातपुत्त' के नाम से हुआ है। वर्तमान में वही निर्ग्रन्थ-प्रवचन जैन-धर्म के नाम से प्रसिद्ध है।

मात्य का मूल मत है। मत शब्द आत्मा के सान्निध्य और बाह्य जगत् के दूरत्व का सूचक है। तप के उद्‌भव का मूल जीवन का समर्पण है। जैन-परम्परा तप को अहिंसा, समन्वय, मैत्री और क्षमा के रूप में मान्य करती है। भगवान् महावीर ने अज्ञानपूर्ण तप का उतना ही विरोध किया है, जितना कि ज्ञानपूर्ण तप का समर्थन। अहिंसा पालन में वाधा न आये, उतना तप सब साधकों के लिए आवश्यक है। विशेष तप उन्हीं के लिए है:—जिनमें आत्म-वल या दैहिक विराग तीव्रतम हो। निर्ग्रन्थ शब्द अपरिग्रह और जैन शब्द कषाय-विजय का प्रतीक है। इस प्रकार जैन-संस्कृति आध्यात्मिकता, त्याग, सहिष्णुता, अहिंसा, समन्वय, मैत्री, क्षमा, अपरिग्रह और आत्म-विजय की धाराओं का प्रतिनिधित्व करती हुई विभिन्न युगों में विभिन्न नामों द्वारा अभिव्यक्त हुई है।

एक शब्द में जैन-संस्कृति की आत्मा उत्सर्ग है। बाह्य स्थितियों में जय-पराजय की अनवरत शृङ्खला चलती है। वहाँ पराजय का अन्त नही होता। उसका पर्यवसान आत्म-विजय में होता है। यह निर्द्वन्द्व स्थिति है। जैन-विचारधारा की वहुमूल्य देन संयम है।

सुख का वियोग मत करो, दुःख का संयोग मत करो—सबके प्रति संयम करो[३८]। सुख दो और दुःख मिटाओ की भावना में आत्म-विजय का भाव नहीं होता। दुःख मिटाने की वृत्ति और शोषण, उत्पीड़न तथा अपहरण, साथ-साथ चलते हैं। इधर शोषण और उधर दुःख मिटाने की वृत्ति—यह उच्च संस्कृति नही।

सुख का वियोग और दुःख का संयोग मत करो—यह भावना आत्म-विजय की प्रतीक है। सुख का वियोग किए बिना शोषण नहीं होता, अधिकारों का हरण और द्वन्द्व नहीं होता।

सुख मत लूटो और दुःख मत दो—इस उदात्त-भावना में आत्म-विजय का स्वर जो है, वह है ही। उसके अतिरिक्त जगत् की नैसर्गिक स्वतन्त्रता का भी महान् निर्देश है।

प्राणीमात्र अपने अधिकारों में रमणशील और स्वतन्त्र है, यही उनकी सहज सुख की स्थिति है।

सामाजिक सुख-सुविधा के लिए इसकी उपेक्षा की जाती है, किन्तु उस उपेक्षा को शाश्वत-सत्य समझना भूल से परे नहीं होगा।

दश प्रकार का संयम[३९], दश प्रकार का संवर[४०] और दश प्रकार का विरमण है वह सब स्वात्मोन्मुखी वृत्ति है, या वह निवृत्ति है या है निवृत्ति-संवलित प्रवृत्ति।

दश आशंसा के प्रयोग संसारोन्मुखी वृत्ति है[४१]। जैन-संस्कृति में प्रमुख वस्तु है 'दृष्टिसम्पन्नता'—सम्यक् दर्शन। संसारोन्मुखी वृत्ति अपनी रेखा पर और आत्मोन्मुखी वृत्ति अपनी रेखा पर अवस्थित रहती है, कोई दुविधा नहीं होती। अव्यवस्था तब होती है, जब दोनों का मूल्यांकन एक ही दृष्टि से किया जाय। संसारोन्मुखी वृत्ति में मनुष्य अपने लिए मनुष्येतर जीवों के जीवन का अधिकार स्वीकार नहीं करते। उनके जीवन का कोई मूल्य नहीं आँकते। दुःख मिटाने और सुखी बनाने की वृत्ति व्यावहारिक है, किन्तु क्षुद्र-भावना, स्वार्थ और संकुचित वृत्तियों को प्रश्रय देनेवाली है। आरम्भ और परिग्रह—ये व्यक्ति को धर्म से दूर किये रहते हैं[४२]। बड़ा व्यक्ति अपने हित के लिए छोटे व्यक्ति की, बड़ा राष्ट्र अपने हित के लिए छोटे राष्ट्र की निर्मम उपेक्षा करते नहीं सकुचाता।

बड़े से भी कोई बड़ा होता है और छोटे से भी कोई छोटा। बड़े द्वारा अपनी उपेक्षा देख छोटा तिलमिलाता है, किन्तु छोटे के प्रति कठोर बनते वह नहीं सोचता। यहाँ गतिरोध होता है।

जैन विचारधारा यहाँ बताती है—दुःखनिवर्तन और सुख-दान की प्रवृत्ति को समाज की विवशात्मक अपेक्षा समझो, उसे ध्रुव-सत्य मान मत चलो। सुख मत लूटो, दुःख मत दो—इसे विकसित करो। इसका विकास होगा तो दुःख मिटाओ, सुखी बनाओ की भावना अपने आप पूरी होगी। दुःखी न बनाने की भावना बढ़ेगी तो दुःख अपने आप मिट जाएगा। सुख न लूटने की भावना दृढ़ होगी तो सुखी बनाने की आवश्यकता ही क्या होगी?

संक्षेप में तत्त्व यह है—दुःख-सुख को ही जीवन का ह्रास और विकास

मत समझो। संयम जीवन का विकास है और असंयम ह्रास। असंयमी थोड़ों को व्यावहारिक लाभ पहुँचा सकता है, किन्तु वह छलना, क्रूरता और शोषण को नहीं त्याग सकता।

संयमी थोड़ों का व्यावहारिक हित न साध सके, फिर भी वह सबके प्रति निश्छल, दयालु और शोषण-मुक्त रहता है। मनुष्य-जीवन उच्च संस्कारी बने, इसके लिए उच्च वृत्तियाँ चाहिए; जैसे :—

(१) आर्जव या ऋजुभाव, जिससे विश्वास बढ़े।

(२) मार्दव या दयालुता, जिससे मैत्री बढ़े।

(३) लाघव या नम्रता, जिससे सहृदयता बढ़े।

(४) क्षमा या सहिष्णुता, जिससे धैर्य बढ़े।

(५) शौच या पवित्रता, जिससे एकता बढ़े।

(६) सत्य या प्रामाणिकता, जिससे निर्भयता बढ़े।

(७) माध्यस्थ्य या आग्रह-हीनता, जिससे सत्य स्वीकार की शक्ति बढ़े।

किन्तु इन सबको संयम की अपेक्षा है। "एक ही साधे सब सधे" संयम की साधना हो तो सब सध जाते हैं, नहीं तो नहीं। जैन विचारधारा इस तथ्य को पूर्णता का मध्य-बिन्दु मान कर चलती है। अहिंसा इसी की उपज है[४३], जो 'जैन-विचारणा' की सर्वोपरि देन मानी जाती है।

प्रवर्तक-धर्म पुण्य या स्वर्ग को ही अन्तिम साध्य मान कर रुक जाता था। उसमें जो मोक्ष-पुरुषार्थ की भावना का उदय हुआ है, वह निवर्तक-धर्म या श्रमण संस्कृति का ही प्रभाव है।

अहिंसा और मुक्ति—श्रमण-संस्कृति की ये दो ऐसी आलोक-रेखाएँ हैं, जिनसे जीवन के वास्तविक मूल्यों को देखने का अवसर मिलता है।

जब जीवन का धर्म—अहिंसा या कष्ट-सहिष्णुता और साध्य—मुक्ति या स्वातन्त्र्य बन जाता है, तब व्यक्ति, समाज और राष्ट्र की उन्नति रोके नहीं रुकती। आज की प्रगति की कल्पना के साथ ये दो धाराएँ और जुड़ जायें तो साम्य आयेगा, भोगपरक नहीं किन्तु त्यागपरक; [illegible] —दानमय नहीं किन्तु अग्रहणमय; नियन्त्रण बढ़ेगा—दूसरों का [illegible]।

अहिंसा का विक[illegible] पर हु[illegible]   अलबर्ट

स्वीजर ने इस तथ्य का बड़ी गम्भीरता से प्रतिपादन किया है। उनके मतानुसार "यदि अहिंसा के उपदेश का आधार सचमुच ही करुणा होती तो यह समझना कठिन हो जाता कि उसमें मारने, कष्ट न देने की ही सीमाएँ कैसे बंध सकी और दूसरों को सहायता प्रदान करने की प्रेरणा से वह कैसे विलग रह सकी है? यह दलील कि संन्यास की भावना मार्ग में बाधक बनती है, सत्य का मिथ्या आभास मात्र होगा। थोड़ी से थोड़ी करुणा भी इस संकुचित सीमा के प्रति विद्रोह कर देती। परन्तु ऐसा कभी नहीं हुआ।

अतः अहिंसा का उपदेश करुणा की भावना से उत्पन्न न होकर संसार से पवित्र रहने की भावना पर आधृत है। यह मूलतः कार्य के आचरण से नहीं अधिकतर पूर्ण बनने के आचारण से सम्बन्धित है। यदि प्राचीन काल का धार्मिक भारतीय जीवित प्राणियों के साथ के सम्पर्क में अकार्य के सिद्धान्त का दृढ़ता पूर्वक अनुसरण करता था तो वह अपने लाभ के लिए, न कि दूसरे जीवों के प्रति करुणा के भाव से। उसके लिए हिंसा एक ऐसा कार्य था, जो वर्ज्य था।

यह सच है कि अहिंसा के उपदेश में सभी जीवों के समान स्वभाव को मान लिया गया है परन्तु इसका आविर्भाव करुणा से नहीं हुआ है। भारतीय संन्यास में अकर्म का साधारण सिद्धान्त ही इसका कारण है।

अहिंसा स्वतन्त्र न होकर करुणा की भावना की अनुयायी होनी चाहिए। इस प्रकार उसे वास्तविकता से व्यावहारिक विवेचन के क्षेत्र में पदार्पण करना चाहिए। नैतिकता के प्रति शुद्ध भक्ति उसके अन्तर्गत वर्तमान मुसीबतों का सामना करने की तत्परता से प्रकट होती है।

पर पुनर्वार कहना पड़ता है कि भारतीय विचारधारा हिंसा न करना और किसी को क्षति न पहुँचाना, ऐसा ही कहती रही है तभी वह शताब्दी गुजर जाने पर भी उस उच्च नैतिक विचार की अच्छी तरह रक्षा कर सकी, जो इसके साथ सम्मिलित है।

जैन-धर्म में सर्व प्रथम भारतीय संन्यास ने आचारगत विशेषता प्राप्त की। जैन-धर्म मूल से ही नहीं मारने और कष्ट न देने के उपदेश को महत्त्व देता है जब कि उपनिषदों में इसे मानों प्रसंगवश कह दिया गया है। साधारणतः यह

कैसे संगत हो सकता है कि यज्ञों में जिनका नियमित कार्य था पशु-हत्या करना, उन ब्राह्मणो में हत्या न करने का विचार उठा होगा? ब्राह्मणों ने अहिंसा का उपदेश जैनों से ग्रहण किया होगा, इस विचार की ओर संकेत करने के पर्याप्त कारण हैं।

हत्या न करने और कष्ट न पहुँचाने के उपदेश की स्थापना मानव के आध्यात्मिक इतिहास में महानतम अवसरो में से एक है। जगत् और जीवन के प्रति अनासक्ति और कार्य-त्याग के सिद्धान्त से प्रारम्भ होकर प्राचीन भारतीय विचारधारा इस महान् खोज तक पहुंच जाती है, जहाँ आचार की कोई सीमा नहीं। यह सब उस काल में हुआ जब दूसरे अंचलो में आचार की उतनी अधिक उन्नति नही हो सकी थी। मेरा जहाँ तक ज्ञान है जैन धर्म में ही इसकी प्रथम स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई [४४]।

सामान्य धारणा यह है कि जैन-संस्कृति निराशावाद या पलायनवाद की प्रतीक है। किन्तु यह चिन्तन पूर्ण नहीं है। जैन-संस्कृति का मूल तत्त्ववाद है। कल्पनावाद में कोरी आशा होती है। तत्त्ववाद में आशा और निराशा का यथार्थ अंकन होता है। ऋग्वेद के गीतो में वर्तमान भावना आशावादी है। उसका कारण तत्त्व-चिन्तन की अल्पता है। जहाँ चिन्तन की गहराई है वहाँ विषाद की छाया पाई जाती है। उषा को सम्बोधित कर कहा गया है कि वह मनुष्य-जीवन को क्षीण करती है [४५]। उल्लास और विषाद विश्व के यथार्थ रूप हैं। समाज या वर्तमान के जीवन की भूमिका में केवल उल्लास की कल्पना होती है। किन्तु जब अनन्त अतीत और भविष्य के गर्भ में मनुष्य का चिन्तन गतिशील होता है, समाज के कृत्रिम बन्धन से उन्मुक्त हो जब मनुष्य 'व्यक्ति' स्वरूप की ओर दृष्टि डालता है, कोरी कल्पना से प्रसूत आशा के अन्तरिक्ष से उतर वह पदार्थ की भूमि पर चला जाता है, समाज और वर्तमान की वेदी पर खड़े लोग कहते हैं—यह निराशा है, पलायन है। तत्त्व-दर्शन की भूमिका में से निहारने वाले लोग कहते हैं कि यह वास्तविक आनन्द की ओर प्रयाण है। पूर्व औपनिषदिक विचारधारा के समर्थकों को ब्रह्मद्विष् (वेद से घृणा करने वाले) देवनिन्द (देवताओं की निन्दा करने वाले) कहा गया। भगवान् पार्श्व उसी परम्परा के ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इनका समय हमें छठ

काल में ले जाता है जब ब्राह्मण-ग्रन्थो का निर्माण हो रहा था। जिसे पलायनवाद कहा गया। उससे उपनिषद्-साहित्य मुक्त नहीं रहा।

परिग्रह के लिए सामाजिक प्राणी कामनाएँ करते हैं। जैन उपासको का कामना सूत्र है—

(१) कब मैं अल्प मूल्य एवं बहु मूल्य परिग्रह का प्रत्याख्यान करूँगा [४६]।

(२) कब मैं मुण्ड हो गृहस्थपन छोड़ साधुव्रत स्वीकार करूँगा [४७]।

(३) कब मैं अपश्चिम मारणान्तिक-संलेखना यानी अन्तिम अनशन में शरीर को झोसकर—जुटाकर और भूमि पर गिरी हुई वृक्ष की डाली की तरह अडोल रख कर मृत्यु की अभिलाषा न करता हुआ विचरूँगा [४८]।

जैनाचार्य धार्मिक विचार में बहुत ही उदार रहे हैं। उन्होंने अपने अनुयायियों को केवल धार्मिक नेतृत्व दिया। उन्हें परिवर्तनशील सामाजिक व्यवस्था में कभी नहीं बांधा। समाज-व्यवस्था को समाज-शास्त्रियों के लिए सुरक्षित छोड़ दिया। धार्मिक विचारों के एकत्व की दृष्टि से जैन-समाज है किन्तु सामाजिक बन्धनो की दृष्टि से जैन-समाज का कोई अस्तित्व नहीं है। जैनों की संख्या करोड़ों से लाखों में हो गई, उसका कारण यह हो सकता है और इस सिद्धान्तवादिता के कारण वह धर्म के विशुद्ध रूप की रक्षा भी कर सका है।

जैन-संस्कृति का रूप सदा व्यापक रहा है। उसका द्वार सबके लिए खुला रहा है। भगवान् ने अहिंसा-धर्म का निरूपण उन सबके लिए किया—जो आत्म-उपासना के लिए तत्पर थे या नहीं थे, जो उपासना-मार्ग सुनना चाहते थे या नहीं चाहते थे, जो शस्त्रीकरण से दूर थे या नहीं थे, जो परिग्रह की उपाधि से बन्धे हुए थे या नहीं थे, जो पौद्गलिक संयोग में फंसे हुए थे या नहीं थे—और सबको धार्मिक जीवन बिताने के लिए प्रेरणा दी और उन्होंने कहा :—

(१) धर्म की आराधना में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं हो सकता। फलस्वरूप-श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका—ये चार तीर्थ स्थापित हुए [४९]।

(२) धर्म की आराधना में जाति-पांति का भेद नहीं हो सकता। फलस्वरूप सभी जातियों के लोग उनके संघ में प्रव्रजित हुए [५०]।

का अभाव—ये सारे तत्त्व लोक संग्रहात्मक पक्ष को अशक्त करते रहे हैं। जैन-साधु-संघ का प्रचार के प्रति उदासीन मनोभाव भी उसके विस्तृत न होने का प्रमुख कारण बना है।

कला

कला विशुद्ध सामाजिक तत्त्व है। उसका धर्म या दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं है। पर धर्म जब शासन बनता है, उसका अनुगमन करने वाला समाज बनता है, तब कला भी उसके सहारे पल्लवित होती है।

जैन-परम्परा में कला शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ में व्यवहृत हुआ है। भगवान् ऋषभदेव ने अपने राजत्व-काल में पुरुषों के लिए बहत्तर और स्त्रियों के लिए चौसठ कलाओं का निरूपण किया [५५]। टीकाकारों ने कला का अर्थ वस्तु-परिज्ञान किया हैं। इसमें लेख, गणित, चित्र, नृत्य, गायन, युद्ध, काव्य, वेष-भूषा, स्थापत्य, पाक, मनोरंजन आदि अनेक परिज्ञानों का समावेश किया गया है।

धर्म भी एक कला है। यह जीवन की सबसे बड़ी कला है। जीवन के सारस्य की अनुभूति करने वाले तपस्वियों ने कहा है—जो व्यक्ति सब कलाओं में प्रवर धर्म-कला को नहीं जानता, वह बहत्तर कलाओं में कुशल होते हुए भी अकुशल है [५६]। जैन-धर्म का आत्म-पक्ष धर्म-कला के उन्नयन में ही संलग्न रहा। बहिरंग-पक्ष सामाजिक होता है। समाज-विस्तार के साथ साथ ललित कला का भी विस्तार हुआ।

चित्र-कला

जैन-चित्रकला का श्रीगणेश तत्त्व-प्रकाशन से होता है। गुरु अपने शिष्यों को विश्व-व्यवस्था के तत्त्व स्थापना के द्वारा समझाते हैं। स्थापना तदाकार और अतदाकार दोनों प्रकार की होती है। तदाकार स्थापना के दो प्रयोजन हैं—तत्त्व-प्रकाशन और स्मृति। तत्त्व-प्रकाशन-हेतुक स्थापना के आधार पर चित्र-कला और स्मृति हेतुक स्थापना के आधार मूर्तिकला का विकास हुआ। ताडपत्र और पत्रों पर ग्रन्थ लिखे गए और उनमें चित्र किये गए। विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी में हजारों ऐसी प्रतियां लिखी गईं, जो कलात्मक चित्राकृतियों के कारण अस्तुत्य सी हैं।

(३) धर्म की आराधना में क्षेत्र का भेद नही हो सकता। वह गाँव में भी की जा सकती है और अरण्य में भी की जा सकती है [५१]।

(४) धर्म की आराधना में वेष का भेद नही हो सकता। उसका अधिकार श्रमण को भी है, गृहस्थ को भी है [५२]।

(५) भगवान् ने अपने श्रमणों से कहा—धर्म का उपदेश जैसे पुण्य को दो, वैसे ही तुच्छ को दो। जैसे तुच्छ को दो, वैसे ही पुण्य को दो [५३]।

इस व्यापक दृष्टिकोण का मूल असाम्प्रदायिकता और जातीयता का अभाव है। व्यवहार-दृष्टि में जैनो के सम्प्रदाय हैं। पर उन्होंने धर्म को सम्प्रदाय के साथ नहीं बांधा। वे जैन-सम्प्रदाय को नही, जैनत्व को महत्त्व देते हैं। जैनत्व का अर्थ है—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चारित्र की आराधना। इनकी आराधना करने वाला अन्य सम्प्रदाय के वेष में भी मुक्त हो जाता है, गृहस्थ के वेष में भी मुक्त हो जाता है शास्त्रीय शब्दों में उन्हें क्रमशः अन्य-लिंग-सिद्ध और गृह-लिंग-सिद्ध कहा जाता है [५४]।

इस व्यापक और उदार चेतना की परिणति ने ही जैन आचार्यों को यह कहने के लिए प्रेरित किया—

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥
(हरिभद्र सूरि)

भव-बीजाङ्कुर-जनना, रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णु र्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥
(आचार्य हेमचन्द्र)

स्वागमं रागमात्रेण, द्वेषमात्रात् परागमम्।
न श्रयामस्त्यजामो वा, किन्तु मध्यस्थया दृशा॥
(उपाध्याय यशोविजय)

सहज ही प्रश्न होता है—जैन-संस्कृति का स्वरूप इतना व्यापक और उदार था, तब वह लोक-संग्रह करने में अधिक सफल क्यों नहीं हुई !

इसके समाधान में कहा जा सकता है—जैन दर्शन की सूक्ष्म सिद्धान्त-वादिता, तपोमार्ग की कठोरता, अहिंसा की सूक्ष्मता और सामाजिक बन्धन

का अभाव—ये सारे तत्त्व लोक संग्रहात्मक पक्ष को अशक्त करते रहे हैं। जैन-साधु-संघ का प्रचार के प्रति उदासीन मनोभाव भी उसके विस्तृत न होने का प्रमुख कारण बना है।

कला

कला विशुद्ध सामाजिक तत्त्व है। उसका धर्म या दर्शन से कोई सम्बन्ध नहीं है। पर धर्म जब शासन बनता है, उसका अनुगमन करने वाला समाज बनता है, तब कला भी उसके सहारे पल्लवित होती है।

जैन-परम्परा में कला शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ में व्यवहृत हुआ है। भगवान् ऋषभदेव ने अपने राजत्व-काल में पुरुषों के लिए बहत्तर और स्त्रियों के लिए चौसठ कलाओं का निरूपण किया ५५। टीकाकारों ने कला का अर्थ वस्तु-परिज्ञान किया है। इसमें लेख, गणित, चित्र, नृत्य, गायन, युद्ध, काव्य, वेष-भूषा, स्थापत्य, पाक, मनोरंजन आदि अनेक परिज्ञानों का समावेश किया गया है।

धर्म भी एक कला है। यह जीवन की सबसे बड़ी कला है। जीवन के सारस्य की अनुभूति करने वाले तपस्वियों ने कहा है—जो व्यक्ति सब कलाओं में प्रवर धर्म-कला को नहीं जानता, वह बहत्तर कलाओं में कुशल होते हुए भी अकुशल है ५६। जैन-धर्म का आत्म-पक्ष धर्म-कला के उन्नयन में ही संलग्न रहा। बहिरंग-पक्ष सामाजिक होता है। समाज-विस्तार के साथ साथ ललित कला का भी विस्तार हुआ।

चित्र-कला

जैन-चित्रकला का श्रीगणेश तत्त्व-प्रकाशन से होता है। गुरु अपने शिष्यों को विश्व-व्यवस्था के तत्त्व स्थापना के द्वारा समझाते हैं। स्थापना तदाकार और अतदाकार दोनों प्रकार की होती हैं। तदाकार स्थापना के दो प्रयोजन हैं—तत्त्व-प्रकाशन और स्मृति। तत्त्व-प्रकाशन-हेतुक स्थापना के आधार पर चित्र-कला और स्मृति हेतुक स्थापना के आधार मूर्तिकला का विकास हुआ। ताडपत्र और पत्रों पर ग्रन्थ लिखे गए और उनमें चित्र किये गए। विक्रम की दूसरी सहस्राब्दी में हजारों ऐसी प्रतियां लिखी गई, जो कलात्मक चित्राकृतियों के कारण अस्तुत्य सी हैं।

ताडपत्रीय या पत्रीय प्रतियों के पट्ठों, चातुर्मासिक प्रार्थनाओं, कल्याण-मन्दिर, भक्तामर आदि स्तोत्रों के चित्रों को देखे बिना मध्यकालीन चित्र-कला का इतिहास अधूरा ही रहता है।

योगी मारा गिरिगुहा (रामगढ़ की पहाड़ी, सरगुजा) और सितन्नवासल (पद्दुकोटै राज्य) के भित्ति-चित्र अत्यन्त प्राचीन व सुन्दर हैं।

चित्र-कला की विशेष जानकारी के लिए जैन चित्रकल्पद्रुम देखना चाहिए।

लिपि-कला

अक्षर-विन्यास भी एक सुकुमार कला है। जैन साधुओं ने इसे बहुत ही विकसित किया। सौन्दर्य और सूक्ष्मता दोनों दृष्टियों से इसे उन्नति के शिखर तक ले गए।

पन्द्रह सौ वर्ष पहले लिखने का कार्य प्रारम्भ हुआ और वह अब तक विकास पाता रहा है। लेखन-कला में यतियों का कौशल विशेष रूप में प्रस्फुटित हुआ है।

तेरापन्थ के साधुओं ने भी इस कला में चमत्कार प्रदर्शित किया है। सूक्ष्म लिपि में ये अग्रणी हैं। कई मुनियों ने ११ इंच लम्बे व ५ इंच चौड़े पन्ने में लगभग ८० हजार अक्षर लिखे हैं। ऐसे पत्र आज तक अपूर्व माने जाते रहे हैं।

मूर्ति-कला और स्थापत्य-कला

कालक्रम से जैन-परम्परा में प्रतिमा-पूजन का कार्य प्रारम्भ हुआ। सिद्धान्त की दृष्टि से इसमें दो धाराएं हैं। कुछ जैन सम्प्रदाय मूर्ति-पूजा करते हैं और कुछ नहीं करते। किन्तु कला की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण विषय है।

वर्तमान में सबसे प्राचीन जैन-मूर्ति पटना के लोहनीपुर स्थान से प्राप्त हुई है। यह मूर्ति मौर्य-काल की मानी जाती है और पटना म्यूजियम में रखी हुई है। इसकी चमकदार पालिस अभी तक भी ज्यों की त्यों बनी है। लाहौर, मथुरा, लखनऊ, प्रयाग आदि के म्यूजियमों में भी अनेक जैन-मूर्तियां मौजूद हैं। इनमें से कुछ गुप्त कालीन हैं। श्री वासुदेव उपाध्याय ने लिखा है कि मथुरा में २४ वें तीर्थंकर वर्धमान महावीर की एक मूर्ति मिली है जो कुमारगुप्त के

समय में तैयार की गई थी। वास्तव में मथुरा में जैन मूर्ति-कला की दृष्टि से भी बहुत काम हुआ है। श्री रायकृष्णदास ने लिखा है कि मथुरा की शुंग-कालीन कला मुख्यतः जैन-सम्प्रदाय की है[५७]।

खण्डगिरि और उदयगिरि में ई० पू० १८८–३० तक की शुंग-कालीन मूर्ति-शिल्प के अद्भुत चातुर्य के दर्शन होते हैं। वहाँ पर इस काल की कटी हुई सौ के लगभग जैन गुफाएं हैं, जिनमें मूर्ति-शिल्प भी हैं। दक्षिण भारत के अलगामले नामक स्थान में खुदाई से जो जैन-मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं, उनका समय ई० पू० ३००–२०० के लगभग बताया जाता है। उन मूर्तियों की सौम्याकृति द्राविड़कला में अनुपम मानी जाती है। श्रवण बेलगोला की प्रसिद्ध जैन-मूर्ति तो संसार की अद्भुत वस्तुओं में से है। वह अपने अनुपम सौन्दर्य और अद्भुत शान्ति से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। यह विश्व को जैन मूर्ति-कला की अनुपम देन है।

मौर्य और शुंग-काल के पश्चात् भारतीय मूर्ति-कला की मुख्य तीन धाराएं हैं :—

(१) गांधार-कला—जो उत्तर-पश्चिम में पनपी।

(२) मथुरा-कला—जो मथुरा के समीपवर्ती क्षेत्रों में विकसित हुई।

(३) अमरावती की कला—जो कृष्णा नदी के तट पर पल्लवित हुई।

जैन मूर्ति-कला का विकास मथुरा-कला से हुआ।

जैन स्थापत्य-कला के सर्वाधिक प्राचीन अवशेष उदयगिरि, खण्डगिरि एवं जूनागढ़ की गुफाओं में मिलते हैं।

उत्तरवर्ती स्थापत्य की दृष्टि से चित्तौड़ का कीर्ति-स्तम्भ, आबू के मन्दिर एवं राणकपुर के जैन मन्दिरों के स्तम्भ भारतीय शैली के रक्षक रहे हैं।

पाँच

भगवान् महावीर के समकालीन धर्म-सम्प्रदाय

भगवान् महावीर का युग धार्मिक मतवादों और कर्मकाण्डों से संकुल था। बौद्ध साहित्य के अनुसार उस समय तिरेसठ श्रमण-सम्प्रदाय विद्यमान थे [1]। जैन-साहित्य में तीन सौ तिरेसठ धर्म-मतवादों का उल्लेख मिलता है [2]। यह भेदोपभेद की विस्तृत चर्चा है। संक्षेप में सारे सम्प्रदाय चार वर्गों में समाते थे। भगवान् ने उन्हें चार समवसरण कहा है। वे हैं :—

(१) क्रियावाद (२) अक्रियावाद (३) विनयवाद (४) अज्ञानवाद [3]।

बौद्ध साहित्य भी संक्षिप्त दृष्टि से छह श्रमण-सम्प्रदायों का उल्लेख करता है। उनके मतवाद ये हैं :—

(१) अक्रियावाद (२) नियतिवाद (३) उच्छेदवाद (४) अन्योन्यवाद (५) चातुर्याम संवरवाद (६) विक्षेपवाद।

और इनके आचार्य क्रमशः ये हैं :—

(१) पूरण कश्यप (२) मक्खलिगोशाल (३) अजित केश कंबलि (४) पकुधकात्यायन (५) निर्ग्रन्थ ज्ञात पुत्र (६) संजयवेलट्ठिपुत्र [4]।

अक्रियावाद और उच्छेदवाद—ये दोनों लगभग समान हैं।

इन्हें अनात्मवादी या नास्तिक कहा जा सकता है। दशाश्रुत स्कन्ध (छठी दशा) में अक्रियावाद का वर्णन इस प्रकार है :—

नास्तिकवादी, नास्तिक प्रज्ञ, नास्तिक दृष्टि, नो सम्यग्वादी, नो नित्यवादी—उच्छेदवादी, नो परलोकवादी—ये अक्रियावादी हैं।

इनके अनुसार इहलोक नहीं है, परलोक नहीं है, माता नहीं है, पिता नहीं है, अरिहन्त नहीं है, चक्रवर्ती नहीं है, बलदेव नहीं है, वासुदेव नहीं है, नरक नहीं है, नैरयिक नहीं है, सुकृत और दुष्कृत के फल में अन्तर नहीं है, सुचीर्ण कर्म का अच्छा फल नहीं होता, दुश्चीर्ण कर्म का बुरा फल नहीं होता, कल्याण और पाप अफल हैं, पुनर्जन्म नहीं है, मोक्ष नहीं है [5]।

सूत्र कृतांग में अक्रियावाद के कई मतवादों का वर्णन है। वहाँ अनात्म

आत्मा के अकर्तृत्ववाद, मायावाद, वन्ध्यवाद या नियतवाद—इन सबको अक्रियावाद कहा है [६]।

नियतिवाद की चर्चा भगवती (१५) और उपासक दशा (७) में मिलती है।

अन्योन्यवाद सब पदार्थों को वन्ध्य और नियत मानता है, इसलिए उसे अक्रियावाद कहते हैं। इनका वर्णन इन शब्दों में है—सूर्य न उदित होता है और न अस्त होता है,[७] चन्द्रमा न बढ़ता है और न घटता है, जल प्रवाहित नहीं होता है, वायु नहीं बहती है—यह समूचा लोक वन्ध्य और नियत है [८]।

विक्षेपवाद का समावेश अज्ञानवाद में होता है। सूत्र कृतांग के अनुसार—"अज्ञानवादी तर्क करने में कुशल होने पर भी असंबद्धभाषी हैं। क्योंकि वे स्वयं सन्देह से परे नहीं हो सके हैं[९]। यह संजयवेलट्ठिपुत्र के अभिमत की ओर संकेत है [१०]।

भगवान् महावीर क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद, और अज्ञानवाद की समीक्षा करते हुए दीर्घकाल तक संयम में उपस्थित रहे [११]। भगवान् ने क्रियावाद का मार्ग चुना। उनका आचार आत्मा, कर्म, पुनर्जन्म और मुक्ति के सिद्धान्त पर स्थिर हुआ। उनकी संस्कृति को हम इसी कसौटी पर परख सकते हैं।

कुछेक विद्वानो की चिन्तनधारा यह है कि यज्ञ आदि कर्मकाण्डो के विरोध में जैन-धर्म का उद्‌भव हुआ। यह भ्रमपूर्ण है। अहिंसा और संयम जैन-संस्कृति का प्रधान सूत्र है। उसकी परम्परा भगवान् महावीर से बहुत ही पुरानी है। भगवान् ने अपने समय की बुराइयों व अविवेकपूर्ण धार्मिक क्रियाकाण्डों पर हिंसाप्रधान यज्ञ, जातिवाद, भाषावाद, दास-प्रथा आदि पर तीव्र प्रहार किया किन्तु यह उनकी अहिंसा का समग्र रूप नहीं है। यह केवल उसकी सामयिक व्याख्या है। उन्होने अहिंसा की जो शाश्वत व्याख्या दी उसका आधार संयम की पूर्णता है। उसका संबंध उन्होंने उसीसे जोड़ा है जो पार्श्वनाथ आदि सभी तीर्थंकरो से प्रचारित की गई [१२]।

भारतीय संस्कृति वैदिक और प्राग्‌वैदिक दोनों धाराओं का मिश्रित रूप है। श्रमण-संस्कृति प्राग् वैदिक है। भगवान् महावीर उसके उन्नायक थे।

उन्होंने प्राचीन परम्पराओं को आगे बढ़ाया। अपने सम सामयिक विचारों की परीक्षा की और उनके आलोक में अपने अभिमत जनता को समझाए। उनके विचारों का आलोचना पूर्वक विवेचन सूत्र कृतांग में मिलता है। वहाँ पंच महाभूतवाद[१३], एकात्मवाद[१४], तज्जीवतच्छरीरवाद[१५], अकारकवाद[१६], पष्ठात्मवाद[१७], नियतिवाद[१८], सृष्टिवाद[१९], कालवाद, स्वभाववाद, यदृच्छावाद, प्रकृतिवाद आदि अनेक विचारों की चर्चा और उन पर भगवान् का दृष्टिकोण मिलता है।

संघ-व्यवस्था और संस्कृति का उन्नयन

संस्कृति की साधना अकेले में हो सकती है पर उसका विकास अकेले में नहीं होता; उसका प्रयोजन ही नहीं होता, वह समुदाय में होता है। समुदाय मान्यता के बल पर बनते हैं। असमानताओं के उपरान्त भी कोई एक समानता आती है और लोग एक भावना में जुड़ जाते हैं।

जैन मनीषियों का चिन्तन साधना के पक्ष में जितना वैयक्तिक है, उतना ही साधना-संस्थान के पक्ष में सामुदायिक है। जैन तीर्थंकरों ने धर्म को एक ओर वैयक्तिक कहा, दूसरी ओर तीर्थ का प्रवर्तन किया—श्रमण-श्रमणी और श्रावक-श्राविकाओं के संघ की स्थापना की।

जैन साहित्य में चर्या या सामाचारी के लिए 'विनय' शब्द का प्रयोग होता है। उत्तराध्ययन के पहले और दशवैकालिक के नवें अध्ययन में विनय का सूक्ष्म-दृष्टि से निरूपण किया गया है। विनय एक तपस्या है। मन, वाणी और शरीर को संयत करना विनय है, यह संस्कृति है। इसका बाह्य रूप लोकोपचार विनय है। इसे सभ्यता का उन्नयन कहा जा सकता है। इसके सात रूप हैं:—

१—अभ्यासवर्तिता—अपने बड़ों के समीप रहने का मनोभाव।

२—परछन्दानुवर्तिता—अपने बड़ों की इच्छानुसार प्रवृत्ति करना।

३—कार्य-हेतु—गुरु के द्वारा दिये हुए ज्ञान आदि कार्य के लिए उनका सम्मान करना।

४—कृतप्रतिकर्तृता—कृतज्ञ होना, उपकार के प्रति कुछ करने का मनोभाव रखना।

५—आर्त्त-गवेषणता—आर्त्त व्यक्तियों की गवेषणा करना।

६—देश-कालज्ञता—देश और काल को समझ कर कार्य करना।

७—सर्वार्थ-प्रतिलोमता—सब अर्थों में प्रयोजनों के अनुकूल प्रवृत्ति करना[२०]।

सामाचारी

श्रमण-संघ के लिए दस प्रकार की सामाचारी का विधान है[२१]।

१–आवश्यकी—उपाश्रय से बाहर जाते समय आवश्यकी—आवश्यक कार्य के लिए जाता हूँ—कहे।

२–नैषेधिकी—कार्य से निवृत्त होकर आए तब नैषेधिकी—मैं निवृत्त हो चुका हूँ—कहे।

३–आपृच्छा—अपना कार्य करने की अनुमति लेना।

४–प्रतिपृच्छा—दूसरों का कार्य करने की अनुमति लेना।

५–छन्दना—भिक्षा में लाए आहार के लिए साधर्मिक साधुओं को आमंत्रित करना।

६–इच्छाकार—कार्य करने की इच्छा जताना, जैसे :—आप चाहें तो मैं आपका कार्य करूं?

७–मिथ्याकार—भूल हो जाने पर स्वयं उसकी आलोचना करना।

८–तथाकार—आचार्य के वचनों को स्वीकार करना।

९–अभ्युत्थान—आचार्य आदि गुरुजनों के आने पर खड़ा होना, सम्मान करना।

१०–उपसम्पदा—ज्ञान आदि की प्राप्ति के लिए गुरु के समीप विनीत भाव से रहना अथवा दूसरे साधुगणों में जाना।

जैसे शिष्य का आचार्य के प्रति कर्त्तव्य होता है, वैसे ही आचार्य का भी शिष्य के प्रति कर्त्तव्य होता है। आचार्य शिष्य को चार प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति सिखा कर उऋण होता है :—

१—आचार-विनय २—श्रुत-विनय ३–विक्षेपणा-विनय और ४—दोष-निर्घात-विनय[२२]।

आचार-विनय के चार प्रकार हैं :—

(१) संयम सामाचारी—संयम के आचरण की विधि।

(२) तप सामाचारी—तपश्चरण की विधि।

(३) गण सामाचारी—गण की व्यवस्था की विधि।

(४) एकाकी विहार सामाचारी—एकल विहार की विधि।

श्रुत-विनय के चार प्रकार हैं :—

(१) सूत्र पढ़ाना।

(२) अर्थ पढ़ाना।

(३) हितकर विषय पढ़ाना।

(४) निःशेष पढ़ाना—विस्तार पूर्वक पढ़ाना।

विक्षेपणा-विनय के चार प्रकार हैं :—

(१) जिसने धर्म नहीं देखा, उसे धर्म-मार्ग दिखा कर सम्यक्त्वी बनाना।

(२) जिसने धर्म देखा है, उसे साधर्मिक बनाना।

(३) धर्म से गिरे हुए को धर्म में स्थिर करना।

(४) धर्म-स्थित व्यक्ति के हित, सुख और मोक्ष के लिए तत्पर रहना।

दोष-निर्घात-विनय के चार प्रकार हैं :—

(१) कुपित के क्रोध को उपशान्त करना।

(२) दुष्ट के दोष को दूर करना।

(३) आकांक्षा का छेदन करना।

(४) आत्मा को श्रेष्ठ मार्ग में लगाना।

आचार्य के छह कर्त्तव्य

संघ की व्यवस्था के लिए आचार्य को निम्नलिखित छह बातों का ध्यान रखना चाहिए :—

१—सूत्रार्थ स्थिरीकरण—सूत्र के विवादग्रस्त अर्थ का निश्चय करना अथवा सूत्र और अर्थ में चतुर्विध-संघ को स्थिर करना।

२—विनय—सबके साथ नम्रता से व्यवहार करना।

३—गुरु-पूजा—अपने बड़े अर्थात् स्थविर साधुओं की भक्ति करना।

४—शैक्ष बहुमान—शिक्षा-ग्रहण करने वाले और नव दीक्षित साधुओं का सत्कार करना।

५—दानपति श्रद्धा वृद्धि—दान देने में दाता की श्रद्धा बढ़ाना।

६—बुद्धिवलवर्द्धन—अपने शिष्यों की बुद्धि तथा आध्यात्मिक शक्ति को बढ़ाना[23]।

शिष्य के लिए चार प्रकार की विनय-प्रतिपत्ति आवश्यक होती है।:—

१—उपकरण-उत्पादनता २—सहायता ३—वर्ण-संज्वलनता ४—भारप्रत्यव-रोहणता।

उपकरण-उत्पादन के चार प्रकार हैं:—

(१) अनुत्पन्न उपकरणों का उत्पादन।

(२) पुराने उपकरणों का संरक्षण और संगोपन करना।

(३) उपकरण कम हो जाएं तो उनका पुनरुद्धार करना।

(४) यथाविधि संविभाग करना।

सहायता के चार प्रकार हैं:—

(१) अनुकूल वचन बोलना।

(२) काया द्वारा अनुकूल सेवा करना।

(३) जैसे सुख मिले वैसे सेवा करना।

(४) अकुटिल व्यवहार करना।

वर्ण-संज्वलनता के चार प्रकार हैं:—

(१) यथार्थ गुणों का वर्णन करना।

(२) अवर्णवादी को निरुत्तर करना।

(३) यथार्थ गुण वर्णन करने वालों को बढ़ावा देना।

(४) अपने से वृद्धों की सेवा करना।

भारप्रत्यवरोहणता के चार प्रकार हैं:—

(१) निराधार या परित्यक्त साधुओं को आश्रय देना।

(२) नव दीक्षित साधु को आचार-गोचर की विधि सिखाना।

(३) साधर्मिक के रुग्ण हो जाने पर उसकी यथाशक्ति सेवा करना।—

(४) साधर्मिकों में परस्पर कलह उत्पन्न होने पर किसी का पक्ष लिए

विना मध्यस्थ भाव से उसके उपशमन, क्षमायाचना आदि का प्रयत्न करना, ये मेरे साधर्मिक किस प्रकार कलह-मुक्त होकर समाधि सम्पन्न हों, ऐसा चिन्तन करते रहना[२४]।

दिनचर्या

अपर रात्र में उठ कर आत्मालोचन व धर्म जागरिका करना—यह चर्या का पहला अंग है[२५]। स्वाध्याय, ध्यान आदि के पश्चात् आवश्यक कर्म करना[२६]। आवश्यक—अवश्य करणीय कर्म छह हैं :—

१—सामायिक—समभाव का अभ्यास, उसकी प्रतिज्ञा का पुनरावर्तन।

२—चतुर्विंशस्तव—चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति।

३—वन्दना—आचार्य को दशावर्त्त-वन्दना।

४—प्रतिक्रमण—कृत दोषों की आलोचना।

५—कार्योत्सर्ग—काया का स्थिरीकरण—स्थिर चिन्तन।

६—प्रत्याख्यान—त्याग करना।

इस आवश्यक कार्य से निवृत्त होकर सूर्योदय होते-होते मुनि भाण्ड-उपकरणों का प्रतिलेखन करे, उन्हें देखे। उसके पश्चात् हाथ जोड़ कर गुरु से पूछे—मैं क्या करूँ? आप मुझे आज्ञा दें—मैं किसी की सेवा में लगूँ या स्वाध्याय में? यह पूछने पर आचार्य सेवा में लगाए तो अग्लान-भाव से सेवा करे और यदि स्वाध्याय में लगाए तो स्वाध्याय करे[२७]। दिनचर्या के प्रमुख अंग हैं—स्वाध्याय और ध्यान। कहा है :—

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां, ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यान-स्वाध्याय-संपत्त्या, परमात्मा प्रकाशते॥

स्वाध्याय के पश्चात् ध्यान करे और ध्यान के पश्चात् स्वाध्याय। इस प्रकार ध्यान और स्वाध्याय के क्रम से परमात्मा प्रकाशित हो जाता है। आगमिक काल-विभाग इस प्रकार रहा है—दिन के पहले पहर में स्वाध्याय करें, दूसरे में ध्यान, तीसरे में भिक्षा-चर्या और चौथे में फिर स्वाध्याय[२८]।

रात के पहले पहर में स्वाध्याय करे, दूसरे में ध्यान, तीसरे में नींद ले और चौथे में फिर स्वाध्याय करे[२९]।

पूर्व-रात्र में भी आवश्यक कर्म करे[३०]। पहले पहर में प्रतिलेखन[३१]

वैसे चौथे पहर में भी करे[३२], यह मुनि की जागरुकतापूर्ण जीवन-चर्या है।

श्रावक-संघ

धर्म की आराधना में जैसे साधु-साध्वियाँ संघ के अंग हैं, वैसे श्रावक-श्राविकाएं भी हैं। ये चारों मिलकर ही चतुर्विध-संघ को पूर्ण बनाते हैं। भगवान् ने श्रावक-श्राविकाओं को साधु-साध्वियों के माता-पिता तुल्य कहा है[३३]।

श्रावक की धार्मिक चर्या यह है :—

१—सामायिक के अंगों का अनुपालन।

२—दोनों पक्षों में पौषधोपवास[३४]।

आवश्यक कर्म जैसे साधु-संघ के लिए हैं, वैसे ही श्रावक-संघ के लिए भी हैं।

श्रावक के छह गुण

देश विरति चारित्र का पालन करने वाला श्रद्धा-सम्पन्न-व्यक्ति श्रावक कहलाता है। इसके छह गुण हैं :—

१—व्रतों का सम्यक् प्रकार से अनुष्ठान।

व्रतों का अनुष्ठान चार प्रकार से होता है—

(क) विनय और बहुमान पूर्वक व्रतों को सुनना।

(ख) व्रतों के भेद और अतिचारों को सांगोपांग जानना।

(ग) गुरु के समीप कुछ काल के लिए अथवा सदा के लिए व्रतों को अंगीकार करना।

(घ) ग्रहण किये हुए व्रतों को सम्यक् प्रकार पालना।

२—शील (आचार)—इस के छह प्रकार हैं :—

(क) जहाँ बहुत से शीलवान् बहुश्रुत साधर्मिक लोग एकत्र हों, उस स्थान को आयतन कहते हैं, वहाँ आना-जाना रखना।

(ख) बिना कार्य दूसरे के घर न जाना।

(ग) चमकीला-भड़कीला वेष न रखते हुए सादे वस्त्र पहनना।

(घ) विकार उत्पन्न करने वाले वचन न कहना।

(ङ) बाल-क्रीड़ा अर्थात् जुआ आदि कुव्यसनों का त्याग करना।

(च) मधुर नीति से अर्थात् शान्तिमय मीठे वचनों से कार्य चलाना, कठोर वचन न बोलना।

३—गुणवत्ता—इसके पाँच प्रकार हैं :—

(१) वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्म-कथा रूप पाँच प्रकार का स्वाध्याय करना।

(२) तप, नियम, वन्दनादि अनुष्ठानों में तत्पर रहना।

(३) विनयवान् होना।

(४) दुराग्रह नहीं करना।

(५) जिनवाणी में रुचि रखना।

४—ऋजु व्यवहार करना—निष्कपट होकर सरल भाव से व्यवहार करना।

५—गुरु-सुश्रूषा।

६—प्रवचन अर्थात् शास्त्रों के ज्ञान में प्रवीणता [३५]।

शिष्टाचार

शिष्टाचार के प्रति जैन आचार्य बड़ी सूक्ष्मता से ध्यान देते हैं। वे आशातना को सर्वथा परिहार्य मानते हैं। किसी के प्रति अनुचित व्यवहार करना हिंसा है। आशातना हिंसा है। अभिमान भी हिंसा है। नम्रता का अर्थ है कषाय-विजय। अभ्युत्थान, अभिवादन, प्रियनिमन्त्रण, अभिमुखगमन, आसन-प्रदान, पहुँचाने के लिए जाना, प्राजंलीकरण आदि-आदि शिष्टाचार के अंग हैं। इनका विशद वर्णन उत्तराध्ययन के पहले और दशवैकालिक के नवें अध्ययन में है।

श्रावक व्यवहार-दृष्टि से दूसरे श्रावकों को भी वन्दना करते थे [३६]। धर्म-दृष्टि से उनके लिए वन्दनीय मुनि होते हैं। वन्दना की विधि यह है :—

तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं (करेमि) वंदामि नमंसामि सक्कारेमि सम्माणेमि कल्लाणं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासामि मत्थएण वंदामि।

जैन आचार्य आत्मा को तीन स्थितियों में विभक्त करते हैं :—

(१) बहिरात्मा—जिसे देह और आत्मा का भेद-ज्ञान न हो, मिथ्या-दृष्टि।

(२) अन्तरात्मा—जो देह और आत्मा को पृथक् जानता हो, सम्यग्-दृष्टि।

(३) परमात्मा—जो चारित्र-सम्पन्न हो।

नमस्कार महामन्त्र में पाँच परमात्माओं को नमस्कार किया जाता है।

यह आध्यात्मिक और त्याग-प्रधान संस्कृति का एक संक्षिप्त-सा रूप है। इसका सामाजिक जीवन पर भी प्रतिबिम्ब पड़ा है।

जैनपर्व

१—अक्षय तृतीया

२—पर्युषण व दसलक्षण

३—महावीर जयन्ती

४—दीपावली

पर्व अतीत की घटनाओं के प्रतीक होते हैं। जैनों के मुख्य पर्व इक्षु तृतीया या अक्षय तृतीया, पर्युषण व दस लक्षण, महावीर जयन्ती और दीपावली हैं।

अक्षय तृतीया का सम्बन्ध आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ से है। उन्होंने वैशाख सुदी तृतीया के दिन बारह महीनों की तपस्या का इक्षु-रस से पारणा किया। इसलिए वह इक्षु तृतीया या अक्षय तृतीया कहलाता है।

पर्युषण पर्व आराधना का पर्व है। भाद्र बदी १२ या १३ से भाद्र सुदी ४ या ५ तक यह पर्व मनाया जाता है। इसमें तपस्या, स्वाध्याय, ध्यान आदि आत्म-शोधक प्रवृत्तियों की आराधना की जाती है। इसका अन्तिम दिन सम्वत्सरी कहलाता है। वर्ष भर की भूलों के लिए क्षमा लेना और क्षमा देना इसकी स्वयंभूत विशेषता है। यह पर्व मैत्री और उज्ज्वलता का संदेशवाहक है।

दिगम्बर-परम्परा में भाद्र शुक्ला पंचमी से चतुर्दशी तक दस लक्षण पर्व मनाया जाता है। इसमें प्रतिदिन क्षमा आदि दस धर्मों में एक-एक धर्म की आराधना की जाती है। इसलिए इसे दस लक्षण पर्व कहा जाता है।

महावीर जयन्ती चैत्र शुक्ला १३ को भगवान् महावीर के जन्म दिवस के उपलक्ष में मनाई जाती है।

दीपावली का संबंध भगवान् महावीर के निर्वाण से है। कार्तिकी अमा-

वस्या को भगवान् का निर्वाण हुआ था। उस समय देवों ने और राजाओं ने प्रकाश किया था। उसी का अनुसरण दीप जला कर किया जाता है।

दीपावली की उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्रीराम तथा भगवान् श्रीकृष्ण के जो प्रसंग हैं वे केवल जनश्रुति पर आधारित हैं, किन्तु इस त्योहार का जो सम्बन्ध जैनियों से है, वह इतिहास-सम्मत है। प्राचीनतम जैन ग्रन्थों में यह बात स्पष्ट शब्दों में कही गई है कि कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि तथा अमावस्या के दिन प्रभात के बीच सन्धि-वेला में भगवान् महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया था तथा इस अवसर पर देवों तथा इन्द्रों ने दीपमालिका सजाई थी।

आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण में जिसका रचना-काल शक संवत् ५०७ माना गया है। स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि दीपावली का महोत्सव भगवान् महावीर के निर्वाण की स्मृति में मनाया जाता है। दीपावली की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यही प्राचीनतम प्रमाण है[३०]।

दूसरा खण्ड

ज्ञान मीमांसा

छह

ज्ञान क्या है?

जो आत्मा है, वह जानता है। जो जानता है, वह आत्मा है[1]।

आत्मा और अनात्मा में अत्यन्ताभाव है। आत्मा कभी अनात्मा नहीं बनता और अनात्मा कभी आत्मा नहीं बनता।

आत्मा भी द्रव्य है और अनात्मा भी द्रव्य है[2]। दोनों अनन्तगुण और पर्यायों के अविच्छिन्न-समुदय हैं[3]। सामान्य गुण से दोनों अभिन्न भी हैं। वे भिन्न हैं विशेष गुण से। वह (विशेष गुण) चैतन्य है। जिसमें चैतन्य है, वह आत्मा है और जिसमें चैतन्य नहीं है, वह अनात्मा है[4]।

प्रमेयत्व आदि सामान्य गुणों की दृष्टि से आत्मा चित्-स्वरूप नहीं है। वह चैतन्य की दृष्टि से ही चित्-स्वरूप है[5]। इसीलिए कहा है—आत्मा ज्ञान से भिन्न भी नहीं है और अभिन्न भी नहीं है किन्तु भिन्नाभिन्न है—भिन्न भी है और अभिन्न भी है[6]। ज्ञान आत्मा ही है, इसलिए वह आत्मा से अभिन्न है[7]। ज्ञान गुण है, आत्मा गुणी है—ज्ञान सरीखे अनन्त गुणों का समूह है, इसलिए गुणी और गुणी के रूप में ये भिन्न भी हैं।

आत्मा जानता है और ज्ञान जानने का साधन है। कर्ता और करण की दृष्टि से भी ये भिन्न हैं[8]।

तात्पर्य की भाषा में आत्मा ज्ञानमय है। ज्ञान आत्मा का स्वरूप है।

ज्ञान उत्पन्न कैसे होता है?

ज्ञेय और ज्ञान दोनों स्वतन्त्र हैं। ज्ञेय हैं—द्रव्य, गुण और पर्याय। ज्ञान आत्मा का गुण है। न तो ज्ञेय से ज्ञान उत्पन्न होता है और न ज्ञान से ज्ञेय। हमारा ज्ञान जाने या न जाने फिर भी पदार्थ अपने रूप में अवस्थित हैं। यदि वे हमारे ज्ञान की ही उपज हों तो उनकी असत्ता में उन्हें जानने का हमारा प्रयत्न ही क्यों होगा? हम अदृष्ट वस्तु की कल्पना ही नहीं कर सकते।

पदार्थ ज्ञान के विषय बनें या न बनें फिर भी हमारा ज्ञान हमारी आत्मा में अवस्थित है। यदि हमारा ज्ञान पदार्थ की उपज हो तो वह पदार्थ का ही धर्म होगा। हमारे साथ उसका तादात्म्य नहीं हो सकेगा।

वस्तु स्थिति यह है कि हम पदार्थ को जानते हैं, तब ज्ञान उत्पन्न नहीं होता किन्तु वह उसका प्रयोग है। ज्ञान या जानने की क्षमता हममें विकसित रहती है। किन्तु ज्ञान की आवृत-दशा में हम पदार्थ को माध्यम के बिना जान नहीं सकते। हमारे शारीरिक इन्द्रिय और मन अचेतन हैं। इनसे पदार्थ का सम्बन्ध या सामीप्य होता है, तब वे हमारे ज्ञान को प्रवृत्त करते हैं और ज्ञेय जान लिए जाते हैं। अथवा हमारे अपने संस्कार किसी पदार्थ को जानने के लिए ज्ञान को प्रेरित करते हैं। तब वे जाने जाते हैं। यह ज्ञान की उत्पत्ति नहीं किन्तु प्रवृत्ति है। शत्रु को देख कर बन्दूक चलाने की इच्छा हुई और चलाई—यह शक्ति की उत्पत्ति नहीं किन्तु उसका प्रयोग है। मित्र को देख कर प्रेम उमड़ आया—यह प्रेम की उत्पत्ति नहीं, उसका प्रयोग है। यही स्थिति ज्ञान की है। विषय के सामने आने पर वह उसे ग्रहण कर लेता है। यह प्रवृत्ति मात्र है। जितनी ज्ञान की क्षमता होती है, उसके अनुसार ही वह जानने में सफल हो सकता है।

हमारा ज्ञान इन्द्रिय और मन के माध्यम से ही ज्ञेय को जानता है। इन्द्रियों की शक्ति सीमित है। वे अपने-अपने विषयों को मन के साथ सम्बन्ध स्थापित कर ही जान सकती हैं। मन का सम्बन्ध एक साथ एक इन्द्रिय से ही होता है। इसलिए एक काल में एक पदार्थ की एक ही पर्याय (रूप) जानी जा सकती है। इसलिए ज्ञान को ज्ञेयाकार मानने की भी आवश्यकता नही होती। उक्त सीमा आवृत-ज्ञान के लिए है। अनावृत-ज्ञान से एक साथ सभी पदार्थ जाने जा सकते हैं।

सहज तर्क होगा कि एक साथ सभी को जानने का अर्थ है किसी को भी न जानना।

जिसे जानना है उसे ही न जाना जाय और सबके सब जाने जाय तो व्यवहार कैसे निभे? यह ज्ञान का सांकर्य है।

जैन-दृष्टि के अनुसार इसका समाधान यों किया कि पदार्थ अपने-अपने रूप में हैं, वे संकर नही बनते। अनन्त पदार्थ हैं और ज्ञान के पर्याय भी अनन्त हैं। अनन्त के द्वारा अनन्त का ग्रहण होता है, यह सांकर्य नहीं है।

वाणी में एक साथ एक ही ज्ञेय के निरूपण की क्षमता है। उसके द्वारा

अनेक ज्ञेय के निरूपण की मान्यता को संकर कहा जा सकता है किन्तु ज्ञान की स्थिति उससे सर्वथा भिन्न है। इसलिए ज्ञान की अनन्त पर्यायों के द्वारा अनन्त ज्ञेयों को जानने में कोई बाधा नहीं आती। विषय के स्थूल रूप या वर्तमान पर्याय का ज्ञान हमें इन्द्रियों से मिलता है, उसके सूक्ष्म-रूप या भूत और भावी पर्यायों की जानकारी मन से मिलती है। इन्द्रियों में कल्पना, संकलन और निष्कर्ष का ज्ञान नहीं होता। मन दो या उनसे अधिक बोधों को मिला कल्पना कर सकता है। अनेक अनुभवों को जोड़ सकता है और उनके निष्कर्ष निकाल सकता है। इसीलिए यह सत्य नहीं है कि ज्ञान विषय से उत्पन्न होता है या उसके आकार का ही होता है। इन्द्रिय का ज्ञान बाहरी विषय से प्राप्त होता है। मन का ज्ञान बाहरी विषय से भी प्राप्त होता है और उसके बिना भी। हमारा प्रयोजन ज्ञेय को जानना ही होता है तब पदार्थ ज्ञेय और हमारा ज्ञान उपयोग होता है और जब हमारा उपयोग प्राप्त बोध की आलोचना में लगता है, तब पदार्थ ज्ञेय नहीं होता। उस समय पहले का ज्ञान ही ज्ञेय बन जाता है और जब हमारे जानने की प्रवृत्ति नहीं होती, तब हमारा उपयोग वापस ज्ञान बन जाता है—ज्ञेय के प्रति उदासीन हो अपने में ही रम जाता है।

ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध

ज्ञान और ज्ञेय का 'विषय-विषयी-भाव' सम्बन्ध है।

जैन-दृष्टि के अनुसार:—

(१) ज्ञान अर्थ में प्रविष्ट नहीं होता, अर्थ ज्ञान में प्रविष्ट नहीं होता।

(२) ज्ञान अर्थाकार नहीं है।

(३) अर्थ से उत्पन्न नहीं है।

(४) अर्थ रूप नहीं है—तात्पर्य कि इनमें पूर्ण अभेद नहीं है। प्रमाता ज्ञान-स्वभाव होता है, इसलिए वह विषयी है अर्थ ज्ञेय-स्वभाव होता है, इसलिए वह विषय है। दोनों स्वतन्त्र हैं। फिर भी ज्ञान में अर्थ को जानने की और अर्थ में ज्ञान के द्वारा जाने जा सकने की क्षमता है। वही दोनों के कथंचित् अभेद की हेतु है।

ज्ञान दर्शन और सम्वेदना

चैतन्य के तीन प्रधान रूप हैं—जानना, देखना और अनुभूति करना। चक्षु के द्वारा देखा जाता है, शेष इन्द्रिय और मन के द्वारा जाना जाता है। यह हमारा व्यवहार है।

सिद्धान्त कहता है—जैसे चक्षु का दर्शन है, वैसे अचक्षु (शेष इन्द्रिय और मन) का भी दर्शन है। अवधि और केवल का भी दर्शन है [९]।

शेष इन्द्रिय और मन के द्वारा जाना जाता है, वैसे चक्षु के द्वारा भी जाना जाता है। चक्षु का ज्ञान भी है।

दर्शन का अर्थ देखना नहीं है। दर्शन का अर्थ है एकता या अभेद का ज्ञान। ज्ञान का अर्थ अपने आप सीमित हो गया। अनेकता या भेद को जानना ज्ञान है। ज्ञान पांच हैं[१०] और दर्शन चार [११]। मनः पर्याय ज्ञान भेद को ही जानता है, इसलिए उसका दर्शन नहीं होता।

विश्व न तो सर्वथा विभक्त है और न सर्वथा अविभक्त। गुण और पर्याय से विभक्त भी है, द्रव्यगत-एकता से अविभक्त भी है। आवृत ज्ञान की क्षमता कम होती है, इसलिए उसके द्वारा पहले द्रव्य का सामान्य रूप जाना जाता है, फिर उसके विभिन्न परिवर्तन और उनकी क्षमता जानी जाती है।

अनावृत (केवल) ज्ञान की क्षमता असीम होती है। इसलिए उसके द्वारा पहले द्रव्य के परिवर्तन और उनकी क्षमता जानी जाती है फिर उनकी एकता।

केवली पहले क्षण में अनन्त शक्तियों का पृथक्-पृथक् आकलन करते हैं और दूसरे क्षण में उन्हें द्रव्यत्व की सामान्य-सत्ता में गूंथे हुए पाते हैं। इस प्रकार केवल ज्ञान और केवल दर्शन का क्रम चलता रहता है।

हम लोग एक क्षण में कुछ भी नहीं जान सकते। ज्ञान का सूक्ष्म प्रयत्न होते-होते असंख्य क्षणों में द्रव्य की सामान्य-सत्ता तक पहुँच पाते हैं और उसके बाद क्रमशः उसकी एक-एक विशेषता को जानते हैं—इस प्रकार हमारा चक्षु-अचक्षु दर्शन पहले होता है और मति-श्रुत बाद में। विशेष को जान कर सामान्य को जानना ज्ञान और दर्शन है। सामान्य को जान कर विशेष को जानना दर्शन और ज्ञान है।

ज्ञान और वेदना-अनुभूति

स्पर्शन, रसन और घ्राण—ये तीन इन्द्रियाँ भोगी तथा चक्षु और श्रोत्र—ये दो कामी हैं [१२]। कामी इन्द्रियों के द्वारा सिर्फ विषय जाना जाता है, उसकी अनुभूति नहीं होती। भोगी इन्द्रियों के द्वारा विषय का ज्ञान और अनुभूति दोनों होते हैं।

इन्द्रियों के द्वारा हम बाहरी वस्तुओं को जानते हैं। जानने की प्रक्रिया सबकी एक-सी नहीं है। चक्षु की ज्ञान-शक्ति शेष इन्द्रियों से अधिक पटु है, इसलिए वह अस्पृष्ट रूप को जान लेता है।

श्रोत्र की ज्ञान-शक्ति चक्षु से कम है। वह स्पृष्ट शब्द को ही जान सकता है। शेष तीन इन्द्रियों की क्षमता श्रोत्र से भी कम है। वे अपने विषय को बद्ध-स्पृष्ट हुए बिना नहीं जान सकते [१३]।

बाहरी विषय का स्पर्श किये बिना या उसके स्पर्श मात्र से जो ज्ञान होता है, वहाँ अनुभूति नहीं होती। अनुभूति वहाँ होती है, जहाँ इन्द्रिय और विषय का निकटतम सम्बन्ध स्थापित होता है। स्पर्शन, रसन और घ्राण अपने-अपने विषय के साथ निकटतम सम्बन्ध स्थापित होने पर उसे जानते हैं, इसलिए उन्हें ज्ञान भी होता है और अनुभूति भी।

अनुभूति मानसिक भी होती है पर वह बाहरी विषयों के गाढ़तम सम्पर्क से नहीं होती। किन्तु वह विषय के अनुरूप मन का परिणमन होने पर होती है [१४]।

मानसिक अनुभव की एक उच्चतम दशा भी है। बाहरी विषय के बिना भी जो सत्य का भास होता है, वह शुद्ध मानसिक ज्ञान भी नहीं है और शुद्ध अतीन्द्रिय ज्ञान भी नहीं है। वह इन दोनों के बीच की स्थिति है [१५]।

वेदना के दो रूप

(सुख-दुख)

बाह्य जगत् की जानकारी हमें इन्द्रियों द्वारा मिलती है। उसका संवर्धन मन से होता है। स्पर्श, रस, गन्ध और रूप पदार्थ के मौलिक गुण हैं, शब्द उसकी पर्याय (अनियत-गुण) है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को जानती है। इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान का विस्तार मन से होता है। सुख और

दुख जो वाह्य वस्तुओं के योग-वियोग से उत्पन्न होते हैं, वे शुद्ध ज्ञान नहीं हैं और उनकी अनुभूति अचेतन को नहीं होती, इसलिए वे अज्ञान भी नहीं हैं। वेदना ज्ञान और वाह्य पदार्थ—इन दोनों का संयुक्त कार्य है।

सुख-दुख की अनुभूति इन्द्रिय और मन दोनों को होती है। इन्द्रियों को सुख की अनुभूति पदार्थ के निकट-संयोग से होती है।

इन्द्रियो द्वारा प्राप्त अनुभूति और कल्पना—ये दोनो मानसिक अनुभूति के निमित्त हैं।

आत्म-रमण, जो चैतन्य की विशुद्ध परिणति है, आनन्द या सहज सुख कहलाता है। वह वेदना नहीं है। वेदना शरीर और मन के माध्यम से प्राप्त होने वाली अनुभूति का नाम है। अमनस्क जीवों में केवल शारीरिक वेदना होती है। समनस्क जीवो में शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की वेदना होती है[१६]। एक साथ सुख-दुख दोनो की वेदना नहीं होती।

ज्ञान के विभाग

अनावृत ज्ञान एक है। आवृत-दशा में उसके चार विभाग होते हैं। दोनों को एक साथ गिने तो ज्ञान पांच होते हैं। उनके नाम हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय और केवल।

मति और श्रुत—ये दो ज्ञान सव जीवों में होते हैं। अवधि होने पर तीन और मनःपर्याय होने पर चार ज्ञान एक व्यक्ति में एक साथ (क्षमता की दृष्टि से) हो सकते हैं।

ज्ञान-प्राप्ति के पांच विकल्प वनते हैं:—

एक साथ:—मति, श्रुत
,, ,,　मति, श्रुत, अवधि
,, ,,　मति, श्रुत, मनः पर्याय
,, ,,　मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय
,, ,,　केवल

ज्ञान की तरतमता को देखा जाए तो उसके असंख्य विभाग हो सकते हैं। ज्ञान के पर्याय अनन्त हैं[१७]:—

'मनः पर्याय के पर्याय सबसे थोड़े हैं'।

अवधि के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक।

श्रुत के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक।

मति के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक।

केवल के पर्याय उससे अनन्त गुण अधिक।

यह अन्तर एक दूसरे की तुलना में है। केवल-ज्ञान में कोई तरतमभाव नहीं है। शेष ज्ञानो में बहुत बड़ा तारतम्य हो सकता है। एक व्यक्ति का मति-ज्ञान दूसरे व्यक्ति के मति-ज्ञान से अनन्तगुण हीनाधिक हो सकता है[१८]। किन्तु इसके आधार पर किये गए ज्ञान के विभाग उपयोगी नहीं बनते।

विभाग करने का मतलब ही उपयोगिता है। संग्रह-नय द्रव्य, गुण और पर्यायों का एकीकरण करता है। वह हमारे व्यवहार का साधक नहीं है। हमारी उपयोगिता व्यवहार-नय पर आधारित है। वह द्रव्य, गुण और पर्यायो को विभक्त करता है। ज्ञान के विभाग भी उपयोगिता की दृष्टि से किये गए हैं।

ज्ञेय और ज्ञान—ये दो नहीं होते तो ज्ञान के कोई विभाजन की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञेय की स्वतन्त्र सत्ता है और वह मूर्त और अमूर्त—इन दो भागों में विभक्त है। आत्मा साधनों के बिना भी जान सकता है और आवरण की स्थिति के अनुसार साधनो के माध्यम से भी जानता है।

जानने के साधन दो हैं—इन्द्रिय और मन। इनके द्वारा ज्ञेय को जानने की आत्मिक क्षमता को मति और श्रुत कहा गया[१९]।

इन्द्रिय और मन के माध्यम के बिना ही केवल मूर्त ज्ञेय को जानने की क्षमता को अवधि और मनः पर्याय कहा गया[२०]।

मूर्त और अमूर्त सबको जानने की आत्मिक क्षमता (या ज्ञान की क्षमता के पूर्ण विकास) को केवल कहा गया[२१]।

इन्द्रिय

प्राणी और अप्राणी में स्पष्ट भेद-रेखा खींचने वाला चिह्न इन्द्रिय है। प्राणी असीम ऐश्वर्य सम्पन्न होता है, इसलिए वह 'इन्द्र' है। इन्द्र के चिह्न का नाम है—'इन्द्रिय'। वे पांच हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

इनके विषय भी पांच हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, और शब्द। इसीलिए इन्द्रिय को प्रतिनियत—अर्थ-ग्राही कहा जाता है। जैसे—

(१) स्पर्श-ग्राहक इन्द्रिय·· ······स्पर्शन।

(२) रस-ग्राहक इन्द्रिय·········रसन।

(३) गन्ध-ग्राहक इन्द्रिय······घ्राण।

(४) रूप-ग्राहक इन्द्रिय·········चक्षु।

(५) शब्द-ग्राहक इन्द्रिय·········श्रोत्र।

१—जिस प्राणी के चक्षु का आकार नहीं होता, वह रूप को नहीं जान सकता।

२—आंख का आकार ठीक होते हुए भी कई मनुष्य रूप को नहीं देख पाते।

३—तत्काल-मृत व्यक्ति आंख की रचना और शक्ति दोनों के होते हुए भी रूप को नहीं जान पाता।

४—अन्यमनस्क व्यक्ति सामने आये हुए रूप को भी नहीं देखता।

इन्द्रियों के बारे में ये चार समस्याएं हैं। इनको सुलझाने के लिए प्रत्येक इन्द्रिय के 'चतुष्टय' पर विचार करना आवश्यक होता है वह है :—

(१) निर्वृत्ति (द्रव्य-इन्द्रिय) पौद्गलिक इन्द्रिय।

(२) उपकरण···शरीराधिष्ठान—इन्द्रिय।

(३) लब्धि (भाव-इन्द्रिय)—चेतन-इन्द्रिय।

(४) उपयोग···आत्माधिष्ठान—इन्द्रिय।

निर्वृत्ति—इन्द्रिय की रचना—शारीरिक संस्थान।

उपकरण—विषय ज्ञान में सहायक—उपकारक सूक्ष्मतम पौद्गलिक अवयव

लब्धि—ज्ञान-शक्ति।

उपयोग—ज्ञान-शक्ति का व्यापार।

प्रत्येक इन्द्रिय-ज्ञान के लिए ये चार बातें अपेक्षित होती हैं :—

(१) इन्द्रिय की रचना।

(२) इन्द्रिय की ग्राहक-शक्ति।

(३) इन्द्रिय की ज्ञान-शक्ति।

(४) इन्द्रिय की ज्ञान-शक्ति का व्यापार।

१—चक्षु का आकार हुए बिना रूप-दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है—उस प्राणी के चक्षु की 'निर्वृ ति-इन्द्रिय' नहीं है।

२—चक्षु का आकार ठीक होते हुए भी रूप का दर्शन नही होता, इसका अर्थ है—उस मनुष्य की 'उपकरण-इन्द्रिय' विकृत है।

३—आकार और ग्राहक शक्ति दोनों के होते हुए भी तत्काल—मृत व्यक्ति को रूप-दर्शन नही होता, इसका अर्थ है—उसमें अब 'ज्ञान-शक्ति' नहीं रही।

४—अन्यमनस्क व्यक्ति को आकार, विषय-ग्राहक-शक्ति और ज्ञान-शक्ति के होने पर भी रूप-दर्शन नहीं होता, इसका अर्थ है—वह रूप-दर्शन के प्रति प्रयत्न नहीं कर रहा है।

इन्द्रिय-प्राप्ति का क्रम

इन्द्रिय विकास सब प्राणियो में समान नहीं होता। पांच इन्द्रिय के पांच विकल्प मिलते हैं :—

(१) एकेन्द्रिय प्राणी।

(२) द्वीन्द्रिय प्राणी।

(३) त्रीन्द्रिय प्राणी।

(४) चतुरिन्द्रिय प्राणी।

(५) पंचेन्द्रिय प्राणी।

जिस प्राणी के शरीर में जितनी इन्द्रियों का अधिष्ठान—आकार-रचना होती है, वह प्राणी उतनी इन्द्रिय वाला कहलाता है। प्रश्न यह होता है कि प्राणियों में यह आकार-रचना का वैषम्य क्यों? इसका समाधान है कि जिस प्राणी के जितनी ज्ञान-शक्तियां—लब्धि-इन्द्रियां निरावरण—विकसित होती हैं, उस प्राणी के शरीर में उतनी ही इन्द्रियों की आकृतियां बनती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इन्द्रिय के अधिष्ठान, शक्ति और व्यापार का मूल लब्धि-इन्द्रिय है। उसके होने पर निर्वृ त्ति, उपकरण और उपयोग होते हैं।

लब्धि के बाद दूसरा स्थान निर्वृ त्ति का है। इसके होने पर ... और उपयोग होते हैं। उपकरण के होने पर उपयोग होता है।

इन्द्रिय-व्याप्ति

लब्धि……निर्वृत्ति……उपकरण……उपयोग।

निर्वृत्ति……उपकरण……उपयोग।

उपकरण……उपयोग।

उपयोग के विना उपकरण, उपकरण के विना निर्वृत्ति, निर्वृत्ति के विना लब्धि हो सकती है किन्तु लब्धि के विना निर्वृत्ति, निर्वृत्ति के विना उपकरण, उपकरण के विना उपयोग नहीं हो सकता।
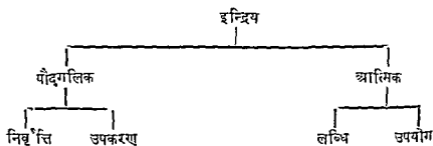
मन

मनन करना मन है अथवा जिसके द्वारा मनन किया जाता है, वह मन है [२२]। मन भी इन्द्रिय की भांति पौद्गलिक-शक्ति-सापेक्ष होता है, इसलिए उसके दो भेद बनते हैं—द्रव्य-मन और भाव-मन।

मनन के आलम्बन-भूत या प्रवर्तक पुद्गल-द्रव्य—मनोवर्गणा-द्रव्य जब मन रूप में परिणत होते हैं, तब वे द्रव्य-मन कहलाते हैं। यह मन अजीव है—आत्मा से भिन्न है [२३]।

विचारात्मक मन का नाम भाव-मन है। मन मात्र ही जीव नहीं,[२४] किन्तु मन जीव भी है—जीव का गुण है, जीव से सर्वथा भिन्न नहीं है, इसलिए इसे आत्मिक—मन कहते हैं [२५]। इसके दो भेद होते हैं—लब्धि और उपयोग। पहला मानस ज्ञान का विकास है और दूसरा उसका व्यापार। मन को नो इन्द्रिय, अनिन्द्रिय और दीर्घकालिक संज्ञा कहा जाता है।

इन्द्रिय के द्वारा गृहीत विषयों को वह जानता है, इसलिए वह नो इन्द्रिय—ईषत् इन्द्रिय या इन्द्रिय जैसा कहलाता है। इन्द्रिय की भांति वह बाहरी साधन नहीं है (आन्तरिक साधन है) और उसका कोई नियत आकार नहीं है,

इसलिए वह अनिन्द्रिय है। मन अतीत की स्मृति, वर्तमान का ज्ञान या चिन्तन और भविष्य की कल्पना करता है, इसलिए यह 'दीर्घकालिक संज्ञा' है। जैन आगमों में मन की अपेक्षा 'संज्ञा' शब्द का व्यवहार अधिक हुआ है। समनस्क प्राणी को 'संज्ञी' कहते हैं। उसका लक्षण बतलाते हुए लिखा है—जिसमें (१) सत्-अर्थ का पर्यालोचन—ईहा (२) निश्चय-अपोह (३) अन्वय-धर्म का अन्वेषण—मार्गणा (४) व्यतिरेक-धर्म का स्वरूपालोचन—गवेषणा (५) यह कैसे हुआ? यह कैसे करना चाहिए? यह कैसे होगा? इस प्रकार का पर्यालोचन—चिंता (६) यह इसी प्रकार हो सकता है—यह इसी प्रकार हुआ है—यह इसी प्रकार होगा—ऐसा निर्णय-विमर्श होता है, वह 'संज्ञी' कहलाता है[२६]।

मन का लक्षण

सब अर्थों को जानने वाला ज्ञान 'मन' है। इस विश्व में दो प्रकार के पदार्थ हैं—मूर्त्त और अमूर्त्त। इन्द्रियां सिर्फ मूर्त्त-द्रव्य की वर्तमान पर्याय को ही जानती हैं, मन मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों के त्रैकालिक अनेक रूपों को जानता है, इसलिए मन को सर्वार्थ-ग्राही कहा गया है[२७]।

मन का कार्य

मन का कार्य है—चिन्तन करना। यह इन्द्रिय के द्वारा गृहीत वस्तुओं के बारे में भी सोचता है और उससे आगे भी[२८]। मन इन्द्रिय-ज्ञान का प्रवर्तक है। मन को सब जगह इन्द्रिय की सहायता की अपेक्षा नहीं होती। केवल इन्द्रिय द्वारा ज्ञात रूप, रस आदि का विशेष पर्यालोचन करता है, तब ही वह इन्द्रिय-सापेक्ष होता है। इन्द्रिय की गति सिर्फ पदार्थ तक है, मन की गति पदार्थ और इन्द्रिय दोनों तक है।

इन्द्रिय···पदार्थ।

मन···पदार्थ, इन्द्रिय-गृहीत पदार्थ।

मन···पदार्थ।

ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान, आगम आदि-आदि मानसिक चिन्तन के विविध पहलू हैं।

मन का अस्तित्व

न्याय सूत्रकार—'एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नही होते'—इस अनुमान से मन की सत्ता बतलाते हैं[२९]।

वात्स्यायन भाष्यकार कहते हैं—"स्मृति आदि ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता और विभिन्न इन्द्रिय तथा उनके विषयों के रहते हुए भी एक साथ सबका ज्ञान नहीं होता, इससे मन का अस्तित्व अपने आप उतर आता है[३०]।"

अन्नभट्ट ने सुखादि की प्रत्यक्ष उपलब्धि को मन का लिंग माना है[३१]।

जैन-दृष्टि के अनुसार संशय, प्रतिभा, स्वप्न-ज्ञान, वितर्क, सुख-दुख, क्षमा, इच्छा आदि-आदि मन के लिङ्ग हैं[३२]।

मन का विषय

मन का विषय 'श्रुत' है। श्रुत का अर्थ है—शब्द, संकेत आदि के माध्यम से होने वाला ज्ञान। कान से 'देवदत्त' शब्द सुना, आंख से पढ़ा फिर भी कान और आंख को शब्द मात्र का ज्ञान होगा किन्तु 'देवदत्त' शब्द का अर्थ क्या है?—यह ज्ञान उन्हें नही होगा। यह मन को होगा। अंगुली हिलती है, यह चक्षु का विषय है किन्तु वह किस वस्तु का संकेत करती है, यह चक्षु नहीं जान पाता। उसके संकेत को समझना मन का काम है[३३]। वस्तु के सामान्य रूप का ग्रहण, अवग्रह, ज्ञान-धारा का प्राथमिक अल्प अंश अनक्षर ज्ञान होता है। उसमें शब्द-अर्थ का सम्बन्ध, पूर्वापर का अनुसन्धान, विकल्प एवं विशेष धर्मों का पर्यालोचन नही होता।

ईहा से साक्षात् चिन्तन शुरू हो जाता है। इसका कारण यह है कि अवग्रह में पर्यालोचन नहीं होता। आगे पर्यालोचन होता है। यावन्मात्र पर्यालोचन है, वह अक्षर-आलम्बन से ही होता है और यावन्मात्र साभिलाप या अन्तर्जल्पाकार ज्ञान होता है, वह सब मन का विषय है[३४]।

प्रश्न हो सकता है कि ईहा, अवाय, धारणा इन्द्रिय-परिधि में भी सम्मिलित किये गए हैं वह फिर कैसे? उत्तर साफ है—इन भेदों का आधार ज्ञान धारा का प्रारम्भिक अंश है। वह जिस इन्द्रिय से आरम्भ होता है, उसकी अन्त तक वही संज्ञा रहती है।

अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा—यह ज्ञानधारा का एक क्रम है। इसका मूल है अवग्रह। वह मन-संपृक्त इन्द्रिय के द्वारा पदार्थ के सम्पर्क या सामीप्य में होता है। आगे स्थिति बदल जाती है। ईहा आदि ज्ञान इन्द्रिय-संपृक्त मन के द्वारा पदार्थ की असम्बद्ध दशा में होता है फिर भी उत्पत्ति-स्रोत की मुख्यता के कारण ये अपनी-अपनी परिधि से बाहर नहीं जाते।

मनोमूलक अवग्रह के बाद होने वाले ईहा आदि मन के होते हैं। मन मति-ज्ञान और श्रुत-ज्ञान दोनों का साधन है। यह जैसे श्रुत शब्द के माध्यम से पदार्थ को जानता है, वैसे ही शब्द का सहारा लिए बिना शब्द आदि की कल्पना से रहित शुद्ध अर्थ को भी जानता है फिर भी अर्थाश्रयी-ज्ञान (शुद्ध अर्थ का ज्ञान) इन्द्रिय और मन दोनों को होता है, शब्दाश्रयी (शब्द का अनुसारी ज्ञान) केवल मन को ही होता है, इसलिए स्वतन्त्र रूप में मन का विषय 'श्रुत' ही है।

इन्द्रिय और मन

मन के व्यापार में इन्द्रिय का व्यापार होता भी है और नहीं भी। इन्द्रिय के व्यापार में मन का व्यापार अवश्य होता है। मन का व्यापार अर्थावग्रह से शुरू होता है। वह पटुतर है, पदार्थ के साथ सम्बन्ध होते ही पदार्थ को जान लेता है, उसका अनुपलब्धि-काल नहीं होता, इसलिए उसे व्यञ्जनावग्रह की आवश्यकता नही होती।

इन्द्रिय के साथ भी मन का व्यापार अर्थावग्रह से शुरू होता है। सब इन्द्रियों के साथ मन युगपत् सम्बन्ध नहीं कर सकता, एक काल में एक इन्द्रिय के साथ ही करता है। आत्मा उपयोगमय है। वह जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ मनोयोग कर जिस वस्तु में उपयोग लगाता है, तब वह तन्मयोपयोग हो जाता है। इसलिए युगपत् क्रिया-द्वय का उपयोग नहीं होता[३५]। देखना, चखना, सूंघना—ये भिन्न-भिन्न क्रियाएं हैं। इनमें एक साथ मन की गति नहीं होती, इसमें कोई आश्चर्य नही। पैर की गर्मी और सिर की ठंडक दोनों एक स्पर्शन इन्द्रिय की क्रियाएं हैं, उनमें भी मन एक साथ नहीं दौड़ता।

ककड़ी को खाते समय उसके रूप, रस, स्पर्श, गन्ध और शब्द, सबका ज्ञान एक साथ होता सा लगता है किन्तु वास्तव में वैसा नहीं होता।

ज्ञान-काल पृथक्-पृथक् होता है। मन की ज्ञान-शक्ति अति तीव्र होती है, इसलिए उसका क्रम जाना नहीं जाता। युगपत् सामान्य-विशेष आदि अनेक धर्मात्मक वस्तु का ग्रहण हो सकता है, किन्तु दो उपयोग एक साथ नहीं हो सकते[३६]।

मन का स्थान

मन समूचे शरीर में व्यापक है। इन्द्रिय और चैतन्य की पूर्ण व्याप्ति 'जहाँ-जहाँ चैतन्य, वहाँ-वहाँ इन्द्रिय' का नियम नहीं होता। मन की चैतन्य के साथ पूर्ण व्याप्ति होती है, इसलिए मन शरीर के एक देश में नहीं रहता उसका कोई नियत स्थान नही है। जहाँ जहाँ चैतन्य की अनुभूति है, वहाँ मन अपना आसन बिछाए हुए है।

इन्द्रिय-ज्ञान के साथ भी मन का साहचर्य है। स्पर्शन-इन्द्रिय समूचे शरीर में व्याप्त है[३७]। उसे अपने ज्ञान में मन का साहचर्य अपेक्षित है। इसलिए मन का भी सकल शरीर व्याप्त होना सहज सिद्ध है। योग-परम्परा में यही तथ्य मान्य समझा जाता है। जैसे—'मनो यत्र मरुत्तत्र, मरुद् यत्र मनस्ततः। अतस्तुल्यक्रियावेतौ संवीतौ क्षीरनीरवत्[३८]।'

'यत्र पवनस्तत्र मनः'—इस प्रसिद्ध उक्ति के अनुसार जहाँ पवन है, वहाँ मन है। पवन समूचे शरीर में है, यही बात मन के लिए है।

दिगम्बर आचार्य द्रव्य-मन का स्थान नाभि-कमल मानते हैं। श्वेताम्बर आचार्य इसे स्वीकार नहीं करते। मन का एक मात्र नियत स्थान भले ही न हो, किन्तु उसके सहायक कई विशेष केन्द्र होने चाहिए। मस्तिष्क के संतुलन पर मानसिक चिन्तन बहुत निर्भर है, इसलिए सामान्य अनुभूति के अतिरिक्त अथवा इन्द्रिय साहचर्य के अतिरिक्त उसके चिन्तन का साधनभूत कोई शारीरिक अवयव प्रमुख केन्द्र माना जाए, उसमें आपत्ति जैसी कोई बात नही लगती।

ज्ञान-शक्ति की दृष्टि से इन्द्रियां भी सर्वात्मव्यापी हैं, विषय-ग्रहण की अपेक्षा एक देशी हैं, इसलिए वे नियत देशाश्रयी कहलाती हैं। इन्द्रिय और मन—ये दोनों 'क्षायोपशमिक-आवरण-विलय-जन्य' विकास हैं। आवरण-

विलय सर्वात्म-देशों का होता है[३९]। मन विषय-ग्रहण की अपेक्षा से भी शरीर व्यापी है।

नैयायिक मन को अणु मानते हैं—इसे मनोणुत्ववाद कहा जाता है[४०]। बौद्ध मन को ही जीव मानते हैं—यह मनोजीववाद कहलाता है[४१]। जैन सम्मत मन न अणु है और न वही मात्र जीव किन्तु जीव के चैतन्य गुण की एक स्थिति है और जीव की व्याप्ति के साथ उसकी व्याप्ति का नियम है—'जहाँ जीव वहाँ मन।'

श्रुत या शब्दार्थ योजना

अमुक शब्द का अमुक अर्थ होता है, इस प्रकार जो वाच्य-वाचक की सम्बन्ध-योजना होती है, वह श्रुत है। शब्द में अर्थ-ज्ञान कराने की शक्ति होती है पर प्रयोग किए बिना वह अर्थ का ज्ञान नहीं कराता। श्रुत शब्द की प्रयोग-दशा है। 'घड़ा'—इस दो अक्षर वाले शब्द का अर्थ दो प्रकार से जाना जा सकता है—(१) या तो बना बनाया घड़ा सामने हो अथवा (२) घट-स्वरूप की व्याख्या पढ़ने या सुनने को मिले। इनमें पहला श्रुत का अननुसारी किन्तु श्रुत-निश्रित ज्ञान है। घट सामने आया और जलादि आहरण क्रिया समर्थ मृन्मयादि घट को जान लिया। यहाँ ज्ञान-काल में श्रुत का सहारा नहीं लिया गया। इसलिए यह श्रुत का अनुसारी नहीं है, किन्तु इससे पूर्व 'घट' शब्द का वाच्यार्थ यह पदार्थ होता है—यह जाना हुआ था, इसलिए वह श्रुत-निश्रित है[४२]। 'घट' शब्द का वाच्यार्थ यह पदार्थ होता है, ऐसा पहले जाना हुआ न हो तो घट के सामने आने पर भी 'यह घट शब्द का वाच्यार्थ है'—ऐसा ज्ञान नहीं होता।

दूसरा श्रुतानुसारी ज्ञान है—'घट अमुक-अमुक लक्षण वाला पदार्थ होता है'—यह या तो कोई बताए अथवा किसी श्रुत ग्रन्थ का लिखित प्रकरण मिले तब जाना जाता है। बताने वाले का वचन और लिखित शब्दावली को द्रव्य-श्रुत—श्रुत-ज्ञान का साधन कहा जाता है, और उसके अनुसार पढ़ने-सुनने वाले व्यक्ति को जो ज्ञान होता है, वह भाव-श्रुत—श्रुत-ज्ञान कहलाता है।

श्रुत ज्ञान की प्रक्रिया

(१) *भाव-श्रुत*···वक्ता के वचनाभिमुख विचार।

(२) वचन···वक्ता के लिए वचन-योग और श्रोता के लिए द्रव्य-श्रुत।

(३) मति····श्रुत-ज्ञान के प्रारम्भ में होने वाला मत्यंश—इन्द्रिय-ज्ञान।

(४) भाव-श्रुत····इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा हुए शब्द-ज्ञान और संकेत-ज्ञान के द्वारा होने वाला अर्थ-ज्ञान।

वक्ता बोलता है वह उसकी अपेक्षा वचन योग है। श्रोता के लिए वह भाव-श्रुत का साधन होने के कारण द्रव्य-श्रुत है[४३]। वक्ता भी भाव-श्रुत को—वचनाभिमुख ज्ञान को वचन के द्वारा व्यक्त करता है। वह एक व्यक्ति का ज्ञान दूसरे व्यक्ति के पास पहुँचता है, वह श्रुत-ज्ञान है।

श्रुत-ज्ञान, श्रुत ज्ञान तक पहुँचे उसके बीच की प्रक्रिया के दो अंश हैं—(१) द्रव्य-श्रुत (२) मत्यंश।

एक व्यक्ति के विचार को दूसरे व्यक्ति तक ले जाने वाला 'वचन' है, संकेत है। वचन और संकेत को ग्रहण करने वाली इन्द्रियां हैं। श्रोता अपनी इन्द्रियों से उन्हें ग्रहण करता है फिर उनके द्वारा वक्ता के अभिप्राय को समझता है। इसका रूप यों बनता है :—

वक्ता का भाव-श्रुत
|
वचन
|
इन्द्रिय
|
श्रोता का भाव-श्रुत

मति-श्रुत की साक्षरता और अनक्षरता

(१) श्रुत-अननुसारी साभिलाप (शब्द सहित) ज्ञान—मति-ज्ञान।

(२) श्रुत-अनुसारी साभिलाप (शब्द सहित) ज्ञान—श्रुत-ज्ञान।

मति-ज्ञान साभिलाप और अनभिलाप (शब्द रहित) दोनों प्रकार का होता है। श्रुत-ज्ञान केवल साभिलाप होता है[४४]। अर्थावग्रह साभिलाप नहीं होता। मति के शेष सब प्रकार ईहा से अनुमान तक साभिलाप होते हैं। श्रुत-ज्ञान अनभिलाप नहीं होता किन्तु साभिलाप ज्ञान मात्र श्रुत होना

चाहिए—यह बात नहीं है। कारण कि ज्ञान साक्षर होने मात्र से श्रुत नही कहलाता [४५]। जब तक वह स्वार्थ रहता है तब तक साक्षर होने पर भी मति कहलाएगा। साक्षर ज्ञान परार्थ या परोपदेश क्षम या वचनाभिमुख होने की दशा में श्रुत बनता है। ईहा से लेकर स्वार्थानुमान तक के ज्ञान परार्थ नहीं होते—वचनात्मक नही होते, इसलिए 'मति' कहलाते हैं। शब्दावली के माध्यम से मनन या विचार करना और शब्दावली के द्वारा मनन या विचार का प्रतिपादन करना—व्यक्त करना, ये दो बातें हैं। मति-ज्ञान साक्षर हो सकता है किन्तु वचनात्मक या परोपदेशात्मक नहीं होता। श्रुत-ज्ञान साक्षर होने के साथ-साथ वचनात्मक होता है [४६]।

ज्ञान दो प्रकार का होता है—अर्थाश्रयी और श्रुताश्रयी। पानी को देख कर आंख को पानी का ज्ञान होता है, यह अर्थाश्रयी ज्ञान है। 'पानी' शब्द के द्वारा जो 'पानी द्रव्य' का ज्ञान होता है, वह श्रुताश्रयी ज्ञान है। इन्द्रियो को सिर्फ अर्थाश्रयी ज्ञान होता है। मन को दोनो प्रकार का होता है। श्रोत्र 'पानी' शब्द मात्र को सुन कर जान लेगा किन्तु पानी का अर्थ क्या है? पानी शब्द किस वस्तु का वाचक है?—यह श्रोत्र नहीं जान सकता। 'पानी' शब्द का अर्थ 'यह पानी द्रव्य है'—ऐसा ज्ञान मन को होता है। इस वाच्य-वाचक के सम्बन्ध से होने वाले ज्ञान का नाम श्रुत-ज्ञान, शब्द-ज्ञान या आगम है। श्रुत-ज्ञान का पहला अंश—जैसे, शब्द सुना या पढ़ा, वह मति-ज्ञान है और दूसरा अंश—जैसे, शब्द के द्वारा अर्थ को जाना, यह श्रुत ज्ञान है। इसीलिए श्रुत को मति पूर्वक—'मइ पुव्वं सुयं' कहा जाता है [४७]।

मति-ज्ञान का विषय—वस्तु अवग्रहादि काल में उसके प्रत्यक्ष होता है। श्रुत-ज्ञान का विषय उसके प्रत्यक्ष नहीं होता। 'मेरु' शब्द के द्वारा 'मेरु' अर्थ का ज्ञान करते समय वह मेरु अर्थ प्रत्यक्ष नहीं होता—मेरु शब्द प्रत्यक्ष होता है, जो श्रुत-ज्ञान का विषय नहीं है।

श्रुत-ज्ञान अवग्रहादि मतिपूर्वक होता है और अवग्रहादि मति श्रुत-निश्रित होती है। इससे इनका अन्योन्यानुगत-भाव जान पड़ता है। कार्य-क्षेत्र में ये एक नहीं रहते। मति का कार्य है, उसके सम्मुख आये हुए स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द आदि अर्थों को जानना और उनकी विविध अवस्थाओं पर विचा-

करना। श्रुत का कार्य है—शब्द के द्वारा उसके वाच्य अर्थ को जानना और शब्द के द्वारा ज्ञात अर्थ को फिर से शब्द के द्वारा प्रतिपादित करने में समर्थ होना। मति को कहना चाहिए—अर्थ-ज्ञान और श्रुत को शब्दार्थ-ज्ञान।

कार्य-कारण-भाव

मति और श्रुत का कार्य-कारण सम्बन्ध है। मति कारण है और श्रुत कार्य। श्रुत ज्ञान शब्द, संकेत और स्मरण से उत्पन्न अर्थ-बोध है। अमुक अर्थ का अमुक संकेत होता है, यह जानने के वाद ही उस शब्द के द्वारा उसके अर्थ का वोध होता है। संकेत को मति जानती है। उसके अवग्रहादि होते हैं। फिर श्रुत-ज्ञान होता है।

द्रव्य-श्रुत मति (श्रोत्र) ज्ञान का कारण वनता है किन्तु भाव-श्रुत उसका कारण नही वनता, इसलिए मति को श्रुतपूर्वक नहीं माना जाता। दूसरी दृष्टि से द्रव्य-श्रुत श्रोत्र का कारण नहीं, विपय वनता है। कारण तव कहना चाहिए जव कि श्रूयमाण शब्द के द्वारा श्रोत्र को उसके अर्थ की जानकारी मिले। वैसा होता नहीं। श्रोत्र को केवल शब्द मात्र का वोध होता है। श्रुत-निश्रित मति भी श्रुत-ज्ञान का कार्य नही होती। 'अमुक लक्षण वाला कम्वल होता है'—यह परोपदेश या श्रुत ग्रन्थ से जाना और वैसे संस्कार वैठ गए। कम्वल को देखा और जान लिया कि यह कम्वल है। यह ज्ञान पूर्व-संस्कार से उत्पन्न हुआ, इसलिए इसे श्रुत-निश्रित कहा जाता है[४८]। ज्ञान-काल में यह 'शब्द' से उत्पन्न नहीं हुआ, इसलिए इसे श्रुत का कार्य नहीं माना जाता।

अवधि ज्ञान

यह मूर्त द्रव्यों को साक्षात् करने वाला ज्ञान है। मूर्तिमान् द्रव्य ही इसके ज्ञेय विपय की मर्यादा है। इसलिए यह अवधि कहलाता है अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा इसकी अनेक इयत्ताएं वनती हैं। जैसे—इतने क्षेत्र और काल में इतने द्रव्य और इतने पर्यायों का ज्ञान करता है, इसलिए इसे अवधि कहा जाता है।

अवधि ज्ञान का विषय[४९]

(१) द्रव्य की अपेक्षा—जघन्य—अनन्त मूर्तिमान् द्रव्य, उत्कृष्ट—मूर्तिमान् द्रव्य मात्र।

(२) क्षेत्र की अपेक्षा—जघन्य—कम से कम अंगुल का असंख्यातवां भाग।
उत्कृष्ट—अधिक से अधिक असंख्य क्षेत्र (लोकाकाश) तथा शक्ति की कल्पना करें तो लोकाकाश जैसे और असंख्य खण्ड इसके विषय बन सकते हैं।

(३) काल की अपेक्षा—जघन्य—एक आवलिका का असंख्यातवां भाग,
उत्कृष्ट—असंख्य काल (असंख्य अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी)

(४) भाव-पर्याय की अपेक्षा—जघन्य—अनन्त भाव-पर्याय। उत्कृष्ट—
अनन्त भाव—सब पर्यायों का अनन्त भाग।

अवधि ज्ञान के छह प्रकार हैं[५०]—

(१) अनुगामी—जिस क्षेत्र में अवधि-ज्ञान उत्पन्न होता है, उसके अतिरिक्त क्षेत्र में भी बना रहे—वह अनुगामी है।

(२) अननुगामी—उत्पत्ति-क्षेत्र के अतिरिक्त क्षेत्र में बना न रहे—वह अननुगामी है।

(३) वर्धमान—उत्पत्ति-काल में कम प्रकाशवान् हो और बाद में क्रमशः बढ़े—वह वर्धमान है।

(४) हीयमाण—उत्पत्ति-काल में अधिक प्रकाशवान् हो और बाद में क्रमशः घटे—वह हीयमाण है।

(५) अप्रतिपाती—आजीवन रहने वाला अथवा केवल-ज्ञान उत्पन्न होने तक रहने वाला—अप्रतिपाती है।

(६) प्रतिपाती—उत्पन्न होकर जो वापिस चला जाए, वह प्रतिपाती है।

मनः पर्याय ज्ञान[५१] :—

यह ज्ञान मन के प्रवर्तक या उत्तेजक पुद्गल द्रव्यों को साक्षात् जानने वाला है। चिन्तक जो सोचता है, उसीके अनुरूप चिन्तन-प्रवर्तक पुद्गल द्रव्यों की आकृतियां—पर्यायें बन जाती हैं। वे मनः पर्याय के द्वारा जानी

इसीलिए इसका नाम हुआ—मन की पर्यायों को साक्षात् करने वाला ज्ञान।

मनः पर्याय ज्ञान का विषय

(१) द्रव्य की अपेक्षा—मन रूप में परिणत पुद्गल-द्रव्य—मनोवर्गणा।

(२) क्षेत्र की अपेक्षा—मनुष्य-क्षेत्र में।

(३) काल की अपेक्षा—असंख्य काल तक का (पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग) अतीत और भविष्य।

(४) भाव की अपेक्षा—मनोवर्गणा की अनन्त अवस्थाएं।

अवधि और मनः पर्याय की स्थिति

मानसिक वर्गणाओं की पर्याय अवधि-ज्ञान का भी विषय बनती हैं फिर भी मनः पर्याय मानसिक पर्यायों का स्पेशेलिस्ट (specialist) है। एक डॉक्टर वह है, जो समूचे शरीर की चिकित्सा-विधि जानता है और एक वह है जो आंख का, दांत का, एक अवयव का विशेष अधिकारी होता है। यही स्थिति अवधि और मनः पर्याय की है।

विश्व के मूल में दो श्रेणी के तत्त्व हैं—पौद्गलिक और अपौद्गलिक। पौद्गलिक मूर्त्त इन्द्रिय तथा अतीन्द्रिय दोनों प्रकार के क्षायोपशमिक ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है [५२]। अपौद्गलिक—अमूर्त्त केवल क्षायिक ज्ञान द्वारा ज्ञेय होता है [५३]।

चिन्तक मूर्त्त के बारे में सोचता है, वैसे अमूर्त्त के बारे में भी। मनः पर्याय ज्ञानी अमूर्त्त पदार्थ को साक्षात् नहीं कर सकता। वह द्रव्य-मन के साक्षात्कार के द्वारा जैसे आत्मीय चिन्तन को जानता है, वैसे ही उसके द्वारा चिन्तनीय पदार्थों को जानता है [५४]। इसमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है फिर भी वह परोक्ष नहीं होता। कारण कि मनः पर्याय ज्ञान का मूल विषय मनो-द्रव्य की पर्यायें हैं। उनका साक्षात्कार करने में उसे अनुमान आदि किसी भी बाहरी साधन की आवश्यकता नहीं होती।

केवल ज्ञान

केवल शब्द का अर्थ एक या असहाय होता है [५५]। ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान के अवान्तर भेद मिट कर ज्ञान एक हो जाता है। फिर इसे

इन्द्रिय और मन के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती, इसलिए वह केवल कहलाता है।

गौतम ने पूछा—भगवन्! केवली इन्द्रिय और मन से जानता और देखता है?

भगवान्—गौतम! नहीं जानता-देखता।

गौतम—भगवन्! ऐसा क्यों होता है?

भगवान्—गौतम! केवली पूर्व-दिशा (या आगे) में मित को भी जानता है और अमित को भी जानता है। वह इन्द्रिय का विषय नहीं है[५६]।

केवल का दूसरा अर्थ शुद्ध है[५७]। ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान में अशुद्धि का अंश भी शेष नहीं रहता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का तीसरा अर्थ सम्पूर्ण है[५८], ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान की अपूर्णता मिट जाती है, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का चौथा अर्थ असाधारण है[५९]। ज्ञानावरण का विलय होने पर जैसा ज्ञान होता है, वैसा दूसरा नहीं होता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल का पांचवां अर्थ 'अनन्त' है[६०]। ज्ञानावरण का विलय होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह फिर कभी आवृत नहीं होता, इसलिए वह केवल कहलाता है।

केवल शब्द के चार अर्थ 'सर्वज्ञता' से संबन्धित नहीं हैं। आवरण का क्षय होने पर ज्ञान एक, शुद्ध, असाधारण और अप्रतिपाती होता है। इसमें कोई लम्बा-चौड़ा विवाद नहीं है। विवाद का विषय है ज्ञान की पूर्णता। कुछ तार्किक लोग ज्ञान की पूर्णता का अर्थ बहु-श्रुतता करते हैं और कुछ सर्वज्ञता।

जैन-परम्परा में सर्वज्ञता का सिद्धान्त मान्य रहा है। केवल ज्ञानी केवल-ज्ञान उत्पन्न होते ही लोक और अलोक दोनों को जानने लगता है[६१]।

केवल-ज्ञान का विषय सब द्रव्य और पर्याय हैं। श्रुत-ज्ञान के विषय को देखते हुए वह अयुक्त भी नहीं लगता। मति को छोड़ शेष चार ज्ञान के अधिकारी केवली कहलाते हैं। श्रुत-केवली[६२], अवधि ज्ञान-केवली, मनः पर्याय-ज्ञान केवली और केवल-ज्ञान-केवली[६३]। इनमें श्रुत-केवली और केवल-

ज्ञान-केवली का विषय समान है। दोनों सब द्रव्यों और सब पर्यायों को जानते हैं। इनमें केवल जानने की पद्धति का अन्तर रहता है। श्रुत-केवली शास्त्रीय ज्ञान के माध्यम से व क्रमशः जानता है और केवल-ज्ञान-केवली उन्हें साक्षात् व एक साथ जानता है।

ज्ञान की कुशलता बढ़ती है, सब एक साथ अनेक विषयों का ग्रहण होता है। एक क्षण में अनेक विषयों का ग्रहण नहीं होता किन्तु ग्रहण का काल इतना सूक्ष्म होता है कि वहाँ काल का क्रम नहीं निकाला जा सकता। केवल-ज्ञान ज्ञान के कौशल का चरम-रूप है। वह एक क्षण में भी अनेक विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होता है। हम अपने ज्ञान के क्रम से उसे नापें तो वह अवश्य ही विवादास्पद बन जाएगा। उसे संभावना की दृष्टि से देखें तो वह विवाद-मुक्त भी है।

निरूपण एक ही विषय का हो सकता है। यह भूमिका दोनों की समान है। सहज स्थिति में सांकर्य नहीं होता। वह क्रियमाण कार्य में होता है। ज्ञान आत्मा की सहज स्थिति है। वचन एक कार्य है। कार्य में केवली और अकेवली का कोई भेद नहीं है। केवल-ज्ञान की विशेषता सिर्फ जानने में ही है।

ज्ञेय और ज्ञान-विभाग

ज्ञेय का विचार चार दृष्टिकोणों से किया जाता है :—

१—द्रव्य-दृष्टि से—मति-ज्ञान द्वारा सामान्य रूप से सब द्रव्य जाने जा सकते हैं, देखे नहीं जा सकते।

,, ,, ,, श्रुत-ज्ञान द्वारा सब द्रव्य जाने और देखे जा सकते हैं।

,, ,, ,, अवधि-ज्ञान द्वारा अनन्त या सब मूर्त्त द्रव्य जाने और देखे जा सकते हैं।

,, ,, ,, मनः पर्याय-ज्ञान द्वारा मानसिक अणुओं के अनन्तावयवी स्कन्ध जाने-देखे जा सकते हैं।

,, ,, ,, केवल ज्ञान द्वारा सर्व द्रव्य जाने-देखे जा सकते हैं।

२—क्षेत्र-दृष्टि से—मति-ज्ञान द्वारा सर्व क्षेत्र सामान्य रूप से जाना जा सकता है, देखा नहीं जा सकता।

„ „ „ श्रुत ज्ञान द्वारा सर्व क्षेत्र जाना-देखा जा सकता है।

„ „ „ अवधि-ज्ञान द्वारा सम्पूर्ण लोक जाना-देखा जा सकता है।

„ „ „ मनः पर्याय-ज्ञान द्वारा मनुष्य-क्षेत्रवर्ती मानसिक अणु जाने-देखे जा सकते हैं।

„ „ „ केवल-ज्ञान द्वारा सर्व-क्षेत्र जाना-देखा जा सकता है।

३—काल-दृष्टि से—मति-ज्ञान द्वारा सामान्य रूप से सर्व काल जाना-देखा नहीं जा सकता।

„ „ „ श्रुत-ज्ञान द्वारा सर्व काल जाना-देखा जा सकता है।

„ „ „ अवधि-ज्ञान द्वारा *असंख्य उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी* परिमित अतीत और भविष्य काल जाना-देखा जा सकता है।

„ „ „ मनः पर्याय ज्ञान द्वारा पल्योपम का असंख्यातवें भाग परिमित अतीत और भविष्यत् काल जाना-देखा जा सकता है।

„ „ „ केवल ज्ञान द्वारा सर्व काल जाना-देखा जा सकता है।

४—भाव-दृष्टि से मति-ज्ञान द्वारा सामान्य रूप से सर्व पर्याय जाने जा सकते हैं, देखे नही जा सकते हैं।

„ „ „ श्रुत-ज्ञान द्वारा सर्व-पर्याय जाने-देखे जा सकते हैं।

„ „ „ अवधि-ज्ञान द्वारा अनन्त पर्याय (सब द्रव्यो का अनन्तवां भाग) जाने-देखे जा सकते हैं।

„ „ „ मनः पर्याय ज्ञान द्वारा मानसिक अणुओं के अनन्त-पर्याय जाने-देखे जा सकते हैं।

„ „ „ केवल-ज्ञान द्वारा सर्व पर्याय जाने-देखे जा सकते हैं।

ज्ञेय के आधार पर ज्ञान के दो वर्ग बनते हैं—एक वर्ग है—श्रुत और केवल का, दूसरा है मति, अवधि और मनःपर्याय का। पहले वर्ग का ज्ञेय सर्व है और दूसरे वर्ग का ज्ञेय असर्व।

ज्ञेय को जानने की पद्धति के आधार पर भी ज्ञान के दो वर्ग होते हैं—एक वर्ग में मति और श्रुत आते हैं; दूसरे में अवधि, मनःपर्याय और केवल।

पहले वर्ग का ज्ञेय इन्द्रिय और मन के माध्यम से जाना जाता है और दूसरे का ज्ञेय इनके बिना ही जाना जाता है। ज्ञेय की द्विविधता के आधार पर भी ज्ञान दो वर्गों में विभक्त हो सकता है। पहले वर्ग में मति, अवधि, और मनःपर्याय हैं; दूसरे में श्रुत और केवल।

पहले वर्ग के द्वारा सिर्फ मूर्त्त द्रव्य ही जाना जा सकता है। दूसरे के द्वारा मूर्त्त और अमूर्त्त—दोनों प्रकार के ज्ञेय जाने जा सकते हैं।

ज्ञान की नियामक शक्ति

हम आंख से देखते हैं, तब कान से नहीं सुनते। कान से सुनते हैं, तब इसका अनुभव नही करते—संक्षेप में यह कि एक साथ दो ज्ञान नहीं करते—यह हमारे ज्ञान की इयत्ता है—सीमा है। भिन्न-भिन्न दर्शनो ने ज्ञान की इयत्ता के नियामक तत्त्व भिन्न-भिन्न प्रस्तुत किये हैं। ज्ञान अर्थोत्पन्न और अर्थाकार नही होता, इसलिए वे उसकी इयत्ता के नियामक नहीं बनते[६४]। मन अणु नही, इसलिए वह भी ज्ञान की इयत्ता का नियामक नही बन सकता[६५]। जैन-दृष्टि के अनुसार ज्ञान की इयत्ता का नियामक तत्त्व उसके आवरण-विलय से उत्पन्न होने वाली आत्मिक योग्यता है। आवरण-विलय आंशिक होता है (क्षायोपशमिक भाव) होता है। तब एक साथ अनेक विषयो को जानने की योग्यता नही होती। योग्यता की कमी के कारण जिस समय जिस विषय में आत्मा व्यापृत होती है, उस समय उसी विषय को जान सकती है। वस्तु को जानने का अव्यवहित साधन इन्द्रिय और मन का व्यापार (उपयोग) है। वह योग्यता के अनुरूप होता है। यही कारण है कि हम एक साथ अनेक विषयो को नही जान सकते। चेतना की निरावरण दशा में सब पदार्थ युगपत् जाने जा सकते हैं।

ज्ञान आत्मा का अक्षर आलोक है। वह सब आत्माओं में समान है। वह स्वयं प्रकाशी है, सदा जानता रहता है। यह सिद्धान्त की भाषा है। हमारा दर्शन इसके विपरीत है। ज्ञान कभी न्यून होता है और कभी अधिक। सब जीवों में ज्ञान की तरतमता है। वह बाहरी साधनों के अभाव में नहीं जानता और कभी जानता है और कभी नहीं जानता।

सिद्धान्त और हमारे प्रत्यक्ष-दर्शन में जो विरोध है, उसका समाधान इन शब्दों में है। आत्मा और ज्ञान की स्थिति वही है, जो सिद्धान्त की भाषा में निरूपित हुई है। जो विरोध दीखता है, वह भी सही है। दोनों के पीछे दो दृष्टियाँ हैं।

आत्मा के दो रूप हैं—आवृत और अनावृत। आत्मा ज्ञानावरण के परमाणुओं से आवृत होता है, तब वही स्थिति बनती है जो हमें दीखती है। वह ज्ञानावरण के परमाणुओं से अनावृत होता है, तब वही स्थिति बनती है, जो हमें विपरीत लगती है।

ज्ञान एक है, इसलिए उसे केवल कहा जाता है। वह सर्व ज्ञानावरण से आवृत रहता है, उस स्थिति में आत्मा निर्बाध ज्ञानमय नहीं होता। आत्मा और अनात्मा की भेद-रेखा मिट जाय, वैसा आवरण कभी नहीं होता। केवल ज्ञान का अल्पतम भाग सदा अनावृत रहता है [६६]। आत्मा का आत्मत्व यही है कि वह कभी भी ज्ञान-शक्ति से शून्य नहीं होता।

विशुद्ध प्रयत्न से आवरण जितना क्षीण होता है, उतना ही ज्ञान विकसित हो जाता है। ज्ञान के विकास की न्यूनतम मात्रा और अनावृत ज्ञान के मध्यवर्ती ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म - परमाणु 'देश - ज्ञानावरण' कहलाते हैं [६७]।

सर्व ज्ञानावरण का विलय होने पर ज्ञान का कोई भेद नहीं रहता, आत्मा ज्ञानमय बन जाता है। यह वह दशा है, जहाँ ज्ञान और उपयोग दो नहीं रहते।

देश-ज्ञानावरण के विलय की मात्रा के अनुसार ज्ञान का विकास होता है, वहाँ ज्ञान के विभाग बनते हैं, ज्ञान और उपयोग का भेद भी रहता है।

केवली (जिनके सर्व ज्ञानावरण का विलय हो चुका हो) सदा जानते हैं, और सब पर्यायों को जानते हैं।

छद्मस्थ (जिनके देश-ज्ञानावरण का विलय हुआ हो) जानने को तत्पर होते हैं तभी जानते हैं और जिस पर्याय को जानने का प्रयत्न करते हैं, उसीको जानते हैं।

ज्ञान-शक्ति का पूर्ण विकास होने पर जानने का प्रयत्न नहीं करना पड़ता ज्ञान सतत प्रवृत्त रहता है।

ज्ञान-शक्ति के अपूर्ण विकास की दशा में जानने का प्रयत्न किए बिना जाना नही जाता। इसलिए वहाँ जानने की क्षमता और जानने की प्रवृत्ति दो बन जाते हैं।

छद्मस्थ ज्ञानावरण के विलय की मात्रा के अनुसार जान सकता है, इसलिए क्षमता की दृष्टि से वह अनेक पर्यायों का ज्ञाता है किन्तु उसका ज्ञान निरावरण नही होता, इसलिए वह एक काल में एक पर्याय को ही जान सकता है।

ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध

ज्ञाता ज्ञान-स्वभाव है और अर्थ ज्ञेय-स्वभाव। दोनो स्वतन्त्र हैं। एक का अस्तित्व दूसरे से भिन्न है। इन दोनो में विषय-विषयीभाव सम्बन्ध है। अर्थ ज्ञान-स्वरूप नहीं है, ज्ञान ज्ञेय-स्वरूप नहीं है—दोनों अन्योन्य-वृत्ति नहीं हैं।

ज्ञान ज्ञेय में प्रविष्ट नहीं होता, ज्ञेय ज्ञान में प्रविष्ट नही होता—दोनों का परस्पर प्रवेश नहीं होता।

ज्ञाता की ज्ञायक-पर्याय और अर्थ की ज्ञेय-पर्याय के सामर्थ्य से दोनो का सम्बन्ध जुड़ता है [१८]।

ज्ञान-दर्शन विषयक तीन मान्यताएँ

आत्मा को आवृत-दशा में ज्ञान होते हुए भी उसकी सतत प्रवृत्ति (उपयोग) नहीं होती। और जो होती है उसका एक क्रम है—पहले दर्शन की प्रवृत्ति होती है फिर ज्ञान की।

गौतम ने पूछा—"भगवन्! छद्मस्थ मनुष्य परमाणु को जानता है पर देखता नहीं, यह सच है? अथवा जानता भी नहीं देखता भी नहीं, यह सच है?"

भगवान्—गौतम! कई छद्मस्थ विशिष्ट श्रुत-ज्ञान से परमाणु को जानते हैं पर दर्शन के अभाव में देख नहीं सकते और कई जो सामान्य श्रुत-ज्ञानी होते हैं, वे न तो उसे जानते हैं और न देखते हैं।

गौतम—भगवन् ! परम अवधि-ज्ञानी और परमाणु को जिस समय जानते हैं, उस समय देखते हैं और जिस समय देखते हैं, उस समय जानते हैं ?

भगवान्—गौतम ! नहीं, वे जिस समय परमाणु को जानते हैं, उस समय देखते नहीं और जिस समय देखते हैं, उस समय जानते नहीं।

गौतम—भगवन् ! ऐसा क्यों नहीं होता ?

भगवान्—गौतम ! "ज्ञान साकार होता है और दर्शन अनाकार," इसलिए दोनों एक साथ नहीं हो सकते [६९]। यह केवल ज्ञान-और केवल-दर्शन की क्रमिक मान्यता का आगमिक पक्ष है। अनावृत आत्मा में ज्ञान सतत प्रवृत्त रहता है और छद्मस्थ को ज्ञान की प्रवृत्ति करनी पड़ती है [७०]। छद्मस्थ को ज्ञान की प्रवृत्ति करने में असंख्य समय लगते हैं और केवली एक समय में ही अपने ज्ञेय को जान लेते हैं [७१]। इस पर से यह प्रश्न उठा कि केवल एक समय में समूचे ज्ञेय को जान लेते हैं तो दूसरे समय में क्या जानेंगे ? वे एक समय में जान सकते हैं, देख नहीं सकते या देख सकते हैं, जान नहीं सकते तो उनका सर्वज्ञत्व ही टूट जाएगा ?

इस प्रश्न के उत्तर में तर्क आगे बढ़ा। दो धाराएँ और बन गई। मल्लवादी ने केवल-ज्ञान और केवल-दर्शन के युगपत् होने और सिद्धसेन दिवाकर ने उनके अभेद का पक्ष प्रस्तुत किया [७२]।

दिगम्बर-परम्परा में केवल युगपत्-पक्ष ही मान्य रहा [७३]। श्वेताम्बर-परम्परा में इसकी क्रम, युगपत् और अभेद—ये तीन धाराएं बन गई ?

विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी के महान् तार्किक यशोविजयजी ने इसका नय-दृष्टि से समन्वय किया है [७४]। *ऋजु-सूत्र नय की दृष्टि से क्रमिक पक्ष* संगत है। यह दृष्टि वर्तमान समय को ग्रहण करती है। पहले समय का ज्ञान कारण है और दूसरे समय का दर्शन उसका कार्य है। ज्ञान और दर्शन में कारण और कार्य का क्रम है। व्यवहार-नय भेदस्पर्शी है। उसकी दृष्टि से युगपत्-पक्ष भी संगत है। संग्रह नय अभेद-स्पर्शी है। उसकी दृष्टि से अभेद-पक्ष भी संगत है। इन तीनों धाराओं को तर्क-दृष्टि से देखा जाय तो इनमें अभेद-पक्ष ही संगत लगता है। जानने और देखने का भेद परोक्ष या अपूर्ण ज्ञान की स्थिति में होता है। वहाँ वस्तु के पर्यायों को जानते समय

उसका सामान्य रूप नहीं देखा जा सकता। और उसके सामान्य रूप को देखते समय उसके विभिन्न पर्याय नहीं जाने जा सकते। प्रत्यक्ष और पूर्ण ज्ञान की दशा में ज्ञेय का प्रति समय सर्वथा साक्षात् होता है। इसलिए वहाँ यह भेद न होना चाहिए।

दूसरा दृष्टिकोण आगमिक है, उसका प्रतिपादन स्वभाव-स्पर्शी है। पहले समय में वस्तु गत-भिन्नताओं को जानना और दूसरे समय में भिन्नतागत-अभिन्नता को जानना स्वभाव-सिद्ध है। ज्ञान का स्वभाव ही ऐसा है। भेदोन्मुखी ज्ञान सबको जानता है और अभेदोन्मुखी दर्शन सबको देखता है। भेद में अभेद और अभेद में भेद समाया हुआ है। फिर भी भेद-प्रधान ज्ञान और अभेद-प्रधान दर्शन का समय एक नहीं होता।

ज्ञेय-अज्ञेयवाद

ज्ञेय और अज्ञेय की मीमांसा (१) द्रव्य (वस्तु या पदार्थ) (२) क्षेत्र (३) काल (४) भाव (पर्याय या अवस्था) इन चार दृष्टियों से होती है[७५]। सर्वज्ञ के लिए सब कुछ ज्ञेय है। असर्वज्ञ—छद्मस्थ के लिए कुछ ज्ञेय है और कुछ अज्ञेय—सापेक्ष है।

पदार्थ की दृष्टि से

पदार्थ दो प्रकार के हैं—(१) अमूर्त्त (२) मूर्त्त। मूर्त्त पदार्थ का इन्द्रिय-प्रत्यक्ष तथा विकल-परमार्थ-प्रत्यक्ष (अवधि तथा मनः पर्याय) से साक्षात्कार होता है। इसलिए वह ज्ञेय है, अमूर्त्त-पदार्थ अज्ञेय है[७६]।

मानस ज्ञान—श्रुत या शब्द-ज्ञान परोक्षतया अमूर्त्त और मूर्त्त सभी पदार्थों को जानता है, अतः उसके ज्ञेय सभी पदार्थ हैं[७७]।

पर्याय की दृष्टि से

तीन काल की सभी पर्यायें अज्ञेय हैं। त्रैकालिक कुछ पर्यायें ज्ञेय हैं[७८]।

संक्षेप में छद्मस्थ के लिए दस वस्तुएं अज्ञेय हैं। सर्वज्ञ के लिए वे ज्ञेय हैं[७९]। ज्ञेय भी अनन्त और ज्ञान भी अनन्त—यह कैसे बन सकता है? ज्ञान में अनन्त ज्ञेय को जानने की क्षमता नहीं है, यदि है तो ज्ञेय सीमित हो जाएगा। दो असीम विषय-विषयी-भाव में नहीं बंध सकते। अज्ञेयवाद या असर्वज्ञतावाद की ओर से ऐसा प्रश्न उपस्थित किया जाता रहा है।

जैन दर्शन सर्वज्ञतावादी है। उसके अनुसार ज्ञानावरण का विलय (ज्ञान को ढाँकने वाले परमाणुओं का वियोग) होने पर आत्मा के स्वभाव का प्रकाश होता है। अनन्त, निरावरण, कृत्स्न, परिपूर्ण, सर्वद्रव्य-पर्याय साक्षात्कारी ज्ञान का उदय होता है, वह निरावरण होता है, इसीलिए वह अनन्त होता है। ज्ञान का सीमित भाव आवरण से बनता है। उसका आवरण हटता है, तब उसकी सीमितता भी मिट जाती है। फिर केवली (निरावरण ज्ञानी) अनन्त को अनन्त और सान्त को सान्त साक्षात् जानने लगता है। अनुमान से जैसे अनन्त जाना जाता है, वैसे प्रत्यक्ष से भी अनन्त जाना जा सकता है। अनन्तता अनुमान और प्रत्यक्ष दोनों का ज्ञेय है। उनकी अनन्त विषयक जानकारी में कोई अन्तर नहीं है, अन्तर सिर्फ जानकारी के रूप में है। अनुमान से अनन्त का अस्पष्ट आकलन होता है और प्रत्यक्ष से उसका स्पष्ट दर्शन। अनन्त ज्ञान से अनन्त वस्तु अनन्त ही जानी जाती है। इसीलिए उसकी अनन्तता का अन्त नहीं होता—असीमता सीमित नहीं होती। सर्वज्ञ जैसे को वैसा ही जानता है। जो जैसे नहीं है, उसे वैसे नहीं जानता। सान्त को अनन्त और अनन्त को सान्त जानना अयथार्थ-ज्ञान है। यथार्थ-ज्ञान वह है, जो सान्त को सान्त और अनन्त को अनन्त जाने। सर्वज्ञ अनन्त को अनन्त जानता है। इसमें दो असीम तत्त्वों का परस्पराकलन है[८०]। ज्ञान और ज्ञेय एक दूसरे से आबद्ध नहीं हैं। ज्ञान की असीमता का हेतु उसका निरावरण भाव है। ज्ञेय की असीमता उसकी सहज स्थिति है। ज्ञान और ज्ञेय का आपस में प्रतिबन्धकभाव नहीं है। अनन्त ज्ञेय अनन्तानन्त ज्ञान से ही जाना जाता है।

ज्ञेय अनन्त हैं। निरावरण ज्ञान अनन्तानन्त है, अनन्त—अनन्त ज्ञेय को जानने की क्षमता वाला है। परमावधि ज्ञान का विषय (ज्ञेय) समूचा लोक है। क्षमता की दृष्टि से ऐसे लोक असंख्य और हों तो भी वह उसे साक्षात् कर सकता है। यह सावरण ज्ञान की स्थिति है। निरावरण ज्ञान की क्षमता इससे अनन्त गुण अधिक है।

नियतिवाद

सर्वज्ञता निश्चय-दृष्टि या वस्तु-स्थिति है। सर्वज्ञ जो जानता है, वह वैसे ही होता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता।

परिवर्तन व्यवहार-दृष्टि का विषय है। पुरुषार्थ का महत्त्व निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से है। निश्चय-दृष्टि का पुरुषार्थ आवश्यकतानुरूप और निश्चित दिशा-गामी होता है। व्यवहार दृष्टि स्थूल-समक्ष पर आश्रित होती है। इसलिए उसका पुरुषार्थ भी वैसा ही होता है। ज्ञानमात्र से क्रिया सिद्ध नहीं होती। इसलिए ज्ञान की निश्चितता और अनिश्चितता दोनो स्थितियो में पुरुषार्थ अपेक्षित होता है। ज्ञान और क्रिया का पूर्ण सामञ्जस्य भी नही है। इनकी कारण-सामग्री भिन्न होती है। सर्वज्ञ सब कुछ जान लेते हैं, पर सब कुछ कर नही पाते।

गौतम ने पूछा—भगवन्! केवली अभी जिस आकाश-खण्ड में हाथ-पैर रखते हैं, उसी आकाश-खण्ड में फिर हाथ-पैर रखने में समर्थ हैं?

भगवान्—गौतम! नहीं हैं।

गौतम—यह कैसे भगवन्?

भगवान्—गौतम! केवली वीर्य, योग और पौद्गलिक द्रव्य-युक्त होते हैं, इसलिए उनके उपकरण हाथ-पैर आदि चल होते हैं। वे चल होते हैं, इसलिए केवली जिन आकाश प्रदेशो पर हाथ-पैर रखते हैं, उन्हीं आकाश प्रदेशों पर दुवारा हाथ-पैर रखने में समर्थ नहीं होते [८१]।

ज्ञान का कार्य जानना है। क्रिया शरीर-सापेक्ष है। शारीरिक स्पन्दन के कारण पूर्व अवगाह-क्षेत्र का फिर अवगाहन नहीं किया जा सकता। इसमें ज्ञान की कोई त्रुटि नहीं है। वह शारीरिक चलभाव की विचित्रता है। नियति एक तत्त्व है। वह मिथ्यावाद नहीं है। नियतिवाद जो नियति का ही एकान्त आग्रह रखता है, वह मिथ्या है। सर्वज्ञता के साथ नियतिवाद की वात जोड़ी जाती है। वह कोरा आग्रह है। असर्वज्ञ के निश्चित ज्ञान के साथ भी वह जुड़ती है। सूर्य-ग्रहण और चन्द्र-ग्रहण निर्णीत समय पर होते हैं। ज्योतिर्विदों के द्वारा किया हुआ निर्णय उनकी स्वयंभावी क्रिया में विघ्न नहीं डालता। मनुष्यों के भाग्य के बारे में भी उन्हीं के जैसे (असर्वज्ञ) मनुष्यों द्वारा किये गए निर्णय उनके प्रयत्नों में विघ्न नहीं बनते। नियतिवाद के काल्पनिक भय से सर्वज्ञता पर कटाक्ष नहीं किया जा सकता। गोशालक के

नियतिवाद का हेतु भगवान् महावीर का निश्चित ज्ञान है। भगवान् महावीर साधना-काल में विहार कर रहे थे। सर्वज्ञता का लाभ हुआ नहीं था।

शरद् ऋतु का पहला महीना चल रहा था। गरमी और सरदी की संधि-वेला में वरसात चल वसी थी। काती की कड़ी धूप मिट रही थी और सरदी मृगसर की गोद में खेलने को उत्सुक हो रही थी। उस समय भगवान् महावीर सिद्धार्थ-ग्राम नगर से विहार कर कूर्मग्राम नगर को जा रहे थे। उनका एक मात्र शिष्य मंखलीपुत्र गोशालक उनके साथ था। सिद्धार्थ ग्राम से वे चल पड़े। कूर्मग्राम अभी आया नहीं। बीच में एक घटना-चक्र बनता है।

मार्ग के परिपार्श्व में एक खेत लहलहा रहा था। उसमें था एक तिल का पौधा। पत्ते और फूल उसकी श्री को वढ़ा रहे थे। उसकी नयनाभिराम हरियाली वरवस पथिकों की दृष्टि अपनी ओर खींच लेती थी। गोशालक की दृष्टि सहसा उस पर जा पड़ी। वह रुका, झुका, वन्दना की और नम्र स्वर में बोला—भगवन्! देखिए, यह तिल का पौधा जो सामने खड़ा है, क्या पकेगा या नहीं? इसके सात फूलों में रहे हुए सात जीव मर कर कहाँ जाएंगे, कहाँ पैदा होंगे?

भगवान् बोले—"गोशालक! यह तिल-गुच्छ पकेगा, नहीं पकेगा ऐसा नहीं। इसके सात फूलों के सात जीव मर कर इसी की एक फली (तिल-संकुलिका या तिल-फलिका) में सात तिल बनेंगे।"

गोशालक ने भगवान् को सुना, पर जो सुना उसमें श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई, प्रतीति नहीं हुई, वह रुचा नहीं। उसकी अश्रद्धा, अप्रतीति और अरुचि ने उसे परीक्षा की संकरी पगडंडी में ला पटका। उसकी प्रयोग-बुद्धि में केवल अश्रद्धा ही नहीं किन्तु नैसर्गिक तुच्छता भी थी। वैसी तुच्छता जो सत्यान्वेषी के जीवन में अभिशाप बन कर आती है।

भगवान् आगे वढ़ चले। गोशालक धीमी गति से पीछे सरका, मन के तीव्र वेग ने गति में और शिथिलता ला दी। उसकी प्रयोग-दृष्टि में सत्य की शुद्ध जिज्ञासा नहीं थी। वह अपने धर्माचार्य के प्रति सद्भावनाशील भी अब नहीं रहा था। वह भगवान् को मिथ्यावादी ठहराने पर तुला हुआ था।

विचारों का तुमुल-संघर्ष सर पर लिए वह उस तिल-स्तम्भ के पास जा पहुँचा। उसे गहरी दृष्टि से देखा। गोशालक के हाथ उसकी ओर बढ़े। कुछ ही क्षणों में तिल स्तम्भ जमीन से ऊपर उठ आया। गोशालक ने उसे उखाड़ कर ही सन्तोष नहीं माना। वह उसे हाथ में लिए चला और कुछ आगे जा एकान्त में डाल आया। महावीर आगे चले जा रहे थे। वे निश्छल थे। इसीलिए अपने सत्य पर निश्चल थे। उनकी निरपेक्षता उन्हें स्वयं सहारा दे रही थी आगे बढ़ने के लिए। गोशालक भगवान् की ओर चल पड़ा।

परिस्थिति का मोड़ कब कहाँ कैसा होता है, इसे जानना सहज नहीं। विश्व की समूची घटनावलियाँ और कार्य-कारण भाव की शृंखलाएं ऐसी बनती-जुड़ती हैं, जो अनहोने जैसे को बना डालती हैं और जो होने को है, उसे बिखेर डालती हैं। केवल परिस्थिति की दासता जैसे निरा धोखा है, वैसे ही केवल पौरुष का अभिमान भी निरा अज्ञान है। परिस्थिति और पुरुषार्थ अनुकूल क्षेत्र-काल में मिलते हैं, व्यक्ति की पूर्व-क्रिया से प्रेरित हो चलते हैं तभी कुछ बनने का बनता है और बिगड़ने का बिगड़ता है। गोशालक के पैर भगवान् महावीर की ओर आगे बढ़े, पवन की गति में परिवर्तन आया। खाली आकाश बादलों से छा गया। खाली बादल पानी से भर गए। गाज की गड़गड़ाहट और बिजली की कौंध ने वातावरण में खिंचाव-सा ला दिया। देखते-देखते धरती गीली हो गई। धीमे-धीमे गिरी बून्दों ने रज रेणु को थाम लिया। कीचड़ उनसे बढ़ा नहीं। तत्काल उखाड़ फेंका हुआ वह तिल-स्तम्ब अनुकूल सामग्री पा फिर अंकुरित हो उठा, बद्धमूल हो उठा, जहाँ गिरा था वहीं प्रतिष्ठित हो गया। सात तिल-फूलों के सात जीव मरे। उसी तिल-स्तम्ब की एक फली में सात तिल बन गए।

भगवान् महावीर जनपद-विहार करते-करते फिर कूर्म-ग्राम आये। वहाँ से फिर सिद्धार्थ-ग्राम नगर की ओर चले। मार्ग वही था। वे ही ये दोनों गुरु शिष्य। समय वह नहीं था। ऋतु-परिवर्तन हुआ। परिस्थिति भी बदल चुकी थी। किन्तु मनुष्य बात का पक्का होता है। आग्रह कब जल्दी से छूटता है। गोशालक की गति ही अधीर नहीं थी, मन भी अधीर था। प्रतीक्षा के क्षण लम्बे होते हैं, फिर भी कटते हैं। वह खेत आ गया। गोशालक

बोला—"भगवन् ! ठहरिए। यह वही खेत है, जहाँ हमने इससे पूर्व विहार में कुछ क्षण बिताए थे। यह वही खेत है, जहाँ हमने तिल-स्तम्ब देखा था। यह वही खेत है जहाँ भगवान् ने मुझे कहा था—'यह तिल स्तम्ब पकेगा' ? किन्तु भगवन् ! वह भविष्यवाणी अफल हो गई। वह तिल-स्तम्ब नहीं पका, नहीं पका और नहीं पका। वे सात-फूलो के सात जीव मर कर नए सिरे से एक फली में सात तिल नहीं बने, नहीं बने और नहीं बने। सच कह रहा हूँ मैं मेरे धर्माचार्य ! प्रत्यक्ष से बढ़ कर दूसरा कोई प्रमाण नहीं होता। भगवान् सब सुनते रहे। वे शान्त, मौन और अविचलित थे। गोशालक की भवितव्यता ने प्रेरित किया भगवान् को बोलने के लिए, कुछ कहने के लिए, रहस्य को सामने ला रखने के लिए। भगवान् बोले—गोशालक ! मैं जानता हूँ, तूने मेरी बात पर विश्वास नहीं किया था। तू आकुल था मेरी भविष्यवाणी को मिथ्या ठहराने के लिए। मुझे मालूम है गोशालक ! उसके लिए तू जो करना चाहता था, वह कर चुका। किन्तु परिस्थिति ने तेरा साथ नहीं दिया। तिल स्तम्ब के उखाड़ फेंकने से लेकर उसके फिर से पकने तक की सारी कहानी भगवान् ने सुना डाली। इसके साथ-साथ परिवर्तवाद का सिद्धान्त भी समझा डाला। भगवान् बोले—"गोशालक ! वनस्पति में परिवृत्य-परिहार (पउट्ट परिहार) होता है। वनस्पति के जीव एक शरीर से मर कर फिर उसी शरीर में जन्म ले लेते हैं।" गोशालक नियति के हाथों खेल रहा था। उसे भगवान् की वाणी में विश्वास नहीं हुआ। वह धीरज की बांध तोड़ कर चला। उस जगह गया, जहाँ तिल-स्तम्ब तोड़ फेंका था। उसने देखा, आश्चर्य भरी दृष्टि से देखा—वह तिल-स्तम्ब फिर से खड़ा हो गया है। उसने नजदीकी से देखा उसके गुच्छों में एक फली भी निकल आई है। संशय की आतुरता ने भुला दिया—"वनस्पति चेतन होती है, उसे स्पर्शमात्र से वेदना होती है, उसे छूना जैन-मुनि की मर्यादा के अनुकूल नहीं है आदि आदि।" उसके हाथ आगे बढ़े, फली को तोड़ा। अन्दर तिल निकले। उन्हें गिना, वे सात थे। गोशालक स्तब्ध-सा रह गया। उसके दिल में आया (ऐसा अध्यवसाय बना) "बस पीछे का सब बेकार। अब मुझे तत्व मिल गया है। सत्य है नियतिवाद और सत्य है परिवर्तवाद। मनुष्य के ८।

प्रयत्न करने पर भी जो होने का है वह नहीं बदलता। यह सारा घटना-चक्र नियति के अधीन है। भवितव्यता ही सब कुछ बनाती विगाड़ती है। मनुष्य उसी महाशक्ति की एक रेखा है जो उसी से कर्तृत्व या कुछ करने का दम भरता है।"

परिवर्तवाद भी वैसा ही व्यापक है जैसा कि नियतिवाद। सब जीव परिवृत्य-परिहार करते हैं। इस एक घटना ने गोशालक की दिशा बदल दी। अब गोशालक भगवान् महावीर का शिष्य नहीं रहा। वह आजीवक-सम्प्रदाय का आचार्य बन गया, नियतिवाद और परिवर्तवाद का प्रचारक बन गया। अब वह 'जिन' कहलाने लगा।

सर्वज्ञता का पारम्पर्य-भेद

जैन-परम्परा में सर्वज्ञता के बारे में प्रायः एक मत रहा है। कहीं-कहीं मत-भेद भी मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में बताया है—"केवली व्यवहार-दृष्टि से सब कुछ जानते देखते हैं और निश्चय-दृष्टि से अपनी आत्मा को ही देखते हैं[८२]।" किन्तु सर्वज्ञता का यह विचार जैन-दृष्टि को पूर्णांशतया मान्य नहीं है। सर्वज्ञता का अर्थ है—लोक-अलोकवर्ती सब द्रव्य और सब पर्यायों का साक्षात्कार।

यह जीव इस कर्म को आभ्युपगमिकी वेदना (इच्छा-स्वीकृत प्रयत्नों) द्वारा भोगेगा और यह जीव इस कर्म को औपक्रमिकी वेदना (कर्मोदय-कृत वेदना) द्वारा भोगेगा, प्रदेश-वेद्य या विपाक-वेद्य के रूप में जैसा कर्म बन्धा है वैसे भोगेगा, जिस देश-काल आदि में जिस प्रकार, जिस निमित्त से, जिन कर्मों के फल भोगने हैं—यह सब अर्हत को ज्ञात होता है। भगवान् ने जो कर्म जैसे-जैसे देखा है; वह वैसे-वैसे ही परिणत होगा[८३]। हमारी क्रियाएं विशिष्ट ज्ञान की निश्चितता से मुक्त नहीं हैं, फिर भी ज्ञान आलोक है। सूर्य का आलोक जैसे प्रतिबन्धक नहीं होता, वैसे ही ज्ञान भी क्रिया का प्रतिबन्धक नहीं होता।

केवली पूर्व दिशा में मित (परिणामवाली वस्तु) को भी जानता है, और अमित (परिमाण-रहित वस्तु) को भी जानता है। इसी प्रकार दक्षिण,

पश्चिम और उत्तर दिशा में वह मित और अमित दोनों को जानता है। केवली सबको जानता-देखता है, सर्वतः जानता-देखता है, सर्व काल में सर्व भावों (पर्यायों या अवस्थाओं) को जानता-देखता है। वह अनन्त-ज्ञानी और अनन्त-दर्शनी होता है। उसका ज्ञान और दर्शन निरावरण होता है, इसलिए वह सब पदार्थों को सदा, सर्वतः, सर्व-पर्यायों सहित जानता-देखता है।

मनोविज्ञान का आधार

जैन मनोविज्ञान आत्मा, कर्म और नो-कर्म की त्रिपुटी-मूलक है। मन की व्याख्या और प्रवृत्तियों पर विचार करने से पूर्व इस त्रिपुटी पर संक्षिप्त विचार करना होगा। कारण, जैन-दृष्टि के अनुसार मन स्वतन्त्र पदार्थ या गुण नहीं, वह आत्मा का ही एक विशेष गुण है। मन की प्रवृत्ति भी स्वतन्त्र नहीं, वह कर्म और नो कर्म की स्थिति-सापेक्ष है। इसलिए इनका स्वरूप समझे बिना मन का स्वरूप नहीं समझा जा सकता।

त्रिपुटी का स्वरूप [आत्मा]

चैतन्य-लक्षण, चैतन्य-स्वरूप या चैतन्य-गुण पदार्थ का नाम आत्मा है [1]। ऐसी आत्माएं अनन्त हैं [2]। उनकी सत्ता स्वतन्त्र है [3]। वे किसी दूसरी आत्मा या परमात्मा के अंश नहीं हैं। प्रत्येक आत्मा की चेतना अनन्त होती है—अनन्त प्रमेयों को जानने में क्षम होती है [4]। चैतन्य-स्वरूप की दृष्टि से सब आत्माएं समान होती हैं, किन्तु चेतना का विकास सब में समान नहीं होता [5]। चैतन्य-विकास के तारतम्य का निमित्त कर्म है [6]।

कर्म

आत्मा की प्रवृत्ति द्वारा आकृष्ट और उसके साथ एक-रसीभूत पुद्गल 'कर्म' कहलाते हैं [7]। कर्म आत्मा के निमित्त से होने वाला पुद्गल-परिणाम है। भोजन, औषध, विष और मद्य आदि पौद्गलिक पदार्थ परिपाक-दशा में प्राणियों पर प्रभाव डालते हैं, वैसे ही कर्म भी परिपाक-दशा में प्राणियों को प्रभावित करते हैं [8]। भोजन आदि का परमाणु-प्रचय स्थूल होता है, इसलिए उनकी शक्ति स्वल्प होती है। कर्म का परमाणु-प्रचय सूक्ष्म होता है, इसलिए इनकी सामर्थ्य अधिक होती है। भोजन आदि के ग्रहण की प्रवृत्ति स्थूल होती है, इसलिए उसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। कर्म-ग्रहण की प्रवृत्ति सूक्ष्म होती है, इसलिए इसका स्पष्ट ज्ञान नहीं होता। भोजन आदि के परिणामों को जानने के लिए शरीर-शास्त्र है, कर्म के परिणामों को समझने के लिए कर्म-शास्त्र। भोजन आदि का प्रत्यक्ष प्रभाव शरीर पर होता है और परोक्ष प्रभाव आत्मा पर। कर्म का प्रत्यक्ष प्रभाव आत्मा पर होता है और परोक्ष प्रभाव शरीर पर।

पथ्य भोजन से शरीर का उपचय होता है, अपथ्य भोजन से अपचय। दोनों प्रकार का भोजन न होने से मृत्यु। ऐसे ही पुण्य-कर्म से आत्मा को सुख, पाप-कर्म से दुःख और दोनों के विलय से मुक्ति होती है। कर्म के आंशिक विलय से आंशिक मुक्ति—आंशिक विकास होता है और पूर्ण-विलय से पूर्ण मुक्ति—पूर्ण विकास। भोजन आदि का परिपाक जैसे देश, काल-सापेक्ष होता है, वैसे ही कर्म का विपाक नो कर्म सापेक्ष होता है [९]।

नो कर्म

कर्म-विपाक की सहायक सामग्री को नो कर्म कहा जाता है [१०]। आज की भाषा में कर्म को आन्तरिक परिस्थिति या आन्तरिक वातावरण कहें तो इसे बाहरी वातावरण या बाहरी परिस्थिति कह सकते हैं। कर्म प्राणियों को फल देने में क्षम है किन्तु उसकी क्षमता के साथ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अवस्था, भव-जन्म, पुद्गल, पुद्गल-परिणाम आदि-आदि बाहरी स्थितियों की अपेक्षाएं जुड़ी रहती हैं [११]।

कर्म के आंशिक विलय से होने वाले आंशिक विकास का उपयोग भी बाह्य स्थिति-सापेक्ष होता है।

चेतना का पूर्ण विकास होने और शरीर से मुक्ति मिलने के बाद आत्मा को बाह्य स्थितियों की कोई अपेक्षा नहीं होती।

चेतना का स्वरूप और विभाग

आत्मा सूर्य की तरह प्रकाश-स्वभाव होती है। उसके प्रकाश-चेतना के दो रूप बनते हैं—आवृत और अनावृत। अनावृत-चेतना अखण्ड, एक विभाग-शून्य और निरपेक्ष होती है [१२]। कर्म से आवृत्त चेतना के अनेक विभाग बन जाते हैं। उनका आधार ज्ञानावरण कर्म के उदय और विलय का तारतम्य होता है। वह अनन्त प्रकार का होता है, इसलिए चेतना के भी अनन्त रूप बन जाते हैं किन्तु उसके वर्गीकृत रूप चार हैं :—

(१) मति (२) श्रुत (३) अवधि (४) मनःपर्याय।

मति—इन्द्रिय और मन से होने वाला ज्ञान—वार्तमानिक ज्ञान।

श्रुत—शास्त्र और परोपदेश-शब्द के माध्यम से होने वाला त्रैकालिक मानस ज्ञान।

अवधि—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना केवल आत्म-शक्ति से होने वाला ज्ञान।

मनः पर्याय—परचित्त-ज्ञान।

इनमें पहले दो ज्ञान परोक्ष हैं और अन्तिम दो प्रत्यक्ष। ज्ञान स्वरूपतः प्रत्यक्ष ही होता है। बाह्यार्थ ग्रहण के समय वह प्रत्यक्ष और परोक्ष—इन दो धाराओं में बंट जाता है।

ज्ञाता ज्ञेय को किसी माध्यम के बिना जाने तब उसका ज्ञान प्रत्यक्ष होता है और माध्यम के द्वारा जाने तब परोक्ष।

आत्मा प्रकाश-स्वभाव है, इसलिए उसे अर्थ-बोध में माध्यम की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। किन्तु चेतना का आवरण बलवान होता है, तब वह हुए बिना नहीं रहती। मति-ज्ञान पौद्गलिक इन्द्रिय और पौद्गलिक मन के माध्यम से होता है। श्रुत-ज्ञान शब्द और संकेत के माध्यम से होता है, इसलिए ये दोनों परोक्ष हैं।

अवधि-ज्ञान इन्द्रिय और मन का सहारा लिए बिना ही पौद्गलिक पदार्थों को जान लेता है। आत्म-प्रत्यक्ष ज्ञान में सामीप्य और दूरी, भीत आदि का आवरण, तिमिर और कुहासा—ये बाधक नहीं बनते।

मनः पर्याय ज्ञान दूसरों की मानसिक आकृतियों को जानता है[१३]। समनस्क प्राणी जो चिन्तन करते हैं, उसकी चिन्तन के अनुरूप आकृतियां बनती हैं[१४]। इन्द्रिय और मन उन्हें साक्षात् नहीं जान सकते। इन्हें चेतोवृत्ति का ज्ञान सिर्फ आनुमानिक होता है[१५]। परोक्ष ज्ञानी शरीर की स्थूल चेष्टाओं को देख कर अन्तरवर्ती मानस प्रवृत्तियों को समझने का यत्न करता है। मनः पर्यवज्ञानी उन्हें साक्षात् जान जाता है[१६]।

मनः पर्यवज्ञानी को इस प्रपत्र में अनुमान करने के लिए मन का सहारा लेना पड़ता है। वह मानसिक आकृतियों का साक्षात्कार करता है। किन्तु मानसिक विचारों का साक्षात्कार नहीं करता। इसका कारण यह है—पदार्थ दो प्रकार के होते हैं:—मूर्त और अमूर्त[१७]। पुद्गल मूर्त है और आत्मा अमूर्त[१८]। अनावृत चेतना को इन दोनों का साक्षात्कार होता है। आवृत चेतना सिर्फ मूर्त पदार्थ का ही साक्षात्कार कर सकती है। मनः पर्याय

ज्ञान आवृत्त चेतना का एक विभाग है, इसलिए वह आत्मा की अमूर्त मानसिक परिणति को साक्षात् नहीं जान सकता। वह इस (आत्मिक-मन) के निमित्त से होने वाली मूर्त्त मानसिक परिणति (पौद्गलिक मन की परिणति) को साक्षात् जानता है और मानसिक विचारों को उसके द्वारा अनुमान से जानता है [१९]। मानसिक विचार और उनकी आकृतियो के अविनाभाव से यह ज्ञान पूरा बनता है। इसमें मानसिक विचार अनुमेय होते हैं। फिर भी यह ज्ञान परोक्ष नहीं है। कारण कि मानसिक विचारों को साक्षात् जानना मनः पर्याय ज्ञान का विषय नहीं। उसका विषय है मानसिक आकृतियों को साक्षात् जानना। उन्हें जानने के लिए इसे दूसरे पर निर्भर नहीं होना पड़ता। इसलिए यह आत्म-प्रत्यक्ष ही है। मनः पर्याय ज्ञान जैसे मानसिक पर्यायों—ज्ञेय-विषयक अध्यवसायों को अनुमान से जानता है, वैसे ही मन द्वारा चिन्तनीय विषय को भी अनुमान से जानता है [२०]।

शरीर और चेतना का सम्बन्ध

शरीर और चेतना दोनो भिन्न धर्मक हैं। फिर भी इनका अनादि—प्रवाही सम्बन्ध है। चेतन और अचेतन चैतन्य की दृष्टि से अत्यन्त भिन्न हैं। इसलिए वे सर्वथा एक नही हो सकते। किन्तु सामान्य गुण की दृष्टि से वे अभिन्न भी हैं। इसलिए उनमें सम्बन्ध हो सकता है। चेतन शरीर का निर्माता है। शरीर उसका अधिष्ठान है। इसलिए दोनों पर एक दूसरे की क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। शरीर की रचना चेतन-विकास के आधार पर होती है। जिस जीव के जितने इन्द्रिय और मन विकसित होते हैं, उसके उतने ही इन्द्रिय और मन के ज्ञान-तन्तु बनते हैं। वे ज्ञान-तन्तु ही इन्द्रिय और मानस ज्ञान के साधन होते हैं। जब तक ये स्वस्थ रहते हैं, तब तक इन्द्रियां स्वस्थ रहती हैं। इन ज्ञान-तन्तुओं को शरीर से निकाल लिया जाए तो इन्द्रियों में जानने की प्रवृत्ति नहीं हो सकती [२१]।

शरीर की बनावट और चेतना का विकास

चेतना-विकास के अनुरूप शरीर की रचना होती है और शरीर-रचना के अनुरूप चेतना की प्रवृत्ति होती है। शरीर-निर्माण-काल में आत्मा उसका

निमित्त बनती है और ज्ञान-काल में शरीर के ज्ञान-तन्तु चेतना के सहायक बनते हैं।

पृथ्वी यावत् वनस्पति का शरीर अस्थि, मांस रहित होता है। विकलेन्द्रिय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय का शरीर अस्थि, मांस, शोणित-बद्ध होता है।

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्य का शरीर अस्थि, मांस, शोणित, स्नायु, शिरा-बद्ध होता है [२२]।

आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न नहीं होती, इसलिए आत्मा की परिणति का शरीर पर और शरीर की परिणति का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है। देह-मुक्त होने के बाद आत्मा पर उसका कोई असर नहीं होता किन्तु दैहिक स्थितियों से जकड़ी हुई आत्मा के कार्य-कलाप में शरीर सहायक व बाधक बनता है।

इन्द्रिय-प्रत्यक्ष के लिए जैसे दैहिक इन्द्रियों की अपेक्षा होती है, वैसे ही पूर्व-प्रत्यक्ष की स्मृति के लिए दैहिक ज्ञानतन्तु-केन्द्रों—मस्तिष्क या अन्य अवयवों की अपेक्षा रहती है।

शरीर की वृद्धि के साथ ज्ञान की वृद्धि होती है, तब फिर शरीर से आत्मा भिन्न कैसे? यह सहज शंका उठती है किन्तु यह नियम पूर्ण व्याप्त नहीं है। बहुत सारे व्यक्तियों के देह का पूर्ण विकास होने पर भी बुद्धि का पूर्ण विकास नहीं होता और कई व्यक्तियों के देह के अपूर्ण विकास में भी बुद्धि का पूर्ण विकास हो जाता है। देह की अपूर्णता में बौद्धिक विकास पूर्ण नहीं होता, इसका कारण यह है कि वस्तु-विषय का ग्रहण शरीर की सहायता से होता है। जब तक देह पूर्ण विकसित नहीं होता, तब तक वस्तु-विषय का ग्रहण करने में पूर्ण समर्थ नहीं बनता। मस्तिष्क और इन्द्रियों की न्यूनाधिकता होने पर भी ज्ञान की मात्रा में न्यूनाधिकता होती है, उसका भी यही कारण है—सहकारी अवयवों के बिना ज्ञान का उपयोग नहीं हो सकता। देह, मस्तिष्क और इन्द्रियों के साथ ज्ञान का निमित्त कारण और कार्य भाव सम्बन्ध है। इसका फलित यह नहीं होता कि आत्मा और वे एक हैं।

मन क्या है?

समतात्मक भौतिकवाद के अनुसार मानसिक क्रियाएं स्वभाव से ही भौतिक हैं।

कारणात्मक भौतिकवाद के अनुसार मन पुद्गल का कार्य है।

गुणात्मक भौतिकवाद के अनुसार मन पुद्गल का गुण है।

जैन-दृष्टि के अनुसार मन दो प्रकार के होते हैं—एक चेतन और दूसरा पौद्गलिक।

पौद्गलिक मन ज्ञानात्मक मन का सहयोगी होता है। उसके बिना ज्ञानात्मक मन अपना कार्य नहीं कर सकता, उसमें अकेले में ज्ञान-शक्ति नहीं होती। दोनों के योग से मानसिक क्रियाएं होती हैं।

ज्ञानात्मक मन चेतन है। वह पौद्गलिक परमाणुओं से नहीं बन सकता। वह पौद्गलिक वस्तु का रस नहीं है। पौद्गलिक वस्तु का रस भी पौद्गलिक ही होगा। पित्त का निर्माण यकृत् में होता है, यह पौद्गलिक है। चेतना न मस्तिष्क का रस है और न मस्तिष्क की आनुषङ्गिक उपज भी। यह कार्यक्रम और शरीर का नियामक है। आनुषङ्गिक उपज में यह सामर्थ्य नहीं होती।

चेतना शरीर-घटक धातुओं का गुण होता तो शरीर से वह कभी लुप्त नहीं होती। चेतना आत्मा का गुण है। आत्म-शून्य-शरीर में चेतना नहीं होती और शरीर-शून्य आत्मा की चेतना हमें प्रत्यक्ष नहीं होती। हमें शरीर-युक्त आत्मा की चेतना का ही बोध होता है।

वस्तु का स्वगुण कभी भी वस्तु से पृथक् नहीं होता। दो वस्तुओं के संयोग से तीसरी नई वस्तु बनती है, तब उसका गुण भी दोनों के सम्मिश्रण से बनता है, किन्तु बाहर से नहीं आता। उसका विघटन होने पर पुनः दोनों वस्तुओं के अपने-अपने गुण स्वतन्त्र हो जाते हैं। गन्धक के तेजाब में हाइड्रोजन, (Hydrogen) गन्धक और ऑक्सीजन (Oxygen) का सम्मिश्रण रहता है। इसके भी अपने विशेष गुण होते हैं। इसको बनाने वाली मूल धातुएँ पृथक्-पृथक् कर दी जाएं, तब ये अपने मूल गुणों के साथ ही पायी जाती हैं।

आत्मा का गुण चैतन्य और जड़ का गुण अचैतन्य है। ये भी इनके साथ

सदा लगे रहते हैं। इन दोनों के संयोग से नए गुण पैदा होते हैं, जिन्हें जैन परिभाषा में 'वैभाविक-गुण' कहा जाता है। ये गुण मुख्य रूप में चार हैं :—

(१) आहार (२) श्वास-उच्छ्वास (३) भाषा और (४) पौद्‌गलिक मन। ये गुण न तो आत्मा के हैं और न शरीर के। ये दोनों के सम्मिश्रण से उत्पन्न होते हैं। दोनों के वियोग में ये भी मिट जाते हैं।

शरीर और मन का पारस्परिक प्रभाव

शरीर पर मन का और मन पर शरीर का असर कैसे होता है? अब इस पर हमें विचार करना है। आत्मा अरूपी है, उसको हम देख नहीं सकते। शरीर में आत्मा की क्रियाओं की अभिव्यक्ति होती है। उदाहरणस्वरूप हम कह सकते हैं कि आत्मा विद्युत् है और शरीर बल्ब (लट्टू) है। ज्ञान-शक्ति आत्मा का गुण है और उसके साधन शरीर के अवयव हैं। बोलने का प्रयत्न आत्मा का है, उसका साधन शरीर है। इसी प्रकार पुद्‌गल ग्रहण एवं हलन-चलन आत्मा करती है और उसका साधन शरीर है। आत्मा के बिना चिन्तन, जल्प और बुद्धिपूर्वक गति-आगति नहीं होती तथा शरीर के बिना उनका प्रकाश (अभिव्यक्ति) नहीं होता। इसीलिए कहा गया है कि "द्रव्यनिमित्तं हि संसारिणां वीर्यमुपजायते"—अर्थात् संसारी-आत्माओं की शक्ति का प्रयोग पुद्‌गलों की सहायता से होता है। हमारा मानस चिन्तन में प्रवृत्त होता है और उसे पौद्‌गलिक मन के द्वारा पुद्‌गलों का ग्रहण करना ही पड़ता है, अन्यथा उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। हमारे चिन्तन में जिस प्रकार के इष्ट या अनिष्ट भाव आते हैं, उसी प्रकार के इष्ट या अनिष्ट पुद्‌गलों को द्रव्य-मन [पौद्‌गलिक मन] ग्रहण करता चला जाता है। मन-रूप में परिणत हुए अनिष्ट-पुद्‌गलों से शरीर की हानि होती है और मन रूप में परिणत इष्ट पुद्‌गलों से शरीर को लाभ पहुँचता है[२३]। इस प्रकार शरीर पर मन का असर होता है। यद्यपि शरीर पर असर उसके सजातीय पुद्‌गलों के द्वारा ही होता है, तथापि उन पुद्‌गलों का ग्रहण मानसिक प्रवृत्ति पर निर्भर है। इसलिए इस प्रक्रिया को हम शरीर पर मानसिक असर कह सकते हैं। देखने की शक्ति ज्ञान है। ज्ञान आत्मा का गुण है। फिर भी आंख के

बिना मनुष्य देख नहीं सकता। आंख में रोग होता है, दर्शन-क्रिया नष्ट हो जाती है। रोग की चिकित्सा की और दीखने लग जाता है। यही बात मस्तिष्क और मन की क्रिया के बारे में है। इस प्रकार आत्मा पर शरीर का असर होता है।

इन्द्रिय और मन का ज्ञानक्रम

मति ज्ञान और श्रुत-ज्ञान--दोनों के साधन हैं—इन्द्रिय और मन। फिर भी दोनो एक नहीं है। मति द्वारा इन्द्रिय और मन की सहायता मात्र से अर्थ का ज्ञान हो जाता है। श्रुत को शब्द या संकेत की और अपेक्षा होती है। जहाँ हम घट को देखने मात्र से जान लेते हैं, वह मति है और जहाँ घट शब्द के द्वारा घट को जानते हैं, वह श्रुत है [२४]। मति ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय पदार्थ के बीच इन्द्रिय और मन का व्यवधान होता है, इसलिए वह परोक्ष है किन्तु उस (श्रुत ज्ञान) में इन्द्रिय मन और ज्ञेय वस्तु के बीच कोई व्यवधान नहीं होता, इसलिए उसे लौकिक प्रत्यक्ष भी कहा जाता है [२५]। श्रुत ज्ञान में इन्द्रिय, मन और ज्ञेय वस्तु के बीच शब्द का व्यवधान होता है, इसलिए वह सर्वतः परोक्ष ही होता है।

लौकिक प्रत्यक्ष आत्म-प्रत्यक्ष की भाँति समर्थ प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिए इसमें क्रमिक ज्ञान होता है। वस्तु के सामान्य दर्शन से लेकर उसकी धारणा तक का क्रम इस प्रकार है :—

ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु का उचित सन्निधान······व्यञ्जन।
वस्तु के सर्व सामान्य रूप का बोध·············दर्शन।
वस्तु के व्यक्तिनिष्ठ सामान्य रूप का बोध······अवग्रह।
वस्तु-स्वरूप के बारे में अनिर्णायक विकल्प······संशय।
वस्तु स्वरूप का परामर्श-वस्तु में प्राप्त और अप्राप्त धर्मों का पर्यालोचन। }·········ईहा, (निर्णय की चेष्टा)
वस्तु-स्वरूप का निर्णय······अवाय (निर्णय)
वस्तु-स्वरूप का स्थिर-अवगति या स्थिरीकरण···धारणा (निर्णय की धारा)

यह क्रम अमनस्क दशा में अपूर्ण हो सकता है किन्तु इसका विपर्यास नहीं हो सकता। अवग्रह हो जाता है, ध्यान बदलने पर 'ईहा' नहीं भी होती। किन्तु ईहा से पहले अवग्रह का यानी वस्तु के विशेष-स्वरूप के परामर्श से पहले उसके सामान्य रूप का ग्रहण होना अनिवार्य है। यह नियम धारणा तक समान है।

इस क्रम में व्यञ्जन अचेतन होता है, दर्शन विशेष-स्वरूप का अनिर्णायक, और संशय अयथार्थ। निर्णायक ज्ञान की भूमिकाएं चार हैं :—

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा।

वस्तुवृत्या निर्णय की भूमि 'अवाय' है। अवग्रह और ईहा निर्णयोन्मुख या स्वरूपांश के निर्णायक होते हैं। धारणा निर्णय का स्थिर रूप है। इसलिए वह भी निर्णायक होती है। धारणा के तीन प्रकार हैं :— (१) अविच्युति (२) वासना (३) स्मृति।

अविच्युति

निर्णीत विषय में ज्ञान की प्रवृत्ति निरन्तर चलती रहे, उपयोग की धारा न टूटे, उस धारणा का नाम 'अविच्युति' है। इस अविच्युति की अपेक्षा ही धारणा लौकिक प्रत्यक्ष है। इसके उत्तरवर्ती दो प्रकार प्रत्यक्ष नहीं हैं।

वासना

निर्णय में वर्तमान ज्ञान की प्रवृत्ति-उपयोग का सातत्य छूटने पर प्रस्तुत ज्ञान का व्यक्त रूप चला जाता है। उसका अव्यक्तरूप संस्कार रह जाता है और यही पूर्व-ज्ञान की स्मृति का कारण बनता है। इस संस्कार-ज्ञान का नाम है 'वासना'।

स्मृति

संस्कार उद्बुद्ध होने पर अनुभूत अर्थ का पुनर्बोध होता है। वह 'स्मृति' है।

वासना व्यक्त ज्ञान नहीं, इसलिए वह प्रमाण की कोटि में नहीं आती। स्मृति परोक्ष प्रमाण है। धारणा तक मति लौकिक प्रत्यक्ष होती है। स्मृति से लेकर अनुमान तक उसका रूप परोक्ष बन जाता है।

चक्षु और मन का ज्ञान-क्रम पटु होता है। इसलिए उनका व्यञ्जन नहीं

होता—ज्ञेय वस्तु से सन्निकर्ष नहीं होता। जिन इन्द्रियों का व्यञ्जन होता है, उन्हें व्यञ्जन का अस्पष्ट बोध होता है। अपने और ज्ञेय वस्तु के संश्लेष का अव्यक्त ज्ञान होता है, इसे 'व्यञ्जन-अवग्रह' कहा जाता है। यह अपटु ज्ञान-क्रम है। इससे ज्ञेय अर्थ का बोध नहीं होता। वह इसके उत्तरवर्ती अवग्रह से होता है, इसलिए उसका नाम 'अर्थ-अवग्रह' है।

अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा—ये पांच इन्द्रिय और मन—इन छहों के होते हैं।

स्पर्शन······अवग्रह	ईहा	अवाय	धारणा
रसन·········,,	,,	,,	,,
घ्राण·········,,	,,	,,	,,
चक्षु·········,,	,,	,,	,,
श्रोत्र·· ······,,	,,	,,	,,
मनस्·········,,	,,	,,	,,

इन्द्रिय और मन की सापेक्ष-निरपेक्ष वृत्ति

इन्द्रिय प्रतिनियत अर्थग्राही है [२६]। पांच इन्द्रियों—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र—के पांच विषय हैं—स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द[२७]। मन सर्वार्थग्राही है [२८]। वह इन पांचो अर्थों को जानता है। इसके सिवाय मन का मुख्य विषय श्रुत है [२९]। 'पुस्तक' शब्द सुनते ही या पढ़ते ही मन को 'पुस्तक' वस्तु का ज्ञान हो जाता है। मन को शब्द-संस्पृष्ट वस्तु की उपलब्धि होती है। इन्द्रिय को पुस्तक देखने पर 'पुस्तक' वस्तु का ज्ञान होता है और 'पुस्तक' शब्द सुनने पर उस शब्द मात्र का ज्ञान होता है। किन्तु 'पुस्तक' शब्द का यह पुस्तक वाच्यार्थ है—यह ज्ञान इन्द्रिय को नहीं होता। इन्द्रियों में मात्र विषय की उपलब्धि—अवग्रहण की शक्ति होती है, ईहा—गुण दोष विचारना, परीक्षा या तर्क की शक्ति नहीं होती [३०]। मन में ईहापोह शक्ति होती है [३१]। इन्द्रिय मति और श्रुत—दोनों में वार्तमानिक बोध करती है, पार्श्ववर्ती विषय को जानती है। मन मति ज्ञान में भी ईहा के अन्वय व्यतिरेकी धर्मों का परामर्श करते समय त्रैकालिक बन जाता है और श्रुत में त्रैकालिक होता ही है [३२]।

मन इन्द्रिय है या नहीं ?

नैयायिक मन को इन्द्रिय से पृथक् मानते हैं[33]। सांख्य मन का इन्द्रिय में अन्तर्भाव करते हैं[34]। जैन मन को अन-इन्द्रिय मानते हैं। इसका अर्थ है मन इन्द्रिय की तरह प्रतिनियत अर्थ को जानने वाला नहीं है, इसलिए वह इन्द्रिय नहीं और वह इन्द्रिय के विषयों को उन्हीं के माध्यम से जानता है, इसलिए वह कथंचित् इन्द्रिय नहीं यह भी नहीं। वह शक्ति की अपेक्षा इन्द्रिय नहीं भी है और इन्द्रिय-सापेक्षता की दृष्टि से इन्द्रिय है भी।

मानसिक-अवग्रह

इन्द्रियां जैसे मति ज्ञान की निमित्त हैं, वैसे श्रुत-ज्ञान की भी। मन की भी यही बात है। वह भी दोनों का निमित्त है। किन्तु श्रुत—शब्द द्वारा ग्राह्य वस्तु, केवल मन का ही विषय है, इन्द्रियों का नहीं[35]। शब्द-संस्पर्श के बिना प्रत्यक्ष वस्तु का ग्रहण इन्द्रिय और मन दोनो के द्वारा होता है। स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दात्मक वस्तु का ज्ञान इन्द्रियो के द्वारा होता है, उनकी विशेष अवस्थाओं और बुद्धि जन्य काल्पनिक वृत्तो का तथा पदार्थ के उपयोग का ज्ञान मन के द्वारा होता है। इस प्राथमिक ग्रहण—अवग्रह में सामान्य रूप से वस्तु-पर्यायो का ज्ञान होता है। इसमें आगे पीछे का अनुसंधान, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध, विशेष विकल्प आदि नही होते। इन्द्रियां इन विशेष पर्यायो को नही जान सकतीं। इसलिए मानसिक अवग्रह में वे संयुक्त नही होतीं, जैसे ऐन्द्रियिक अवग्रह में मन संयुक्त होता है। अवग्रह के उत्तरवर्ती ज्ञान क्रम पर तो मन का एकाधिकार है ही।

मन की व्यापकता

[क] विषय की दृष्टि से :—

इन्द्रियो के विषय केवल प्रत्यक्ष पदार्थ बनते हैं। मन का विषय प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकार के पदार्थ बनते हैं। शब्द, परोपदेश या आगम-ग्रन्थ के माध्यम से अस्पृष्ट, अरसित, अघ्रात, अदृष्ट, अश्रुत, अननुभूत, मूर्त और अमूर्त सब पदार्थ जाने जाते हैं। यह श्रुत-ज्ञान है। श्रुत-ज्ञान केवल मानसिक होता है। कहना यह चाहिए कि मन का विषय सब पदार्थ हैं किन्तु यह नहीं कहा जाता, उसका भी एक अर्थ है। सब पदार्थ मन के ज्ञेय बनते हैं, किन्तु

प्रत्यक्ष रूप से नहीं श्रुत के माध्यम से बनते हैं, इसलिए मन का विषय श्रुत है [३६]।

श्रुतमनोविज्ञान इन्द्रिय-निमित्तक भी होता है और मनोनिमित्तक भी। इन्द्रिय के द्वारा शब्द का ग्रहण होता है, इसलिए इन्द्रियां उसका निमित्त बनती हैं। मन के द्वारा सामान्य पर्यालोचन होता है, इसलिए वह भी उसका निमित्त बनता है। श्रुत-मनोविज्ञान विशेष पर्यालोचनात्मक होता है—यह उन दोनों का कार्य है।

[ख] काल की दृष्टि से :—

इन्द्रियां सिर्फ वर्तमान अर्थ को जानती हैं। मन त्रैकालिक ज्ञान है। स्वरूप की दृष्टि से मन वर्तमान ही होता है। मन मन्यमान होता है—मनन के समय ही मन होता है [३७]। मनन से पहले और पीछे मन नहीं होता। वस्तु-ज्ञान की दृष्टि से वह त्रैकालिक होता है। उसका मनन वार्तमानिक होता है, स्मरण अतीतकालिक, संज्ञा उभयकालिक, कल्पना भविष्यकालिक, चिन्ता—अभिनिवोध और शब्द-ज्ञान त्रैकालिक।

विकास का तरतमभाव

प्राणीमात्र में चेतना समान होती है, उसका विकास समान नहीं होता। ज्ञानावरण मन्द होता है, चेतना अधिक विकसित होती है। वह तीव्र होता है, चेतना का विकास स्वल्प होता है। अनावरण दशा में चेतना पूर्ण विकसित रहती है। ज्ञानावरण के उदय से चेतना का विकास ढक जाता है किन्तु वह पूर्णतया आवृत कभी नहीं होती। उसका अल्पांश सदा अनावृत रहता है। यदि वह पूरी आवृत्त हो जाए तो फिर जीव और अजीव के विभाग का कोई आधार ही नहीं रहता [३८]। बादल कितने गहरे ही क्यों न हो, सूर्य की प्रभा रहती है। उसका अल्पांश दिन और रात के विभाग का निमित्त बनता है [३९]। चेतना का न्यूनतम विकास एकेन्द्रिय जीवों में होता है [४०]। उनमें सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय का ज्ञान होता है। स्त्यानर्द्धि-निद्रा—गाढ़तम नींद जैसी दशा उनमें हमेशा रहती है, इससे उनका ज्ञान अव्यक्त होता है [४१]। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय-सम्मूर्च्छिम और पञ्चेन्द्रिय गर्भज में क्रमशः ज्ञान की मात्रा बढ़ती है [४२]।

द्वीन्द्रिय………………स्पर्शन और रसन

त्रीन्द्रिय………………स्पर्शन, रसन और घ्राण

चतुरिन्द्रिय………स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु।

पञ्चेन्द्रिय सम्मूर्छिम………स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।

पञ्चेन्द्रिय गर्भज………स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन-अतीन्द्रिय ज्ञान-अवधि-मूर्त पदार्थ का साक्षात् ज्ञान।

पञ्चेन्द्रिय गर्भज मनुष्य…पूर्व के अतिरिक्त परचित्त-ज्ञान और केवल ज्ञान-चेतना की अनावृत्त-दशा।

ज्ञानावरण का पूर्ण विलय [क्षय] होने पर चेतना निरूपाधिक हो जाती है। उसका आंशिक विलय (क्षयोपशम) होता है, तब उसमें अनन्त गुण तरतमभाव रहता है। उसके वर्गीकृत चार भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्याय। इनमें भी अनन्तगुण तारतम्य होता है। एक व्यक्ति के मति-ज्ञान से दूसरे व्यक्ति का मति-ज्ञान अनन्तगुण हीन या अधिक हो जाता है [४३]। यही स्थिति शेष तीनों की है।

निरुपाधिक चेतना की प्रवृत्ति—उपयोग, सब विषयों पर निरन्तर होता रहता है। सोपाधिक चेतना (आंशिक विलय से विकसित चेतना) की प्रवृत्ति—उपयोग निरन्तर नहीं रहता। जिस विषय पर जब ध्यान होता है—चेतना की विशेष प्रवृत्ति होती है, तभी उसका ज्ञान होता है। प्रवृत्ति छूटते ही उस विषय का ज्ञान छूट जाता है। निरुपाधिक चेतना की प्रवृत्ति सामग्री-निरपेक्ष होती है, इसलिए वह स्वतः प्रवृत्त होती है, उसकी विशेष प्रवृत्ति करनी नहीं पड़ती। सोपाधिक चेतना सामग्री-सापेक्ष होती है, इसलिए वह सब विषयों को निरन्तर नहीं जानती, जिस पर विशेष प्रवृत्ति करती है, उसीको जानती है [४४]।

सोपाधिक चेतना के दो रूप—(१) मूर्त-पदार्थ-ज्ञान (अवधि) (२) पर-चित्त-ज्ञान [मनः पर्याय] विशद होते हैं और बाह्य सामग्री-निरपेक्ष होते हैं। इसलिए ये अव्यक्त नहीं होते, क्रमिक नहीं होते और संशय-विपर्यय-दोष-मुक्त होते हैं। ऐन्द्रियिक और मानसज्ञान (मति और श्रुत) बाह्य-सामग्री-

सापेक्ष होते हैं, इसलिए वे अव्यक्त, क्रमिक और संशय-विपर्यय-दोषयुक्त भी होते हैं [४५]। इसका मुख्य कारण ज्ञानावरण का तीव्र सद्भाव ही है। ज्ञानावरण कर्म आत्मा पर छाया हुआ रहता है। चेतना का सीमित विकास—जानने की आंशिक योग्यता [क्षायोपशमिक-भाव] होने पर भी जब तक आत्मा का व्यापार नही होता, तब तक ज्ञानावरण उस पर पर्दा डाले रहता है। पुरुषार्थ चलता है, पर्दा दूर हो जाता है। पदार्थों की जानकारी मिलती है। पुरुषार्थ निवृत्त होता है, ज्ञानावरण फिर छा जाता है। उदाहरण के लिए समझिए—पानी पर शैवाल बिछा हुआ है। कोई उसे दूर हटाता है, पानी प्रगट हो जाता है, उसे दूर करने का प्रयत्न बन्द होता है, तब वह फिर पानी पर छा जाता है [४६]। ज्ञानावरण का भी यही क्रम है।

(१) आत्मा चैतन्यमय है, इसलिए उसमें विस्मृति नहीं होनी चाहिए, फिर विस्मृति क्यो ?

(२) ज्ञान का स्वभाव है ज्ञेय को जानना, फिर अव्यक्त बोध क्यो ?

(३) ज्ञान का स्वभाव है, पदार्थ का निश्चय करना, फिर संशय, भ्रम आदि क्यो ?

(४) ज्ञान असीम है, इसलिए उससे अपरिमित पदार्थों का ग्रहण होना चाहिए, फिर वह सीमित क्यों ?

इनका सामुदयिक समाधान यह है :—

इन विचित्र स्थितियों के कारण कर्म पुद्गल हैं, ये विचित्रताएं कर्म पुद्गल-प्रभावित चेतना में होती हैं।

क्रमिक समाधान यों है :—

(१) आवृत चैतन्य अस्थिर स्वभाव वाला होता है, पदार्थों को क्रम पूर्वक जानता है, इसलिए—वह अव्यवस्थित और उद्भ्रान्त होता है। इसलिए एक पदार्थ में चिरकाल तक उसकी प्रवृत्ति नही होती। अन्तर्-मुहूर्त से अधिक एक विषय में प्रवृत्ति नहीं होती [४७]। प्रस्तुत विषय में ज्ञान की प्रवृत्ति रुकती है, दूसरे में प्रारम्भ होती है, तब पूर्व ज्ञात अर्थ की विस्मृति हो जाती है, वह संस्कार रूप बन जाता है।

(२) सूर्य का स्वभाव है, पदार्थों को प्रकाशमान् करना। किन्तु मेघाच्छन्न

सूर्य उन्हें स्पष्टतया प्रकाशित नहीं करता—यही स्थिति चैतन्य की है। कर्म-पुद्गलों से आवृत चैतन्य पदार्थों को व्यक्त रूप में नहीं जान पाता। अव्यक्तता का मात्राभेद आवरण के तरतम भाव पर निर्भर है।

(३) चेतना आवृत होती है और ज्ञान की सहायक-सामग्री दोषपूर्ण होती है, तब संशय, भ्रम आदि होते हैं[४८]।

(४) ससीम ज्ञान का कारण चैतन्य का आवरण है ही।

इन्द्रिय और मन का विभाग क्रम तथा प्राप्ति क्रम

ज्ञान का आवरण हटता है, तब लब्धि होती है[४९]—वीर्य का अन्तराय दूर होता है, तब उपयोग होता है[५०]। ये दो ज्ञानेन्द्रिय और ज्ञान मन के विभाग हैं—आत्मिक चेतना के विकास-अंश हैं।

इन्द्रिय के दो विभाग और हैं—निर्वृत्ति-आकार-रचना और उपकरण-विषय-ग्रहण-शक्ति। ये दोनों ज्ञान की सहायक इन्द्रिय—पौद्गलिक इन्द्रिय के विभाग हैं—शरीर के अंश हैं। इन चारों के समुदय का नाम इन्द्रिय है। चारों में से एक अंश भी विकृत हो तो ज्ञान नहीं होता। ज्ञान का अर्थ-ग्राहक अंश उपयोग है[५१]। उपयोग (ज्ञान की प्रवृत्ति) उतना ही हो सकता है, जितनी लब्धि (चेतना की योग्यता) होती है। लब्धि होने पर भी उपकरण न हो तो विषय का ग्रहण नहीं हो सकता। उपकरण निर्वृत्ति के बिना काम नहीं कर सकता। इसलिए ज्ञान के समय इनका विभाग-क्रम यूं बनता है :—

(१) निर्वृत्ति (२) उपकरण (३) लब्धि (४) उपयोग।

इनका प्राप्तिक्रम इससे भिन्न है। उसका रूप इस प्रकार बनता है—(१) लब्धि (२) निर्वृत्ति (३) उपकरण (४) उपयोग[५२]। अमुक प्राणी में इतनी इन्द्रियां बनती हैं, न्यूनाधिक नहीं बनती, इसका नियामक इनका प्राप्ति-क्रम है। इसमें लब्धि की मुख्यता है। जिस प्राणी में जितनी इन्द्रियों की लब्धि होती है, उसके उतनी ही इन्द्रियों के आकार, उपकरण और उपयोग होते हैं[५३]।

हम जब एक वस्तु का ज्ञान करते हैं तब दूसरी का नहीं करते—हमारे ज्ञान में यह विप्लव नहीं होता, इसका नियामक विभाग-क्रम है। इसमें

उपयोग की मुख्यता है। उपयोग निर्वृत्ति आदि निरपेक्ष नहीं होता किन्तु इन तीनों के होने पर भी उपयोग के विना ज्ञान नहीं हो सकता। उपयोग ज्ञानावरण के विलय की योग्यता और वीर्य-विकास—दोनों के संयोग से बनता है। इसलिए एक वस्तु को जानते समय दूसरी वस्तुओं को जानने की शक्ति होने पर भी उनका ज्ञान इसलिए नहीं होता कि वीर्य-शक्ति हमारी ज्ञान-शक्ति को ज्ञायमान वस्तु की ओर ही प्रवृत्त करती है [५४]।

इन्द्रिय-प्राप्ति की दृष्टि से प्राणी पांच भागों में विभक्त होते हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय। किन्तु इन्द्रिय ज्ञान-उपयोग की दृष्टि से सब प्राणी एकेन्द्रिय ही होते हैं। एक साथ एक ही इन्द्रिय का व्यापार हो सकता है। एक इन्द्रिय का व्यापार भी स्व-विषय के किसी विशेष अंश पर ही हो सकता है सर्वांशतः नहीं [५५]।

उपयोग

उपयोग दो प्रकार का होता है [५६]। (१) संविज्ञान और (२) अनुभव। वस्तु की उपलब्धि (ज्ञान) को 'संविज्ञान' और सुख-दुख के संवेदन को 'अनुभव' कहा जाता है [५७]।

(१) कई जीव ज्ञान-युक्त होते हैं, वेदना-युक्त नहीं; जैसे—मुक्त आत्माएं।

(२) कई जीव ज्ञान (स्पष्ट ज्ञान) युक्त नहीं होते, वेदना-युक्त होते हैं; जैसे—एकेन्द्रिय जीव।

(३) त्रस जीव दोनों युक्त होते हैं।

(४) अजीव में दोनों नहीं होते।

एकेन्द्रिय से मनस्क पञ्चेन्द्रिय तक के जीव शारीरिक वेदना का अनुभव करते हैं। उनमें मन नही होता, इसलिए मानसिक वेदना उनके नहीं होती [५८]। ज्ञान के मति, श्रुत आदि पांच प्रकार हैं, जो पहले बताये जा चुके हैं। ज्ञान ज्ञानावरण के विलय से होता है। ज्ञान की दृष्टि से जीव विज्ञ कहलाता है। संज्ञा दस या सोलह हैं [५९]। वे कर्मों के सन्निपात—सम्मिश्रण से बनती हैं। इनमें कई संज्ञाएं ज्ञानात्मक भी हैं, फिर भी वे प्रवृत्ति-संवलित हैं, इसलिए शुद्ध ज्ञान-रूप नहीं हैं।

संज्ञाएँ[१०]

१—आहार	६—मान
२—भय	७—माया
३—मैथुन	८—लोभ
४—परिग्रह	९—ओघ
५—क्रोध	१०—लोक

संज्ञा की दृष्टि से जीव 'वेद' कहलाता है[११]। इनके अतिरिक्त तीन संज्ञाएं और हैं :—[नं० सू०]

(१) हेतुवादोपदेशिकी

(२) दीर्घकालिकी

(३) सम्यग्-दृष्टि……

ये तीनों ज्ञानात्मक हैं। संज्ञा का स्वरूप समझने से पहले कर्म का कार्य समझना उपयोगी होगा। संज्ञाएं आत्मा और मन की प्रवृत्तियां हैं। वे कर्म द्वारा प्रभावित होती हैं। कर्म आठ हैं। उन सब में 'मोह' प्रधान है। उसके दो कार्य हैं :—तत्त्व-दृष्टि या श्रद्धा को विकृत करना और चरित्र को विकृत करना। दृष्टि को विकृत बनाने वाले पुद्गल 'दृष्टि मोह' और चरित्र को विकृत बनाने वाले पुद्गल 'चारित्र मोह' कहलाते हैं। चारित्र मोह के द्वारा प्राणी में विविध मनोवृत्तियां बनती हैं—(आज का मनोविज्ञान जिन्हें स्वाभाविक मनोवृत्तियां कहता है) जैसे—भय, घृणा, हंसी, सुख, कामना, संग्रह, झगड़ालूपन, भोगासक्ति यौन सम्बन्ध आदि-आदि।

तीन एषणाएं :—(१) मैं जीवित रहूँ, (२) धन बढ़े, (३) परिवार बढ़े; तीन प्रधान मनोवृत्तियां :—(१) सुख की इच्छा (२) किसी वस्तु को पसन्द करना या उससे घृणा करना। (३) विजयाकाँक्षा अथवा नया काम करने की भावना[१२]—ये सभी चारित्र मोह द्वारा सृष्ट होते हैं। चारित्र-मोह परिस्थितियों द्वारा उत्तेजित हो अथवा परिस्थितियों से उत्तेजित हुए बिना ही प्राणियों में भावना या अन्तः क्षोभ पैदा करता है—जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि। मोह के सिवाय शेष कर्म आत्म-शक्तियों को आवृत्त करते हैं विकृत नहीं।

(१) ज्ञानावरण के पुद्गल ज्ञान—सविकल्प या साकार चेतना को आवृत करते हैं।

(२) दर्शनावरण के पुद्गल दर्शन—निर्विकल्प या निराकार चेतना को आवृत करते हैं।

(३) अन्तराय के पुद्गल सामर्थ्य में विघ्न डालते हैं।

(४) वेदनीय के पुद्गल आत्मिक आनन्द को दबाते हैं, पौद्गलिक सुख और दुःख के कारण बनते हैं।

(५) नाम के पुद्गल अमूर्तिकता को दबाते हैं, मूर्तिकता—अच्छे, बुरे, शरीरादि के कारण बनते हैं।

(६) गोत्र के पुद्गल अगुरुलघुता—आत्म-साम्य को दबाते हैं, वैषम्य—छुटपन, बड़प्पन के कारण होते हैं।

(७) आयुष्य के पुद्गल शाश्वतिक स्थिति को दबाते हैं, जीवन और मरण के कारण बनते हैं।

(१) आहार संज्ञा

—खाने की अभिलाषा वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होती है। यह मूल कारण है। इसको उत्तेजित करने वाले तीन गौण कारण और हैं :—

(१) रिक्त-कोष्ठता।

(२) आहार के दर्शन आदि से उत्पन्न मति।

(३) आहार सम्बन्धी चिन्तन।

(२) भय संज्ञा

भय की वृत्ति मोह कर्म के उदय से बनती है।

भय की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं :—

(१) हीन-सत्वता।

(२) भय के दर्शन आदि से उत्पन्न मति।

(३) भय सम्बन्धी चिन्तन।

(३) मैथुन संज्ञा

मैथुन की वृत्ति मोह-कर्म के उदय से बनती है—

मैथुन की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं—

(१) मांस और रक्त का उपचय।

(२) मैथुन-सम्बन्धी चर्चा के श्रवण आदि से उत्पन्न मति।

(३) मैथुन-सम्बन्धी चिन्तन।

(४) परिग्रह संज्ञा

परिग्रह की वृत्ति मोह-कर्म के उदय से बनती है।

परिग्रह की उत्तेजना के तीन कारण ये हैं :—

(१) अविमुक्तता।

(२) परिग्रह-सम्बन्धी चर्चा के श्रवण आदि से उत्पन्न मति।

(३) परिग्रह-सम्बन्धी चिन्तन।

इसी प्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ—ये सभी वृत्तियां मोह से बनती हैं। वीतराग-आत्मा में—ये वृत्तियां नहीं होतीं। ये आत्मा के सहज गुण नहीं किन्तु मोह के योग से होने वाले विकार हैं।

(५) ओघ संज्ञा

अनुकरण की प्रवृत्ति अथवा अव्यक्त चेतना या सामान्य-उपयोग, जैसे—लताएं वृक्ष पर चढ़ती हैं, यह वृक्षारोहण का ज्ञान 'ओघ-संज्ञा' है। लोक-संज्ञा—लौकिक कल्पनाएं अथवा व्यक्त चेतना या विशेष उपयोग [६३]।

आहार भय परिग्गह, मे हुण सुख दुःख मोह वितिगिच्छा।

कोह माण माय लोहे, सोगे लोगे य धम्मो हे॥—

(आचाराङ्ग निर्युक्ति ३९ गाथा १।१।१।१)

(१) आहार-संज्ञा	(६) मोह-संज्ञा	(११) लोभ-संज्ञा
(२) भय-संज्ञा	(७) विचिकित्सा-संज्ञा	(१२) शोक-संज्ञा
(३) परिग्रह-संज्ञा	(८) क्रोध-संज्ञा	(१३) लोक-संज्ञा
(४) मैथुन-संज्ञा	(९) मान-संज्ञा	(१४) धर्म-संज्ञा
(५) सुख-दुःख-संज्ञा	(१०) माया-संज्ञा	

ये संज्ञाएं एकेन्द्रिय जीवों से लेकर समनस्क पंचेन्द्रिय तक के सभी जीवों में होती हैं।

संवेदन दो प्रकार का होता है—इन्द्रिय-संवेदन और आवेग। इन्द्रिय

संवेदन दो प्रकार का होता है।

(१) सात-संवेदन.........सुखानुभूति

(२) असात-संवेदन......दुःखानुभूति[६४]

आवेग दो प्रकार का होता है :—

(१) कषाय (२) नो कषाय [६५]।

कषाय

आत्मा को रंगने वाली वृत्तियां—क्रोध, मान, माया, लोभ। ये तीव्र आवेग हैं। इनकी उत्पत्ति सहेतुक और निर्हेतुक दोनो प्रकार की होती है। जिस व्यक्ति ने प्रिय वस्तु का वियोग किया, करता है, करने वाला है, उसे देख क्रोध उभर आता है—यह सहेतुक क्रोध है [६६]। किसी बाहरी निमित्त के बिना केवल क्रोध-वेदनीय - पुद्गलो के प्रभाव से क्रोध उत्पन्न होता है, वह निर्हेतुक है [६७]।

नो कषाय

कषाय को उत्तेजित करने वाली वृत्तियां—हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, घृणा, स्त्री-वेद (स्त्री-सम्बन्धी अभिलाषा), पुरुष-वेद, नपुंसक वेद। कई आवेग 'संज्ञा' में वर्गीकृत हैं और कई उनसे भिन्न हैं। ये सामान्य आवेग हैं—इनमें से हास्य आदि की उत्पत्ति सकारण और अकारण दोनो प्रकार की होती है। एक समय में एक ज्ञान और एक संवेदन होता है। समय की सूक्ष्मता से भिन्न-भिन्न संवेदनो के क्रम का पता नहीं चलता किन्तु दो संवेदन दो भिन्न काल में होते हैं।

उपयोग के दो प्रकार

चेतना दो प्रकार की होती है—साकार और अनाकार [६८]। वस्तुमात्र को जानने वाली चेतना अनाकार और उसकी विविध परिणतियों को जानने वाली चेतना साकार होती है। चेतना के—ये दो रूप उसके स्वभाव की दृष्टि से नहीं किन्तु विषय-ग्रहण की दृष्टि से बनते हैं। हम पहले अभेद, स्थूल रूप या अवयवी को जानते हैं, फिर भेदों को, सूक्ष्म रूपों या अवयवों को जानते हैं। अभेदग्राही चेतना में आकार, विकल्प या विशेष नहीं होते, इसलिए वह अनाकार या दर्शन कहलाती है। भेदग्राही चेतना में आकार, विकल्प या

विशेष होते हैं, इसलिए उसका नाम साकार या ज्ञान होता है।

अव्यक्त और व्यक्त चेतना

अनावृत चेतना व्यक्त ही होती है। आवृत चेतना दोनों प्रकार की होती है—मन रहित इन्द्रिय ज्ञान अव्यक्त होता है और मानस ज्ञान व्यक्त। सुप्त—मूर्च्छित आदि दशाओं में मन का ज्ञान भी अव्यक्त होता है, चंचल-दशा में वह अर्ध-व्यक्त भी होता है।

अव्यक्त चेतना को अध्यवसाय, परिणाम आदि कहा जाता है। अर्ध-व्यक्त चेतना का नाम है—हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा[६९]। यह दो इन्द्रियों वाले जीवों से लेकर अगर्भज पञ्चेन्द्रिय जीवों में होती है। इसके द्वारा उनमें इष्ट-अनिष्ट की प्रवृत्ति-निवृत्ति होती है। व्यक्त मन के बिना भी इन प्राणियों में सम्मुख आना, वापिस लौटना, सिकुड़ना, फैलना, बोलना, करना और दौड़ना आदि-आदि प्रवृत्तियां होती हैं[७०]।

गर्भज पञ्चेन्द्रिय जीवों में दीर्घकालिकी संज्ञा या मन होता है। वे त्रैकालिक और आलोचनात्मक विचार कर सकते हैं। सत्य की श्रद्धा या सत्य का आग्रह रखने वालों में सम्यग्-दृष्टि संज्ञा होती है। मानसिक ज्ञान का यथार्थ और पूर्ण विकास इन्हीं को होता है।

मानसिक विकास

मानसिक विकास चार प्रकार से होता है :—

(१) प्रतिभा, सहज बुद्धि या औत्पत्तिकी बुद्धि से।

(२) आत्म-संयम का अनुशासन—गुरु शुश्रूषा से उत्पन्न बुद्धि—'वैनयिकी बुद्धि' से।

(३) कार्य करते-करते मन का कौशल बढ़ता है—इसे 'कार्मिकी बुद्धि' कहा जाता है; इस बुद्धि से।

(४) आयु बढ़ने के साथ ही मन की योग्यता बढ़ती है। वृद्धावस्था बीत जाने के बाद भी मानसिक उन्नति होती रहती है—इसका नाम है 'पारिणामिकी बुद्धि'; इस बुद्धि से।

मानसिक विकास सब समनस्क प्राणियों में समान नहीं होता अनन्तगुण तरतमभाव होता है। [illegible]

अनन्तगुणहीन और अनन्तगुण अधिक हो सकता है। इसका कारण उनकी आन्तरिक योग्यता, ज्ञानावरण के विलय का तारतम्य है।

बुद्धि का तरतमभाव

जिसमें शिक्षात्मक और क्रियात्मक अर्थ को ग्रहण करने की क्षमता होती है, वह 'समनस्क' होता है [७१]। बुद्धि समनस्कों में ही होती है। उसके सात प्रधान अङ्ग हैं :—

१—ग्रहण-शक्ति
२—विमर्श ”
३—निर्णय ”
४—धारणा[७२] ”
५—स्मृति ”
६—विश्लेषण ”
७—कल्पना[७३] ”

मन का शारीरिक ज्ञान-तन्तु के केन्द्रों के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। ज्ञान-तन्तु प्रौढ़ नहीं बनते, तब तक बौद्धिक विकास पूरा नहीं होता। जैसे—शक्ति-प्रयोग के लिए शारीरिक विकास अपेक्षित होता है, वैसे ही बौद्धिक विकास के लिए ज्ञान-तन्तुओं की प्रौढ़ता। वह सोलह वर्ष तक पूरा हो जाता है। बाद में साधारणतया बौद्धिक विकास नहीं होता, केवल जानकारी बढ़ती है।

बुद्धि-शक्ति सबकी समान नहीं होती। उसमें विचित्र न्यूनाधिक्य होता है। विचित्रता का कारण अपना-अपना आवरण-विलय होता है। सब विचित्रताएँ बतायी नहीं जा सकतीं। उनके वर्गीकृत रूप बारह हैं, जो प्रत्येक बुद्धि-शक्ति के साथ सम्बन्ध रखते हैं :—

(१) बहु	ग्रहण	(५) क्षिप्र	ग्रहण
(२) अल्प	”	(६) चिर	”
(३) बहुविध	”	(७) निश्रित	”
(४) अल्पविध	”	(८) अनिश्रित	”

(९) संदिग्ध " (११) ध्रुव "
(१०) असंदिग्ध " (१२) अध्रुव "

इसी प्रकार विमर्श, निर्णय आदि के भी ये रूप बनते हैं। अवस्था के साथ बुद्धि का सम्बन्ध नहीं है। वृद्ध, युवा और बालक—ये भेद अवस्थाकृत हैं, बुद्धिकृत नहीं। जैसा कि आचार्य जिनसेन ने लिखा है—

"वर्षीयांसो यवीयांस, इति भेदो वयस्कृतः।"
न बोधवृद्धिर्वार्धवये, न यून्यपचयोधियः[७४]।

तुलना—फ्रेंच मनोवैज्ञानिक आल्फ्रेड बीने की बुद्धि माप की प्रणाली के अनुसार सात वर्ष का बच्चा जो बीस से एक तक गिनने में असमर्थ है, छह वर्ष की उम्र के बच्चों के निमित्त बनाये गए प्रश्नों का सही उत्तर दे सकता है तो उसकी बौद्धिक उम्र छह वर्षों की मानी जाएगी। इसके प्रतिकूल सात वर्ष की उम्र वाला बच्चा ९ वर्ष के बच्चों के लिए बनाये गए प्रश्नों का उत्तर दे सके तो उसकी बौद्धिक उम्र अवश्य ही नौ वर्ष की आंकी जाएगी।

मानसिक योग्यता के तत्त्व

मानसिक योग्यता या क्रियात्मक मन के चार तत्त्व हैं :—

(१) बुद्धि (२) उत्साह-इच्छा-शक्ति या संकल्प (३) उद्योग (४) भावना।

(१) बुद्धि[७५] :—इन्द्रिय और अर्थ के सहारे होने वाला मानसिक ज्ञान।

(२) उत्साह :—लब्धि—वीर्यान्तराय—कार्यक्षमता की योग्यता में बाधा डालने वाले कर्म पुद्गल, के विलय से उत्पन्न सामर्थ्य—क्रिया-क्षमता।

(३) उद्योग :—करण-वीर्यान्तराय से उत्पन्न क्रियाशीलता।

(४) भावना :—पर-प्रभावित दशा।

बुद्धि का कार्य है विचार करना, सोचना, समझना, कल्पना करना, स्मृति, पहिचान, नये विचारों का उत्पादन, अनुमान करना आदि-आदि।

उत्साह का कार्य है—आवेग, स्फूर्ति या सामर्थ्य उत्पन्न करना।

उद्योग का कार्य है—सामर्थ्य का कार्यरूप में परिणमन।

भावना का कार्य है :—तन्मयता उत्पन्न करना।

चेतना की विभिन्न प्रवृत्तियाँ

चेतना का मूल स्रोत आत्मा है। उसकी सर्व मान्य दो प्रवृत्तियां हैं—इन्द्रिय और मन। इन्द्रिय ज्ञान वार्तमानिक और अनालोचनात्मक होता है। इसलिए उसकी प्रवृत्तियां बहुमुखी नहीं होतीं। मनस् का ज्ञान त्रैकालिक और आलोचनात्मक होता है। इसलिए उसकी अनेक अवस्थाएं बनती हैं :—

संकल्प :—बाह्य पदार्थों में ममकार।

विकल्प :—हर्ष-विषाद का परिणाम—मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी आदि।

निदान :—भौतिक सुख के लिए उत्कट अभिलाषा या प्रार्थना।

स्मृति :—दृष्ट श्रुत और अनुभूति आदि विषयों की याद।

जाति-स्मृति :—पूर्व जन्म की याद।

प्रत्यभिज्ञा :—पहिचान।

कल्पना :—तर्क, अनुमान, भावना, कषाय, स्वप्न।

श्रद्धान :—सम्यक् या मिथ्या मानसिक रुचि।

लेश्या :—शुभ या अशुभ मानसिक परिणाम।

ध्यान[७६] :— मानसिक एकाग्रता आदि-आदि।

इनमें स्मृति, जाति-स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान—ये विशुद्ध ज्ञान की दशाएं हैं। शेष दशाएं कर्म के उदय या विलय से उत्पन्न होती हैं। संकल्प, विकल्प, निदान, कषाय और स्वप्न—ये मोह-प्रभावित चेतना के चिन्तन हैं। भावना, श्रद्धान, लेश्या और ध्यान—ये मोह-प्रभावित चेतना में उत्पन्न होते हैं तब असत् और मोह-शून्य चेतना में उत्पन्न होते हैं तब सत् बन जाते हैं।

स्वप्न-विज्ञान

फ्रायड के अनुसार स्वप्न मन में की हुई इच्छाओं के परिणाम हैं। जैन-दृष्टि के अनुसार स्वप्न मोह-कर्म और पूर्व-संस्कार के उद्बोध के परिणाम हैं। ये यथार्थ और अयथार्थ दोनों प्रकार के होते हैं[७७]। समाधि और असमाधि—इन दोनों के निमित्त बनते हैं[७८]। किन्तु वे मोह प्रभावित चैतन्य-दशा में ही उत्पन्न होते हैं अन्यथा नहीं[७९]।

स्वप्न-ज्ञान का विषय पहले दृष्ट, श्रुत, अनुभूत वस्तु ही होती है।

स्वप्न अर्ध-निद्रित दशा में आता है[८०]। यह नींद का परिणाम नहीं किन्तु इसे नींद के साहचर्य की आवश्यकता होती है। जाग्रत दशा में जैसे वस्तु—अनुसारी ज्ञान और कल्पना दोनों होते हैं, वैसे ही स्वप्न-दशा में भी अतीत की स्मृति, भविष्य की सत्-कल्पना और असत्-कल्पना ये सब होते हैं। स्वप्न-विज्ञान मानसिक ही होता है।

भावना
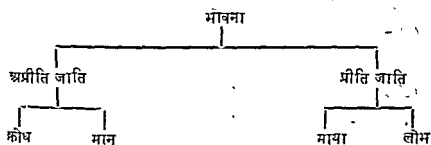
भावना की दो जातियां हैं—(१) अप्रीति (२) प्रीति।

अप्रीति के दो भेद हैं—क्रोध, मान।

प्रीति के दो भेद हैं—माया, लोभ।

अप्रीति जाति की सामान्य दृष्टि से क्रोध और मान द्वेष है। प्रीति जाति की सामान्य दृष्टि से माया और लोभ राग है।

व्यवहार की दृष्टि से क्रोध और मान द्वेष है। दूसरे को हानि पहुंचाने के लिए माया का प्रयोग होता है, वह भी द्वेष है। लोभ मूर्च्छात्मक है, इसलिए वह राग है

ऋजुसूत्र की दृष्टि से क्रोध अप्रीतिरूप है, इसलिए द्वेष है। मान, माया और लोभ कदाचित् राग और कदाचित् द्वेष होते हैं। मान अहंकारोपयोगात्मक होता है, अपने बहुमान की भावना होती है, तब वह प्रीति की कोटि में जाकर राग बन जाता है और पर गुण-द्वेषोपयोगात्मक होता है, तब अप्रीति की कोटि में आ वही द्वेष बन जाता है। दूसरे को हानि पहुंचाने के लिए माया और लोभ प्रयुक्त होते हैं, तब वे अप्रीति रूप बन द्वेष की कोटि में चले जाते हैं। अपने धन, शरीर आदि की सुरक्षा या पोषण के लिए प्रयुक्त होते हैं, तब वे मूर्च्छात्मक होने के कारण राग बन जाते हैं।

शाब्दिक दृष्टि से दो ही वृत्तियां हैं[८१] (१) लोभ या राग, (२) क्रोध या द्वेष।

मान और माया जब स्वहित-उपयोगात्मक होते हैं, तब मूर्च्छात्मक होने से लोभ और लोभ होने से राग बन जाते हैं। वे परोपघात-उपयोगात्मक होते हैं, तब घृणात्मक होने से क्रोध और क्रोध होने से द्वेष बन जाते हैं[८२]।

यह वैभाविक या मोह-प्रभावित भावना का रूप है। मोहशून्य या स्वाभाविक भावना के सोलह प्रकार हैं—

(१) अनित्य-चिन्तन	(९) निर्जरा-चिन्तन
(२) अशरण-चिन्तन	(१०) धर्म-चिन्तन
(३) भव-चिन्तन	(११) लोक-व्यवस्था चिन्तन
(४) एकत्व-चिन्तन	(१२) बोधि-दुर्लभता-चिन्तन
(५) अन्यत्व-चिन्तन	(१३) मैत्री-चिन्तन
(६) अशौच चिन्तन	(१४) प्रमोद-चिन्तन
(७) आस्रव-चिन्तन	(१५) कारुण्य-चिन्तन
(८) संवर-चिन्तन	(१६) माध्यस्थ्य-चिन्तन[८३]

श्रद्धान

श्रद्धा को विकृत करने वाले कर्म-पुद्गल चेतना को प्रभावित करते हैं, तब तात्त्विक धारणाएं मिथ्या बन जाती हैं। असत्य का आग्रह[८४] या आग्रह के बिना भी असत्य की धारणाएं जो बनती हैं[८५], वे सहज ही नहीं होतीं। केवल वातावरण से ही वे नहीं बनतीं। उनका मूल कारण श्रद्धा मोहक पुद्गल हैं। जिसकी चेतना इन पुद्गलों से प्रभावित नहीं होती, उनमें असत्य का आग्रह नहीं होता। यह स्थिति नैसर्गिक और शिक्षा-लभ्य दोनों प्रकार की होती है।

लेश्या

हमारे कार्य विचारों के अनुरूप और विचार चारित्र को विकृत बनाने वाले पुद्गलों के प्रभाव और अप्रभाव के अनुरूप बनते हैं। कर्म-पुद्गल हमारे कार्यों और विचारों को भीतर से प्रभावित करते हैं, तब बाहरी पुद्गल उनके सहयोगी बनते हैं। ये विविध रंग वाले होते हैं। कृष्ण, नील और कापोत—इन

तीन रंगों वाले पुद्गल विचारों की अशुद्धि के निमित्त बनते हैं। तेजस्, पद्म और श्वेत—ये तीन पुद्गल विचारों की शुद्धि में सहयोग देते हैं। पहले वर्ग के रंग विचारों की अशुद्धि के कारण बनते हैं, यह प्रधान बात नहीं है किन्तु चारित्र मोह-प्रभावित विचारों के सहयोगी जो बनते हैं, वे कृष्ण, नील और कापोत रंग के पुद्गल ही होते हैं—प्रधान बात यह है। यही बात दूसरे वर्ग के रंगों के लिए है।

ध्यान

मन या वृत्तियों के केन्द्रीकरण की भी दो स्थितियाँ होती हैं :—

(१) विभावोन्मुख (२) स्वभावोन्मुख

(क) प्रिय वस्तु का वियोग होने पर फिर उसके संयोग के लिए

(ख) अप्रिय वस्तु का संयोग होने पर उसके वियोग के लिए—जो एकाग्रता होती है, वह व्यक्ति को आर्त्त—दुःखी बनाती है।

(ग) विषय—वासना की सामग्री के संरक्षण के लिए—

(घ) हिंसा के लिए—

(ङ) असत्य के लिए—

(च) चौर्य के लिए—

—होने वाली एकाग्रता व्यक्ति को क्रूर बनाती है—इसलिए मन का यह केन्द्रीकरण विभावोन्मुख है।

(क) सत्यासत्य विवेक के लिए :—

(ख) दोष-मुक्ति के लिए :—

(ग) कर्म-मुक्ति के लिए :—

—होने वाली एकाग्रता व्यक्ति को आत्म निष्ठ बनाती है—इसलिए वह स्वभावोन्मुख है।

तीसरा खण्ड

तत्त्व मीमांसा

आठ

आत्मा क्यों ?

अक्रियावादी कहते हैं जो पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं, उसे कैसे माना जाए ? आत्मा, इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं, फिर उसे क्यों माना जाए ? क्रियावादी कहते हैं—पदार्थों को जानने का साधन केवल इन्द्रिय और मन का प्रत्यक्ष ही नहीं, इनके अतिरिक्त अनुभव-प्रत्यक्ष, योगी-प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम भी हैं। इन्द्रिय और मन से क्या-क्या जाना जाता है ? इनकी शक्ति अत्यन्त सीमित है। इनसे अपने दो चार पीढ़ी के पूर्वज भी नही जाने जाते तो क्या उनका अस्तित्व भी न माना जाए ? इन्द्रियां सिर्फ स्पर्श, रस, गन्ध, रूपात्मक मूर्त द्रव्य को जानती हैं। मन इन्द्रियों का अनुगामी है। वह उन्हीं के द्वारा जाने हुए पदार्थों के विशेष रूपों को जानता है—चिन्तन करता है। वह अमूर्त वस्तुओं को भी जानता है, किन्तु आगम-निरपेक्ष होकर नहीं। इसलिए विश्ववर्ती सब पदार्थों को जानने के लिए इन्द्रिय और मन पर ही निर्भर हो जाना नितान्त अनुचित है। आत्मा शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं है [१]। वह अरूपी सत्ता है [२]।

अरूपी तत्त्व इन्द्रियों से नही जाने जा सकते। आत्मा अमूर्त है, इसलिए इन्द्रिय के द्वारा न जाना जाए, इससे उसके अस्तित्व पर कोई आंच नहीं आती। इन्द्रिय द्वारा अरूपी आकाश को कौन कब जान सकता है ? अरूपी की बात छोड़िए, अणु या आणविक सूक्ष्म पदार्थ जो रूपी हैं, वे भी इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते। अतः इन्द्रिय-प्रत्यक्ष को सर्वेसर्वा मानने से कोई तथ्य नहीं निकलता। समूचे का सार इतना-सा है—अनात्मवाद के अनुसार आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं, इसलिए वह नहीं। अध्यात्मवाद ने इसका समाधान देते हुए कहा—आत्मा इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष नहीं—इसलिए वह नहीं, यह मानना तर्क-बाधित है। क्योंकि वह अमूर्तिक है, इसलिए इन्द्रिय और मन के प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकती।

आत्मवादी पूर्व-प्रश्न का उत्तर देकर ही चुप न रहे। उन्होंने आत्म-सिद्धि के प्रबल प्रमाण भी उपस्थित किए। उनमें से कुछ एक निम्न प्रकार हैं :—

स्व संवेदन :—

(१) अपने अनुभव से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। मैं हूं, मैं सुखी

हूँ, मैं दुःखी हूँ—यह अनुभव शरीर को नहीं होता। शरीर से भिन्न जो वस्तु है, उसे यह होता है। शंकराचार्य के शब्दों में—"सर्वो ह्यात्माऽस्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति"—सबको यह विश्वास होता है कि 'मैं हूँ'। यह विश्वास किसीको नहीं होता कि 'मैं नहीं हूँ' [3]।

(२) प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व उसके विशेष गुण के द्वारा प्रमाणित होता है। जिस पदार्थ में एक ऐसा त्रिकालवर्ती गुण मिले, जो किसी भी दूसरे पदार्थ में न मिले, वही स्वतन्त्र पदार्थ हो सकता है। आत्मा में 'चैतन्य' नामक एक विशेष गुण है। वह दूसरे किसी भी पदार्थ में नहीं मिलता। इसीलिए आत्मा दूसरे सभी पदार्थों से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता है।

(३) प्रत्यक्ष गुण से अप्रत्यक्ष गुणी जाना जा सकता है। भूगृह में बैठा आदमी प्रकाश-रेखा को देखकर क्या सूर्योदय को नहीं जान लेता?

(४) प्रत्येक इन्द्रिय को अपने अपने निश्चित विषय का ज्ञान होता है। एक इन्द्रिय का दूसरी इन्द्रिय के विषय से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इन्द्रियां ही ज्ञाता हो—उनका प्रवर्तक आत्मा ज्ञाता न हो तो सब इन्द्रियों के विषयों का जोड़ रूप ज्ञान नहीं हो सकता। फिर—"मैं स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द को जानता हूँ"—इस प्रकार जोड़रूप (संकलनात्मक) ज्ञान किसे होगा? ककड़ी को चबाते समय स्पर्श, रस, गन्ध रूप और शब्द—इन पांचों को जान रहा हूँ—ऐसा ज्ञान होता है। इसीलिए इन्द्रियों के विषयों का संकलनात्मक ज्ञान करने वाले को उनसे भिन्न मानना होगा और वही आत्मा है।

(५) पदार्थों को जानने वाला आत्मा है, इन्द्रियां नहीं, वे सिर्फ साधन मात्र हैं। आत्मा के चले जाने पर इन्द्रियां कुछ भी नहीं जान पातीं। इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी उनके द्वारा जाने हुए विषयों का आत्मा को स्मरण रहता है। आँख से कोई चीज देखी, कान से कोई बात सुनी, संयोगवश आँख फूट गई, कान का पर्दा फट गया, फिर भी उस दृष्ट और श्रुत विषय का भली भांति ज्ञान होता है। इससे यह मानना होगा कि इन्द्रियों के नष्ट होने पर भी उनके ज्ञान को स्थिर रखने वाला कोई तत्त्व है और वही आत्मा है।

(६) जड़ और चेतन में अत्यन्ताभाव है—अतः त्रिकाल में भी न तो जड़ कभी चेतन बन सकता है और न जड़ से चेतन उपज सकता है।

(७) जिस वस्तु का जैसा उपादान कारण होता है। वह उसी रूप में परिणत होता है। जड़-उपादान कभी चेतन के रूप में परिणत नहीं हो सकता।

(८) जिस वस्तु का विरोधी तत्त्व न मिले, उसका अस्तित्व सिद्ध नही होता। यदि चेतन नामक कोई सत्ता नहीं होती तो 'न चेतन-अचेतन'—इस अचेतन सत्ता का नामकरण और बोध नहीं होता।

(९) आत्मा नहीं है—इसका 'यह इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं, इसके सिवाय कोई प्रमाण नही मिलता। आत्मा 'इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं,' इसका समाधान पहले किया जा चुका है।

ज्ञेय वस्तु, इन्द्रिय और आत्मा—ये तीनों भिन्न हैं। आत्मा ग्राहक [ज्ञाता] है। इन्द्रियां ग्रहण के साधन हैं और वस्तु समूह ग्राह्य (ज्ञेय) है। लोहार संडासी से लोह-पिंड को पकड़ता है—वहाँ लोह-पिंड (ग्राह्य), संडासी [ग्रहण का साधन] और लोहाकार [ग्राहक] ये तीनो पृथक्-पृथक् हैं। लोहार न हो तो संडासी लोह-पिंड को नहीं पकड़ सकती। आत्मा के चले जाने पर इन्द्रियां अपने विषय का ग्रहण नही कर सकतीं [४]।

जो यह सोचता है कि शरीर में 'मैं' नहीं हूँ, वही जीव है। चेतना के बिना यह संशय किसे हो। 'यह है या नही' ऐसी ईहा या विकल्प जीव का ही लक्षण है। सामने जो लम्बा-चौड़ा पदार्थ दीख रहा है, "वह खम्भा है या आदमी" यह प्रश्न सचेतन व्यक्ति के ही मन में उठ सकता है [५]।

संसार में जितने पदार्थ हैं, वे सब एक रूप नही होते। कोई इन्द्रिय-ग्राह्य होता है, कोई नहीं भी। जीव अनिन्द्रिय गुण है। इसलिए चर्म चक्षु से वह नही दीखता [६]। किन्तु इसका अर्थ यह नही कि वह नहीं है।

जीव न हो तो उसका निषेध कैसे बने? असत् का कभी निषेध नहीं होता। जिसका निषेध होता है, वह अवश्य होता है। निषेध के चार प्रकार हैं :—

(१) संयोग (३) सामान्य
(२) समवाय (४) विशेष

"मोहन घर में नहीं है"—यह संयोग प्रतिषेध है। इसका अर्थ यह नहीं कि मोहन है ही नहीं किन्तु—"वह घर में नहीं है"—इस 'गृह-संयोग' का प्रतिषेध है।

"खरगोश के सींग नहीं होते"—यह समवाय-प्रतिषेध है। खरगोश भी होता है और सींग भी, इनका प्रतिषेध नहीं है। यहाँ केवल 'खरगोश के सींग'—इस समवाय का प्रतिषेध है।

'दूसरा चांद नही है'—इसमें चन्द्र के सर्वथा अभाव का प्रतिपादन नहीं, किन्तु उसके सामान्य-मात्र का निषेध है।

'मोती घड़े जितने बड़े नहीं हैं'—इसमें मुक्ता का अभाव नहीं किन्तु 'उस घड़े जितने बड़े'—यह जो विशेषण है, उसका प्रतिषेध है।

'आत्मा नहीं है' इसमें आत्मा का निषेध नहीं होता। उसका किसीके साथ होने वाले संयोगमात्र का निषेध होता है [७]।

आत्मा क्या है?

आत्मा चेतनामय अरूपी सत्ता है [८]। उपयोग (चेतना की क्रिया) उसका लक्षण है [९]। ज्ञान-दर्शन, सुख-दुःख आदि द्वारा वह व्यक्त होता है [१०]। वह विज्ञाता है। वह शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श नही है [११]। वह लम्बा नहीं है, छोटा नहीं है, टेढ़ा नहीं है, गोल नहीं है, चौकोना नहीं है, मंडलाकार नहीं है। वह हल्का नहीं है, भारी नहीं है, स्त्री और पुरुष नहीं है [१२]। वह ज्ञानमय असंख्य प्रदेशों का पिण्ड है। कल्पना से उसका माप किया जाए तो वह असंख्य परमाणु जितना है। इसलिए वह ज्ञानमय असंख्य प्रदेशों का पिण्ड कहलाता है। वह अरूप है, इसलिए देखा नहीं जाता। उसका चेतना गुण हमें मिलता है। गुण से गुणी का ग्रहण होता है। इससे उसका अस्तित्व हम जान जाते हैं। वह एकान्ततः वाणी द्वारा प्रतिपाद्य[१३] और तर्क द्वारा गम्य नहीं है [१४]। ऐसी आत्माएं अनन्त हैं। साधारणतया ये दो भागों में विभक्त हैं—बद्ध आत्मा और मुक्त आत्मा। कर्म-बन्धन टूटने से जिनका आत्मीय स्वरूप प्रकट हो जाता है, वे मुक्त आत्माएं होती हैं। वे भी अनन्त हैं। उनके शरीर एवं शरीर जन्य क्रिया और जन्म-मृत्यु आदि

कुछ भी नहीं होते। वे आत्म-रूप हो जाते हैं। अतएव उन्हें सत्-चित्-आनन्द कहा जाता है। उनका निवास ऊंचे लोक के चरम भाग में होता है। वे मुक्त होते ही वहाँ पहुँच जाते हैं। आत्मा का स्वभाव ऊपर जाने का है। बन्धन के कारण ही वह तिरछा या नीचे जाता है। ऊपर जाने के बाद वह फिर कभी नीचे नहीं आता। वहाँ से अलोक में भी नहीं जा सकता। वहाँ गति-तत्त्व (धर्मास्तिकाय) का अभाव है। दूसरी श्रेणी की जो संसारी आत्माएँ हैं, वे कर्म-बद्ध होने के कारण अनेक योनियों में परिभ्रमण करती हैं, कर्म करती हैं और उनका फल भोगती हैं। ये मुक्त आत्माओं से अनन्तानन्त गुनी होती हैं। संसारी आत्माएँ शरीर से बन्धी हुई हैं। उनका स्वतन्त्र परिणाम नहीं है।

उनमें संकोच और विस्तार की शक्ति होती है। जो आत्मा हाथी के शरीर में रहती है, वह कुंथु के शरीर में भी रह सकती है। अतएव वे 'स्वदेह परिमाण, हैं। मुक्त आत्माओ का परिमाण (स्थान-अवगाहन) भी पूर्व-शरीर के अनुपात से होता है। जिस शरीर से आत्माएं मुक्त होती हैं, उसके⅓ भाग जो पोला है उसके सिवाय⅔ भाग में वे रहती हैं—अन्तिम मनुष्य-शरीर की ऊँचाई में से एक तृतीयांश छोड़कर दो तृतीयांश जितने क्षेत्र में उनका अवगाहन होता है। मुक्त आत्माओं का अस्तित्व पृथक्-पृथक् होता है तथापि उनके स्वरूप में पूर्ण समता होती है। संसारी जीवों में भी स्वरूप की दृष्टि से ऐक्य होता है किन्तु वह कर्म से दबा रहता है और कर्मकृत भिन्नता से वे विविध वर्गों में बंट जाते हैं, जैसे पृथ्वीकायिक जीव, अप्कायिक जीव, तेजस्कायिक जीव, वायुकायिक जीव, वनस्पतिकायिक जीव, त्रसकायिक जीव। जीवो के ये छह निकाय, शारीरिक परमाणुओ की भिन्नता के अनुसार रचे गए हैं। सब जीवों के शरीर एक से नहीं होते। किन्हीं जीवो का शरीर पृथ्वी होता है तो किन्ही का पानी। इस प्रकार पृथक्-पृथक् परमाणुओं के शरीर बनते हैं। इनमें पहले पांच निकाय 'स्थावर' कहलाते हैं। त्रस जीव इधर-उधर घूमते हैं, शब्द करते हैं, चलते-फिरते हैं, संकुचित होते हैं, फैल जाते हैं, इसलिए उनकी चेतना में कोई सन्देह नहीं होता। स्थावर जीवों में ये बातें नहीं होती अतः उनकी चेतनता के विषय में सन्देह होना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

जन दृष्टि से आत्मा का स्वरूप

(१) जीव स्वरूपतः अनादि अनन्त और नित्यानित्य :—

जीव अनादि-निधन (न आदि और न अन्त) है। अविनाशी और अक्षय है। द्रव्य-नय की अपेक्षा से उसका स्वरूप नष्ट नहीं होता, इसलिए नित्य और पर्याय नय की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न वस्तुओं में वह परिणत होता रहता है, इसलिए अनित्य है।

(२) संसारी जीव और शरीर का अभेद :—

जैसे पिंजड़े से पक्षी, घड़े से बेर और गंजी से आदमी भिन्न नहीं होता, वैसे ही संसारी जीव शरीर से भिन्न नहीं होता।

जैसे दूध और पानी, तिल और तेल, कुसुम और गन्ध—ये एक लगते हैं, वैसे ही संसार-दशा में जीव और शरीर एक लगते हैं।

(३) जीव का परिमाण :—

जीव का शरीर के अनुसार संकोच और विस्तार होता है। जो जीव हाथी के शरीर में होता है, वह कुन्थु के शरीर में भी उत्पन्न हो जाता है। संकोच और विस्तार—दोनों दशाओं में प्रदेश-संख्या, अवयव-संख्या समान रहती है।

(४) आत्मा और काल की तुलना—अनादि-अनन्त की दृष्टि से :—

जैसे काल अनादि और अविनाशी है, वैसे ही जीव भी तीनों कालों में अनादि और अविनाशी है।

(५) आत्मा और आकाश की तुलना—अमूर्त की दृष्टि से :—

जैसे आकाश अमूर्त है, फिर भी वह अवगाह-गुण से जाना जाता है, वैसे ही जीव अमूर्त है और वह विज्ञान-गुण से जाना जाता है।

(६) जीव और ज्ञान आदि का आधार-आधेय सम्बन्ध :—

जैसे पृथ्वी सब द्रव्यों का आधार है, वैसे ही जीव ज्ञान आदि गुणों का आधार है।

(७) जीव और आकाश की तुलना—नित्य की दृष्टि से :—

जैसे आकाश तीनों कालों में अक्षय, अनन्त और अतुल होता है, वैसे ही जीव भी तीनों कालों में अविनाशी-अवस्थित होता है।

(८) जीव और सोने की तुलना—नित्य-अनित्य की दृष्टि से :—

जैसे सोने के मुकुट, कुण्डल आदि अनेक रूप बनते हैं तब भी वह सोना ही रहता है, केवल नाम और रूप में अन्तर पड़ता है। ठीक उसी प्रकार चारों गतियों में भ्रमण करते हुए जीव की पर्याएं बदलती हैं—रूप और नाम बदलते हैं—जीव द्रव्य बना का बना रहता है।

(९) जीव की कर्मकार से तुलना—कर्तृत्व और भोक्तृत्व की दृष्टि से :—

जैसे कर्मकार कार्य करता है और उसका फल भोगता है, वैसे ही जीव स्वयं कर्म करता है और उसका फल भोगता है।

(१०) जीव और सूर्य की—भवानुयायित्व की दृष्टि से तुलना :—

जैसे दिन में सूर्य यहाँ प्रकाश करता है, तब दीखता है और रात को दूसरे क्षेत्र में चला जाता है—प्रकाश करता है, तब दीखता नहीं वैसे ही वर्तमान शरीर में रहता हुआ जीव उसे प्रकाशित करता है और उसे छोड़कर दूसरे शरीर में जा उसे प्रकाशित करने लग जाता है।

(११) जीव का ज्ञान-गुण से ग्रहण :—

जैसे कमल, चन्दन आदि की सुगन्ध का रूप नहीं दीखता, फिर भी वह घ्राण के द्वारा ग्रहण होती है। वैसे ही जीव के नहीं दीखने पर भी उसका ज्ञान-गुण के द्वारा ग्रहण होता है।

भंभा, मृदङ्ग आदि के शब्द सुने जाते हैं, किन्तु उनका रूप नहीं दीखता, वैसे ही जीव नहीं दीखता तब भी उसका ज्ञान-गुण के द्वारा ग्रहण होता है।

(१२) जीव का चेष्टा-विशेष द्वारा ग्रहण :—

जैसे किसी व्यक्ति के शरीर में पिशाच घुस जाता है, तब यद्यपि वह नहीं दीखता फिर भी आकार और चेष्टाओं द्वारा जान लिया जाता है कि यह पुरुष पिशाच से अभिभूत है, वैसे ही शरीर के अन्दर रहा हुआ जीव हास्य, नाच, सुख-दुःख, बोलना चलना आदि-आदि विविध चेष्टाओं द्वारा जाना जाता है।

(१३) जीव के कर्म का परिणमन :—

जैसे खाया हुआ भोजन अपने-आप सात धातु के रूप में परिणत होता है,

वैसे ही जीव द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-योग्य पुद्गल अपने आप कर्म रूप में परिणत हो जाते हैं।

(१४) जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध और उसका उपाय द्वारा विसम्बन्ध :—

जैसे सोने और मिट्टी का संयोग अनादि है, वैसे ही जीव और कर्म का संयोग (साहचर्य) भी अनादि है। जैसे अग्नि आदि के द्वारा सोना मिट्टी से पृथक् होता है, वैसे ही जीव भी संवर-तपस्या आदि उपायों के द्वारा कर्म से पृथक् हो जाता है।

(१५) जीव और कर्म के सम्बन्ध में पौर्वापर्य नहीं :—

जैसे मुर्गी और अण्डे में पौर्वापर्य नहीं, वैसे ही जीव और कर्म में भी पौर्वापर्य नहीं है। दोनों अनादि सहगत हैं।

भारतीय दर्शन में आत्मा का स्वरूप

जैन दर्शन के अनुसार आत्मा चैतन्य स्वरूप, परिणामी स्वरूप को अक्षुण्ण रखता हुआ विभिन्न अवस्थाओं में परिणत होने वाला (कूटस्थनित्य नहीं हैं), कर्त्ता और भोक्ता स्वयं अपनी सत्-असत् प्रवृत्तियों से शुभ-अशुभ कर्मों का संचय करने वाला और उनका फल भोगने वाला, स्वदेह-परिमाण, न अणु, न विभु (सर्वव्यापक) किन्तु मध्यम परिमाण का है।

बौद्ध अपने को अनात्मवादी कहते हैं। वे आत्मा के अस्तित्व को वस्तु सत्य नहीं, काल्पनिक-संज्ञा (नाम) मात्र कहते हैं। क्षण-क्षण नष्ट और उत्पन्न होने वाले विज्ञान (चेतना) और रूप (भौतिक तत्त्व, काया) के संघात संसार-यात्रा के लिए काफी हैं। इनसे परे कोई नित्य आत्मा नहीं हैं। बौद्ध अनात्मवादी होते हुए भी कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष को स्वीकार करते हैं। आत्मा के विषय में प्रश्न पूछे जाने पर बौद्ध मौन रहे हैं [१५]। इसका कारण पूछने पर बुद्ध कहते हैं कि—"यदि मैं कहूँ आत्मा है तो लोग शाश्वतवादी बन जाते हैं, यदि यह कहूँ कि आत्मा नहीं है तो लोग उच्छेदवादी हो जाते हैं। इसलिए उन दोनों का निराकरण करने के लिए मैं मौन रहता हूँ," एक जगह नागार्जुन लिखते हैं—"बुद्ध ने यह भी कहा कि आत्मा है

और आत्मा नहीं है यह भी कहा है[१६]। तथा बुद्ध ने आत्मा और अनात्मा किसी का भी उपदेश नहीं किया।"

बुद्ध ने आत्मा क्या है? कहाँ से आया है? और कहाँ जाएगा?—इन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर दुःख और दुःख-निरोध—इन दो तत्त्वों का ही मुख्यतया उपदेश किया। बुद्ध ने कहा, "तीर से आहत पुरुष के घाव को ठीक करने की बात सोचनी चाहिए। तीर कहाँ से आया, किसने मारा आदि-आदि प्रश्न करना व्यर्थ है।"

बुद्ध का यह 'मध्यम मार्ग' का दृष्टिकोण है। कुछ बौद्ध मन को भौतिक तत्त्वों से अलग स्वीकार करते हैं।

नैयायिकों के अनुसार आत्मा नित्य और विभु है। इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख, ज्ञान—ये उसके लिङ्ग हैं। इनसे हम उसका अस्तित्व जानते हैं।

सांख्य आत्मा को नित्य और निष्क्रिय मानते हैं, जैसे—

"अमूर्त श्चेतनो भोगी, नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्त्ता निर्गुणः सूक्ष्मः, आत्मा कपिलदर्शने"—॥

सांख्य जीव को कर्त्ता नहीं मानते, फल भोक्ता मानते हैं। उनके मतानुसार कर्तृ-शक्ति प्रकृति है।

वेदान्ती अन्तःकरण से परिवेष्टित चैतन्य को जीव बतलाते हैं। उसके अनुसार—"एक एव हि भूतात्मा, भूते-भूते व्यवस्थितः"—स्वभावतः जीव एक है, परन्तु देहादि-उपाधियों के कारण नाना प्रतीत होता है।

परन्तु रामानुज-मत में जीव अनन्त हैं, वे एक दूसरे से सर्वथा पृथक् हैं।

वैशेषिक सुख-दुःख आदि की समानता की दृष्टि से आत्मैक्यवादी[१७] और व्यवस्था की दृष्टि से आत्मा नैक्यवादी है[१८]।

उपनिषद् और गीता के अनुसार आत्मा शरीर से विलक्षण[१९] मन से[२०] भिन्न विभु-व्यापक[२१] और अपरिणामी है[२२]। वह वाणी द्वारा अगम्य है[२३]। उसका विस्तृत स्वरूप नेति-नेति के द्वारा बताया है[२४]।—"वह न स्थूल है, न अणु है, न क्षुद्र है, न विशाल है, न अरुण है, न द्रव है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न संघ है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है,

न कर्ण है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है—उसमें न अन्तर है, न वाहर है [२५]।"

संक्षेप में :—

बौद्ध—आत्मा स्थायी नहीं चेतना का प्रवाहमात्र है।

न्याय—वैशेषिक—आत्मा स्थायी किन्तु चेतना उसका स्थायी स्वरूप नहीं। गहरी नींद में वह चेतना-विहीन हो जाती है। वैशेषिक—मोक्ष में उसकी चेतना नष्ट हो जाती है। सांख्य—आत्मा स्थायी, अनादि, अनन्त, अविकारी, नित्य और चित्स्वरूप है। बुद्धि अचेतन है—प्रकृति का विवर्त्त है।

मीमांसक—आत्मा में अवस्था-भेद कृत भेद होता है, फिर भी वह नित्य है।

जैन—आत्मा परिवर्तन युक्त, स्थायी और चित्स्वरूप है। बुद्धि भी चेतन है। गहरी नींद या मूर्च्छा में चेतना होती है, उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती, सूक्ष्म अभिव्यक्ति होती भी है। मोक्ष में चेतना का सहज उपयोग होता है। चेतना की आवृत दशा में उसे प्रवृत्त करना पड़ता है—अनावृत-दशा में वह सतत प्रवृत्त रहती है।

औपनिषदिक आत्मा के विविध रूप और जैन दृष्टि से तुलना

औपनिषदिक सृष्टि-क्रम में आत्मा का स्थान पहला है। 'आत्मा' शब्द वाच्य ब्रह्म से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी, पानी से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियां, औषधियों से अन्न और अन्न से पुरुष उत्पन्न हुआ। वह यह पुरुष अन्न रसमय ही है—अन्न और रस का विकार है [२६]। इस अन्न रसमय पुरुष की तुलना औदारिक शरीर से होती है। इसके शिर आदि अंगोपांग माने गए हैं। प्राणमय आत्मा (शरीर) अन्नमय कोष की भांति पुरुषाकार है। किन्तु उसकी भांति अंगोपांग वाला नहीं है [२७]। पहले कोश की पुरुषाकारता के अनुसार ही उत्तरवर्ती कोश पुरुषाकार है। पहला कोश उत्तरवर्ती कोश से पूर्ण, व्याप्त या भरा हुआ है [२८]। इस प्राणमय शरीर की तुलना स्वासोच्छ्वास-पर्याप्ति से की जा सकती है।

प्राणमय आत्मा जैसे अन्नमय कोश के भीतर रहता है, वैसे ही मनोमय आत्मा प्राणमय कोश के भीतर रहता है [२९]।

इस मनोमय शरीर की तुलना मनःपर्याप्ति से हो सकती है। मनोमय कोश के भीतर विज्ञानमय कोश है [३०]।

निश्चयात्मिका बुद्धि जो है, वही विज्ञान है। वह अन्तःकरण का अध्यवसाय रूप धर्म है। इस निश्चयात्मिका बुद्धि से उत्पन्न होने वाला आत्मा विज्ञानमय है। इसकी तुलना भाव-मन, चेतन-मन से होती है। विज्ञानमय आत्मा के भीतर आनन्दमय आत्मा रहता है [३१]। इसकी तुलना आत्मा की सुखानुभूति की दशा से हो सकती है।

सजीव और निर्जीव पदार्थ का पृथक्करण

प्राणी और अप्राणी में क्या भेद है, यह प्रश्न कितनी बार हृदय को आन्दोलित नही करता। प्राण प्रत्यक्ष नही हैं। उनकी जानकारी के लिए किसी एक लक्षण की आवश्यकता होती है। वह लक्षण पर्याप्ति है। पर्याप्ति के द्वारा प्राणी विसदृश द्रव्यों (पुद्गलों) का ग्रहण, स्वरूप में परिणमन और विसर्जन करता है।

जीव[३२]	अजीव[३३]
(१) प्रजनन शक्ति (संतति-उत्पादन)	प्रजनन शक्ति नही।
(२) वृद्धि	वृद्धि नही [३४]।
(३) आहार-ग्रहण[३५] स्वरूप में परिणमन विसर्जन·········	नही
(४) जागरण, नींद, परिश्रम विश्राम	नही
(५) आत्मरक्षा के लिए प्रयत्न	नहीं
(६) भय-त्रास[३६]	नही

भाषा अजीव में नहीं होती किन्तु सब जीवों में भी नहीं होती—त्रस जीवों में होती है, स्थावर जीवों में नहीं होती—इसलिए यह जीव का व्यापक लक्षण नहीं बनता।

गति जीव और अजीव दोनों में होती है किन्तु इच्छापूर्वक या सहेतुक गति-आगति तथा गति-आगति का विज्ञान केवल जीवों में होता है, अजीव पदार्थ में नहीं।

अजीव के चार प्रकार—धर्म, अधर्म, आकाश, और काल गतिशील नहीं हैं, केवल पुद्गल गतिशील हैं। उसके दोनों रूप परमाणु और स्कन्ध परमाणु-समुदय गतिशील हैं [३७]। इनमें नैसर्गिक और प्रायोगिक—दोनों प्रकार की गति होती है। स्थूल स्कन्ध-प्रयोग के बिना गति नहीं करते। सूक्ष्म स्कन्ध-स्थूल-प्रयत्न के बिना भी गति करते हैं। इसलिए उनमें इच्छापूर्वक गति और चैतन्य का भ्रम हो जाता है। सूक्ष्म-वायु के द्वारा स्पृष्ट पुद्गल-स्कन्धों में कम्पन, प्रकम्पन चलन, क्षोभ, स्पन्दन, घटना, उदीरणा और विचित्र आकृतियों का परिणमन देखकर विभंग-अज्ञानी (पारद्रष्टा मिथ्यादृष्टि) को "ये सब जीव हैं"—ऐसा भ्रम हो जाता है [३८]।

अजीव में जीव या अणु में कीटाणु का भ्रम होने का कारण उनका गति और आकृति सम्बन्धी साम्य है।

जीवत्व की अभिव्यक्ति के साधन उत्थान, चल वीर्य हैं [३९]। ये शरीर-सापेक्ष हैं। शरीर पौद्गलिक है। इसलिए चेतन द्वारा स्वीकृत पुद्गल और चेतन-मुक्त पुद्गल में गति और आकृति के द्वारा भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती [४०]।

जीव के व्यावहारिक लक्षण

सजातीय जन्म, वृद्धि, सजातीय, उत्पादन, क्षत-संरोहण [घाव भरने की शक्ति] और अनियमित तिर्यग्गति—ये जीवों के व्यावहारिक लक्षण हैं। एक मशीन खा सकती है लेकिन खाद्य रस के द्वारा अपने शरीर को बढ़ा नहीं सकती। किसी हद तक अपना नियंत्रण करने वाली मशीनें भी हैं। टॉरपिडो [Torpedo] में स्वयं चालक शक्ति है, फिर भी ये न तो सजातीय यन्त्र की देह से उत्पन्न होते हैं, और न किसी सजातीय यन्त्र को उत्पन्न करते हैं।

ऐसा कोई यन्त्र नहीं जो अपना घाव खुद भर सके या मनुष्यकृत नियमन के बिना इधर-उधर घूम सके—तिर्यग् गति कर सके। एक रेलगाड़ी पटरी पर अपना बोझ लिए पवन-वेग से दौड़ सकती है पर उससे कुछ दूरी पर रेंगने वाली एक चींटी को भी वह नहीं मार सकती। चींटी में चेतना है, वह इधर-उधर घूमती है। रेलगाड़ी जड़ है, उसमें वह शक्ति नहीं। यन्त्र-क्रिया का नियामक भी चेतनावान् प्राणी है। इसलिए यन्त्र और प्राणी की स्थिति एक-सी नहीं है। ये लक्षण जीवधारियों की अपनी विशेषताएँ हैं। जड़ में ये नहीं मिलती।

जीव के नैश्चयिक लक्षण

आत्मा का नैश्चयिक लक्षण चेतना है। प्राणी मात्र में उसका न्यूनाधिक मात्रा में सद्भाव होता है। यद्यपि सत्ता रूप में चैतन्य शक्ति सब प्राणियों में अनन्त होती है, पर विकास की अपेक्षा वह सब में एक सी नहीं होती। ज्ञान के आवरण की प्रबलता एवं दुर्बलता के अनुसार उसका विकास न्यून या अधिक होता है। एकेन्द्रिय वाले जीवों में भी कम से कम एक (स्पर्शन) इन्द्रिय का अनुभव मिलेगा। यदि वह न रहे, तब फिर जीव और अजीव में कोई अन्तर नहीं रहता। जीव और अजीव का भेद बतलाते हुए शास्त्रों में कहा है—"सव्व जीवाणं पि य अक्खरस्स अणंतमो भागो निच्चुग्घाडियो। सो वि पुण आवरेज्जा, तेण जीवा अजीवत्तणं पावेज्जा"—केवलज्ञान (पूर्ण ज्ञान) का अनन्तवां भाग तो सब जीवों के विकसित रहता है। यदि वह भी आवृत्त हो जाए तो जीव अजीव बन जाए।

मध्यम और विराट् परिमाण

उपनिषदों में आत्मा के परिमाण की विभिन्न कल्पनाएं मिलती हैं। यह मनोमय पुरुष (आत्मा) अन्तर् हृदय में चावल या जौ के दाने जितना है[४१]।

यह आत्मा प्रदेश मात्र (अंगूठे के सिरे से तर्जनी के सिरे तक की दूरी जितना) है[४२]।

यह आत्मा शरीर-व्यापी है[४३]।

यह आत्मा सर्व-व्यापी है[४४]।

हृदय कमल के भीतर यह मेरा आत्मा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक अथवा इन सब लोकों की अपेक्षा बड़ा है [४५]।

जीव संख्या की दृष्टि से अनन्त हैं। प्रत्येक जीव के प्रदेश या अविभागी अवयव असंख्य हैं। जीव असंख्य प्रदेशी हैं। अतः व्याप्त होने की क्षमता की दृष्टि से लोक के समान विराट् है [४६]। 'केवली-समुद्घात' की प्रक्रिया में आत्मा कुछ समय के लिए व्यापक बन जाती है। 'मरण-समुद्घात' के समय भी आंशिक व्यापकता होती है [४७]।

प्रदेश-संख्या की दृष्टि से धर्म, अधर्म, आकाश और जीव—ये चारों सम-तुल्य हैं [४८]। अवगाह की दृष्टि से सम नहीं हैं। धर्म, अधर्म और आकाश स्वीकारात्मक और क्रिया-प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति शून्य हैं, इसलिए उनके परिमाण में कोई परिवर्तन नहीं होता। संसारी जीवों में पुद्गलों का स्वीकरण और उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया—ये दोनों प्रवृत्तियां होती हैं, इसलिए उनका परिमाण सदा समान नहीं रहता। वह संकुचित या विकसित होता रहता है। फिर भी अणु जितना संकुचित और लोकाकाश जितना विकसित (केवली समुद्घात के सिवाय) नहीं होता, इसलिए जीव मध्यम परिमाण की कोटि के होते हैं।

संकोच और विकोच जीवों की स्वभाव-प्रक्रिया नहीं है—वे कार्मण शरीर सापेक्ष होते हैं। कर्म-युक्त दशा में जीव शरीर की मर्यादा में बन्धे हुए होते हैं, इसलिए उनका परिमाण स्वतन्त्र नहीं होता। कार्मण शरीर का छोटापन और मोटापन गति-चतुष्टय-सापेक्ष होता है। मुक्त-दशा में संकोच-विकोच नहीं—वहाँ चरम शरीर के ठोस भाग—दो तिहाई भाग में आत्मा का जो अवगाह होता है, वही रह जाता है।

आत्मा के संकोच-विकोच की दीपक के प्रकाश से तुलना की जा सकती है। खुले आकाश में रखे हुए दीपक का प्रकाश अमुक परिमाण का होता है। उसी दीपक को यदि कोठरी में रख दें तो वही प्रकाश कोठरी में समा जाता है। एक घड़े के नीचे रखते हैं तो घड़े में समा जाता है। ढकनी के नीचे रखते हैं तो ढकनी में समा जाता है। उसी प्रकार कार्मण शरीर के आवरण से आत्म-प्रदेशों का भी संकोच और विस्तार होता रहता है।

जो आत्मा बालक-शरीर में रहती है, वही आत्मा युवा-शरीर में रहती है और वही वृद्ध-शरीर में। स्थूल शरीर व्यापी आत्मा कृश-शरीर-व्यापी हो जाती है। कृश-शरीर-व्यापी आत्मा स्थूल-शरीर-व्यापी हो जाती है।

इस विषय में एक शंका हो सकती है कि आत्मा को शरीर-परिमाण मानने से वह अवयव सहित हो जाएगी और अवयव सहित हो जाने से वह अनित्य हो जाएगी, क्योंकि जो अवयव सहित होता है, वह विशरणशील—अनित्य होता है। घड़ा अवयव सहित है, अतः अनित्य है? इसका समाधान यह है कि यह कोई नियम नहीं कि जो अवयव सहित होता है, वह विशरणशील ही होता है। जैसे घड़े का आकाश, पट का आकाश इत्यादिक रूपता से आकाश सावयव है और नित्य है, वैसे ही आत्मा भी सावयव और नित्य है और जो अवयव किसी कारण से इकट्ठे होते हैं, वे ही फिर अलग हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त जो अविभागी अवयव हैं, वे अवयवी से कभी पृथक् नहीं हो सकते।

विश्व की कोई भी वस्तु एकान्त रूप से नित्य व अनित्य नहीं है, किन्तु नित्यानित्य है। आत्मा नित्य भी है, अनित्य भी है। आत्मा का चैतन्य स्वरूप कदापि नहीं छूटता, अतः आत्मा नित्य है। आत्मा के प्रदेश कभी संकुचित रहते हैं, कभी विकसित रहते हैं, कभी सुख में, कभी दुःख में—इत्यादिक कारणों से तथा पर्यायान्तर से आत्मा अनित्य है। अतः स्याद्वाद दृष्टि से सावयवकता भी आत्मा के शरीर-परिमाण होने में बाधक नहीं है।

जीव-परिमाण

जीवों के दो प्रकार हैं—मुक्त और संसारी। मुक्त जीव अनन्त हैं। संसारी जीवों के छह निकाय हैं। उनका परिमाण निम्नप्रकार है :—

पृथ्वी.........असंख्य जीव
पानी.........,, ,,
अग्नि.........,, ,,
वायु.........,, ,,
वनस्पति.........,, अनन्त जीव
त्रस.........,, असंख्य जीव

त्रस काय के जीव स्थूल ही होते हैं। शेष पांच निकाय के जीव स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकार के होते हैं। सूक्ष्म जीवों से समूचालोक भरा है। स्थूल जीव आधार विना नहीं रह सकते। इसलिए वे लोक के थोड़े भाग में हैं [४९]।

एक-एक काय में कितने जीव हैं, यह उपमा के द्वारा समझाया गया है :—

एक हरे आंवले के समान मिट्टी के ढ़ेले में जो पृथ्वी के जीव हैं, उन सब में से प्रत्येक का शरीर कबूतर जितना वड़ा किया जाय तो वे एक लाख योजन लम्बे-चौड़े जम्बूद्वीप में नहीं समाते [५०]।

पानी की एक बून्द में जितने जीव हैं, उन सव में से प्रत्येक का शरीर सरसों के दाने के समान वनाया जाए तो वे उक्त जम्बूद्वीप में नहीं समाते [५१]।

एक चिनगारी के जीवों में से प्रत्येक के शरीर को लीख के समान किया जाए तो वे भी जम्बूद्वीप में नहीं समाते [५२]।

नीम के पत्ते को छूने वाली हवा में जितने जीव हैं, उन सव में से प्रत्येक के शरीर को खस खस के दानें के समान किया जाए तो वे जम्बूद्वीप में नहीं समाते [५३]।

शरीर और आत्मा

शरीर और आत्मा का क्या सम्वन्ध है? मानसिक विचारों का हमारे शरीर तथा मस्तिष्क के साथ क्या सम्वन्ध है?—इस प्रश्न के उत्तर में तीन वाद प्रसिद्ध हैं :—

(१) एक पाक्षिक क्रियावाद [भूत चैतन्यवाद]

(२) मनोदैहिक सहचरवाद

(३) अन्योन्याश्रयवाद

भूत चैतन्यवादी केवल शारीरिक व्यापारों को ही मानसिक व्यापारों का कारण मानते हैं। उनकी सम्मति में आत्मा शरीर की उपज है, मस्तिष्क की विशेष कोष्ठ-क्रिया ही चेतना है। ये प्रकृतिवादी भी कहे जाते हैं। आत्मा को प्रकृति-जन्य सिद्ध करने के लिए मे इस प्रकार अपना अभिमत प्रस्तुत

करते हैं। पाचन आमाशय की क्रिया का नाम है, श्वासोच्छ्वास फेफड़ों की क्रिया का नाम है, वैसे ही चेतना [आत्मा] मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का नाम है। यह भूत-चैतन्यवाद का एक संक्षिप्त रूप है। आत्मवादी इसका निरसन इस प्रकार करते हैं—"चेतना मस्तिष्क के कोष्ठ की क्रिया है" इसमें द्व्यर्थक क्रिया शब्द का समानार्थक प्रयोग किया गया है। आमाशय की क्रिया और मस्तिष्क की क्रिया में बड़ा भारी अन्तर है। क्रियाशब्द का दो बार का प्रयोग विचार-भेद का द्योतक है। जब हम यह कहते हैं कि पाचन आमाशय की क्रिया का नाम है। तब पाचन और आमाशय की क्रिया में भेद नहीं समझते। पर जब मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का विचार करते हैं, तब उस क्रिया-मात्र को चेतना नहीं समझते। चेतना का विचार करते हैं तब मस्तिष्क की कोष्ठ-क्रिया का किसी प्रकार का ध्यान नहीं आता। ये दोनों घटनाएँ सर्वथा विभिन्न हैं। पाचन से आमाशय की क्रिया का बोध हो आता है और आमाशय की क्रिया से पाचन का। पाचन और आमाशय की क्रिया—ये दो घटनाएं नहीं, एक ही क्रिया के दो नाम हैं। आमाशय, हृदय और मस्तिष्क तथा शरीर के सारे अवयव चेतना-हीन तत्त्व से बने हुए होते हैं। चेतना-हीन से चेतना उत्पन्न नहीं हो सकती। इसी आशय को स्पष्ट करते हुए "पादरी बटलर" ने लिखा है—"आप, हाइड्रोजन तत्त्व के मृत परमाणु, ऑक्सीजन तत्त्व के मृत परमाणु, कार्बन तत्त्व के मृत परमाणु, नाइट्रोजन तत्त्व के मृत परमाणु, फासफोरस तत्त्व के मृत परमाणु तथा बारुद की भाँति उन समस्त तत्त्वों के मृत परमाणु जिनसे मस्तिष्क बना है, ले लीजिए। विचारिए कि ये परमाणु पृथक्-पृथक् एवं ज्ञान शून्य हैं, फिर विचारिए कि ये परमाणु साथ-साथ दौड़ रहे हैं और परस्पर मिश्रित होकर जितने प्रकार के स्कन्ध हो सकते हैं, बना रहे हैं। इस शुद्ध यांत्रिक क्रिया का चित्र आप अपने मन में खींच सकते हैं। क्या यह आपकी दृष्टि, स्वप्न या विचार में आ सकता है कि इस यान्त्रिक क्रिया का इन मृत परमाणुओं से बोध, विचार एवं भावनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं? क्या पांसों के खटपटाने से होमर कवि या बिलयर्ड खेल की गेंद के खनखनाने से गणित डिफरेंशियल केल्कुलस [Differential calculus] निकल सकता है?...आप मनुष्य की जिज्ञासा का—

"परमाणुओं के परस्पर सम्मिश्रण की यान्त्रिक क्रिया से ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो गई ?"—सन्तोषप्रद उत्तर नहीं दे सकते [५४]। पाचन और श्वासोश्छ्वास की क्रिया से चेतना की तुलना भी त्रुटिपूर्ण है। ये दोनों क्रियाएं स्वयं अचेतन हैं। अचेतन मस्तिष्क की क्रिया चेतना नहीं हो सकती। इसलिए यह मानना होगा कि चेतना एक स्वतन्त्र सत्ता है, मस्तिष्क की उपज नहीं। शारीरिक व्यापारों को ही मानसिक व्यापारों के कारण मानने वालों के दूसरी आपत्ति यह आती है कि—"मैं अपनी इच्छा के अनुसार चलता हूँ—मेरे भाव शारीरिक परिवर्तनो को पैदा करने वाले हैं" इत्यादि प्रयोग नहीं किये जा सकते।

दूसरे वाद—'मनो दैहिक सहचरवाद' के अनुसार मानसिक तथा शारीरिक व्यापार परस्पर-सहकारी हैं, इसके सिवाय दोनों में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं। इस वाद का उत्तर अन्योन्याश्रयवाद है। उसके अनुसार शारीरिक क्रियाओं का मानसिक व्यापारों पर एवं मानसिक व्यापारों का शारीरिक क्रियाओं पर असर होता है। जैसे :—

(१) मस्तिष्क की बीमारी से मानसिक-शक्ति दुर्बल हो जाती है।

(२) मस्तिष्क के परिमाण के अनुसार मानसिक शक्ति का विकास होता है।

साधारणतया पुरुषों का दिमाग ४६ से ५० या ५२ औंस [ounce] तक का और स्त्रियो का ४४-४८ औंस तक का होता है। देश-विशेष के अनुसार इसमें कुछ न्यूनाधिकता भी पायी जाती है। अपवादरूप असाधारण मानसिक शक्ति वालो का दिमाग औसत परिमाण से भी नीचे दर्जे का पाया गया है। पर साधारण नियमानुसार दिमाग के परिमाण और मानसिक विकास का सम्बन्ध रहता है।

(३) ब्राह्मीघृत आदि विविध औषधियों से मानसिक विकास को सहारा मिलता है।

(४) दिमाग पर आघात होने से स्मरण शक्ति क्षीण हो जाती है।

(५) दिमाग का एक विशेष भाग मानसिक शक्ति के साथ सम्बन्धित है, उसकी क्षति से मानस शक्ति में हानि होती है।

मानसिक क्रिया का शरीर पर प्रभाव

जैसे :—

(१) निरन्तर चिन्ता एवं दिमागी परिश्रम से शरीर थक जाता है।

(२) सुख-दुःख का शरीर पर प्रभाव होता है।

(३) उदासीन-वृत्ति एवं चिन्ता से पाचन शक्ति मन्द हो जाती है, शरीर कृश हो जाता है। क्रोध आदि से रक्त विपाक्त बन जाता है।

"चित्तायत्तं धातुबद्धं शरीरं, स्वस्थे चित्ते बुद्धयः प्रस्फुरन्ति।
तस्माच्चित्तं सर्वथा रक्षणीयं, चित्ते नष्टे धातवो यान्ति नाशम्।"

अर्थात्—"यह धातुमय शरीर चित्त के अधीन है। चित्त स्वस्थ होता है, तब बुद्धि में स्फुरणा आती है। इसलिए चित्त को सर्वथा स्वस्थ रखना चाहिए। चित्त-ग्लानि होने से धातुएं भी क्षीण हो जाती हैं।"—

इन घटनाओं के आलोकन के बाद शरीर और मन के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में सन्देह का कोई अवकाश नहीं रहता। इस प्रकार अन्योन्याश्रय-वादी मानसिक एवं शारीरिक सम्बन्ध के निर्णय तक पहुँच गए। दोनों शक्तियों का पृथक् अस्तित्व स्वीकार कर लिया। किन्तु उनके सामने एक उलझन अब तक भी मौजूद है। दो विसदृश पदार्थों के बीच कार्य कारण का सम्बन्ध कैसे? इसका वे अभी समाधान नहीं कर पाए हैं।

दो विसदृश पदार्थों का सम्बन्ध

[अरूप और सरूप का सम्बन्ध]

आत्मा और शरीर—ये विजातीय द्रव्य हैं। आत्मा चेतन और अरूप है, शरीर अचेतन और सरूप। इस दशा में दोनो का सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इसका समाधान जैन दर्शन में यों किया गया है। संसारी आत्मा सूक्ष्म और स्थूल, इन दो प्रकार के शरीरों से वेष्टित रहता है। एक जन्म से दूसरे जन्म में जाने के समय स्थूल शरीर छूट जाता है, सूक्ष्म शरीर नहीं छूटता। सूक्ष्म-शरीरधारी जीवों को एक के बाद दूसरे-तीसरे स्थूल शरीर का निर्माण करना पड़ता है। सूक्ष्म शरीरधारी जीव ही दूसरा शरीर धारण करते हैं, अमूर्त जीव मूर्त शरीर में कैसे प्रवेश करते हैं—यह प्रश्न ही नहीं

सूक्ष्म शरीर और आत्मा का सम्बन्ध अपश्चानुपूर्वी है। अपश्चानुपूर्वी उसे कहा जाता है, जहाँ पहले-पीछे का कोई विभाग नहीं होता—पौर्वापर्य नहीं निकाला जा सकता। तात्पर्य यह हुआ कि उनका सम्बन्ध अनादि है। इसीलिए संसार-दशा में जीव कथञ्चित् मूर्त भी है। उनका अमूर्त रूप विदेह-दशा में प्रगट होता है। यह स्थिति बनने पर फिर उनका मूर्त द्रव्य से कोई सम्बन्ध नही रहता। किन्तु संसार-दशा में जीव और पुद्गल का कथंचित् सादृश्य होता है, इसलिए उनका सम्बन्ध होना असम्भव नही। अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध नहीं हो सकता। यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है—यह उचित है। इनमें क्रिया प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अरूप [ब्रह्म] का सरूप [जगत्] के साथ सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता। अरूप ब्रह्म के रूप-प्रणयन की वेदान्त के लिए एक जटिल समस्या है। संगति से असंगति [ब्रह्म से जगत्] और असंगति से फिर संगति की ओर गति क्यों होती है? यह उसे और अधिक जटिल बना देती है।

अमूर्त्त आत्मा का मूर्त्त शरीर के साथ सम्बन्ध की स्थिति जैन दर्शन के सामने वैसी ही उलझन भरी है। किन्तु वस्तुवृत्या वह उससे भिन्न है। जैन-दृष्टि के अनुसार अरूप का रूप-प्रणयन नहीं हो सकता। संसारी आत्माएं अरूप नहीं होतीं। उनका विशुद्ध रूप अमूर्त होता है किन्तु संसार दशा में उसकी प्राप्ति नहीं होती। उनकी अरूप-स्थिति मुक्त दशा में बनती है। उसके बाद उनका सरूप के घात-प्रत्याघातों से कोई लगाव नही होता।

विज्ञान और आत्मा

बहुत से पश्चिमी वैज्ञानिक आत्मा को मन-से अलग नहीं मानते। उनकी दृष्टि में मन और मस्तिष्क-क्रिया एक चीज है। दूसरे शब्दों में मन और मस्तिष्क पर्यायवाची शब्द हैं। "पावलोफ्" ने इसका समर्थन किया है कि स्मृति मस्तिष्क [सिरेब्रम] के करोड़ों सेलों [Cells] की क्रिया है। 'वर्गसां' जिस युक्ति के बल पर आत्मा के अस्तित्व की आवश्यकता अनुभव करता है, उसके मूलभूत तथ्य स्मृति को "पावलोफ्" मस्तिष्क के सेलों [Cells] की क्रिया बतलाता है। फोटो के नेगेटिव प्लेट [Negative plate] में जिस प्रकार प्रतिबिम्ब खींचे हुए होते हैं, उसी प्रकार मस्तिष्क में अतीत के

चित्र प्रतिबिम्बित रहते हैं। जब उन्हें तदनुकूल सामग्री द्वारा नई प्रेरणा मिलती है तब वे जाग्रत हो जाते हैं। निम्नस्तर से ऊपरीस्तर में आ जाते हैं, इसी का नाम स्मृति है। इसके लिए भौतिक तत्त्वों से पृथक् अन्वयी आत्मा मानने की कोई आवश्यकता नहीं। भूताद्वैतवादी वैज्ञानिकों ने भौतिक प्रयोगों के द्वारा अभौतिक सत्ता का नास्तित्व सिद्ध करने की बहुमुखी चेष्टाएं की हैं, फिर भी भौतिक प्रयोगों का क्षेत्र भौतिकता तक ही सीमित रहता है, अमूर्त आत्मा या मन का नास्तित्व सिद्ध करने में उसका अधिकार सम्पन्न नहीं होता। मन भौतिक और अभौतिक दोनों प्रकार का होता है।

मनन, चिन्तन 'तर्क, अनुमान, स्मृति 'तदेवेदम्' इस प्रकार संकलनात्मक ज्ञान-अतीत और वर्तमान ज्ञान की जोड़ करना, ये कार्य अभौतिक मन के हैं[५५]। भौतिक मन उसकी ज्ञानात्मक प्रवृत्ति का साधन है। जिसे हम मस्तिष्क या 'औपचारिक ज्ञान तन्तु' भी कह सकते हैं। मस्तिष्क शरीर का अवयव है। उस पर विभिन्न प्रयोग करने पर मानसिक स्थिति में परिवर्तन पाया जाए, अर्ध स्मरण या विस्मरण आदि मिले, यह कोई आश्चर्य जनक घटना नहीं। क्योंकि कारण के अभाव में कार्य अभिव्यक्त नहीं होता, यह निश्चित तथ्य हमारे सामने है। भौतिकवादी तो "मस्तिष्क भी भौतिक है या और कुछ—इस समस्या में उलझे हुए हैं। उन्हीं के शब्दों में पढ़िए—मन सिर्फ भौतिक तत्त्व नहीं है, ऐसा होने पर उसके विचित्रगुण-चेतन क्रियाओं की व्याख्या नहीं हो सकती। मन (मस्तिष्क) में ऐसे नए गुण देखे जाते हैं, जो पहिले भौतिकतत्त्वों में मौजूद न थे, इसलिए भौतिक-तत्त्वों और मन को एक नहीं कहा जा सकता। साथ ही भौतिक-तत्त्वों से मन इतना दूर भी नहीं है, कि उसे बिलकुल ही एक अलग तत्त्व माना जाए[५६]।"

इन पंक्तियों से यह समझा जाता है कि वैज्ञानिक जगत् मन के विषय में ही नहीं, किन्तु मन के साधनभूत मस्तिष्क के बारे में भी अभी कितना संदिग्ध है। अस्तु मस्तिष्क को अतीत के प्रतिबिम्बों का वाहक और स्मृति का साधन मानकर स्वतंत्र चेतना का लोप नहीं किया जा सकता। मस्तिष्क फोटो के नेगेटिव प्लेट [Negative Plate] की भांति वर्तमान के चित्रों को खींच सकता है, सुरक्षित रख सकता है, इस कल्पना के आधार पर -

स्मृति का साधन भले ही माना जाए किन्तु उस स्थिति में वह भविष्य की कल्पना नहीं कर सकता। उसमें केवल घटनाएं अंकित हो सकती हैं, पर उनके पीछे छिपे हुए कारण स्वतंत्र चेतनात्मक व्यक्ति का अस्तित्व माने बिना नहीं जाने जा सकते। "यह क्यों? यह है तो ऐसा होना चाहिए, ऐसा नहीं होना चाहिए, यह नहीं हो सकता, यह वही है, इसका परिणाम यह होगा"—ज्ञान की इत्यादि क्रियाएं अपना स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध करती हैं। प्लेट [Plate] की चित्रावली में नियमन होता है। प्रतिविम्बित चित्र के अतिरिक्त उसमें और कुछ भी नहीं होता। यह नियमन मानव-मन पर लागू नहीं होता। वह अतीत की धारणाओं के आधार पर बड़े-बड़े निष्कर्ष निकालता है—भविष्य का मार्ग निर्णीत करता है। इसलिए इस दृष्टान्त की भी मानस क्रिया में संगति नहीं होती।

तर्क-शास्त्र और विज्ञान-शास्त्र अंकित प्रतिविम्बों के परिणाम नहीं। अदृष्टपूर्व और अश्रुतपूर्व वैज्ञानिक आविष्कार स्वतंत्र मानस की तर्कणा के कार्य हैं, किसी दृष्ट वस्तु के प्रतिविम्ब नहीं। इसलिए हमें स्वतंत्र चेतना का अस्तित्व और उसका विकास मानना ही होगा। हम प्रत्यक्ष में आने वाली चेतना की विशिष्ट क्रियाओं की किसी भी तरह अवहेलना नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त भौतिकवादी 'वर्गसां' की आत्म-साधक युक्ति को—'चेतन और अचेतन का संबंध कैसे हो सकता है?'—इस प्रश्न के द्वारा व्यर्थ प्रमाणित करना चाहते हैं। 'वर्गसां' के सिद्धान्त की अपूर्णता का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि—'वर्गसां' जैसे दार्शनिक चेतना को भौतिक तत्त्वों से अलग ही एक रहस्यमय वस्तु साबित करना चाहते हैं। ऐसा साबित करने में उनकी सबसे जबरदस्त युक्ति है 'स्मृति'। मस्तिष्क शरीर का अंग होने से एक क्षणिक परिवर्तनशील वस्तु है। वह स्मृति को भूत से वर्तमान में लाने का वाहन नहीं बन सकता। इसके लिए किसी अक्षणिक—स्थायी माध्यम की आवश्यकता है। इसे वह चेतना या आत्मा का नाम देते हैं। स्मृति को अतीत से वर्तमान और परे भी ले जाने की जरूरत है, लेकिन अमर चेतना का मरणधर्मा अचेतन से सम्बन्ध कैसे होता है, यह आसान समस्या नहीं है। चेतन और अचेतन इतने विरुद्ध द्रव्यों का एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध

स्थापित करना तेल में पानी मिलाने जैसा है। इसीलिए इस कठिनाई को दूर करने का तरीका ढूंढ़ा जा रहा है। इससे इतना साफ हो जाता है कि चेतना या स्मृति से ही हमारी समस्या हल नहीं हो सकती।

सजीवतच्छरीर वादी वर्ग ने आत्मवादी पाश्चात्य दार्शनिकों की जिस कठिनाई को सामने रखकर सुख की श्वाँस ली है,—उस कठिनाई को भारतीय दार्शनिकों ने पहले से ही साफ कर अपना पथ प्रशस्त कर लिया था। संसार-दशा में आत्मा और शरीर—ये दोनों सर्वथा भिन्न नहीं होते। गौतम स्वामी के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने आत्मा और शरीर का भेदाभेद बतलाया है—अर्थात् "आत्मा शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी। शरीर रूपी भी है और अरूपी भी तथा वह सचेतन भी है और अचेतन भी [५७]।" शरीर और आत्मा का क्षीर-नीरवत् अथवा अग्नि-लोह-पिण्डवत् तादात्म्य होता है। यह आत्मा की संसारावस्था है। इसमें जीव और शरीर का कथंचित् अभेद होता है। अतएव जीव के दस परिणाम होते हैं [५८]। तथा इसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि पौद्‌गलिक गुण भी मिलते हैं [५९]। शरीर से आत्मा का कथंचित्-भेद होता है [६०]। इसलिए उसको अवर्ण, अगंध, अरस और अस्पर्श कहा जाता है [६१]। आत्मा और शरीर का भेदाभेद स्वरूप जानने के पश्चात् "अमर चेतना का मरणधर्मा अचेतन से संबन्ध कैसे होता है?" यह प्रश्न कोई मूल्य नहीं रखता। विश्ववर्ती चेतन या अचेतन सभी पदार्थ परिणामी नित्य हैं। ऐकान्तिक रूप से कोई भी पदार्थ मरण-धर्मा या अमर नहीं। आत्मा स्वयं नित्य भी है और अनित्य भी [६२]। सहेतुक भी है और निर्हेतुक भी। कर्म के कारण आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाएं होती हैं, इसलिए वह अनित्य और सहेतुक है तथा उसके स्वरूप का कभी प्रच्यव नहीं होता, इसलिए वह नित्य और निर्हेतुक है। शरीरस्थ आत्मा ही भौतिक पदार्थों से सम्बद्ध होती है। स्वरूपस्थ होने के बाद वह विशुद्ध चेतनावान् और सर्वथा अमूर्त बनती है, फिर उसका कभी अचेतन पदार्थ से सम्बन्ध नहीं होता। बद्ध-आत्मा स्थूल शरीर-मुक्त होने पर भी सूक्ष्म-शरीर-युक्त रहता है। स्थूल शरीर में वह प्रवेश नहीं करती किन्तु सूक्ष्म-शरीरवान् होने के कारण स्वयं उसका निर्माण करती है। अचेतन के साथ उसका अभूतपूर्व संबन्ध नहीं होता, किन्तु

अनादिकालीन प्रवाह में वह शरीर पर्यायात्मक एक कड़ी और जुड़ जाती है। उसमें कोई विरोध नहीं आता। जैसे कहा भी है—"तस्य चानादि कर्म-सम्बद्धस्य कदाचिदपि सांसारिकस्यात्मनः स्वरूपेऽनवस्थानात् सत्यप्यमूर्त्तत्वे मूर्तेन कर्मणा सम्बन्धो न विरूध्यते [६३]।" संसारी आत्मा अनादिकाल से कर्म से बन्धा हुआ है। वह कभी भी अपने रूप में स्थित नहीं, अतएव अमूर्त्त होने पर भी उसका मूर्त्त कर्म (अचेतन द्रव्य) के साथ सम्बन्ध होने में कोई आपत्ति नहीं होती।

आत्मा पर विज्ञान के प्रयोग

वैज्ञानिकों ने ९२ तत्त्व माने हैं। वे सब मूर्तिमान् हैं। उन्होंने जितने प्रयोग किये हैं, वे सभी मूर्त्त द्रव्यों पर ही किये हैं अमूर्त्त तत्त्व इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का विषय नहीं बनता। उस पर प्रयोग भी नहीं किये जा सकते। आत्मा अमूर्त्त है, इसीलिए आज के वैज्ञानिक, भौतिक साधन सम्पन्न होते हुए भी उसका पता नहीं लगा सके। किन्तु भौतिक साधनों से आत्मा का अस्तित्व नहीं जाना जाता तो उसका नास्तित्व भी नहीं जाना जाता। शरीर पर किये गए विविध प्रयोगों से आत्मा की स्थिति स्पष्ट नहीं होती। रूस के जीव-विज्ञान [Biology] के प्रसिद्ध विद्वान् "पावलोफ" ने एक कुत्ते का दिमाग निकाल लिया [६४]। उससे वह शून्यवत् हो गया। उसकी चेष्टाएँ स्तब्ध हो गईं। वह अपने मालिक और खाद्य तक को नहीं पहचान पाता। फिर भी वह मरा नहीं। इन्जेक्शनों द्वारा उसे खाद्य तत्त्व दिया जाता रहा। इस प्रयोग पर उन्होंने यह बताया कि दिमाग ही चेतना है। उसके निकल जाने पर प्राणी में कुछ भी चैतन्य नहीं रहता। इस पर हमें अधिक टीका टिप्पणी करने की कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ सिर्फ इतना समझना ही पर्याप्त होगा कि दिमाग चेतना का उत्पादक नहीं, किन्तु वह मानस प्रवृत्तियों के उपयोग का साधन है। दिमाग निकाल लेने पर उसकी मानसिक चेष्टाएं रुक गईं। इसका अर्थ यह नहीं कि उसकी चेतना विलीन हो गई। यदि ऐसा होता तो वह जीवित भी नहीं रह पाता। खाद्य का स्वीकरण, रक्तसंचार, प्राणापान आदि चेतनावान् प्राणी में ही होता है। बहुत सारे ऐसे भी प्राणी हैं, जिनके मस्तिष्क होता ही नहीं। वह केवल मानस-प्रवृत्ति वाले प्राणी के ही होता है।

वनस्पति भी आत्मा है। उनमें चेतना है; हर्ष, शोक, भय आदि प्रवृत्तियां हैं। पर उनके दिमाग नहीं होता। चेतना का सामान्य लक्षण स्वानुभव है। जिसमें स्वानुभूति होती है, सुख-दुःख का अनुभव करने की क्षमता होती है, वही आत्मा है। फिर चाहे वह अपनी अनुभूति को व्यक्त कर सके या न कर सके, उसको व्यक्त करने के साधन मिले या न मिले। वाणी विहीन प्राणी को प्रहार से कष्ट नहीं होता, यह मानना यौक्तिक नहीं। उसके पास बोलने का साधन नहीं, इसलिए वह अपना कष्ट कह नहीं सकता। फिर भी वह कष्ट का अनुभव कैसे नहीं करेगा? विकास-शील प्राणी मूक होने पर भी अङ्ग-सञ्चालन-क्रिया से पीड़ा जता सकते हैं। जिनमें यह शक्ति भी नहीं होती, वे किसी तरह भी अपनी स्थिति को स्पष्ट नहीं कर सकते। इससे स्पष्ट है कि बोलना, अङ्ग-सञ्चालन होते दीखना, चेष्टाओं को व्यक्त करना, ये आत्मा के व्यापक लक्षण नहीं हैं। ये केवल विशिष्ट शरीरधारी यानी त्रस-जातिगत आत्माओं के हैं। स्थावर जातिगत आत्माओं में ये स्पष्ट लक्षण नहीं मिलते। इससे क्या उनकी चेतनता और सुख-दुःखानुभूति का लोप थोड़े ही किया जा सकता है। स्थावर जीवों की कष्टानुभूति की चर्चा करते हुए शास्त्रों में लिखा है कि—जन्मान्ध, जन्म-मूक, जन्म-बधिर एवं रोग-ग्रस्त पुरुष के शरीर का कोई युवापुरुष तलवार एवं खड्ग् से ३२-३२ बार छेदन-भेदन करे, उस समय उसे जैसा कष्ट होता है वैसा कष्ट पृथ्वी के जीवों को उन पर प्रहार करने से होता है। तथापि सामग्री के अभाव में वे बता नहीं सकते। और मानव प्रत्यक्ष प्रमाण का आग्रही ठहरा। इसलिए वह इस परोक्ष तथ्य को स्वीकार करने से हिचकता है। खैर। जो कुछ हो, इस विषय पर हमें इतना सा स्मरण कर लेना होगा कि आत्मा अरूपी अचेतन सत्ता है, वह किसी प्रकार भी चर्म-चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकती। आज से ढाई हजार वर्ष पहिले कौशाम्बी-पति राजा प्रदेशी ने अपने जीवन के नास्तिक-काल में शारीरिक अवयवों के परीक्षण द्वारा आत्म प्रत्यक्षीकरण के अनेक प्रयोग किए। किन्तु उसका वह समूचा प्रयास विफल रहा। आज के वैज्ञानिक भी यदि वैसी ही असम्भव चेष्टाएं करते रहेंगे तो कुछ भी तथ्य नहीं निकलेगा। इसके विपरीत

यदि वे चेतना के आनुमानिक एवं स्वसंवेदनात्मक अन्वेषण करें तो इस गुत्थी को अधिक सरलतासे सुलझा सकते हैं।

चेतना का पूर्वरूप क्या है ?

निर्जीव पदार्थ से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती—इस तथ्य को स्वीकार करने वाले दार्शनिक चेतन तत्त्व को अनादि-अनन्त मानते हैं। दूसरी श्रेणी उन दार्शनिकों की है जो—निर्जीव पदार्थ से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति-स्वीकार करते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'फ्रायड्' की धारणा भी यही है कि जीवन का आरम्भ निर्जीव पदार्थ से हुआ। वैज्ञानिक जगत् में भी इस विचार की दो धाराएँ हैं—वैज्ञानिक "लुई पास्तुर" और टिंजल आदि निर्जीव से सजीव पदार्थ की उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते। रूसी नारी वैज्ञानिक लेपेसिन-स्काया, अणुवैज्ञानिक डा० डेराल्ड यूरे और उनके शिष्य स्टैनले मिलर आदि निष्प्राण सत्ता से सप्राण सत्ता की उत्पत्ति में विश्वास करते हैं।

चैतन्य को अचेतन की भांति अनुत्पन्न सत्ता या नैसर्गिक सत्ता स्वीकार करने वालो को 'चेतना का पूर्वरूप क्या है ?' यह प्रश्न उलझन में नहीं डालता।

दूसरी कोटि के लोग, जो अहेतुक या आकस्मिक चैतन्योत्पादवादी हैं, उन्हें यह प्रश्न झकझोर देता है। आदि जीव किन अवस्थाओं में, कब और कैसे उत्पन्न हुआ ? यह रहस्य आज भी उनके लिए कल्पना-मात्र है।

लुई पास्तुर और हिंडाल ने वैज्ञानिक परीक्षण के द्वारा यह प्रमाणित किया कि निर्जीव से सजीव पदार्थ उत्पन्न नही हो सकते। वह परीक्षण यूं है……।

…एक कांच के गोले में उन्होंने कुछ विशुद्ध पदार्थ रख दिया और उसके बाद धीरे-धीरे उसके भीतर से समस्त हवा निकाल दी। वह गोला और उसके भीतर रखा हुआ पदार्थ ऐसा था कि उसके भीतर कोई भी सजीव प्राणी या उसका अण्डा या वैसी ही कोई चीज रह न जाए, यह पहले ही अत्यन्त सावधानी से देख लिया गया। इस अवस्था में रखे जाने पर देखा गया कि चाहे जितने दिन भी रखा जाए, उसके भीतर इस प्रकार की अवस्था में किसी प्रकार की जीव-सत्ता प्रकट नहीं होती, उसी पदार्थ को बाहर निकालकर रख

देने पर कुछ दिनों में ही उसमें कीड़े, मकोड़े या क्षुद्राकार बीजाणु दिखाई देने लगते हैं। इससे यह सिद्ध हो गया कि बाहर की हवा में बहकर ही बीजाणु या प्राणी का अण्डा या छोटे-छोटे विशिष्ट जीव इस पदार्थ में जाकर उपस्थित होते हैं।

स्टैनले मिलर ने डा० यूरे के अनुसार जीवन की उत्पत्ति के समय जो परिस्थितियां थीं, वे ही उत्पन्न कर दीं। एक सप्ताह के बाद उसने अपने रासायनिक मिश्रण की परीक्षा की। उसमें तीन प्रकार के प्रोटीन मिले परन्तु एक भी प्रोटीन जीवित नहीं मिला। मार्क्सवाद के अनुसार चेतना भौतिक सत्ता का गुणात्मक परिवर्तन है। पानी—पानी है। परन्तु उसका तापमान थोड़ा बढ़ा दिया जाए तो एक निश्चित बिन्दु पर पहुंचने के बाद वह भाप बन जाता है। (ताप के इस बिन्दु पर यह होता है, यह वायु-मण्डल के दबाव के साथ बदलता रहता है) यदि उसका तापमान कम कर दिया जाए तो वह बर्फ बन जाता है। जैसे भाप और बर्फ का पूर्व रूप पानी है, उसका भाप या बर्फ के रूप में परिणमन होने पर—गुणात्मक परिवर्तन होने पर, वह पानी नहीं रहता। वैसे चेतना का पहले रूप क्या था जो मिटकर चेतना को पैदा कर सका? इसका कोई समाधान नहीं मिलता। "पानी को गर्म कीजिए तो बहुत समय तक वह पानी ही बना रहेगा। उसमें पानी के सभी साधारण गुण मौजूद रहेंगे केवल उसकी गर्मी बढ़ती जाएगी। इसी प्रकार पानी को ठण्डा कीजिए तो एक हदतक वह पानी ही बना रहता है। लेकिन उसकी गर्मी कम हो जाती है। परन्तु एक बिन्दु पर परिवर्तन का यह क्रम यकायक टूट जाता है। शीत या उष्ण बिन्दु पर पहुँचते ही पानी के गुण एक दम बदल जाते हैं। पानी, पानी नहीं रहता बल्कि भाप या बर्फ बन जाता है।"

जैसे निश्चित बिन्दु पर पहुँचने पर पानी भाप या बर्फ बनता है वैसे भौतिकता का कौन-सा निश्चित बिन्दु है जहाँ पहुंचकर भौतिकता चेतना के रूप में परिवर्तित होती है। मस्तिष्क के घटक तत्त्व हैं—हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन-कार्बन, फॉस्फोरस आदि-आदि। इनमें से कोई एक तत्त्व चेतना का उत्पादक है या सबके मिश्रण से वह उत्पन्न होती है और कितने तत्त्वों की कितनी मात्रा बनने पर वह पैदा होती है—इसका कोई ज्ञान अभी तक नहीं

हुआ है। चेतना भौतिक तत्त्वों के मिश्रण से पैदा होती है या वह भौतिकता का गुणात्मक परिवर्तन है, यह तब तक वैज्ञानिक सिद्धान्त नहीं बन सकता, जब तक भौतिकता के उस चरम-बिन्दु की, जहाँ पहुँच कर यह चेतना के रूप में परिवर्तित होता है, निश्चित जानकारी न मिले।

इन्द्रिय और मस्तिष्क आत्मा नहीं

आंख, कान आदि नष्ट होने पर भी उनके द्वारा विज्ञान विषय की स्मृति रहती है, इसका कारण यही है कि आत्मा देह और इन्द्रिय से भिन्न है। यदि ऐसा न होता तो इन्द्रिय के नष्ट होने पर उनके द्वारा किया हुआ ज्ञान भी चला जाता। इन्द्रिय के विकृत होने पर भी पूर्व ज्ञान विकृत नहीं होता। इससे प्रमाणित होता है कि ज्ञान का अधिष्ठान इन्द्रिय से भिन्न है—वह आत्मा है। इस पर यह कहा जा सकता है कि इन्द्रिय बिगड़ जाने पर जो पूर्व ज्ञान की स्मृति होती है, उसका कारण मस्तिष्क है। आत्मा नहीं। मस्तिष्क स्वस्थ होता है, तब तक स्मृति है। उसके बिगड़ जाने पर स्मृति नहीं होती। इसलिए "मस्तिष्क ही ज्ञान का अधिष्ठान है।" उससे पृथक् आत्मा नामक तत्त्व को स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं। यह तर्क भी आत्मवादी के लिए नगण्य है। जैसे इन्द्रियां बाहरी वस्तुओं को जानने के साधन हैं, वैसे मस्तिष्क इन्द्रियज्ञान-विषयक चिन्तन और स्मृति का साधन है। उसके विकृत होने पर यथार्थ स्मृति नहीं होती। फिर भी पागल व्यक्ति में चेतना की क्रिया चालू रहती है, वह उससे भी परे की शक्ति की प्रेरणा है। साधनों की कमी होने पर आत्मा की ज्ञान-शक्ति विकल—अधूरी हो जाती है, नष्ट नहीं होती। मस्तिष्क विकृत हो जाने पर अथवा उसे निकाल देने पर भी खाना-पीना, चलना-फिरना, हिलना-डुलना, श्वास-उच्छ्वास लेना आदि-आदि प्राण-क्रियाएं होती हैं। वे यह बताती हैं कि मस्तिष्क के अतिरिक्त जीवन की कोई दूसरी शक्ति है। उसी शक्ति के कारण शरीर में अनुभव और प्राण की क्रिया होती है। मस्तिष्क से चेतना का सम्बन्ध है। इसे आत्मवादी भी अस्वीकार नहीं करते। "तन्दुल-वेयालिय" के अनुसार इस शरीर में १६० ऊर्ध्व गामिनी और रसहारिणी शिराएं हैं, जो नाभि से निकलकर ठेठ सिर तक पहुँचती हैं। वे स्वस्थ होती

हैं, तब तक आँख, कान, नाक और जीभ का वल ठीक रहता है[६५]। भारतीय आयुर्वेद के मत में भी मस्तक प्राण और इन्द्रिय का केन्द्र माना गया है।

"प्राणाः प्राणभृतां यत्र, तथा सर्वेन्द्रियाणि च।
यदुत्तमाङ्गमङ्गानां, शिरस्तदभिधीयते॥ [चरक]

मस्तिष्क चैतन्य सहायक धमनियों का जाल है। इसलिए मस्तिष्क की अमुक शिरा काट देने से अमुक प्रकार की अनुभूति न हो, इससे यह फलित नहीं होता कि चेतना मस्तिष्क की उपज है।

कृत्रिम मस्तिष्क चेतन नहीं है

कृत्रिम मस्तिष्क, जिनका बड़े गणित के लिए उपयोग होता है, चेतनायुक्त नहीं है। वे चेतना-प्रेरित कार्यकारी यन्त्र हैं। उनकी मानव-मस्तिष्क से तुलना नहीं की जा सकती। वास्तव में ये मानव-मस्तिष्क की भाँति सक्रिय और बुद्धियुक्त नहीं होते। ये केवल शीघ्र और तेजी से काम करनेवाले होते हैं। यह मानव-मस्तिष्क की सुषुम्ना और मस्तिष्क-स्थित श्वेत मज्जा के मोटे काम ही कर सकता है और इस अर्थ में यह मानव-मस्तिष्क का एक शतांश भी नहीं। मानव-मस्तिष्क चार भागों में बंटा हुआ है—

१—दीर्घ-मस्तिष्क—जो संवेदना, विचार-शक्ति और स्मरण-शक्ति इत्यादि को प्रेरणा देता है।

२—लघु-मस्तिष्क।

३—सेतु।

४—सुषुम्ना।

यान्त्रिक मस्तिष्क केवल सुषुम्ना के ही कार्यों को कर सकता है, जो मानव-मस्तिष्क का क्षुद्रतम अंश है।

यान्त्रिक-मस्तिष्क का गणन-यंत्र लगभग मोटर में लगे मीटर की तरह होता है, जिसमें मोटर के चलने की दूरी मीलों में अंकित होती चलती है। इस गणन-यंत्र का कार्य एक और शून्य अंक को जोड़ना अथवा एकत्र करना है। यदि गणन-यंत्र से इन अंकों को निकाला जाता है तो इससे घटाने की क्रिया होती है और जोड़-घटाव की दो क्रियाओं पर ही सारा गणित आधारित है।

प्रदेश और जीवकोष दो हैं

आत्मा असंख्य-प्रदेशी है। एक, दो, तीन प्रदेश जीव नहीं होते। परिपूर्ण असंख्य प्रदेश के समुदय का नाम जीव है। वह असंख्य जीवकोषों का पिण्ड नही है। वैज्ञानिक असंख्य सेल्स [Cells]-जीवकोषों के द्वारा प्राणी शरीर और चेतना का निर्माण होना बतलाते हैं। वे शरीर तक ही सीमित हैं। शरीर अस्थायी है—एक पौद्गलिक अवस्था है। उसका निर्माण होता है। और वह रूपी है, इसलिए उसके अङ्गोपाङ्ग देखे जा सकते हैं। उनका विश्लेषण किया जा सकता है। आत्मा स्थायी और अभौतिक द्रव्य है[६६]। वह उत्पन्न नहीं होता। और वह अरूपी है, किसी प्रकार भी इन्द्रिय-शक्ति से देखा नहीं जाता। अतएव जीव कोषो द्वारा आत्मा की उत्पत्ति बतलाना भूल है। प्रदेश भी आत्मा के घटक नही हैं। वे स्वयं आत्मरूप हैं। आत्मा का परिमाण जानने के लिए उसमें उनका आरोप किया गया है। यदि वे वास्तविक अवयव होते तो उनमे संगठन, विघटन या न्यूनाधिक्य हुए बिना नही रहता। वास्तविक प्रदेश केवल पौद्गलिक स्कन्धो में मिलते हैं। अतएव उनमें संघात या भेद होता रहता है। आत्मा अखण्ड द्रव्य है। उसमें संघात-विघात कभी नहीं होते और न उसके एक-दो तीन आदि प्रदेश जीव कहे जाते हैं। आत्मा कृत्स्न, परिपूर्ण-लोकाकाश तुल्य प्रदेश परिमाणवाली है[६७]। एक तन्तु भी पट का उपकारी होता है। उसके बिना पट पूरा नहीं बनता। परन्तु एक तन्तु पट नहीं कहा जाता। एक रूप में समुदित तन्तुओं का नाम पट है। वैसे ही जीव का एक प्रदेश जीव नहीं कहा जाता। असंख्य चेतन प्रदेशों का एक पिण्ड है, उसी का नाम जीव है।

अस्तित्व सिद्धि के दो प्रकार

प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व दो प्रकार से सिद्ध होता है—साधक प्रमाण से और बाधक प्रमाण के अभाव से। जैसे साधक प्रमाण अपनी सत्ता से साध्य का अस्तित्व सिद्ध करता है, ठीक उसी प्रकार बाधक प्रमाण न मिलने से भी उसका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। आत्मा को सिद्ध करने के लिए साधक प्रमाण अनेक मिलते हैं, किन्तु बाधक प्रमाण एक भी ऐसा नहीं मिलता, जो आत्मा का निषेधक हो। इससे जाना जाता है कि आत्मा एक स्वतन्त्र

द्रव्य है। हाँ, यह निश्चित है कि इन्द्रियों के द्वारा उसका ग्रहण नही होता। फिर भी आत्म-अस्तित्व में यह बाधक नहीं, क्योंकि बाधक वह बन सकता है, जो उस विषय को जानने में समर्थ हो और अन्य पूरी सामग्री होने पर भी उसे न जान सके। जैसे—आँख घट, पट आदि को देख सकती है। पर जिस समय उचित सामीप्य एवं प्रकाश आदि सामग्री होने पर भी वह उनको न देख सके, तब वह उस विषय की बाधक मानी जा सकती है। इन्द्रियो की ग्रहण-शक्ति परिमित है। वे सिर्फ पार्श्ववर्ती और स्थूल पौद्गलिक पदार्थों को ही जान सकती हैं। आत्मा अपौद्गलिक [अभौतिक] पदार्थ है। इसलिए इन्द्रियों द्वारा आत्मा को न जान सकना नही कहा जा सकता। यदि हम बाधक प्रमाण का अभाव होने से किसी पदार्थ का सद्भाव मानें तब तो फिर पदार्थ-कल्पना की बाढ़ सी आजाएगी। उसका क्या उपाय होगा? ठीक है, यह सन्देह हो सकता है, किन्तु बाधक प्रमाण का अभाव साधक प्रमाण के द्वारा पदार्थ का सद्भाव स्थापित कर देने पर ही कार्यकर होता है।

आत्मा के साधक प्रमाण मिलते हैं, इसीलिए उसकी स्थापना की जाती है। उस पर भी यदि-सन्देह किया जाता है, तब आत्मवादियों को वह हेतु भी अनात्मवादियो के सामने रखना जरूरी हो जाता है कि आप यह तो बतलाएं कि 'आत्मा नहीं है' इसका प्रमाण क्या है? 'आत्मा है' इसका प्रमाण चैतन्य की उपलब्धि है। चेतना हमारे प्रत्यक्ष है। उसके द्वारा अप्रत्यक्ष आत्मा का भी सद्भाव सिद्ध होता है। जैसे—

'चैतन्यलिङ्गोपलब्धेस्तद्ग्रहणम्[६८]।' धूम को देखकर मनुष्य अग्नि का ज्ञान कर लेता है, आतप को देखकर सूर्योदय का ज्ञान कर लेता है, इसका कारण यही है कि धुआं अग्नि का तथा आतप सूर्योदय का अविनाभावी है—उनके बिना वे निश्चितरूपेण नहीं होते। चेतना भूत समुदय का कार्य या भूत-धर्म है, यह नहीं माना जा सकता क्योकि भूत जड़ है। 'तयोरत्यन्ताभावात्'—भूत और चेतना में अत्यन्ताभाव—त्रिकालवर्ती विरोध होता है। चेतन कभी अचेतन और अचेतन कभी चेतन नहीं बन सकता। लोक-स्थिति का निरूपण करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए, ऐसा न कभी हुआ, न होता है और न कभी

होगा[11]। इसलिए हमें आत्मा की जड़ वस्तु से भिन्न सत्ता स्वीकार करनी होती है। यद्यपि कई विचारक आत्मा को जड़ पदार्थ का विकसित रूप मानते हैं, किन्तु यह संगत नहीं। विकास अपने धर्म के अनुकूल ही होता है और हो सकता है। चैतन्यहीन जड़ पदार्थ से चेतनावान् आत्मा का उपजना विकास नहीं कहा जा सकता। यह तो सर्वथा असत्-कार्यवाद है। इसलिए जड़त्व और चेतनत्व—इन दो विरोधी महाशक्तियों को एक मूल तत्त्वगत न मानना ही युक्ति-संगत है।

स्वतन्त्र सत्ता का हेतु

द्रव्य का स्वतंत्र अस्तित्व उसके विशेष गुण द्वारा सिद्ध होता है। अन्य द्रव्यों में न मिलने वाला गुण जिसमें मिले, वह स्वतंत्र द्रव्य होता है। सामान्यगुण जो कई द्रव्यों में मिले, उनसे पृथक् द्रव्य की स्थापना नहीं होती। चैतन्य आत्मा का विशिष्ट गुण है। वह उसके सिवाय और कहीं नहीं मिलता। अतएव आत्मा स्वतंत्र द्रव्य है और उसमें पदार्थ के व्यापक लक्षण—अर्थ—क्रियाकारित्व और सत् दोनों घटित होते हैं। पदार्थ वही है, जोप्रतिक्षण अपनी क्रिया करता रहे। अथवा पदार्थ वही है, जो सत् हो यानि पूर्व-पूर्ववर्ती अवस्थाओं को त्यागता हुआ, उत्तर-उत्तरवर्ती अवस्थाओं को प्राप्त करता हुआ भी अपने स्वरूप को न त्यागे। आत्मा में जानने की क्रिया निरन्तर होती रहती है। ज्ञान का प्रवाह एक क्षण के लिए भी नहीं रुकता और वह (आत्मा) उत्पाद, व्यय के स्रोत में बहती हुई भी ध्रुव है। बाल्य, यौवन, जरा आदि अवस्थाओं एवं मनुष्य, पशु आदि शरीरों का परिवर्तन होने पर भी उसका चैतन्य अक्षुण्ण रहता है। आत्मा में रूप आकार एवं वजन नहीं, फिर वह द्रव्य ही क्या ? यह निराधार शंका है। क्योंकि वे सब पुद्गल द्रव्य के अवान्तर-लक्षण हैं। सब पदार्थों में उनका होना आवश्यक नहीं होता।

पुनर्जन्म

मृत्यु के पश्चात् क्या होगा ? क्या हमारा अस्तित्व स्थायी है या वह मिट जाएगा ? इस प्रश्न पर अनात्मवादी का उत्तर यह है कि वर्तमान जीवन समाप्त

होने पर कुछ भी नही है। पांच भूतों से प्राण बनता है। उनके अभाव में प्राण-नाश हो जाता है—मृत्यु हो जाती है। फिर कुछ भी बचा नहीं रहता। आत्मवादी आत्मा को शाश्वत मानते हैं। इसलिए उन्होंने पुनर्जन्म के सिद्धान्त की स्थापना की। कर्म-लिप्त आत्मा का जन्म के पश्चात् मृत्यु और मृत्यु के पश्चात् जन्म होना निश्चित है। संक्षेप में यही पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त है।

जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म की परम्परा चलती है—यह विश्व की स्थिति है[७०]। जीव अपने ही प्रमाद से भिन्न-भिन्न जन्मान्तर करते हैं[७१]। पुनर्जन्म कर्म-संगी जीवों के ही होता है[७२]।

आयुष्य-कर्म के पुद्गल-परमाणु जीव में ऊँची-नीची, तिरछी-लम्बी और छोटी गति की शक्ति उत्पन्न करते हैं[७३]। उसी के अनुसार जीव नए जन्म-स्थान में जा उत्पन्न होते हैं।

राग-द्वेष कर्म-बन्ध के और कर्म जन्म-मृत्यु की परम्परा के कारण हैं। इस विषय में सभी क्रियावादी एक मत हैं। भगवान् महावीर के शब्दों में—"क्रोध, मान, माया और लोभ—ये पुनर्जन्म के मूल को पोषण देने वाले हैं[७४]। गीता कहती है—"जैसे फटे हुए कपड़े को छोड़कर मनुष्य नया कपड़ा पहिनता है, वैसे ही पुराने शरीर को छोड़कर प्राणी मृत्यु के बाद, नए शरीर को धारण करते हैं[७५]। यह आवर्तन प्रवृत्ति से होता है[७६]। महात्मा बुद्ध ने अपने पैर में चुभने वाले कांटे को पूर्वजन्म में किए हुए प्राणीवध का विपाक बताया[७७]।

नव-शिशु के हर्ष, भय, शोक आदि होते हैं। उसका कारण पूर्वजन्म की स्मृति है[७८]। नव-शिशु स्तन-पान करने लगता है। यह पूर्वजन्म में किए हुए आहार के अभ्यास से ही होता है[७९]। जिस प्रकार युवक का शरीर बालक-शरीर की उत्तरवर्ती अवस्था है, वैसे ही बालक का शरीर पूर्वजन्म के बाद में होने वाली अवस्था है। यह देह-प्राप्ति की अवस्था है। इसका जो अधिकारी है, वह आत्मा—देही है[८०]।

वर्तमान के सुख-दुःख अन्य सुख-दुःख पूर्वक होते हैं। सुख-दुःख का अनुभव वही कर सकता है, जो पहले उनका अनुभव कर चुका है। नव-शिशु को जो सुख-दुःख का अनुभव होता है, वह भी पूर्व-अनुभव युक्त है। जीवन

का मोह और मृत्यु का भय। पूर्व-बद्ध संस्कारों का परिणाम है। यदि पूर्व-जन्म में इनका अनुभव न हुआ होता तो नवोत्पन्न प्राणियों में ऐसी वृत्तियां नहीं मिलतीं। इस प्रकार भारतीय आत्मवादियों ने विविध युक्तियों से पूर्वजन्म का समर्थ किया है। पाश्चात्य दार्शनिक भी इस विषय में मौन नहीं हैं।

प्राचीन दार्शनिक प्लेटो [Plato] ने कहा है कि—"आत्मा सदा अपने लिए नए-नए वस्त्र बुनती है तथा आत्मा में एक जैसी नैसर्गिक शक्ति है, जो ध्रुव रहेगी और अनेक बार जन्म लेगी[८१]।"

नवीन दार्शनिक 'शोपनहोर' के शब्दों में पुनर्जन्म निसंदिग्ध तत्व है। जैसे—"मैंने यह भी निवेदन किया कि जो कोई पुनर्जन्म के बारे में पहले-पहल सुनता है, उसे भी वह स्पष्टरूपेण प्रतीत हो जाता है[८२]।

पुनर्जन्म की अवहेलना करने वाले व्यक्तियों की प्रायः दो प्रधान शंकाएं सामने आती हैं। जैसे—यदि हमारा पूर्वभव होता तो हमें उसकी कुछ-न-कुछ तो स्मृतियां होतीं ? यदि दूसरा जन्म होता तो आत्मा की गति एवं आगति हम क्यों नहीं देख पाते ?

पहली शंका का हम अपने बाल्य-जीवन से ही समाधान कर सकते हैं। बचपन की घटनावलियाँ हमें स्मरण नहीं आतीं तो क्या इसका यह अर्थ होगा कि हमारी शैशव-अवस्था हुई नहीं थी ? एक दो वर्ष के नव-शैशव की घटनाएं स्मरण नहीं होतीं, तो भी अपने बचपन में किसी को सन्देह नहीं होता। वर्तमान जीवन की यह बात है, तब फिर पूर्वजन्म को हम इस युक्ति से कैसे हवा में उड़ा सकते हैं। पूर्वजन्म की भी स्मृति हो सकती है, यदि उतनी शक्ति जाग्रत हो जाए। जिसे 'जाति-स्मृति' [पूर्वजन्म-स्मरण] हो जाती है, वह अनेक जन्मों के घटनाओं का साक्षात्कार कर सकता है।

दूसरी शङ्का एक प्रकार से नहीं के समान है। आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता—उसके दो कारण हैं—एक तो वह अमूर्त है—रूप रहित है। इसलिए दृष्टिगोचर नहीं होता। दूसरे वह सूक्ष्म है, इसलिए शरीर में प्रवेश करता हुआ या निकलता हुआ उपलब्ध नहीं होता। "नाऽभावोऽनीक्षणादपि"—नहीं दीखने मात्र से किसी वस्तु का अभाव नहीं होता। सूर्य के प्रकाश में नक्षत्र-गण नहीं देखा जाता। इससे उसका अभाव थोड़ा ही माना जा सकता है।

अन्धकार में कुछ नहीं दीखता, क्या यह मान लिया जाए कि यहाँ कुछ भी नहीं है ? ज्ञान-शक्ति की एकदेशीयता से किसी भी सत्-पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार न करना उचित नहीं होता। अब हमें पुनर्जन्म की सामान्य स्थिति पर भी कुछ दृष्टिपात कर लेना चाहिए। दुनियां में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जो अत्यन्त-असत् से सत् बन जाए—जिसका कोई भी अस्तित्व नहीं, वह अपना अस्तित्व बना ले। यहाँ "असओणत्थि भावो, सओणत्थि निसे हो"—या—"नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः"। ये पंक्तियां बड़ी उपयुक्त हैं। अभाव से भाव एवं भाव से अभाव नहीं होता है तब फिर जन्म और मृत्यु, नाश और उत्पाद, यह क्या है ? यह परिवर्तन है—प्रत्येक पदार्थ में परिवर्तन होता है। परिवर्तन से पदार्थ एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में चला जाता है। किन्तु न तो सर्वथा नष्ट होता है और न सर्वथा उत्पन्न भी। दूसरे-दूसरे पदार्थों में भी परिवर्तन होता है, वह हमारे सामने है। प्राणियों में भी परिवर्तन होता है। वे जन्मते हैं, मरते हैं। जन्म का अर्थ अत्यन्त नई वस्तु की उत्पत्ति नहीं और मृत्यु से जीव का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता। केवल वैसा ही परिवर्तन है, जैसे यात्री एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान में चले जाते हैं। अच्छा होगा कि उक्त सूत्र को एक बार फिर दोहराया जाए—यह एक ध्रुव सत्य है कि सत्ता [अत्यन्त हाँ] से असत्ता [अत्यन्त नहीं] एवं असत्ता से सत्ता कभी नहीं होती। परिवर्तन को जोड़ने वाली कड़ी आत्मा है। वह अन्वयी है। पूर्वजन्म और उत्तर जन्म दोनों उसकी अवस्थाएं हैं। वह दोनों में एक रूप से रहती है। अतएव अतीत और भविष्य की घटनावलियों की शृङ्खला जुड़ती है। शरीर-शास्त्र के अनुसार सात वर्ष के बाद शरीर के पूर्व परमाणु च्युत हो जाते हैं—सब अवयव नए बन जाते हैं। इस सर्वाङ्गीण परिवर्तन में आत्मा का लोप नहीं होता। तब फिर मृत्यु के बाद उसका अस्तित्व कैसे मिट जाएगा ?

अन्तर-काल

प्राणी मरता है और जन्मता है, एक शरीर को छोड़ता है और दूसरा शरीर बनाता है। मृत्यु और जन्म के बीच का समय अन्तर-काल कहा जाता है। उसका परिमाण एक, दो, तीन या चार समय तक का है [८३]। अन्तर-

स्थूल शरीर-रहित आत्मा की गति होती है। उसका नाम 'अन्तराल-गति' है। वह दो प्रकार की होती है। ऋजु और वक्र। मृत्युस्थान से जन्म-स्थान सरल रेखा में होता है, वहाँ आत्मा की गति ऋजु होती है। और वह विषम रेखा में होता है, वहाँ गति वक्र होती है। ऋजु गति में सिर्फ एक समय लगता है। उसमें आत्मा को नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता। क्योंकि जब वह पूर्व शरीर छोड़ता है तब उसे पूर्व शरीर जन्य वेग मिलता है और वह धनुष से छूटे हुए बाण की तरह सीधे ही नए जन्म स्थान में पहुंच जाता है। वक्रगति में घुमाव करने पड़ते हैं। उनके लिए दूसरे प्रयत्नों की आवश्यकता होती है। घूमने का स्थान आते ही पूर्व-देह जनित वेग मन्द पड़ जाता है और सूक्ष्म शरीर-कार्मण शरीर द्वारा जीव नया प्रयत्न करता है। इसलिए उसमें समय-संख्या बढ़ जाती है। एक घुमाव वाली वक्रगति में दो समय, दो घुमाव वाली में तीन समय और तीन घुमाव वाली में चार समय लगते हैं। इसका तर्क-संगत कारण लोक-संस्थान है। सामान्यतः यह लोक ऊर्ध्व, अधः, तिर्यग्—यों तीन भागों में तथा जीवोत्पत्ति की अपेक्षा त्रस नाड़ी और स्थावर [illegible], इस प्रकार दो भागों में विभक्त है।

चतुः सामयिकी' गति होती है। एक समय अधोवर्त्ती विदिशा से दिशा में पहुँचने में, दूसरा समय त्रस नाड़ी में प्रवेश करने में, तीसरा समय ऊर्ध्वगमन में और चौथा समय त्रसनाड़ी से निकल उस पार स्थावर नाड़ी गत उत्पत्ति-स्थान तक पहुंचने में लगता है। आत्मा स्थूल शरीर के अभाव में भी सूक्ष्म शरीर द्वारा गति करती है और मृत्यु के बाद वह दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश नहीं करती। किन्तु स्वयं उसका निर्माण करती है। तथा संसार-अवस्था में वह सूक्ष्म-शरीर-मुक्त कभी नहीं होती। अतएव पुनर्जन्म की प्रक्रिया में कोई बाधा नहीं आती।

जन्म व्युत्क्रम और इन्द्रिय :—

आत्मा का एक जन्म से दूसरे जन्म में उत्पन्न होना संक्रान्तिकाल है। उसमें आत्मा की ज्ञानात्मक स्थिति कैसी रहती है। इस पर हमें कुछ विचार करना है। अन्तराल-गति में आत्मा के स्थूल-शरीर नहीं होता। उसके अभाव में आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियां भी नहीं होती। वैसी स्थिति में जीव का जीवत्व कैसे टिका रहे। कम से कम एक इन्द्रिय की ज्ञानमात्रा तो प्राणी के लिए अनिवार्य है। जिसमें यह नहीं होती, वह प्राणी भी नहीं होता। इस समस्या को शास्त्रकारों ने स्याद्वाद के आधार पर सुलझाया है।

"भगवन्! एक जन्म से दूसरे जन्म में व्युत्क्रम्यमाण जीव स-इन्द्रिय होता है या अन्-इन्द्रिय[८४]? इसका उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा—'गौतम! द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा जीव अन-इन्द्रिय व्युत्क्रान्त होता है और लब्धीन्द्रिय की अपेक्षा स-इन्द्रिय।"

आत्मा में ज्ञानेन्द्रिय की शक्ति अन्तरालगति में भी होती है। त्वचा, नेत्र आदि सहायक इन्द्रियां नहीं होतीं। उसे स्व-संवेदन का अनुभव होता है— किन्तु सहायक इन्द्रियों के अभाव में इन्द्रिय शक्ति का उपयोग नहीं होता। सहायक इन्द्रियों का निर्माण स्थूल-शरीर-रचना के समय इन्द्रिय-ज्ञान की शक्ति के अनुपात पर होता है। एक इन्द्रिय की योग्यतावाले प्राणी की शरीर-रचना में त्वचा के सिवाय और इन्द्रियों की आकृतियां नहीं बनतीं। द्वीन्द्रिय आदि जातियों में क्रमशः रसन, घ्राण, चक्षुः और श्रोत्र की रचना होती है।

स्थूल शरीर-रहित आत्मा की गति होती है। उसका नाम 'अन्तराल-गति' है। वह दो प्रकार की होती है। ऋजु और वक्र। मृत्युस्थान से जन्म-स्थान सरल रेखा में होता है, वहाँ आत्मा की गति ऋजु होती है। और वह विषम रेखा में होता है, वहाँ गति वक्र होती है। ऋजु गति में सिर्फ एक समय लगता है। उसमें आत्मा को नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता। क्योंकि जब वह पूर्व शरीर छोड़ता है तब उसे पूर्व शरीर जन्य वेग मिलता है और वह धनुष से छूटे हुए बाण की तरह सीधे ही नए जन्म स्थान में पहुंच जाता है। वक्रगति में घुमाव करने पड़ते हैं। उनके लिए दूसरे प्रयत्नो की आवश्यकता होती है। घूमने का स्थान आते ही पूर्व-देह जनित वेग मन्द पड़ जाता है और सूक्ष्म शरीर-कार्मण शरीर द्वारा जीव नया प्रयत्न करता है। इसलिए उसमें समय-संख्या बढ़ जाती है। एक घुमाव वाली वक्रगति में दो समय, दो घुमाव वाली में तीन समय और तीन घुमाव वाली में चार समय लगते हैं। इसका तर्क-संगत कारण लोक-संस्थान है। सामान्यतः यह लोक ऊर्ध्व, अधः, तिर्यग्—यो तीन भागो में तथा जीवोत्पत्ति की अपेक्षा त्रस नाड़ी और स्थावर नाड़ी, इस प्रकार दो भागों में विभक्त है।

द्विसामयिक गति—

ऊर्ध्व लोक की पूर्व दिशा से अधोलोक की पश्चिम दिशा में उत्पन्न होने वाले जीव की गति एक वक्राद्विसामयिकी होती है। पहिले समय में समश्रेणी में गमन करता हुआ जीव अधोलोक में जाता है और दूसरे समय में तिर्यग्वर्ती अपने-अपने उत्पत्ति-क्षेत्र में पहुँच जाता है।

त्रि सामयिक गति—

ऊर्ध्व दिशावर्त्ती अग्निकोण से अधोदिशावर्त्ती वायव्य कोण में उत्पन्न होने वाले जीव की गति द्विवक्रात्रिसामयिकी होती है। पहिले समय में जीव समश्रेणी गति से नीचे आता है, दूसरे समय में तिरछा चल पश्चिम दिशा में और तीसरे समय में तिरछा चलकर वायव्य कोण में अपने जन्मस्थान पर पहुँच जाता है।

स्थावर-नाड़ी गत अधोलोक की विदशा के इस पार से उस पार की स्थावर-नाड़ी गत ऊर्ध्व लोक की दिशा में पैदा होने वाले जीव की 'त्रि-वक्रा'

चतुः सामयिकी' गति होती है। एक समय अधोवर्ती विदिशा से दिशा में पहुँचने में, दूसरा समय त्रस नाड़ी में प्रवेश करने में, तीसरा समय ऊर्ध्वगमन में और चौथा समय त्रसनाड़ी से निकल उस पार स्थावर नाड़ी गत उत्पत्ति-स्थान तक पहुंचने में लगता है। आत्मा स्थूल शरीर के अभाव में भी सूक्ष्म शरीर द्वारा गति करती है और मृत्यु के बाद वह दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश नहीं करती। किन्तु स्वयं उसका निर्माण करती है। तथा संसार-अवस्था में वह सूक्ष्म-शरीर-मुक्त कभी नहीं होती। अतएव पुनर्जन्म की प्रक्रिया में कोई बाधा नहीं आती।

जन्म व्युत्क्रम और इन्द्रिय :—

आत्मा का एक जन्म से दूसरे जन्म में उत्पन्न होना संक्रान्तिकाल है। उसमें आत्मा की ज्ञानात्मक स्थिति कैसी रहती है। इस पर हमें कुछ विचार करना है। अन्तराल-गति में आत्मा के स्थूल-शरीर नहीं होता। उसके अभाव में आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियां भी नहीं होती। वैसी स्थिति में जीव का जीवत्व कैसे टिका रहे। कम से कम एक इन्द्रिय की ज्ञानमात्रा तो प्राणी के लिए अनिवार्य है। जिसमें यह नहीं होती, वह प्राणी भी नहीं होता। इस समस्या को शास्त्रकारों ने स्याद्वाद के आधार पर सुलझाया है।

"भगवन्! एक जन्म से दूसरे जन्म में व्युत्क्रम्यमाण जीव स-इन्द्रिय होता है या अन्-इन्द्रिय[८४]? इसका उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने कहा—'गौतम! द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा जीव अन-इन्द्रिय व्युत्क्रान्त होता है और लब्धीन्द्रिय की अपेक्षा स-इन्द्रिय।"

आत्मा में ज्ञानेन्द्रिय की शक्ति अन्तरालगति में भी होती है। त्वचा, नेत्र आदि सहायक इन्द्रियां नहीं होती। उसे स्व-संवेदन का अनुभव होता है—किन्तु सहायक इन्द्रियों के अभाव में इन्द्रिय शक्ति का उपयोग नहीं होता। सहायक इन्द्रियों का निर्माण स्थूल-शरीर-रचना के समय इन्द्रिय-ज्ञान की शक्ति के अनुपात पर होता है। एक इन्द्रिय की योग्यतावाले प्राणी की शरीर-रचना में त्वचा के सिवाय और इन्द्रियों की आकृतियां नहीं बनतीं। द्वीन्द्रिय आदि जातियों में क्रमशः रसन, घ्राण, चक्षुः और श्रोत्र की रचना होती है।

दोनों प्रकार की इन्द्रियों के सहयोग से प्राणी इन्द्रिय-ज्ञान का उपयोग करते हैं।

स्व-नियमन

जीव-स्वयं-चालित है। स्वयं-चालित का अर्थ पर सहयोग-निरपेक्ष नहीं, किन्तु संचालक-निरपेक्ष है। जीव की प्रतीति उसी के उत्थान, बल, वीर्य, पुरुषकार—पराक्रम से होती है [८५]। उत्थान आदि शरीर-उत्पन्न हैं। शरीर जीव द्वारा निष्पन्न है। क्रम इस प्रकार बनता है :—

जीवप्रभव शरीर,

शरीरप्रभव वीर्य,

वीर्यप्रभव योग (मन, वाणी और कर्म) [८६]।

वीर्य दो प्रकार का होता है—(१) लब्धि वीर्य (२) करणवीर्य। लब्धि-वीर्य सत्तात्मक शक्ति है। उसकी दृष्टि से सब जीव सवीर्य होते हैं। करण वीर्य क्रियात्मक शक्ति है। यह जीव और शरीर दोनों के सहयोग से उत्पन्न होती है [८७]।

जीव में सक्रियता होती है, इसलिए वह पौद्गलिक कर्म का संग्रह या स्वीकरण करता है। पौद्गलिक कर्म का संग्रहण करता है, इसलिए उससे प्रभावित होता है।

कर्तृत्व और फल-भोक्तृत्व एक ही शृंखला के दो सिरे हैं। कर्तृत्व स्वयं का और फल-भोक्तृत्व के लिए दूसरी सत्ता का नियमन—ऐसी स्थिति नहीं बनती।

फल-प्राप्ति इच्छा-नियंत्रित नहीं किन्तु क्रिया-नियंत्रित है। हिंसा, असत्य आदि क्रिया के द्वारा कर्म-पुद्गलों का संचय कर जीव भारी बन जाते हैं [८८]। इनकी विरक्ति करने वाला जीव कर्म-पुद्गलों का संचय नहीं करता, इसलिए वह भारी नहीं बनता [८९]।

जीव कर्म के भार से जितना अधिक भारी होता है, वह उतनी ही अधिक निम्नगति में उत्पन्न होता है [९०] और हल्का ऊर्ध्वगति में [९१]। गुरुकर्मा जीव इच्छा न होने पर भी अधोगति में जावेगा। कर्म-पुद्गलों को उसे कहाँ ले जाना है—यह ज्ञान नहीं होता। किन्तु पर भव योग्य आयुष्य कर्म-पुद्गलों

का जो संग्रह हुआ होता है, वह पकते ही अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देता है। पहले जीवन यानि वर्तमान आयुष्य के कर्म-परमाणुओं की क्रिया समाप्त होते ही अगले आयुष्य के कर्म-पुद्गल अपनी क्रिया प्रारम्भ कर देते हैं। दो आयुष्य के कर्म-पुद्गल जीव को एक साथ प्रभावित नहीं करते[१२]। वे पुद्गल जिस स्थान के उपयुक्त बने हुए होते हैं, उसी स्थान पर जीव को घसीट ले जाते हैं[१३]। उन पुद्गलों की गति उनकी रासायनिक क्रिया [रस-बंध या अनुभाव वन्ध] के अनुरूप होती है। जीव उनसे बद्ध होता है, इसलिए उसे भी वहीं जाना पड़ता है। इस प्रकार पुनरावर्तन एक जन्म से दूसरे जन्म में गति और आगति स्व-नियमन से ही होती है।

नौ

वेदना
काल-निर्णय
निर्जरा
आत्मा स्वतंत्र है या कर्म के अधीन
कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया
अनादि का अन्त कैसे ?
लेश्या
कर्म के संयोग और वियोग से होने वाली
आध्यात्मिक विकास और ह्रास की रेखाएं।
क्षयोपशम

"मलावृतमरोर्व्यक्तिर्यथानेकविधेद्यते ।
कर्मावृतात्मनस्तद्वत्, योग्यता विविधा न किम् ॥"

—तत्त्वार्थ-श्लोक वार्तिक-१६१

"आत्मा तदन्यसंयोगात्, संसारी तद्वियोगतः ।
स एव मुक्त एतौ च, तत् स्वाभाव्यात्तयो स्तथा ॥" —योगबिन्दु

भारत के सभी आस्तिक दर्शनों में जगत् की विभक्ति,[1] विचित्रता[2] और साधन तुल्य होने पर भी फल के तारतम्य या अन्तर को सहेतुक माना है[3]। उस हेतु को वेदान्ती 'अविद्या,' बौद्ध 'वासना' सांख्य 'क्लेश' और न्याय-वैशेषिक 'अदृष्ट' तथा जैन 'कर्म' कहते हैं[4]। कई दर्शन कर्म का सामान्य निर्देशमात्र करते हैं और कई उसके विभिन्न पहलुओं पर विचार करते-करते बहुत आगे बढ़ जाते हैं। न्याय दर्शन के अनुसार अदृष्ट आत्मा का गुण है। अच्छे-बुरे कर्मों का आत्मा पर संस्कार पड़ता है, वह अदृष्ट है। जब तक उनका फल नहीं मिल जाता, तब तक वह आत्मा के साथ रहता है। उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है[5]। कारण कि यदि ईश्वर कर्म-फल की व्यवस्था न करे तो कर्म निष्फल हो जाएं। सांख्य कर्म को प्रकृति का विकार मानता है[6]। अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों का प्रकृति पर संस्कार पड़ता है। उस प्रकृतिगत-संस्कार से ही कर्मों के फल मिलते हैं। बौद्धों ने चित्तगत वासना को कर्म माना है। यही कार्य कारण-भाव के रूप में सुख दुःख का हेतु बनती है। जैन-दर्शन कर्म को स्वतन्त्र तत्त्व मानता है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं। ये समूचे लोक में जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके साथ बंध जाते हैं, यह उनकी बध्यमान (बंध) अवस्था है। बन्धने के बाद उनका परिपाक होता है, वह सत् (सत्ता) अवस्था है। परिपाक के बाद उनसे सुख-दुःख रूप तथा आवरण रूप फल मिलता है, वह उदयमान (उदय) अवस्था है। अन्य दर्शनों में कर्मों की क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध—ये तीन अवस्थाएं बताई गई हैं। ये ठीक क्रमशः बन्ध, सत् और उदय की समानार्थक हैं...बन्ध के प्रकृति, स्थिति, विपाक और प्रदेश—ये चार

प्रकार, उदीरणा—कर्म का शीघ्र फल मिलना, उद्वर्तन—कर्म की स्थिति और विपाक की वृद्धि होना, अपवर्तन—कर्म की स्थिति और विपाक में कमी होना, संक्रमण—कर्म की सजातीय प्रकृतियो का एक दूसरे के रूप में बदलना, आदि आदि अवस्थाएं जैनो के कर्म-सिद्धान्त के विकास की सूचक हैं।

बन्ध के कारण क्या हैं? बन्धे हुए कर्मों का फल निश्चित होता है या अनिश्चित? कर्म जिस रूप में बन्धते हैं, उसी रूप में उनका फल मिलता है या अन्यथा? धर्म करने वाला दुःखी और अधर्म करने वाला सुखी कैसे? आदि-आदि विषयो पर जैन ग्रन्थकारों ने खूब विस्तृत विवेचन किया है। इन सबको लिया जाए तो दूसरा ग्रन्थ बन जाए। इसीलिए यहाँ इन सब प्रसंगो में न जाकर कुछ विशेष बातो की ही चर्चा करना उपयुक्त होगा।

आत्मा का आन्तरिक वातावरण

पदार्थ के असंयुक्त रूप में शक्ति का तारतम्य नहीं होता। दूसरे पदार्थ से संयुक्त होने पर ही उसकी शक्ति न्यून या अधिक बनती है। दूसरा पदार्थ शक्ति का बाधक होता है, वह न्यून हो जाती है। बाधा हटती है, वह प्रगट हो जाती है। संयोग-दशा में यह ह्रास-विकास का क्रम चलता ही रहता है। असंयोग-दशा में पदार्थ का सहज रूप प्रगट हो जाता है, फिर उसमें ह्रास या विकास कुछ भी नहीं होता।

आत्मा की आन्तरिक योग्यता के तारतम्य का कारण कर्म है। कर्म के संयोग से वह (आन्तरिक योग्यता) आवृत होती है या विकृत होती है। कर्म के विलय (असंयोग) से उसका स्वभावोदय होता है। बाहरी स्थिति आन्तरिक स्थिति को उत्तेजित कर आत्मा पर प्रभाव डाल सकती है, सीधा नहीं। शुद्ध या कर्म-मुक्त आत्मा पर बाहरी परिस्थिति का कोई भी असर नहीं होता। अशुद्ध या कर्म-बद्ध आत्मा पर ही उसका प्रभाव होता है। वह भी अशुद्धि की मात्रा के अनुपात से। शुद्धि की मात्रा बढ़ती है, बाहरी वातावरण का असर कम होता है, शुद्धि की मात्रा कम होती है, बाहरी वातावरण छा जाता है। परिस्थिति ही प्रधान होती तो शुद्ध और अशुद्ध पदार्थ पर समान असर होता, किन्तु ऐसा नहीं होता है। परिस्थिति उत्तेजक है, कारक नहीं।

विजातीय सम्बन्ध विचारणा की दृष्टि से आत्मा के साथ सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध कर्म पुद्गलो का है। समीपवर्ती का जो प्रभाव पड़ता है, वह दूरवर्ती का नही पड़ता। परिस्थिति दूरवर्ती घटना है। वह कर्म की उपेक्षा कर आत्मा को प्रभावित नही कर सकती। उसकी पहुँच कर्म संघटना तक ही है। उससे कर्म संघटना प्रभावित होती है फिर उससे आत्मा। जो परिस्थिति कर्म-संस्थान को प्रभावित न कर सके, उसका आत्मा पर कोई असर नहीं होता।

बाहरी परिस्थिति सामूहिक होती है। कर्म को वैयक्तिक परिस्थिति कहा जा सकता है। यही कर्म की सत्ता का स्वयम्भू-प्रमाण है।

परिस्थिति

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म की सह-स्थिति का नाम ही परिस्थिति है।

काल से ही सब कुछ होता है, यह एकान्त दृष्टि मिथ्या है।
क्षेत्र ” ” ” ” ” ” ” ” ” ” ”
स्वभाव से ” ” ” ” ” ” ” ” ” ”
पुरुषार्थ से ” ” ” ” ” ” ” ” ” ”
नियति ” ” ” ” ” ” ” ” ” ” ”
कर्म ” ” ” ” ” ” ” ” ” ” ”

काल से भी कुछ बनता है, यह सापेक्ष-दृष्टि सत्य है।
क्षेत्र (स्थान) से भी कुछ बनता है, यह सापेक्ष दृष्टि सत्य है।
स्वभाव से भी ” ” ” ” ” ” ” ”
पुरुषार्थ से भी ” ” ” ” ” ” ” ”
नियति ” ” ” ” ” ” ” ” ” ”
कर्म ” ” ” ” ” ” ” ” ” ”

वर्तमान के जैन मानस में . काल-मर्यादा, क्षेत्र-मर्यादा, स्वभाव-मर्यादा, पुरुषार्थ मर्यादा और नियति-मर्यादा का जैसा स्पष्ट विवेक या अनेकान्त-दर्शन है, वैसा कर्म-मर्यादा का नहीं रहा है। जो कुछ होता है, वह कर्म से ही होता है—ऐसा घोष साधारण हो गया है। यह एकान्तवाद सच नहीं है। आत्म-गुण का विकास कर्म से नहीं होता, कर्म के विलय से होता है।

परिस्थितिवाद के एकान्त-आग्रह के प्रति जैन-दृष्टि यह है—रोग देश-काल की स्थिति से ही पैदा नहीं होता, किन्तु देश-काल की स्थिति से कर्म की उत्तेजना (उदीरणा) होती है और उत्तेजित कर्म-पुद्गल रोग पैदा करते हैं। इस प्रकार जितनी भी बाहरी परिस्थितियां हैं, वे सब कर्म-पुद्गलो में उत्तेजना लाती हैं। उत्तेजित कर्म-पुद्गल आत्मा में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन लाते हैं। परिवर्तन पदार्थ का स्वभाव सिद्ध धर्म है। वह संयोग-कृत होता है, तब विभाव-रूप होता है। दूसरे के संयोग से नही होता, तब उसकी परिणति स्वाभाविक हो जाती है।

कर्म की पौद्गलिकता

अन्य दर्शन कर्म को जहाँ संस्कार या वासना रूप मानते हैं, वहाँ जैन-दर्शन उसे पौद्गलिक मानता है। 'जिस वस्तु का जो गुण होता है, वह उसका विघातक नही बनता।' आत्मा का गुण उसके लिए आवरण पारतन्त्र्य और दुःख का हेतु कैसे बने ?

कर्म जीवात्मा के आवरण, पारतन्त्र्य और दुःखो का हेतु है—गुणों का विघातक है। इसलिए वह आत्मा का गुण नही हो सकता।

बेड़ी से मनुष्य बन्धता है, सुरापान से पागल बनता है, क्लोरोफार्म से बेभान बनता है। ये सब पौद्गलिक वस्तुएं हैं। ठीक इसी प्रकार कर्म के संयोग से भी आत्मा की ये दशाएं बनती हैं। इसलिए वह भी पौद्गलिक है। ये बेड़ी आदि बाहरी बन्धन एवं अल्प सामर्थ्य वाली वस्तुएं हैं। कर्म आत्मा के साथ चिपके हुए तथा अधिक सामर्थ्य वाले सूक्ष्म स्कन्ध हैं। इसीलिए उनकी अपेक्षा कर्म-परमाणुओं का जीवात्मा पर गहरा और आन्तरिक प्रभाव पड़ता है।

शरीर पौद्गलिक है, उसका कारण कर्म है। इसलिए वह भी पौद्गलिक है। पौद्गलिक कार्य का समवायी कारण पौद्गलिक होता है। मिट्टी भौतिक है तो उससे बनने वाला पदार्थ भौतिक ही होगा।

आहार आदि अनुकूल सामग्री [illegible] वि और शस्त्र-प्रहार आदि से दुःखानुभूति होती है। आहार [illegible] लिक हैं, इसी प्रकार सुख दुःख के हेतुभूत कर्म भी पौद्गलिक हैं।

बन्ध की अपेक्षा जीव और पुद्गल अभिन्न हैं—एकमेक हैं। लक्षण की अपेक्षा वे भिन्न हैं। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन, जीव अमूर्त है और पुद्गल मूर्त।

इन्द्रिय के विषय स्पर्श आदि मूर्त हैं। उनको भोगने वाली इन्द्रियां मूर्त हैं। उनसे होने वाला सुख-दुःख मूर्त है। इसलिए उनके कारण-भूत कर्म भी मूर्त हैं [७]।

मूर्त ही मूर्त को स्पर्श करता है। मूर्त ही मूर्त से बंधता है। अमूर्त जीव मूर्त कर्मों को अवकाश देता है। वह उन कर्मों से अवकाश-रूप हो जाता है [८]।

गीता, उपनिषद् आदि में अच्छे-बुरे कार्यों को जैसे कर्म कहा है, वैसे जैन-दर्शन में कर्म-शब्द क्रिया का वाचक नहीं है। उसके अनुसार वह (कर्म-शब्द) आत्मा पर लगे हुए सूक्ष्म पौद्गलिक पदार्थ का वाचक है।

आत्मा की प्रत्येक सूक्ष्म और स्थूल मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति के द्वारा उसका आकर्षण होता है। इसके बाद स्वीकरण (आत्मीकरण-प्रदेशबन्ध-जीव और कर्म-परमाणुओं का एकी भाव) होता है।

कर्म के हेतुओं को भाव-कर्म या मल और कर्म-पुद्गलों को द्रव्य-कर्म या रज कहा जाता है। इनमें निमित्त-नैमित्तिक भाव है। भाव-कर्म से द्रव्य-कर्म का संग्रह और द्रव्य-कर्म के उदय से भाव कर्म तीव्र होता है [९]।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कैसे ?

आत्मा अमूर्त है, तब उसका मूर्त कर्म से सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? यह भी कोई जटिल समस्या नहीं है। प्रायः सभी आस्तिक दर्शनों ने संसार और जीवात्मा को अनादि माना है। वह अनादिकाल से ही कर्मबद्ध और विकारी है। कर्मबद्ध आत्माएं कथंचित् मूर्त हैं अर्थात् निश्चय दृष्टि के अनुसार स्वरूपतः अमूर्त होते हुए भी वे संसार दशा में मूर्त होती हैं [१०]। जीव दो प्रकार के हैं—रूपी और अरूपी [११]। मुक्त जीव अरूपी हैं और संसारी जीव रूपी।

कर्ममुक्त आत्मा के फिर कभी कर्म का बन्ध नहीं होता। कर्मबद्ध आत्मा

के ही कर्म बन्धते हैं—उन दोनों का अपश्चानुपूर्वी (न पहले और न पीछे) रूप से अनादिकालीन सम्बन्ध चला आरहा है।

अमूर्त ज्ञान पर मूर्त मादक द्रव्यो का असर होता है, वह अमूर्त के साथ मूर्त का सम्बन्ध हुए विना नहीं हो सकता। इससे जाना जाता है कि विकारी अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त का सम्बन्ध होने में कोई आपत्ति नहीं आती।

बन्ध के हेतु[१२]

कर्म-सम्बन्ध के अनुकूल आत्मा की परिणति या योग्यता ही बन्ध का हेतु है। बन्ध के हेतुओं का निरूपण अनेक रूपों में हुआ है।

गौतम ने पूछा[१३]—भगवन्! जीव कांक्षा मोहनीय कर्म बांधता है?

भगवान्—गौतम! बांधता है।

गौतम—भगवन्! वह किन कारणों से बांधता है?

भगवान्—गौतम! उसके दो हेतु हैं (१) प्रमाद, (२) योग।

गौतम—भगवन्! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—योग से।

गौतम—योग किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—वीर्य से।

गौतम—वीर्य किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—शरीर से।

गौतम—शरीर किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—जीव से।

तात्पर्य यह है कि जीव शरीर का निर्माता है। क्रियात्मक वीर्य का साधन शरीर है। शरीरधारी जीव ही प्रमाद और योग के द्वारा कर्म (कांक्षा-मोहनीय) का बन्ध करता है। स्थानांग[१४] और प्रज्ञापना में कर्मबन्ध के क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कारण बतलाए हैं[१५]।

बन्ध

"णत्थि बन्धे व मोक्खे वा णेवं सन्नं निवेसए।
अत्थि बन्धे व मोक्खे वा एवं सन्नं निवेसए॥" —सूत्र० २।५

माकंदिक-पुत्र ने पूछा—"भगवन्! भाव बन्ध कितने प्रकार का है?"

भगवान् ने कहा—"माकंदिक-पुत्र! भाव-बन्ध दो प्रकार का है: — (१) मूल प्रकृति-बन्ध (२) उत्तर-प्रकृति-बन्ध [१६]।"

बन्ध आत्मा और कर्म के सम्बन्ध की पहली अवस्था है। वह चतूरूप है:— (१) प्रकृति (२) स्थिति (३) अनुभाग (४) प्रदेश [१७]।

बन्ध का अर्थ है—आत्मा और कर्म का संयोग और कर्म का निर्मापण—व्यवस्थाकरण [१८]। ग्रहण के समय कर्म-पुद्गल अविभक्त होते हैं। ग्रहण के पश्चात् वे आत्म-प्रदेशों के साथ एकीभूत होते हैं। यह प्रदेश-बन्ध (या एकीभाव की व्यवस्था) है।

इसके साथ-साथ वे कर्म-परमाणु कार्य-भेद के अनुसार आठ वर्गों में बंट जाते हैं। इसका नाम प्रकृति-बन्ध (स्वभाव-व्यवस्था) है। कर्म की मूल प्रकृतियां (स्वभाव) आठ हैं—(१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयुष्य (६) नाम (७) गोत्र (८) अन्तराय [१९]।

संक्षिप्त-विभाग :—

(१) ज्ञानावरण	(क) देशज्ञानावरण	(ख) सर्वज्ञानावरण
(२) दर्शनावरण	(क) देश दर्शनावरण	(ख) सर्व दर्शनावरण
(३) वेदनीय	(क) सात-वेदनीय	(ख) असात-वेदनीय
(४) मोहनीय	(क) दर्शन-मोहनीय	(ख) चारित्र-मोहनीय
(५) आयुष्य	(क) अद्धायु	(ख) भवायु
(६) नाम	(क) शुभ-नाम	(ख) अशुभ-नाम
(७) गोत्र	(क) उच्च-गोत्र	(ख) नीच-गोत्र
(८) अन्तराय	(क) प्रत्युत्पन्न-विनाशी	(ख) पिहित आगामीपथ [२०]

विस्तृत-विभाग :—

१—ज्ञानावरण—ज्ञान को आवृत्त करने वाले कर्म पुद्गल।

(१) आभिनिबोधिक ज्ञानावरण—इन्द्रिय और मन के द्वारा होने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

(२) श्रुत-ज्ञानावरण—शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से होने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

(३) अवधि-ज्ञानावरण—मूर्त्त द्रव्य-पुद्गल को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

(४) मनः पर्याय-ज्ञानावरण—दूसरों के मन की पर्यायों को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

(५) केवल ज्ञानावरण—सर्व द्रव्य और पर्यायों को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

२—दर्शनावरण—सामान्य बोध को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

(१) चक्षु दर्शनावरण—चक्षु के द्वारा होने वाले दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

(२) अचक्षु दर्शनावरण—चक्षु के सिवाय शेष इन्द्रिय और मन से होने वाले दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

(३) अवधि-दर्शनावरण—मूर्त्त द्रव्यो के साक्षात् दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

(४) केवल-दर्शनावरण—सर्व-द्रव्य-पर्यायों के साक्षात् दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।

(५) निद्रा—सामान्य नींद (सोया हुआ व्यक्ति सुख से जाग जाए, वह नींद)

(६) निद्रानिद्रा—घोर नींद (सोया हुआ व्यक्ति कठिनाई से जागे, वह नींद)

(७) प्रचला—खड़े या बैठे हुए जो नींद आये।

(८) प्रचला-प्रचला—चलते-फिरते जो नींद आए।

(९) स्त्यानर्धि—(स्त्यान-गृद्धि) संकल्प किये हुए कार्य को नींद में कर डाले, वैसी प्रगाढतम नींद।

३—वेदनीय—अनुभूति के निमित्त कर्म पुद्गल :—

(१) सात वेदनीय-सुखानुभूति का निमित्त—

(क) मनोज्ञ शब्द, (ख) मनोज्ञ रूप, (ग) मनोज्ञ गन्ध, (घ) मनोज्ञ रस,

(ङ) मनोज्ञ स्पर्श, (च) सुखित मन, (छ) सुखित वाणी, (ज) सुखित काम।

(२) असात वेदनीय—दुःखानुभूति के निमित्त कर्म पुद्गल।

(क) अमनोज्ञ शब्द, (ख) अमनोज्ञ रूप, (ग) अमनोज्ञ गन्ध, (घ) अमनोज्ञ रस, (ङ) अमनोज्ञ स्पर्श, (च) दुःखित मन, (छ) दुःखित वाणी, (ज) दुःखित काय।

४—मोहनीय—आत्मा को मूढ़ बनाने वाले कर्म-पुद्गल।

(क) दर्शन मोहनीय—सम्यक्-दृष्टि को विकृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

(१) सम्यक्त्व-वेदनीय—औपशमिक और क्षायिक सम्यक्-दृष्टि के प्रतिबन्धक कर्म-पुद्गल।

(२) मिथ्यात्व वेदनीय—सम्यक्-दृष्टि (क्षायोपशमिक) के प्रतिबन्धक कर्म-पुद्गल।

(३) मिश्र वेदनीय—तत्त्व-श्रद्धा की दोलायमान दशा उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

(ख) चारित्र मोहनीय—चरित्र-विकार उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

(१) कषाय-वेदनीय—राग-द्वेष उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

अनन्तानुबन्धी क्रोध—पत्थर की रेखा (स्थिरतम)
,, मान—पत्थर का खम्भा (दृढ़तम)
अनन्तानुबन्धी माया—बांस की जड़ (वक्रतम)
,, लोभ—कृमि-रेशम (गाढ़तम रंग)

अप्रत्याख्यान क्रोध—मिट्टी की रेखा
,, मान—हाड़ का खम्भा
,, माया—मेंढ़े का सींग
,, लोभ—कीचड़

संज्वलन क्रोध—जल-रेखा (अस्थिर-तात्कालिक)
,, मान—लता का खम्भा (लचीला)
,, माया—छिलते बांस की छाल (स्वल्पतम वक्र)
,, लोभ—हल्दी का रंग (तत्काल उड़ने वाला (रंग)

(२) नो-कषाय-वेदनीय—कषाय को उत्तेजित करने वाले कर्म-पुद्गल—

१—हास्य—सकारण या अकारण (बाहरी कारण के बिना भी) हंसी-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

२—रति—सकारण या अकारण पौद्‌गलिक पदार्थों के प्रति राग-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्‌गल।

३—अरति—सकारण या अकारण पौद्‌गलिक पदार्थों के प्रति द्वेष-उत्पन्न करने वाले या संयम में अरुचि-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्‌गल।

४—शोक—सकारण या अकारण शोक-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

५—भय—सकारण या अकारण भय-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

६—जुगुप्सा—सकारण या अकारण घृणा-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

७—स्त्री-वेद—पुरुष के साथ भोग की अभिलाषा-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

८—पुरुष-वेद—स्त्री के साथ भोग की अभिलाषा-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्‌गल।

९—नपुंसक-वेद—स्त्री-पुरुष दोनो के साथ भोग की अभिलाषा-उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्‌गल।

५—आयु—जीवन के निमित्त कर्म-पुद्गल—

(१) नरकायु—नरक-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(२) तिर्यञ्चायु—तिर्यंच-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्‌गल।

(३) मनुष्यायु—मनुष्य-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्‌गल।

(४) देवायु—देव-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्‌गल।

६—नाम—जीवन की विविध सामग्री की उपलब्धि के हेतुभूत कर्म-पुद्‌गल

(१) गति-नाम—जन्म-सम्बन्धी विविधता की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्‌गल।

(क) निरय गति-नाम—नारक जीवन दुःखमय दशा की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) तिर्यंच गति नाम —पशु, पक्षी आदि के जीवन (दुःख-बहुल दशा) की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) मनुष्य-गति-नाम—मनुष्य-जीवन (सुख-दुःख मिश्रित दशा) की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) देव-गति-नाम—देव-जीवन (सुखमय दशा) की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(२) जाति-नाम—इन्द्रिय-रचना के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) एकेन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन, (त्वग्) इन्द्रिय की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) द्वीन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन और जिह्वा—इन दो इन्द्रियों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) त्रीन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन जिह्वा और नाक—इन तीन इन्द्रियों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) चतुरिन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन, जिह्वा, नाक, और चक्षु—इन चार इन्द्रियों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ङ) पंचेन्द्रिय जाति नाम—स्पर्शन, जिह्वा, नाक चक्षु और कान—इन पांच इन्द्रियो की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(३) शरीर-नाम—शरीर-प्राप्ति के लिए निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) औदारिक-शरीर-नाम—स्थूल शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) वैक्रिय-शरीर-नाम—विविध क्रिया कर सकने वाले कामरूपी शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) आहारक-शरीर-नाम—आहारक-लब्धिजन्य शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) तैजस्-शरीर-नाम—तेज, पाक तथा तेजस् व शीत लेश्या का निर्गमन कर सकने वाले शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ङ) कार्मण-शरीर-नाम—कर्म समूह या कर्म विकारमय शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(४) शरीर-अंगोपांग-नाम—शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) औदारिक-शरीर अंगोपांग-नाम—औदारिक शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) वैक्रिय-शरीर-अंगोपांग-नाम—वैक्रिय शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) आहारक-शरीर अंगोपांग नाम—आहारक शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कम-पुद्गल।

(घ) तैजस् और कार्मण शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, इसलिए इनके अवयव नहीं होते।

(५) शरीर-बन्धन-नाम—पहले ग्रहण किये हुए और वर्तमान में ग्रहण किए जाने वाले शरीर-पुद्गलों के पारस्परिक सम्बन्ध का हेतुभूत कर्म।

(क) औदारिक-शरीर-बन्धन-नाम—इस शरीर के पूर्व-पश्चाद् गृहीत पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध जोड़ने वाला कम।

(ख) वैक्रिय-शरीर-बन्धन-नाम—ऊपरवत्।

(ग) आहारक ,, ,, ,, — ,,

(घ) तैजस ,, ,, ,, — ,,

(ङ) कार्मण ,, ,, ,, — ,,

कर्म-ग्रन्थ में शरीर-बन्धन-नाम-कर्म के पन्द्रह भेद किये गए हैं—

(१) औदारिक औदारिक बन्धन नाम।

(२) औदारिक तैजस् ,, ,,

(३) ,, कार्मण ,, ,,

(४) वैक्रिय वैक्रिय ,, ,,

(५) ,, तैजस ,, ,,

(६) ,, कार्मण ,, ,,

(७) आहारक आहारक ,, ,,

(८) ,, तैजस ,, ,,

(९) ,, कार्मण बन्धन नाम।

(१०) औदारिक तैजस कार्मण बन्धन नाम।
(११) वैक्रिय ,, ,, ,, ,,
(१२) आहारक ,, ,, ,, ,,
(१३) तैजस् तैजस् ,, ,,
(१४) तैजस् कार्मण ,, ,,
(१५) कार्मण कार्मण ,, ,,

औदारिक, वैक्रिय और आहारक—ये तीन शरीर परस्पर विरोधी होते हैं। इसलिए इनके पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध नहीं होता।

(६) शरीर संघातन नाम[२१]—शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्‌गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्‌गल।

(क) औदारिक-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्‌गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्‌गल।

(ख) वैक्रिय-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्‌गलों की यथोचित व्यवस्था या सघात के निमित्त कर्म-पुद्‌गल।

(ग) आहारक-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्‌गलो की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्‌गल।

(घ) तैजस-शरीर संघातन नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्‌गलो की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्‌गल।

(ङ) कार्मण-शरीर-संघातन नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्‌गलों की यथोचित व्यवस्था या संघातन के निमित्त कर्म-पुद्‌गल।

७—संहनन-नाम—इसके उदय का 'हड्डियों की व्यवस्था' पर प्रभाव होता है इसके हेतुभूत कर्म पुदगल[२२]।

(क) वज्रऋषभ-नाराच-संहनन नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल वज्र-कील, ऋषभ-वेष्टन-पट्ट, नाराच-मर्कट-बन्ध,—दोनों ओर आपस में एक दूसरे को बांधे हुए हो, वैसी आकृति, आंटी लगाए हुये हो वैसी आकृति, बन्दर का बच्चा जैसे अपनी मां की छाती से चिपका हुआ हो वैसी आकृति, जिसमें सन्धि की दोनों हड्डियां आपस में आंटी लगाए हुये हो, उन पर तीसरी हड्डी

(४) शरीर-अंगोपांग-नाम—शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) औदारिक-शरीर अंगोपांग-नाम—औदारिक शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) वैक्रिय-शरीर-अंगोपांग-नाम—वैक्रिय शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) आहारक-शरीर अंगोपांग नाम—आहारक शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कम-पुद्गल।

(घ) तैजस् और कार्मण शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, इसलिए इनके अवयव नहीं होते।

(५) शरीर-बन्धन-नाम—पहले ग्रहण किये हुए और वर्तमान में ग्रहण किए जाने वाले शरीर-पुद्गलों के पारस्परिक सम्बन्ध का हेतुभूत कर्म।

(क) औदारिक-शरीर-बन्धन-नाम—इस शरीर के पूर्व-पश्चाद् गृहीत पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध जोड़ने वाला कम।

(ख) वैक्रिय-शरीर-बन्धन-नाम—ऊपरवत्।

(ग) आहारक ,, ,, ,, — ,,

(घ) तैजस ,, ,, ,, — ,,

(ङ) कार्मण ,, ,, ,, — ,,

कर्म-ग्रन्थ में शरीर-बन्धन-नाम-कर्म के पन्द्रह भेद किये गए हैं—

(१) औदारिक औदारिक बन्धन नाम।
(२) औदारिक तैजस् ,, ,,
(३) ,, कार्मण ,, ,,
(४) वैक्रिय वैक्रिय ,, ,,
(५) ,, तैजस ,, ,,
(६) ,, कार्मण ,, ,,
(७) आहारक आहारक ,, ,,
(८) ,, तैजस ,, ,,
(९) ,, कार्मण बन्धन नाम।

(१०) औदारिक तैजस कार्मण बन्धन नाम।
(११) वैक्रिय ,, ,, ,, ,,
(१२) आहारक ,, ,, ,, ,,
(१३) तैजस् तैजस् ,, ,,
(१४) तैजस् कार्मण ,, ,,
(१५) कार्मण कार्मण ,, ,,

औदारिक, वैक्रिय और आहारक—ये तीन शरीर परस्पर विरोधी होते हैं। इसलिए इनके पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध नहीं होता।

(६) शरीर संघातन नाम[२१]—शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) औदारिक-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) वैक्रिय-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) आहारक-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) तैजस-शरीर संघातन नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ङ) कार्मण-शरीर-संघातन नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघातन के निमित्त कर्म-पुद्गल।

७—सहनन-नाम—इसके उदय का 'हड्डियों की व्यवस्था' पर प्रभाव होता है इसके हेतुभूत कर्म पुदगल[२२]।

(क) वज्रऋषभ-नाराच-सहनन नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल वज्र-कील, ऋषभ-वेष्टन-पट्ट, नाराच-मर्कट-बन्ध,—दोनों और आपस में एक दूसरे को बांधे हुए हो, वैसी आकृति, आंटी लगाए हुये हों वैसी आकृति, बन्दर का बच्चा जैसे अपनी मां की छाती से चिपका हुआ हो वैसी आकृति, जिसमें सन्धि की दोनों हड्डियां आपस में आंटी लगाए हुये हों, उन पर तीसरी हड्डी

(४) शरीर-अंगोपांग-नाम—शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) औदारिक-शरीर अंगोपांग-नाम—औदारिक शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) वैक्रिय-शरीर-अंगोपांग-नाम—वैक्रिय शरीर के अवयवो और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) आहारक-शरीर अंगोपांग नाम—आहारक शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कम-पुद्गल।

(घ) तैजस् और कार्मण शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, इसलिए इनके अवयव नहीं होते।

(५) शरीर-बन्धन-नाम—पहले ग्रहण किये हुए और वर्तमान में ग्रहण किए जाने वाले शरीर-पुद्गलों के पारस्परिक सम्बन्ध का हेतुभूत कर्म।

(क) औदारिक-शरीर-बन्धन-नाम—इस शरीर के पूर्व-पश्चाद् गृहीत पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध जोड़ने वाला कम।

(ख) वैक्रिय-शरीर-बन्धन-नाम—ऊपरवत्।

(ग) आहारक ,, ,, ,, — ,,

(घ) तैजस ,, ,, ,, — ,,

(ङ) कार्मण ,, ,, ,, — ,,

कर्म-ग्रन्थ में शरीर-बन्धन-नाम-कर्म के पन्द्रह भेद किये गए हैं—

(१) औदारिक औदारिक *बन्धन नाम।*

(२) औदारिक तैजस् ,, ,,

(३) ,, कार्मण ,, ,,

(४) वैक्रिय वैक्रिय ,, ,,

(५) ,, तैजस ,, ,,

(६) ,, कार्मण ,, ,,

(७) आहारक आहारक ,, ,,

(८) ,, तैजस ,, ,,

(९) ,, कार्मण बन्धन नाम।

(१०) औदारिक तैजस कार्मण बन्धन नाम।
(११) वैक्रिय ,, ,, ,, ,,
(१२) आहारक ,, ,, ,, ,,
(१३) तैजस् तैजस् ,, ,,
(१४) तैजस् कार्मण ,, ,,
(१५) कार्मण कार्मण ,, ,,

औदारिक, वैक्रिय और आहारक—ये तीन शरीर परस्पर विरोधी होते हैं। इसलिए इनके पुद्गलो का आपस में सम्बन्ध नहीं होता।

(६) शरीर संघातन नाम[२१]—शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) औदारिक-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) वैक्रिय-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) आहारक-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) तैजस-शरीर संघातन नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ङ) कार्मण-शरीर-संघातन नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघातन के निमित्त कर्म-पुद्गल।

७—सहनन-नाम—इसके उदय का 'हड्डियों की व्यवस्था' पर प्रभाव होता है इसके हेतुभूत कर्म पुद्गल[२२]।

(क) वज्रऋषभ-नाराच-सहनन नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल वज्र-कील, ऋषभ-वेष्टन-पट्ट, नाराच-मर्कट-बन्ध—दोनों और आपस में एक दूसरे को बांधे हुए हो, वैसी आकृति, आंटी लगाए हुये हों वैसी आकृति, बन्दर का बच्चा जैसे अपनी मां की छाती से चिपका हुआ हो वैसी आकृति, जिसमें सन्धि की दोनों हड्डियां आपस में आंटी लगाए हुये हों, उन पर तीसरी हड्डी

(४) शरीर-अंगोपांग-नाम—शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) औदारिक-शरीर अंगोपांग-नाम—औदारिक शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) वैक्रिय-शरीर-अंगोपांग-नाम—वैक्रिय शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) आहारक-शरीर अंगोपांग नाम—आहारक शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) तैजस् और कार्मण शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, इसलिए इनके अवयव नहीं होते।

(५) शरीर-बन्धन-नाम—पहले ग्रहण किये हुए और वर्तमान में ग्रहण किए जाने वाले शरीर-पुद्गलों के पारस्परिक सम्बन्ध का हेतुभूत कर्म।

(क) औदारिक-शरीर-बन्धन-नाम—इस शरीर के पूर्व-पश्चाद् गृहीत पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध जोड़ने वाला कर्म।

(ख) वैक्रिय-शरीर-बन्धन-नाम—ऊपरवत्।

(ग) आहारक ,, ,, ,, — ,,

(घ) तैजस ,, ,, ,, — ,,

(ङ) कार्मण ,, ,, ,, — ,,

कर्म-ग्रन्थ में शरीर-बन्धन-नाम-कर्म के पन्द्रह भेद किये गए हैं—

(१) औदारिक औदारिक बन्धन नाम।
(२) औदारिक तैजस् ,, ,,
(३) ,, कार्मण ,, ,,
(४) वैक्रिय वैक्रिय ,, ,,
(५) ,, तैजस ,, ,,
(६) ,, कार्मण ,, ,,
(७) आहारक आहारक ,, ,,
(८) ,, तैजस ,, ,,
(९) ,, कार्मण बन्धन नाम।

(१०) औदारिक तैजस कार्मण बन्धन नाम।
(११) वैक्रिय ,, ,, ,, ,,
(१२) आहारक ,, ,, ,, ,,
(१३) तैजस् तैजस् ,, ,,
(१४) तैजस् कार्मण ,, ,,
(१५) कार्मण कार्मण ,, ,,

औदारिक, वैक्रिय और आहारक—ये तीन शरीर परस्पर विरोधी होते हैं। इसलिए इनके पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध नहीं होता।

(६) शरीर संघातन नाम[२१]—शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(क) औदारिक-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) वैक्रिय-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) आहारक-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) तैजस-शरीर संघातन नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलो की यथोचित व्यवस्था या सघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ङ) कार्मण-शरीर-संघातन नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघातन के निमित्त कर्म-पुद्गल।

७—सहनन-नाम—इसके उदय का 'हड्डियों की व्यवस्था' पर प्रभाव होता है इसके हेतुभूत कर्म पुदगल[२२]।

(क) वज्रऋषभ-नाराच-सहनन नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल वज्र-कील, ऋषभ-वेष्टन-पट्ट, नाराच-मर्कट-बन्ध—दोनो और आपस में एक दूसरे को बांधे हुए हो, वैसी आकृति, आंटी लगाए हुये हों वैसी आकृति, वन्दर का बच्चा जैसे अपनी मां की छाती से चिपका हुआ हो वैसी आकृति, जिसमें सन्धि की दोनों हड्डियां आपस में आंटी लगाए हुये हो, उन पर तीसरी हड्डी

का वेष्टन हो, चौथी हड्डी की कील उन तीनों को भेद कर रही हुई हो—ऐसे सुदृढ़तम अस्थि-बन्धन का नाम 'वज्र-ऋषभ नाराच संहनन' है।

(ख) ऋषभनाराच-संहनन-नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल, "ऋषभनाराच-संहनन" में हड्डियों की आंटी और वेष्टन होता है, कील नहीं होती। यह दृढ़तर है।

(ग) नाराच-संहनन नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'नाराच-संहनन' में केवल हड्डियों की आंटी होती है, वेष्टन और कील नहीं होती।

(घ) अर्धनाराच-संहनन नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'अर्धनाराच संहनन' में हड्डी का एक छोर मर्कट-बन्ध से बंधा हुआ और दूसरा छोर कील से भिदा हुआ होता है।

(ङ) कीलिका—संहनन-नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'कीलिका संहनन, में हड्डियां केवल कील से जुड़ी हुई होती हैं।

(च) सेवार्त-संहनन नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'सेवार्त संहनन' में केवल हड्डियां ही आपस में जुड़ी हुई होती हैं।

८—संस्थान-नाम—इसके उदय का शरीर की आकृति-रचना पर प्रभाव होता है इसके हेतुभूत कर्म पुद्गल।

(१) समचतुरस्र-संस्थान—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। पालथी मार कर बैठे हुये व्यक्ति के चारों कोण सम होते हैं। वह 'सम चतुरस्र संस्थान' है।

(२) न्यग्रोध-परिमंडल-संस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण और नीचे के अवयव प्रमाणहीन होते हैं, वह 'न्यग्रोध-परिमंडल संस्थान' है।

(३) सादि-संस्थान नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। नाभि से ऊपर के अवयव प्रमाण-हीन और नीचे के अवयव पूर्ण होते हैं, वह सादि-संस्थान' है।

(४) वामन संस्थान नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'वामन-संस्थान'—बौना।

(५) कुब्ज संस्थान नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'कुब्ज संस्थान'—कुबड़ा।

(६) हुंड-संस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। सब अवयव बेढ़व या प्रमाणशून्य होते हैं, वह हुंड-संस्थान है।

९—वर्ण नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के रंग पर प्रभाव पड़ता है—

(क) कृष्ण-वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रंग काला हो जाता है

(ख) नील-वर्ण-नाम— „ „ „ „ „ „ „ „ नीला „ „ „

(ग) लोहित-वर्ण-नाम—„ „ „ „ „ „ „ „ लाल „ „ „

(घ) हारिद्र-वर्ण नाम—„ „ „ „ „ „ „ „ पीला „ „ „

(ङ) श्वेत-वर्ण-नाम— „ „ „ „ „ „ „ „ सफेद „ „ „

१०—गन्ध नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के गन्ध पर प्रभाव पड़ता है।

(क) सुरभि-गन्ध-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर सुगन्धवासित होता है।

(ख) दुरभि-गन्ध-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर दुर्गन्धवासित होता है।

११—रस नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के रस पर प्रभाव पड़ता है।

(क) तिक्त-रस नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रस तिक्त होता है।

(ख) कटु रस नाम— „ „ „ „ „ „ „ „ „ कड़ुआ होता है।

(ग) कषाय-रस-नाम—„ „ „ „ „ „ „ „ कसैला होता है।

(घ) आम्ल-रस-नाम—„ „ „ „ „ „ „ „ खट्टा „ „

(ङ) मधुर-रस-नाम— „ „ „ „ „ „ „ „ मीठा „ „

१२—स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के स्पर्श पर प्रभाव पड़ता है।

(क) कर्कश-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर कठोर होता है।

(ख) मृदु „ „ — „ „ „ „ „ „ कोमल „ „

(ग) गुरु „ „ — „ „ „ „ „ „ भारी „ „

(घ) लघु „ „ — „ „ „ „ „ „ हल्का „ „

(ङ) स्निग्ध „ „ — „ „ „ „ „ „ चिकना „ „

(च) रूक्ष „ „ — „ „ „ „ „ „ रूखा „ „

(छ) शीत „ „ — „ „ „ „ „ „ ठंडा „ „

(ज) उष्ण „ „ — „ „ „ „ „ „ गरम „ „

(१३) अगुरुलघु-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर न सम्हल सके वैसा भारी भी नहीं होता और हवा में उड़ जाए वैसा हल्का भी नहीं होता।

(१४) उपघात, नाम—इस कर्म के उदय से विकृत बने हुए अपने ही अवयवों से जीव क्लेश पाता है। (अथवा) इसके उदय से जीव आत्म-हत्या करता है।

(१५) पराघात-नाम—इसके उदय से जीव प्रतिपक्षी और प्रतिवादी द्वारा अपराजेय होता है।

(१६) आनुपूर्वी नाम[२३]—विश्रेणि-स्थित जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(क) नरक-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि स्थित नरक-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(ख) तिर्यंच-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित तिर्यंच-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(ग) मनुष्य-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित मनुष्य-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(घ) देव-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित देव-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(१७) उच्छ्वास-नाम—इसके उदय से जीव श्वास-उच्छ्वास लेता है।

(१८) आतप नाम[२४]—इसके उदय से शरीर में से उष्ण प्रकाश निकलता है।

(१९) उद्योत-नाम[२५]—इसके उदय से शरीर में से शीत-प्रकाश निकलता है।

(२०) विहायोगति नाम[२६]—इसके उदय का जीव की चाल पर प्रभाव पड़ता है।

(क) प्रशस्त विहायोगति नाम—इसके उदय से जीव की चाल श्रेष्ठ होती है।

(ख) अप्रशस्त विहायोगति नाम—इसके उदय से जीव की चाल खराब होती है।

(२१) त्रस नाम—इसके उदय से जीव चर (इच्छापूर्वक गति करने वाले) होते हैं।

(२२) स्थावर नाम—इसके उदय से जीव स्थिर (इच्छा पूर्वक गति न करने वाले) होते हैं।
(२३) सूक्ष्म नाम—इस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) शरीर मिलता है[२७]।
(२४) बादर नाम—इस कर्म के उदय से जीव को स्थूल शरीर मिलता है[२८]।
(२५) पर्याप्त-नाम—इसके उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण करते हैं।
(२६) अपर्याप्ति-नाम—इसके उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण नहीं करते हैं।
(२७) साधारण-शरीर-नाम—इसके उदय से अनन्त जीवों को एक शरीर मिलता है।
(२८) प्रत्येक-शरीर-नाम—इसके उदय से प्रत्येक जीव को अपना स्वतन्त्र शरीर मिलता है।
(२९) स्थिर-नाम—इसके उदय से शरीर के अवयव स्थिर होते हैं।
(३०) अस्थिर-नाम—इसके उदय से शरीर के अवयव अस्थिर होते हैं।
(३१) शुभ नाम—इसके उदय से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं।
(३२) अशुभ-नाम—इसके उदय से नाभि के नीचे के अवयव अशुभ होते हैं[२९]।
(३३) सुभग-नाम—इसके उदय से किसी प्रकार का उपकार किए बिना व सम्बन्ध के बिना भी जीव दूसरों को प्रिय लगता है।
(३४) दुर्भग-नाम—इसके उदय से उपकारक व सम्बन्धी भी अप्रिय लगते हैं।
(३५) सुस्वर-नाम—इसके उदय से जीव का स्वर प्रीतिकारक होता है।
(३६) दुःस्वर-नाम—इसके उदय से जीव का स्वर अप्रीतिकारक होता है।
(३७) आदेय-नाम—इसके उदय से जीव का वचन मान्य होता है।
(३८) अनादेय-नाम—इसके उदय से जीव का वचन युक्तिपूर्ण होते हुए भी मान्य नहीं होता।
(३९) यशःकीर्ति-नाम—यश और कीर्ति के हेतुभूत कर्म-पुद्गल।
(४०) अयशःकीर्तिनाम—अयश और अकीर्ति के हेतुभूत कर्म-पुद्गल।
(४१) निर्माण-नाम—अवयवों के व्यवस्थित निर्माण के हेतुभूत कर्म-पुद्गल।
(४२) तीर्थंकर-नाम—तीर्थंकर पद की प्राप्ति का निमित्त भूत कर्म।

(१४) उपघात, नाम—इस कर्म के उदय से विकृत बने हुए अपने ही अवयवों से जीव क्लेश पाता है। (अथवा) इसके उदय से जीव आत्म-हत्या करता है।

(१५) पराघात-नाम—इसके उदय से जीव प्रतिपक्षी और प्रतिवादी द्वारा अपराजेय होता है।

(१६) आनुपूर्वी नाम[23]—विश्रेणि-स्थित जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(क) नरक-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि स्थित नरक-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(ख) तिर्यंच-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित तिर्यंच-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(ग) मनुष्य-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित मनुष्य-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(घ) देव-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित देव-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।

(१७) उच्छ्वास-नाम—इसके उदय से जीव श्वास-उच्छ्वास लेता है।

(१८) आतप नाम[24]—इसके उदय से शरीर में से उष्ण प्रकाश निकलता है।

(१९) उद्योत-नाम[25]—इसके उदय से शरीर में से शीत-प्रकाश निकलता है।

(२०) विहायोगति नाम[26]—इसके उदय का जीव की चाल पर प्रभाव पड़ता है।

(क) प्रशस्त विहायोगति नाम—इसके उदय से जीव की चाल श्रेष्ठ होती है।

(ख) अप्रशस्त विहायोगति नाम—इसके उदय से जीव की चाल खराब होती है।

(२१) त्रस नाम—इसके उदय से जीव चर (इच्छापूर्वक गति करने वाले) होते हैं।

(२२) स्थावर नाम—इसके उदय से जीव स्थिर (इच्छा पूर्वक गति न करने वाले) होते हैं।

(२३) सूक्ष्म नाम—इस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) शरीर मिलता है[२७]।

(२४) बादर नाम—इस कर्म के उदय से जीव को स्थूल शरीर मिलता है[२८]।

(२५) पर्याप्त-नाम—इसके उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण करते हैं।

(२६) अपर्याप्त-नाम—इसके उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण नहीं करते हैं।

(२७) साधारण-शरीर-नाम—इसके उदय से अनन्त जीवों को एक शरीर मिलता है।

(२८) प्रत्येक-शरीर-नाम—इसके उदय से प्रत्येक जीव को अपना स्वतन्त्र शरीर मिलता है।

(२९) स्थिर-नाम—इसके उदय से शरीर के अवयव स्थिर होते हैं।

(३०) अस्थिर-नाम—इसके उदय से शरीर के अवयव अस्थिर होते हैं।

(३१) शुभ नाम—इसके उदय से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं।

(३२) अशुभ-नाम—इसके उदय से नाभि के नीचे के अवयव अशुभ होते हैं[२९]।

(३३) सुभग-नाम—इसके उदय से किसी प्रकार का उपकार किए विना व सम्बन्ध के विना भी जीव दूसरों को प्रिय लगता है।

(३४) दुर्भग-नाम—इसके उदय से उपकारक व सम्बन्धी भी अप्रिय लगते हैं।

(३५) सुस्वर-नाम—इसके उदय से जीव का स्वर प्रीतिकारक होता है।

(३६) दुःस्वर-नाम—इसके उदय से जीव का स्वर अप्रीतिकारक होता है।

(३७) आदेय-नाम—इसके उदय से जीव का वचन मान्य होता है।

(३८) अनादेय-नाम—इसके उदय से जीव का वचन युक्तिपूर्ण होते हुए भी मान्य नहीं होता।

(३९) यशकीर्ति-नाम—यश और कीर्ति के हेतुभूत कर्म-पुद्गल।

(४०) अयशकीर्तिनाम—अयश और अकीर्ति के हेतुभूत कर्म-पुद्गल।

(४१) निर्माण-नाम—अवयवों के व्यवस्थित निर्माण के हेतुभूत कर्म-पुद्गल।

(४२) तीर्थंकर-नाम—तीर्थंकर पद की प्राप्ति का निमित्त भूत कर्म।

७—गोत्र—

(१) उच्च गोत्र—इसके उदय से सम्मान व प्रतिष्ठा मिलती है।

(क) जाति-उच्च-गोत्र—मातृपक्षीय सम्मान।
(ख) कुल „ „ —पितृ „ „
(ग) बल „ „ —बल „ „
(घ) रूप „ „ —रूप „ „
(ङ) तप „ „ —तप „ „
(च) श्रुत „ „ —ज्ञान „ „
(छ) लाभ „ „ —प्राप्ति „ „
(ज) ऐश्वर्य „ „ —ऐश्वर्य „ „

(२) नीच गोत्र—इसके उदय से असम्मान व अप्रतिष्ठा मिलती है।

(क) जाति नीच गोत्र—मातृपक्षीय असम्मान।
(ख) कुल „ „ —पितृ „ „
(ग) बल „ „ —बल „ „
(घ) रूप „ „ —रूप „ „
(ङ) तप „ „ —तप „ „
(च) श्रुत „ „ —ज्ञान „ „
(छ) लाभ „ „ —प्राप्ति „ „
(ज) ऐश्वर्य „ „ —ऐश्वर्य „ „

८—अन्तराय—इसके उदय का क्रियात्मक शक्ति पर प्रभाव होता है।

(क) दान-अन्तराय—इसके उदय से सामग्री की पूर्णता होने पर भी दान नहीं दिया जा सकता।
(ख) लाभ अन्तराय—इसके उदय से लाभ नहीं होता।
(ग) भोग अन्तराय—इसके उदय से भोग नहीं होता।
(घ) उपभोग अन्तराय—इसके उदय से उपभोग नहीं होता।
(ङ) वीर्य अन्तराय—इसके उदय से सामर्थ्य का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

कर्म की उत्तर-प्रकृतियाँ और उनकी स्थिति

	कर्म की प्रकृतियां	जघन्य-स्थिति	उत्कृष्ट-स्थिति
५	ज्ञानावरणीय	अन्तर् मुहूर्त्त	३० कोटा कोटि सागर
१०	निद्रापंचक	एक सागर के $\frac{3}{7}$ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	३० कोटा कोटि सागर
१४.	दर्शन-चतुष्क	अन्तर्-मुहूर्त्त	३० कोटा कोटि सागर
१५	सात-वेदनीय (ईर्यापथिक, सम्पराय)	२ समय	२ समय
१६	असात-वेदनीय	एक सागर के $\frac{3}{7}$ वें भाग में— पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	३० कोटा कोटि सागर
१७	सम्यक्त्व-वेदनीय	अन्तर्-मुहूर्त्त	कुछ अधिक ६६ सागर से
१८	मिथ्यात्व-वेदनीय	एक सागर में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	७० कोटा कोटि सागर
१९	सम्यक्त्व-मिथ्यात्व वेदनीय	अन्तर्-मुहूर्त्त	अन्तर् मुहूर्त्त
३१	कषाय-द्वादशक (अनन्तानुबन्ध, अप्रत्याख्यान, क्रोध, मान, माया, लोभ)	एक सागर के $\frac{4}{7}$ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	४० कोटा कोटि सागर
३२	क्रोध—सञ्ज्वलन	२ मास	४० कोटा कोटि सागर

३३	मान—सञ्ज्वलन	१ मास	४० कोटा कोटि सागर
३४	माया सञ्ज्वलन	अर्द्ध-मास	४० कोटा कोटि सागर
३५	लोभ—सञ्ज्वलन	अन्तर् मुहूर्त्त	४० कोटा कोटि सागर
३६	स्त्री-वेद	एक सागर के $\frac{1\frac{1}{2}}{7}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१५ कोटा कोटि सागर
३७	पुरुष-वेद	८ वर्ष	१० कोटा कोटि सागर
४२	नपुंसक वेद, अरति, भय, शोक, दुगुंछा	एक सागर के $\frac{2}{7}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	२० कोटा कोटि सागर
४४	हास्य, रति	एक सागर के $\frac{1}{7}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१० कोटा कोटि सागर
४६	नैरयिकायुष, देवायुष	१० हजारवर्ष अन्तर्-मुहूर्त्त अधिक	३३ सागर क्रोड पूर्व का तीसरा भाग अधिक।
४८	तिर्यञ्चायुष, मनुष्यायुष	अन्तर् मुहूर्त्त	३ पल्य और क्रोड पूर्व का तीसरा भाग अधिक।
५४	नैरयिकगतिनाम, नरकानुपूर्वीनाम, वैक्रयिक चतुष्क (शरीर, अंगोपांग, बंधन, संघातन)	हजार सागर के $\frac{2}{7}$ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	२० कोटा कोटि सागर

		यथा नपुंसक वेद।	
५६	तिर्यञ्च गतिनाम तिर्यञ्चानुपूर्वीनाम		
५८	मनुष्य गतिनाम, मनुष्यानुपूर्वी नाम	एक सागर के $\frac{3}{14}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१५ कोटा कोटि सागर
६०	देव-गति-नाम, देवानुपूर्वीनाम	हजार सागर $\frac{1}{7}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१० कोटा कोटि सागर
७२	एकेन्द्रिय, जातिनाम, पचेन्द्रिय जातिनाम, औदारिक चतुष्क (शरीर, अंगोपांग, बंधन, संघातन) तैजस, कार्मण दोनों कालिक (शरीर, बन्धन, संघातन)	एक सागर के $\frac{2}{7}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	२० कोटा कोटि सागर
७५	द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, जातिनाम	एक सागर के $\frac{9}{35}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१८ कोटा कोटि सागर
८०	आहारक चतुष्क, तीर्थंकर नाम	अन्तः कोटा कोटि सागर	अन्तः कोटि कोटि सागर
८२	वज्रऋषभनाराच-संहनन नाम समचतुरस्र-संस्थान नाम	हास्यवत्	
८४	ऋषभनाराच-संहनन नाम न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान नाम	एक सागर के $\frac{6}{35}$ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१२ कोटा कोटि सागर

८६	नाराच संहनन नाम सादिसंस्थान नाम	एक सागर के $\frac{७}{३५}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१४ कोटा कोटि सागर
८८	अर्द्धनाराच संहनन नाम वामन संस्थान नाम	एक सागर के $\frac{८}{३५}$ भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम	१६ कोटा कोटि सागर
९०	कीलक संहनन नाम कुब्ज संस्थान नाम	तीन विकलेन्द्रियवत्	३ विकलेन्द्रियवत्
९२	सेवार्त्त संहनन नाम हुंडक संस्थान नाम	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
९४	श्वेतवर्ण नाम, मधुर-रस-नाम	हास्यवत्	
९६	पीत-वर्ण-नाम, आम्ल-रस-नाम	एक सागर के $\frac{५}{२८}$ वे भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१२॥ कोटा कोटि सागर
९८	रक्त-वर्ण-नाम, कषाय-रस-नाम	एक सागर के $\frac{६}{२८}$ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१५ कोटा कोटि सागर
१००	नील वर्ण, कटुक रस	एक सागर के $\frac{७}{२८}$ वें भाग में पल्य का असंख्यातवां भाग कम।	१७॥ कोटा कोटि सागर

१०२	कृष्ण-वर्ण, तिक्त रस	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
१०४	सुरभि गन्ध, प्रशस्त विहायोगति	हास्यवत्	हास्यवत्
१०६	दुरभिगन्ध, अप्रशस्त विहायोगति	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
११०	कर्कश-स्पर्शनाम, गुरु-स्पर्शमान, शीत-स्पर्शनाम, रूक्ष-स्पर्शनाम	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
११४	मृदु-स्पर्शनाम, लघु-स्पर्शनाम स्निग्ध-स्पर्शनाम, उष्ण-स्पर्शनाम	हास्यवत्	हास्यवत्
१२१	पराघात नाम, उच्छ्वास नाम, आतप नाम उद्योत नाम, अगुरु लघु नाम, निर्माण नाम, उपघात नाम	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
१२४	सूक्ष्म नाम, अपर्याप्ति नाम, साधारण नाम	तीन विकलेन्द्रियवत्	३ विकलेन्द्रियवत्
१३५	त्रसनाम, बादर-नाम, प्रत्येक-नाम पर्याप्त-नाम, स्थावर-नाम, अस्थिर नाम अशुभ-नाम, दुर्भग-नाम, दुःस्वर-नाम अनादेय-नाम, अयशः कीर्तिनाम।	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
१४०	स्थिर-नाम, सुभ-नाम, शुभग-नाम, सुस्वर-नाम, आदेय-नाम	हास्यवत्	हास्यवत्
१४२	यशः कीर्ति नाम, उच्चगोत्र	अष्ट-मुहूर्त्त	१० कोटा कोटि सागर
१४३	नीच-गोत्र	नपुंसक-वेदवत्	नपुंसक-वेदवत्
१४८	अन्तराय पंचक	अन्तर्-मुहूर्त्त	३० कोटा कोटि सागर

इनमें चार कोटि की पुद्गल-वर्गणाएं चेतना और आत्म-शक्ति की आवारक, विकारक और प्रतिरोधक है। चेतना के दो रूप हैं (१) ज्ञान-जानना वस्तु स्वरूप का विमर्षण (२) दर्शन—साक्षात् करना—वस्तु का स्वरूप ग्रहण। ज्ञान और दर्शन के आवारक पुद्गल क्रमशः 'ज्ञानावरण' और 'दर्शनावरण' कहलाते हैं। आत्मा को विकृत बनाने वाले पुद्गलो की संज्ञा 'मोहनीय' है। आत्म-शक्ति का प्रतिरोध करने वाले पुद्गल अन्तराय कहलाते हैं। ये चार घाति कर्म हैं। वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु—ये चार अघाति कर्म हैं। ये शुभ-अशुभ पौद्गलिक दशा के निमित्त हैं।

चार कोटि की वर्गणाएं जीवन-निर्माण और अनुभूतिकारक है। जीवन का अर्थ है आत्मा और शरीर का सहभाव। (१) शुभ-अशुभ शरीर का निर्माण करने वाली कर्म-वर्गणाएं नाम (२) शुभ-अशुभ जीवन को बनाए रखने वाली कर्म-वर्गणाएं 'आयुष्य' (३) व्यक्ति को सम्माननीय और असम्माननीय बनाने वाली कर्म-वर्गणाएं 'गोत्र' (४) सुख-दुःख की अनुभूति कराने वाली कर्म-वर्गणाएं 'वेदनीय' कहलाती हैं। तीसरी व्यवस्था काल-मर्यादा की है। प्रत्येक कर्म आत्मा के साथ निश्चित समय तक ही रह सकता है। स्थिति पकने पर वह आत्मा से अलग जा पड़ता है। यह स्थिति बन्ध है। चौथी अवस्था फल-दान शक्ति की है। इसके अनुसार उन पुद्गलों में रस की तीव्रता और मन्दता का निर्माण होता है। यह अनुभाव बन्ध है।

बन्ध के चारों प्रकार एक साथ ही होते हैं। कर्म की व्यवस्था के ये चारों प्रधान अंग है। आत्मा के साथ कर्म पुद्गलों के आश्लेष या एकीभाव की दृष्टि से 'प्रदेश बन्ध' सबसे पहला है। इसके होते ही उनमें स्वभाव निर्माण, काल-मर्यादा और फलशक्ति का निर्माण हो जाता है। इसके बाद अमुक-अमुक स्वभाव, स्थिति और रस शक्ति वाला पुद्गल-समूह अमुक-अमुक परिमाण में बंट जाता है—यह परिमाण-विभाग भी प्रदेश बन्ध है। बन्ध के वर्गीकरण का मूल बिन्दु स्वभाव निर्माण है। स्थिति और रस का निर्माण उसके साथ-साथ हो जाता है। परिमाण-विभाग इनका अन्तिम विभाग है।

बन्ध की प्रक्रिया

आत्मा में अनन्त वीर्य (सामर्थ्य) होता है। उसे लब्धि-वीर्य कहा जाता है।

यह शुद्ध आत्मिक सामर्थ्य है। इसका बाह्य जगत् में कोई प्रयोग नहीं होता। आत्मा का बहिर्-जगत् के साथ जो सम्बन्ध है, उसका माध्यम शरीर है। वह पुद्गल परमाणुओं का संगठित पुंज है। आत्मा और शरीर—इन दोनों के संयोग से जो सामर्थ्य पैदा होती है, उसे करण-वीर्य या क्रियात्मक शक्ति कहा जाता है। शरीरधारी जीव में यह सतत बनी रहती है। इसके द्वारा जीव में भावनात्मक या चैतन्य-प्रेरित क्रियात्मक कम्पन होता रहता है। कम्पन अचेतन वस्तुओं में भी होता है। किन्तु वह स्वाभाविक होता है। उनमें चैतन्य-प्रेरित कम्पन नहीं होता। चेतन में कम्पन का प्रेरक गूढ़ चैतन्य होता है। इसलिए इसके द्वारा विशेष स्थिति का निर्माण होता है। शरीर की आन्तरिक वर्गणा द्वारा निर्मित कम्पन में बाहरी पौद्गलिक धाराएं मिलकर आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा परिवर्तन करती रहती हैं।

क्रियात्मक-शक्ति-जनित कम्पन के द्वारा आत्मा और कर्म परमाणुओं का संयोग होता है। इस प्रक्रिया को आस्रव कहा जाता है।

आत्मा के साथ संयुक्त कर्म योग्य परमाणु कर्म रूप में परिवर्तित होते हैं— इस प्रक्रिया को बन्ध कहा जाता है।

आत्मा और कर्म-परमाणुओं का फिर वियोग होता है—इस प्रक्रिया को निर्जरा कहा जाता है।

बन्ध, आस्रव और निर्जरा के बीच की स्थिति है। आस्रव के द्वारा बाहरी पौद्गलिक धाराएं शरीर में आती हैं। निर्जरा के द्वारा वे फिर शरीर के बाहर चली जाती हैं। कर्म-परमाणुओं के शरीर में आने और फिर से चले जाने के बीच की दशा को संक्षेप में बन्ध कहा जाता है।

शुभ और अशुभ परिणाम आत्मा की क्रियात्मक शक्ति के प्रवाह हैं। ये अजस्र रहते हैं। दोनों एक साथ नहीं। दोनों में से एक अवश्य रहता है।

कर्म-शास्त्र की भाषा में शरीर-नाम-कर्म के उदय काल में चंचलता रहती है। उसके द्वारा कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है। शुभ परिणति के समय शुभ और अशुभ परिणति के समय अशुभ कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है [३१]।

कर्म कौन बांधता है ?

अकर्म के कर्म का बन्ध नहीं होता। पूर्व कर्म से बंधा हुआ जीव ही नए कर्मों का बन्ध करता है [31]।

मोह-कर्म के उदय से जीव राग-द्वेष में परिणत होता है तब वह अशुभ कर्मों का बन्ध करता है [32]।

मोह-रहित प्रवृति करते समय शरीर नाम-कर्म के उदय से जीव शुभ कर्म का बन्ध करता है [33]।

नए बन्धन का हेतु पूर्व बन्धन न हो तो अबद्ध (मुक्त) जीव भी कर्म से बन्धे बिना नहीं रह सकता। इस दृष्टि से यह सही है कि बंधा हुआ ही बंधता है, नए सिरे से नहीं।

गौतम ने पूछा—"भगवन्! दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है या अदुःखी दुःख से स्पृष्ट होता है [34]?"

भगवान् ने कहा—गौतम! दुःखी जीव दुःख से स्पृष्ट होता है, अदुःखी दुःख से स्पृष्ट नहीं होता। दुःख का स्पर्श, पर्यादान (ग्रहण) उदीरणा, वेदना और निर्जरा दुःखी जीव करता है, अदुःखी जीव नहीं करता [35]।

गौतम ने पूछा—भगवन्! कर्म कौन बांधता है? संयत, असंयत अथवा संयतासंयत [36]?

भगवान् ने कहा—गौतम! असंयत, संयतासंयत और संयत—ये सब कर्म बन्ध करते हैं। दसवें गुन-स्थान के अधिकारी पुण्य और पाप दोनों का बन्ध करते हैं और ग्यारहवें से तेरहवें गुनस्थान के अधिकारी केवल पुण्य का बन्ध करते हैं।

कर्म-बन्ध कैसे ?

गौतम—"भगवन्! जीव कर्म-बन्ध कैसे करता है?"

भगवान्—"गौतम! ज्ञानावरण के तीव्र उदय से दर्शनावरण का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरण के तीव्र उदय से दर्शन मोह का तीव्र उदय होता है। दर्शन मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है। मिथ्यात्व के उदय से जीव के आठ प्रकार के कर्मों का बन्ध होता है [37]।

कर्म-बन्ध का मुख्य हेतु कषाय है। संक्षेप में कषाय के दो भेद हैं—राग और द्वेष। विस्तार में उसके चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। इनके तारतम्य की चार रेखाएँ हैं—(१) अनन्तानुबन्धी (२) अप्रत्याख्यान (३) प्रत्याख्यान और (४) संज्वलन।

पुण्य बन्ध का हेतु

पुण्य-बन्ध का हेतु शुभ-योग (शरीर, वाणी और मन का शुभ व्यापार) है। कई आचार्य मन्द-कषाय से पुण्य-बन्ध होना मानते हैं[३८]। किन्तु आचार्य भिक्षु इसे मान्य नहीं करते। उनके मतानुसार मन्द-कषाय से पुण्य का आकर्षण नहीं होता। किन्तु कषाय की मन्दता से होने वाले शुभ-योग के समय नाम-कर्म के द्वारा उनका आकर्षण होता है।

आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार शुभोपयोग एक अपराध है[३९]। सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक् चारित—ये तीनो मुक्ति के हेतु हैं। इनके द्वारा कर्म का बन्ध नहीं होता। आत्मा का निश्चय (सम्यक्-दर्शन) आत्मा का बोध (सम्यक्-ज्ञान) और आत्मा में रमण (सम्यक्-चारित्र)—ये बन्धन के निमित्त नहीं हो सकते।

जिस अंश में ये तीनों हैं, उस अंश में मुक्ति है। और जिस अंश में कषाय या नाम-कर्म का उदय है, उस अंश में बंधन है।

"सम्यक्त्व और चारित्र से देव गति के आयुष्य का बन्धन होता है"—ऐसे प्रकरण जो हैं, वे सापेक्ष हैं। इनका आशय यह है कि सम्यक्त्व और चारित्र की अवस्था में जो आयुष्य बन्धता है, वह देव-गति का ही बन्धता है। इसका आशय "सम्यक्त्व या चारित्र से देव-गति का आयुष्य बन्धता है"—यह नहीं है।

पाप-कर्म का विकर्षण (निर्जरण) और पुण्यकर्म का आकर्षण—ये दोनों विरोधी कार्य हैं। एक ही कारण से निष्पन्न होते तो इनमें विरोध आता। पर ऐसा नहीं होता। पाप-कर्म के विकर्षण का कारण आत्मा की पवित्रता (कर्म-शास्त्र की भाषा में 'शुभयोग' का वह अंश, जो पूर्वार्जित पाप-कर्म के विलय से पवित्र बनता है) है। पुण्य-कर्म के आकर्षण का कारण आत्मिक चंचलता। (कर्म-शास्त्र की भाषा में 'शुभ योग' का वह अंश जो नाम-कर्म

के उदय से चंचल बनता है)। आत्मा की पवित्रता और चंचलता—इन दोनों की संयुक्त संज्ञा शुभ-योग है। यह दो कारणों की संयुक्त निष्पत्ति है। इसलिए इससे दो कार्य (पाप-कर्म का विकर्षण और पुण्य-कर्म का आकर्षण निष्पन्न होते हैं। वास्तव में यह व्यावहारिक निरूपण है। पाप-कर्म का विकर्षण आत्मा की पवित्रता से होता है और पुण्य-कर्म का आकर्षण होता है, वह आत्म-चंचलता-जनित अनिवार्यता है। जब तक आत्मा चंचल होता है, तब तक कर्म परमाणुओं का आकर्षण कभी नहीं रुकता। चंचलता के साथ आत्मा की पवित्रता (अमोह या वितरागभाव) का योग होता है तो पुण्य के परमाणुओं का और उसके साथ आत्मा की अपवित्रता (मोह) का योग होता है तो पाप के परमाणुओं का आकर्षण होता है। यह आकर्षण चंचलता का अनिवार्य परिणाम है। चंचलता रुकते ही उनका आकर्षण रुक जाता है। आत्मा पूर्ण अनास्रव हो जाता है।

कर्म का नाना रूपों में दर्शन

बद्ध आत्मा के द्वारा आठ प्रकार की पुद्गल-वर्गणाएं गृहीत होती हैं[४०]। उनमें कार्मण वर्गणा के जो पुद्गल हैं, वे कर्म बनने के योग्य (कर्म-प्रायोग्य) होते हैं। उनके तीन लक्षण हैं—(१) अनन्त-प्रदेशी-स्कन्धत्व (२) चतुःस्पर्शित्व, (३) सत्-असत्-परिणाम—ग्रहण योग्यत्व[४१]।

(१) संख्यात-असंख्यात—प्रदेशी स्कन्ध कर्म रूप मे परिणत नहीं हो सकते। (२) दो, तीन, चार, पांच, छह, सात और आठ स्पर्श वाले पुद्गल स्कन्ध-कर्म रूप मे परिणत नहीं हो सकते। (३) आत्मा की सत् असत् प्रवृत्ति (शुभ-अशुभ आस्रव) के बिना सहज प्रवृत्ति से ग्रहण किये जाने वाले पुद्गल-स्कन्ध कर्म-रूप में परिणत नहीं हो सकते। कर्म-प्रायोग्य पुद्गल ही आत्मा की सत्-असत् प्रवृत्ति द्वारा गृहीत होकर कर्म बनते हैं। कर्म की पहली अवस्था बन्ध है और अन्तिम अवस्था है वेदना। कर्म के विसम्बन्ध की अवस्था निर्जरा है। किन्तु वह कर्म की नहीं होती, अकर्म की होती है। वेदना कर्म की होती है और निर्जरा अकर्म की[४२]। इसलिए व्यवहार में कर्म की अन्तिम दशा निर्जरा और निश्चय में वह वेदना मानी गई है। बन्ध और

वेदना या निर्जरा के बीच भी उनकी अनेक अवस्थाएं बनती हैं। कर्म की सारी दशाएं अनेक रूपों में वर्णित हुई हैं।

प्रज्ञापना के अनुसार कर्म की दशाएं—(१) बद्ध (२) स्पृष्ट (३) बद्ध-स्पर्श-स्पृष्ट (४) संचित (५) चित (६) उपचित (७) आपाक-प्राप्त (८) विपाक-प्राप्त (९) फल-प्राप्त (१०) उदय-प्राप्त [४३]।

स्थानांग के अनुसार कर्म की दशाएं—(१) चय (२) उपचय (३) बन्ध (४) उदीरणा (५) वेदना (६) निर्जरा [४४]।

भगवती के अनुसार कर्म की दशाएं—(१) भेद (२) चय (३) उपचय (४) उदीरणा (५) वेदना (६) निर्जरा (७) अपवर्तन (८) संक्रमण (९) नियति (१०) निकाचना[४५]।

(१) जीव की राग-द्वेषात्मक परिणति से कर्म रूप में परिणत होने वाले पुद्गल 'बद्ध' कहलाते हैं।

(२) आत्म-प्रदेशों के साथ संश्लेष पाये हुए कर्म-पुद्गल 'स्पृष्ट' कहलाते हैं।

(३) आत्म-प्रदेशों के साथ-साथ दृढ़रूप में बन्धे हुए तथा गाढ स्पर्श से उन्हें छूए हुए (आवेष्टित परिवेष्टित किये हुए) कर्म-पुद्गल 'बद्ध-स्पृष्ट' कहलाते हैं।

कर्म-प्रायोग्य पुद्गलों का कर्म-रूप में परिवर्तन, आत्मा के साथ उनका मिलन और आत्मा के साथ एकीभाव—ये तीनों बन्धकालीन अवस्थाएं हैं।

(४) कर्म का बाधा-काल या पकने का काल पूरा नहीं होता, तब तक वह फल देने योग्य नहीं बनता। अबाधा-काल बन्ध और उदय का आन्तरिक काल है। अबाधा-काल पूर्ण होने के पश्चात् फल देने योग्य निषेक बनते हैं। वह 'संचित' अवस्था है।

(५) कर्मों की प्रदेश-हानि और रस-वृद्धि के रूप में रचना होती है, वह 'चित' अवस्था है।

(६) संक्रमण के द्वारा जो कर्म का उपचय होता है, वह 'उपचित' अवस्था है।

ये तीनों बन्धन की उत्तरकालीन अवस्थाएं हैं।

(१) आपाक-प्राप्त (थोड़ा पका हुआ) (२) विपाक-प्राप्त—(पूरा पका हुआ) (३) फल-प्राप्त (फल देने में समर्थ)—ये तीनों उदय-सम्बद्ध हैं। इनके बाद वह कर्म उदय-प्राप्त होता है।

फल विपाक

एक समय की बात है, भगवान् राजगृह के गुणशील नामक चैत्य में समवसृत थे। उस समय कालोदायी अणगार भगवान् के पास आये, वन्दना नमस्कार कर बोले—"भगवन्। जीवों के किए हुए पाप-कर्मों का परिपाक पापकारी होता है[४६] ?

भगवान्—"कालोदायी ! होता है।"

कालोदायी—"भगवन् ! यह कैसे होता है ?"

भगवान्—"कालोदायी ! जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक-शुद्ध (परिपक्व), अठारह प्रकार के व्यञ्जनों से परिपूर्ण विषयुक्त भोजन करता है, वह (भोजन) आपातभद्र (खाते समय अच्छा) होता है, किन्तु ज्यों-ज्यों उसका परिणमन होता है, त्यों-त्यो उसमें दुर्गन्ध पैदा होती है—वह परिणाम-भद्र नहीं होता। कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शन शल्य (अठारह प्रकार के पाप-कर्म) आपातभद्र और परिणाम विरस होते हैं। कालोदायी ! यूं पाप-कर्म पाप-विपाक वाले होते है।"

कालोदायी—"भगवन्। जीवों के किए हुए कल्याण-कर्मों का परिपाक कल्याणकारी होता है ?"

भगवान्—"कालोदायी ! होता है।"

कालोदायी—"भगवन्। कैसे होता है ?"

भगवान्—"कालोदायी। जैसे कोई पुरुष मनोज्ञ, स्थालीपाक शुद्ध (परिपक्व), अठारह प्रकार के व्यजनों से परिपूर्ण, औषध-मिश्रित भोजन करता है, वह आपात भद्र नही लगता, किन्तु ज्यों-ज्यो उसका परिणमन होता है, त्यों-त्यो उसमें सुरूपता, सुवर्णता और सुखानुभूति उत्पन्न होती है—वह परिणाम-भद्र होता है। कालोदायी ! इसी प्रकार प्राणातिपात-विरति यावत्

मिथ्या दर्शन-शल्य-विरति आपातभद्र नहीं लगती किन्तु परिणाम भद्र होती है। कालोदायी ! यूं कल्याण-कर्म कल्याण-विपाक वाले होते हैं।"

उदय

उदय का अर्थ है—काल-मर्यादा का परिवर्तन। वस्तु की पहली अवस्था की काल-मर्यादा पूरी होती है—यह उसका अनुदय है, दूसरी की काल-मर्यादा का आरम्भ होता है—वह उसका उदय है। बन्धे हुए कर्म-पुद्गल अपना कार्य करने में समर्थ हो जाते हैं, तब उनके निषेक। (कर्म पुद्गलों की एक काल में उदय होने योग्य रचना-विशेष) प्रगट होने लगते हैं, वह उदय है[४७]।

उदय के दो रूप

कर्म का उदय दो प्रकार का होता है। (१) प्राप्त-काल कर्म का उदय (२) अप्राप्त-काल कर्म का उदय। कर्म का बन्ध होते ही उसमें विपाक-प्रदर्शन की शक्ति नहीं हो जाती। वह निश्चित अवधि के पश्चात् ही पैदा होती है। कर्म की यह अवस्था अबाधा कहलाती है। उस समय कर्म का अवस्थान मात्र होता है किन्तु उनका कर्तृत्व प्रगट नहीं होता। इसलिए वह कर्म का अवस्थान-काल है। अबाधा का अर्थ है--अन्तर। बन्ध और उदय के अन्तर का जो काल है, वह अबाधाकाल है[४८]।

अबाधा-काल के द्वारा कर्म स्थिति के दो भाग हो जाते हैं। (१) अवस्थान-काल (२) अनुभव-काल या निषेक-काल[४९]। अबाधा-काल के समय कोरा अवस्थान होता है, अनुभव नहीं। अनुभव अबाधा-काल पूरा होने पर होता है। जितना अबाधा-काल होता है, उतना अनुभव-काल से अवस्थान-काल अधिक होता है। अबाधा-काल को छोड़कर विचार किया जाए तो अवस्थान और निषेक या अनुभव—ये दोनों सम-काल मर्यादा वाले होते हैं। चिरकाल और तीव्र अनुभाग वाले कर्म तपस्या के द्वारा विफल बना थोड़े समय में भोग लिए जाते हैं। आत्मा शीघ्र उज्ज्वल बन जाती है।

काल-मर्यादा पूर्ण होने पर कर्म का वेदन या भोग प्रारब्ध होता है। वह प्राप्त-काल उदय है। यदि स्वाभाविक पद्धति से ही कर्म उदय में आएं तो

आकस्मिक-घटनाओं की सम्भावना तथा तपस्या की प्रयोजकता ही नष्ट हो जाती है। किन्तु अपवर्तना के द्वारा कर्म की उदीरणा या अप्राप्त-काल उदय होता है। इसलिए आकस्मिक घटनाएं भी कर्म-सिद्धान्त के प्रतिसन्देह पैदा नहीं करतीं। तपस्या की सफलता का भी यही हेतु है।

सहेतुक और निर्हेतुक उदय :—

कर्म का परिपाक और उदय अपने आप भी होता है और दूसरों के द्वारा भी, सहेतुक भी होता है और निर्हेतुक भी। कोई बाहरी कारण नहीं मिला, क्रोध-वेदनीय-पुद्गलों के तीव्र विपाक से अपने आप क्रोध आ गया—यह उनका निर्हेतुक उदय है[५०]। इसी प्रकार हास्य,[५१] भय, वेद (विकार) और कषाय[५२] के पुद्गलों का भी दोनों प्रकार का उदय होता है[५३]।

अपने आप उदय में आने वाले कर्म के हेतु

गति हेतुक-उदय—नरक गति में असात (असुख) का उदय तीव्र होता है। यह गति-हेतुक विपाक-उदय है।

स्थिति-हेतुक-उदय—सर्वोत्कृष्ट स्थिति में मिथ्यात्व-मोह का तीव्र उदय होता है। यह स्थिति-हेतुक विपाक-उदय है।

भवहेतुक उदय—दर्शनावरण (जिसके उदय से नींद आती है) सबके होता है, फिर भी नींद मनुष्य और तिर्यंच दोनों को आती है, देव और नरक को नहीं आती। यह भव (जन्म) हेतुक-विपाक-उदय है। गति-स्थिति और भव के निमित्त से कई कर्मों का अपने आप विपाक-उदय हो आता है।

दूसरों द्वारा हृदय में आने वाले कर्म के हेतु

पुद्गल-हेतुक-उदय—किसी ने पत्थर फेंका, चोट लगी, असात का उदय हो आया—यह दूसरों के द्वारा किया हुआ असात-वेदनीय का पुद्गल-हेतुक विपाक-उदय है।

किसी ने गाली दी, क्रोध आ गया, यह क्रोध-वेदनीय-पुद्गलों का सहेतुक विपाक-उदय है।

पुद्गल-परिणाम के द्वारा होने वाला उदय—भोजन किया, वह पचा नहीं अजीर्ण हो गया। उससे रोग पैदा हुआ, यह असात-वेदनीय का विपाक-उदय है।

मदिरा पी, उन्माद छा गया—ज्ञानावरण का विपाक-उदय हुआ। यह पुद्गल परिणमन हेतुक-विपाक-उदय है।

इस प्रकार अनेक हेतुओं से कर्मों का विपाक-उदय होता है [५४]। अगर ये हेतु नहीं मिलते हैं तो उन कर्मों का विपाक-रूप में उदय नहीं होता। उदय का एक दूसरा प्रकार और है। वह है—प्रदेश-उदय। इसमें कर्म-फल का स्पष्ट अनुभव नहीं होता। यह कर्म-वेदन की अस्पष्टानुभूति वाली दशा है। जो कर्म-बन्ध होता है, वह अवश्य भोगा जाता है।

गौतम ने पूछा—भगवन्! किये हुए पाप कर्म भोगे बिना नहीं छूटते, क्या यह सच है?

भगवान्—हाँ, गौतम? यह सच है।

गौतम—कैसे भगवन्?

भगवान्—गौतम! मैंने दो प्रकार के कर्म बतलाए हैं—प्रदेश-कर्म [५५] और अनुभाग-कर्म [५६]। जो प्रदेश-कर्म हैं, वे नियमतः (अवश्य ही भोगे जाते हैं। जो अनुभाग-कर्म हैं वे अनुभाग (विपाक) रूप में कुछ भोगे जाते हैं, कुछ नहीं भोगे जाते [५७]।

कर्म के उदय से क्या होता है?

(१) ज्ञानावरण के उदय से जीव ज्ञातव्य विषय को नहीं जानता, जिज्ञासु होने पर भी नहीं जानता। जानकर भी नहीं जानता—पहले जानकर फिर नहीं जानता। उसका ज्ञान आवृत्त हो जाता है। इसके अनुभाव दस हैं—श्रोत्रावरण, श्रोत्र-विज्ञानावरण, नेत्रावरण, नेत्र-विज्ञानावरण, घ्राणावरण, घ्राण-विज्ञानावरण, रसावरण, रस-विज्ञानावरण, स्पर्शावरण, स्पर्श-विज्ञानावरण।

(२) दर्शनावरण के उदय से जीव द्रष्टव्य-विषय को नहीं देखता, दिदृक्षु (देखने का इच्छुक) होने पर भी नहीं देखता। उसका दर्शन आच्छन्न हो जाता है। इसके अनुभाव नौ हैं—निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि, चक्षु-दर्शनावरण, अचक्षु-दर्शनावरण, अवधि-दर्शनावरण, केवल-दर्शनावरण।

(३) क—सात वेदनीय कर्म के उदय से जीव सुख की अनुभूति

करता है। इसके अनुभाव आठ हैं—मनोज्ञ शब्द, मनोज्ञ रूप, मनोज्ञ गन्ध, मनोज्ञ रस, मनोज्ञ स्पर्श, मनः-सुखता, वाङ्-सुखता, काय-सुखता।

(ख) असात वेदनीय कर्म के उदय से जीव दुःख की अनुभूति करता है। इसके अनुभाव आठ हैं—अमनोज्ञ शब्द, अमनोज्ञ रूप, अमनोज्ञ रस, अमनोज्ञ गन्ध, अमनोज्ञ स्पर्श, मनोदुःखता, वाक्-दुःखता, काय-दुःखता।

(४) मोह-कर्म के उदय से जीव मिथ्या दृष्टि और चारित्रहीन बनता है। इसके अनुभाव पांच हैं—सम्यक्त्व वेदनीय, मिथ्यात्व-वेदनीय, सम्यग्-मिथ्यात्व-वेदनीय, कषाय-वेदनीय, नोकषाय-वेदनीय।

(५) आयु-कर्म के उदय से जीव अमुक समय तक अमुक प्रकार का जीवन जीता है। इसके अनुभाव चार हैं—नैरयिकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु, देवायु।

(६) क—शुभनाम कर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक उत्कर्ष पाता है। इसके अनुभाव चौदह हैं—इष्ट शब्द, इष्ट रूप, इष्ट गन्ध, इष्ट रस, इष्ट स्पर्श, इष्ट गति, इष्ट स्थिति, इष्ट लावण्य, इष्ट यशःकीर्ति, इष्ट उत्थान—कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम; इष्ट स्वरता, कान्त स्वरता, प्रिय स्वरता, मनोज्ञ स्वरता।

ख—अशुभ नाम-कर्म के उदय से जीव शारीरिक और वाचिक अपकर्ष पाता है। इसके अनुभाव चौदह हैं—अनिष्ट शब्द, अनिष्ट रूप, अनिष्ट गन्ध, अनिष्ट रस, अनिष्ट स्पर्श, अनिष्ट गति, अनिष्ट स्थिति, अनिष्ट-लावण्य, अनिष्ट यशोःकीर्ति, अनिष्ट उत्थान—कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम; अनिष्ट स्वरता, हीन स्वरता, दीन स्वरता। अमनोज्ञ स्वरता।

(७) क—उच्च-गोत्र-कर्म के उदय से जीव विशिष्ट बनता है। इसके अनुभाव आठ हैं—जाति-विशिष्टता, कुल विशिष्टता, बल-विशिष्टता, रूप-विशिष्टता, तपो विशिष्टता, श्रुत-विशिष्टता, लाभ-विशिष्टता, ऐश्वर्य विशिष्टता।

ख—नीच गोत्र कर्म के उदय से जीव हीन बनता है। इसके अनुभाव आठ हैं—जाति-विहीनता, कुल-विहीनता, बल-विहीनता, रूप-विहीनता, तपो विहीनता, श्रुत-विहीनता, लाभ-विहीनता, ऐश्वर्य विहीनता।

(८) अन्तराय कर्म के उदय से वर्तमान लब्ध वस्तु का विनाश और लभ्य

वस्तु के आगामी-पथ का अवरोध होता है। इसके अनुभाव पांच हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय।

फल की प्रक्रिया

कर्म जड़—अचेतन है। तब वह जीव को नियमित फल कैसे दे सकता है? यह प्रश्न न्याय-दर्शन के प्रणेता गौतम ऋषि के 'ईश्वर' के अभ्युपगम का हेतु बना। इसीलिए उन्होंने ईश्वर को कर्म-फल का नियन्ता बताया, जिसका उल्लेख कुछ पहले किया जा चुका है। जैन दर्शन कर्म-फल का नियमन करने के लिए ईश्वर को आवश्यक नहीं समझता। कर्म-परमाणुओं में जीवात्मा के सम्बन्ध से एक विशिष्ट परिणाम होता है[५८]। वह द्रव्य[५९], क्षेत्र, काल, भाव, भव, गति[६०], स्थिति, पुद्गल—परिमाण आदि उदयानुकूल सामग्री से विपाक-प्रदर्शन में समर्थ हो जीवात्मा के संस्कारो को विकृत करता है, उससे उनका फलोपभोग होता है। सही अर्थ में आत्मा अपने किये का अपने आप फल भोगता है,[६१] कर्म-परमाणु सहकारी या सचेतक का कार्य करते हैं। विष और अमृत, अपथ्य और पथ्य भोजन को कुछ भी ज्ञान नहीं होता, फिर भी आत्मा का संयोग पा उनकी वैसी परिणति हो जाती है। उनका परिपाक होते ही खाने वाले को इष्ट या अनिष्ट फल मिल जाता है। विज्ञान के क्षेत्र में परमाणु की विचित्र शक्ति और उसके नियमन के विविध प्रयोगों के अध्ययन के बाद कर्मों की फलदान-शक्ति के बारे में कोई सन्देह नही रहता।

पुण्य-पाप

मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया से आत्म-प्रदेशो में कम्पन होता है। उससे कर्म-परमाणु आत्मा की ओर खिंचते हैं।

क्रिया शुभ होती है तो शुभकर्म-परमाणु और वह अशुभ होती है तो अशुभकर्म-परमाणु आत्मा से आ चिपकते हैं। पुण्य और पाप दोनों विजातीय तत्त्व हैं। इसलिए ये दोनों आत्मा की परतन्त्रता के हेतु हैं। आचार्यों ने पुण्य कर्म की सोने और पाप-कर्म की लोहे की बेड़ी से तुलना की है[६२]।

स्वतन्त्रता के इच्छुक मुमुक्षु के लिए ये दोनों हेय हैं। मोक्ष का हेतु रत्नत्रयी (सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-चारित्र) है जो व्यक्ति इस तत्त्व को

नहीं जानता वही पुण्य को उपादेय और पाप को हेय मानता है। निश्चय दृष्टि से ये दोनों हेय हैं [६३]।

पुण्य की हेयता के बारे में जैन-परम्परा एक मत है। उसकी उपादेयता में विचार-भेद भी है। कई आचार्य उसे मोक्ष का परम्पर-हेतु मान क्वचित् उपादेय भी मानते हैं [६४]। कई आचार्य उसे मोक्ष का परम्पर हेतु मानते हुए भी उपादेय नहीं मानते।

आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य और पाप का आकर्षण करनेवाली विचार-धारा को पर समय माना है [६५]।

योगीन्दु कहते हैं—"पुण्य से वैभव, वैभव से अहंकार, अहंकार से बुद्धि-नाश और बुद्धि-नाश से पाप होता है।" इसलिए हमें वह नहीं चाहिए [६६]।

टीकाकार के अनुसार यह क्रम उन्हीं के लिए है, जो पुण्य की आकांक्षा (निदान) पूर्वक तप तपने वाले हैं। आत्म-शुद्धि के लिए तप तपने वालों के अवांछित पुण्य का आकर्षण होता है [६७]। उनके लिए यह क्रम नहीं है—वह उन्हें बुद्धि-विनाश की ओर नहीं ले जाता [६८]।

पुण्य काम्य नहीं है। योगीन्दु के शब्दों मे—"वे पुण्य किस काम के, जो राज्य देकर जीव को दुःख परम्परा की ओर ढकेल दे। आत्म-दर्शन की खोज मे लगा हुआ व्यक्ति मर जाए—यह अच्छा है, किन्तु आत्म-दर्शन से विमुख होकर पुण्य चाहे—वह अच्छा नहीं है [६९]।"

आत्म-साधना के क्षेत्र में पुण्य की सीधी उपादेयता नहीं है, इस दृष्टि से पूर्ण सामञ्जस्य है।

मिश्रण नहीं होता

पुण्य और पाप के परमाणुओं के आकर्षण-हेतु अलग-अलग हैं। एक ही हेतु से दोनों के परमाणुओं का आकर्षण नहीं होता। आत्मा के परिणाम या तो शुभ होते हैं या अशुभ। किन्तु शुभ और अशुभ दोनों एक साथ नहीं होते।

कोरा पुण्य

कई आचार्य पाप कर्म का विकर्षण किए बिना ही पुण्य कर्म का आकर्षण होना मानते हैं। किन्तु यही चिन्तनीय है। प्रवृत्ति मात्र मेंआकर्षण और

विकर्षण दोनो होते हैं। श्वेताम्बर आगमों में इसका पूर्ण समर्थन मिलता है।

गौतम ने पूछा—भगवन्! श्रमण को वंदन करने से क्या लाभ होता है?

भगवान्—गौतम! श्रमण को वंदन करने वाला नीच-गोत्र-कर्म को खपाता है और उच्च-गोत्र-कर्म का बन्ध करता है[७०]। यहाँ एक शुभ प्रवृत्ति से पाप कर्म का क्षय और पुण्य कर्म का बन्ध—इन दोनों कार्यों की निष्पत्ति मानी गई है तर्क-दृष्टि से भी यह मान्यता अधिक संगत लगती है।

धर्म और पुण्य

जैन दर्शन में धर्म और पुण्य—ये दो पृथक् तत्त्व हैं। शाब्दिक दृष्टि से पुण्य शब्द धर्म के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, किन्तु तत्त्व-मीमांसा में ये कभी एक नहीं होते[७१]। धर्म आत्मा की राग-द्वेषहीन परिणति है (शुभ परिणाम है) और पुण्य शुभकर्ममय पुद्गल है[७२]। दूसरे शब्दों में—धर्म आत्मा की पर्याय है[७३] और पुण्य अजीव (पुद्गल) की पर्याय है[७४]। दूसरी बात धर्म (निर्जरारूप, यहाँ सम्वर की अपेक्षा नहीं है) सत्क्रिया है और पुण्य उसका फल है[७५]; कारण कि सत्प्रवृत्ति के बिना पुण्य नहीं होता। तीसरी बात धर्म आत्म-शुद्धि—आत्म-मुक्ति का साधन है[७६], और पुण्य आत्मा के लिए बन्धन है[७७]। अधर्म और पाप की भी यही स्थिति है। ये दोनो धर्म और पुण्य के ठीक प्रतिपक्षी हैं। जैसे—सत्प्रवृत्तिरूप धर्म के बिना पुण्य की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही अधर्म के बिना पाप की भी उत्पत्ति नहीं होती[७८]। पुण्य-पाप फल है, जीव की अच्छी या बुरी प्रवृत्ति से उसके साथ चिपटने वाले पुद्गल हैं तथा ये दोनो धर्म और अधर्म के लक्षण हैं—गमक हैं[७९]। लक्षण लक्ष्य के बिना अकेला पैदा नहीं होता। जीव की क्रिया दो भागो में विभक्त होती है—धर्म अधर्म, सत् अथवा असत्[८०]। अधर्म से आत्मा के संस्कार विकृत होते हैं, पाप का बन्ध होता है। धर्म से आत्म-शुद्धि होती है और उसके साथ-साथ पुण्य का बन्ध होता है। इसलिए इनकी उत्पत्ति स्वतन्त्र नहीं हो सकती। पुण्य-पाप कर्म का ग्रहण होना या न होना आत्मा के अध्यवसाय-परिणाम पर निर्भर है[८१]। शुभयोग तपस्या-धर्म है और वही शुभयोग पुण्य का आस्रव है[८२]। अनुकम्पा, क्षमा, सराग-संयम, अल्प-परिग्रह, योग-

ऋजुता आदि-आदि पुण्य-बन्ध के हेतु हैं [८३]। ये सत्प्रवृत्ति रूप होने के कारण धर्म हैं।

सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य ने शुभभावयुक्त जीव को पुण्य और अशुभभावयुक्त जीव को पाप कहा है [८४]। अहिंसा आदि व्रतों का पालन करना शुभोपयोग है। इसमें प्रवृत जीव के शुभ कर्म का जो वन्ध होता है, वह पुण्य है। अभेदोपचार से पुण्य के कारणभूत शुभोपयोग प्रवृत्त जीव को ही पुण्यरूप कहा गया है।

इसलिए अमुक प्रवृत्ति में धर्म या अधर्म नहीं होता, केवल पुण्य या पाप होता है, यह मानना संगत नहीं। कहीं-कहीं पुण्य हेतुक सत्प्रवृत्तियों को भी पुण्य कहा गया है [८५]। यह कारण में कार्य का उपचार, विवक्षा की विचित्रता अथवा सापेक्ष (गौण-मुख्य-रूप) दृष्टिकोण है। तात्पर्य में जहाँ पुण्य है, वहाँ सत्प्रवृत्तिरूप धर्म अवश्य होता है। इसी बात को पूर्ववर्ती आचार्यों ने इस रूप में समझाया है कि "अर्थ और काम—ये पुण्य के फल हैं। इनके लिए दौड़-धूप मत करो [८६]। अधिक से अधिक धर्म का आचरण करो। क्योंकि उसके विना ये भी मिलने वाले नहीं हैं।" अधर्म का फल दुर्गति है। धर्म का मुख्य फल आत्म-शुद्धि—मोक्ष है। किन्तु मोक्ष न मिलने तक गौण फल के रूप में पुण्य का वन्ध भी होता रहता है, और उससे अनिवार्यतया अर्थ, काम आदि-आदि पौद्गलिक सुख-साधनों की उपलब्धि भी होती रहती है [८७]। इसीलिए यह प्रसिद्ध सूक्ति है—"सुखं हि जगतामेकं काम्यं धर्मेण लभ्यते।"

महाभारत के अन्त में भी यही लिखा है।

"अरे भुजा उठाकर मैं चिल्ला रहा हूँ, पर कोई भी नहीं सुनता। धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है। तब तुम उसका आचरण क्यों नहीं करते हो [८८] ?"

योगसूत्र के अनुसार भी पुण्य की उत्पत्ति धर्म के साथ ही होती है, यही फलित होता है। जैसे—धर्म और अधर्म—ये क्लेशमूल हैं [८९]। इन मूलसहित क्लेशाशय का परिपाक होने पर उनके तीन फल होते हैं—जाति, आयु और भोग। ये दो प्रकार के हैं—"सुखद और दुःखद। जिनका हेतु पुण्य होता है, वे सुखद और जिनका हेतु पाप होता है, वे दुःखद होते हैं।" इससे फलित

नहीं होता है कि महर्षि पतंजलि ने भी पुण्य-पाप की स्वतन्त्र उत्पत्ति नहीं मानी है। जैन विचारों के साथ उनके दोनों की कोई अन्तर नहीं आता।

तुलना के लिए देखें :—
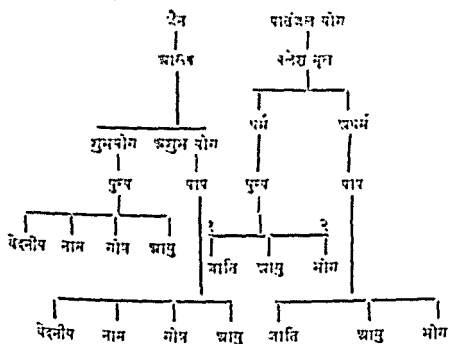
कुन्दकुन्दाचार्य ने शुद्ध-दृष्टि की अपेक्षा प्रतिक्रमण (आत्मालोचन), प्रायश्चित्त को पुण्यबन्ध का हेतु होने के कारण विष कहा है [१०]।

आचार्य भिक्षु ने कहा है—"पुण्य की इच्छा करने से पाप का बन्ध होता है [११]।" आगम कहते हैं—"इहलोक, परलोक, पूजा-श्लाघा आदि के लिए धर्म मत करो, केवल आत्म शुद्धि के लिए करो [१२]।" यही बात वेदान्त के आचार्यों ने कही है कि "मोक्षार्थी को काम्य और निषिद्ध कर्म में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए [१३]।" क्योंकि आत्म-साधक का लक्ष्य मोक्ष होता है और पुण्य संसार-भ्रमण के हेतु हैं। भगवान् महावीर ने कहा है—"पुण्य और पाप—इन दोनों के क्षय से मुक्ति मिलती है [१४]।" "जीव शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा संसार में परिभ्रमण करता है [१५]।" गीता भी यही कहती है—"बुद्धिमान्

१—जाति-जैन परिभाषा में नाम कर्म की एक प्रकृति के साथ उसकी तुलना होती है।
२—भोग-वेदनीय।

सुकृत और दुष्कृत दोनों को छोड़ देता है[१६]।" "आस्रव संसार का हेतु है और संवर मोक्ष का, जैनी दृष्टि का बस यही सार है[१७]।" अभयदेवसूरि ने स्थानांग की टीका में आस्रव, बन्ध, पुण्य और पाप को संसार-भ्रमण के हेतु कहा है[१८]। आचार्य भिक्षु ने इसे यों समझाया है कि "पुण्य से भोग मिलते हैं, जो पुण्य की इच्छा करता है, वह भोगों की इच्छा करता है[१९]। भोग की इच्छा से संसार बढ़ता है।

इसका निगमन यों होना चाहिए कि अयोगी-अवस्था (पूर्ण-समाधि-दशा) से पूर्व सत्प्रवृत्ति के साथ पुण्य-बन्ध अनिवार्य रूप से होता है। फिर भी पुण्य की इच्छा से कोई भी सत्प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए। प्रत्येक सत्प्रवृत्ति का लक्ष्य होना चाहिए—मोक्ष—आत्म-विकास। भारतीय दर्शनों का यही चरम लक्ष्य है। लौकिक अभ्युदय धर्म का आनुसंगिक फल है—धर्म के साथ अपने आप फलने वाला है। यह शाश्वतिक या चरम लक्ष्य नहीं है। इसी सिद्धान्त को लेकर कई व्यक्ति भारतीय दर्शनों पर यह आक्षेप करते हैं कि उन्होंने लौकिक अभ्युदय की नितान्त उपेक्षा की, पर सही अर्थ में बात यह नहीं है। ऊपर की पंक्तियों का विवेचन धार्मिक दृष्टिकोण का है, लौकिक वृत्तियों में रहने वाले अभ्युदय की सर्वथा उपेक्षा कर ही कैसे सकते हैं। हां फिरभी भारतीय एकान्त-भौतिकता से बहुत बचे हैं। उन्होंने प्रेय और श्रेय को एक नहीं माना[१००]। अभ्युदय को ही सब कुछ मानने वाले भौतिकवादियों ने युग को कितना जटिल बना दिया, इसे कौन अनुभव नहीं करता।

उदीरणा-योग्य कर्म

गौतम ने पूछा—भगवन्! जीव उदीर्ण (कर्म-पुद्गलों) की उदीरणा करता है। अनुदीर्ण (कर्म-पुद्गलों) की उदीरणा करता है? अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणा-भव्य (कर्म-पुद्गलों) की उदीरणा करता है? अथवा उदयानन्तर पश्चात् कृत (कर्म पुद्गलों) की उदीरणा करता है?

भगवान् ने कहा—गौतम! जीव उदीर्ण की उदीरणा नहीं करता, अनुदीर्ण की उदीरणा नहीं करता, अनुदीर्ण, किन्तु उदीरणा भव्य की उदीरणा करता है। उदयानन्तर पश्चात्-कृत कर्म की उदीरणा नहीं करता[१०१]।

१—उदीरित (उदीर्ण-उदीरणा किये हुए) कर्म-पुद्गलों की फिर से

उदीरणा करे तो उस (उदीरणा) की कहीं भी परिसमाप्ति नहीं होती। इसलिए उदीर्ण की उदीरणा का निषेध किया गया है।

२—जिन कर्म-पुद्गलों की उदीरणा सुदूर भविष्य में होने वाली है, अथवा जिनकी उदीरणा नहीं ही होने वाली है, उन अनुदीर्ण कर्म पुद्गलो की भी उदीरणा नही हो सकती।

३—जो कर्म-पुद्गल उदय में आ चुके (उदयानन्तर पश्चात् कृत), वे सामर्थ्यहीन बन गए, इसलिए उनकी भी उदीरणा नहीं होती।

४—जो कर्म-पुद्गल वर्तमान में उदीरणा-योग्य (अनुदीर्ण-उदीरणा-भव्य) हैं, उन हीकी उदीरणा होती है।

उदीरणा का हेतु पुरुषार्थ

कर्म के काल-प्राप्त-उदय (स्वाभाविक उदय) में नए पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं होती। बन्ध-स्थिति पूरी होती है, कर्म-पुद्गल अपने आप उदय में आ जाते हैं। उदीरणा द्वारा उन्हें स्थिति-क्षय से पहले उदय में लाया जाता है। इसलिए इसमें विशेष प्रयत्न या पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है।

गौतम ने पूछा—"भगवन् ! अनुदीर्ण, उदीरणा-भव्य (कर्म पुद्गलों) की जो उदीरणा होती है, वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य पुरुषकार और पराक्रम के द्वारा होती है अथवा अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुषकार और अपराक्रम के द्वारा ?"

भगवान् ने कहा—"गौतम। जीव उत्थान आदि के द्वारा अनुदीर्ण, उदीरणा भव्य (कर्म-पुद्गलों) की उदीरणा करता है, किन्तु अनुत्थान आदि के द्वारा उदीरणा नहीं करता [१०३]।"

यह भाग्य और पुरुषार्थ का समन्वय है। पुरुषार्थ द्वारा कर्म में परिवर्तन किया जा सकता है, यह स्पष्ट है।

उदीरक पुरुषार्थ के दो रूप :—

कर्म की उदीरणा 'करण' के द्वारा होती है। करण का अर्थ है 'योग'। योग के तीन प्रकार हैं—(१) शारीरिक व्यापार (२) वाचिक व्यापार (३) मानसिक व्यापार। उत्थान आदि इन्हीं के प्रकार हैं, योग शुभ और

अशुभ दोनों प्रकार का होता है। आस्रव-चतुष्टय-रहित योग शुभ और आस्रव-चतुष्टय सहित योग अशुभ। शुभ योग तपस्या है। सत् प्रवृत्ति है। वह उदीरणा का हेतु है। क्रोध, मान, माया, और लोभ की प्रवृत्ति अशुभ योग है। उससे भी उदीरणा होती है[१०३]।

पुरुषार्थ भाग्य को बदल सकता है

वर्तमान की दृष्टि से पुरुषार्थ अवन्ध्य कभी नहीं होता। अतीत की दृष्टि से उसका महत्त्व है भी और नहीं भी। वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से दुर्बल होता है तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा नहीं कर सकता। वर्तमान का पुरुषार्थ अतीत के पुरुषार्थ से प्रबल होता है तो वह अतीत के पुरुषार्थ को अन्यथा भी कर सकता है।

कर्म की बन्धन और उदय—ये दो ही अवस्थाएं होतीं तो कर्मों का बन्ध होता और वेदना के बाद वे निर्वीर्य हो आत्मा से अलग हो जाते। परिवर्तन को कोई अवकाश नहीं मिलता। कर्म की अवस्थाएं इन दो के अतिरिक्त और भी हैं—

(१) अपवर्तना के द्वारा कर्म-स्थिति का अल्पीकरण (स्थिति-घात) और रस का मन्दीकरण (रस-घात) होता है।

(२) उद्वर्तना के द्वारा कर्म-स्थिति का दीर्घीकरण और रस का तीव्रीकरण होता है।

(३) उदीरणा के द्वारा लम्बे समय के बाद तीव्र भाव से उदय में आने वाले कर्म तत्काल और मन्द-भाव से उदय में आ जाते हैं।

(४) एक कर्म शुभ होता है और उसका विपाक भी शुभ होता है। एक कर्म शुभ होता है, उसका विपाक अशुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है, उसका विपाक शुभ होता है। एक कर्म अशुभ होता है और उसका विपाक भी अशुभ होता है[१०४]। जो कर्म शुभ रूप में ही बंधता है और शुभ रूप में ही उदित होता है, वह शुभ और शुभ-विपाक वाला होता है। जो कर्म शुभ रूप में बन्धता है और अशुभ रूप में उदित होता है, वह शुभ और अशुभ विपाक वाला होता है। जो कर्म अशुभ रूप में बन्धता है और शुभ रूप में उदित होता है, वह अशुभ और शुभ-विपाक वाला होता है। जो

कर्म अशुभ रूप में बन्धता है और अशुभ रूप में ही उदित होता है, वह अशुभ और अशुभ-विपाक वाला होता है। कर्म के बन्ध और उदय में जो यह अन्तर आता है, उसका कारण संक्रमण (बध्यमान कर्म में कर्मान्तर का प्रवेश) है।

जिस अध्यवसाय से जीव कर्म-प्रकृति का बन्ध करता है, उसकी तीव्रता के कारण वह पूर्व-बद्ध सजातीय प्रकृति के दलिको को बध्यमान प्रकृति के दलिकों के साथ संक्रान्त कर देता है, परिणत या परिवर्तित कर देता है—वह संक्रमण है।

संक्रमण के चार प्रकार हैं—(१) प्रकृति-संक्रम (२) स्थिति संक्रम (३) अनुभाव-संक्रम (४) प्रदेश-संक्रम [१०५]।

प्रकृति संक्रम से पहले बन्धी हुई प्रकृति (कर्म-स्वभाव) वर्तमान में बंधने वाली प्रकृति के रूप में बदल जाती है। इसी प्रकार स्थिति, अनुभाव और प्रदेश का परिवर्तन होता है।

ये चारों—(अपवर्तन, उद्‌वर्तन, उदीरणा और संक्रमण) उदयावलिका (उदय क्षण) से बहिर्भूत कर्म-पुद्‌गलो के ही होते हैं। उदयावलिका में प्रविष्ट कर्म पुद्‌गल के उदय में कोई परिवर्तन नहीं होता। अनुदित कर्म के उदय में परिवर्तन होता है। पुरुषार्थ के सिद्धान्त का यही ध्रुव आधार है। यदि यह नहीं होता तो कोरा नियतिवाद ही होता।

वेदना

गौतम—भगवन्! अन्ययूथिक कहते हैं—सब जीव एवंभूत वेदना (जैसे कर्म बाधा वैसे ही) भोगते हैं—यह कैसे है?

भगवान्—गौतम! अन्ययूथिक जो एकान्त कहते हैं, वह मिथ्या है। मैं यूं कहता हूँ—कई जीव एवंभूत वेदना भोगते हैं और कई अनेवंभूत वेदना भी भोगते हैं।

गौतम—भगवन्! यह कैसे?

भगवान—गौतम! जो जीव किये हुए कर्मों के अनुसार ही वेदना भोगते हैं, वे एवम्भूत वेदना भोगते हैं और जो जीव किये हुए कर्मों से अन्यथा भी वेदना भोगते हैं वे अनेवम्भूत वेदना भोगते हैं [१०६]।

काल-निर्णय

उस काल और उस समय की बात है—भगवान् राजगृह के (ईशान-कोणवर्ती) गुणशीलक नाम के चैत्य (व्यन्तरायतन) में समवसृत हुए। परिषद् एकत्रित हुई। भगवान् ने धर्म-देशना की। परिषद् चली गई।

उस समय भगवान् के ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति गौतम को श्रद्धा, संशय या कुतूहल उत्पन्न हुआ। वे भगवान् के पास आए। वन्दना-नमस्कार कर न अति दूर और न अति निकट बैठकर विनयपूर्वक बोले—भगवन्! नैरयिक जीव कितने प्रकार के पुद्गलो का भेद और उदीरणा करते हैं?

भगवान् ने कहा—गौतम! नैरयिक जीव कर्म-द्रव्य-वर्गणा (कर्म-पुद्गल सजातीय-समूह) की अपेक्षा अणु और बादर (सूक्ष्म और स्थूल) इन दो प्रकार के पुद्गलो का भेद और उदीरणा करते हैं। इसी प्रकार भेद, चय, उपचय, वेदना, निर्जरा, अपवर्तन, संक्रमण, निधत्ति और निकाचन करते हैं [१०७]।

गौतम—भगवन्! नैरयिक जीव तैजस और कार्मण (कर्म समूह) पुद्गलो का ग्रहण अतीत काल में करते हैं? प्रत्युत्पन्न काल में? या अनागत (भविष्य) काल में?

भगवान्—गौतम! नैरयिक तैजस और कार्मण पुद्गलो का ग्रहण अतीत काल में नही करते, वर्तमान काल में करते हैं, अनागत काल में भी नही करते।

गौतम—भगवन्! नैरयिक जीव अतीत में ग्रहण किए हुए तैजस और कार्मण पुद्गलो की उदीरणा करते हैं? प्रत्युत्पन्न में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलो की? या ग्रहण समय पुरस्कृत (वर्तमान से अगले समय में ग्रहण किये जाने वाले) पुद्गलो की?

भगवान्—गौतम! वे अतीत काल में ग्रहण किए हुए पुद्गलो की उदीरणा करते हैं, न प्रत्युत्पन्न काल में ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों की उदीरणा करते हैं और न ग्रहण समय पुरस्कृत पुद्गलो की भी। इसी प्रकार वेदना और निर्जरा भी अतीत काल में गृहीत पुद्गलों की होती है।

निर्जरा

संयम का अंतिम परिणाम वियोग है। आत्मा और परमाणु—ये दोनो भिन्न हैं। वियोग में आत्मा आत्मा है और परमाणु परमाणु। इनका संयोग होता है, आत्मा रूपी कहलाती है और परमाणु कर्म।

कर्म-प्रायोग्य परमाणु आत्मा से चिपट कर्म बन जाते हैं। उस पर अपना प्रभाव डालने के बाद वे अकर्म बन जाते हैं, अकर्म बनते ही वे आत्मा से विलग हो जाते हैं। इस विलगाव की दशा का नाम है—निर्जरा।

निर्जरा कर्मों की होती है—यह औपचारिक सत्य है। वस्तु-सत्य यह है कि कर्मों की वेदना—अनुभूति होती है, निर्जरा नही होती। निर्जरा अकर्म की होती है। वेदना के बाद कर्म-परमाणुओं का कर्मत्व नष्ट हो जाता है, फिर निर्जरा होती है [१०८]।

कोई फल डाली पर पक कर टूटता है, और किसी फल को प्रयत्न से पकाया जाता है। पकते दोनों हैं, किन्तु पकने की प्रक्रिया दोनों की भिन्न है। जो सहज गति से पकता है, उसका पाक-काल लम्बा होता है और जो प्रयत्न से पकता है, उसका पाक-काल छोटा हो जाता है। कर्म का परिपाक भी ठीक इसी प्रकार होता है। निश्चित काल-मर्यादा से जो कर्म परिपाक होता है, उसकी निर्जरा को विपाकी निर्जरा कहा जाता है। यह अहेतुक निर्जरा है। इसके लिए कोई नया प्रयत्न नहीं करना पड़ता, इसलिए इसका हेतु न धर्म होता है और न अधर्म।

निश्चित काल-मर्यादा से पहले शुभ-योग के व्यापार से कर्म का परिपाक होकर जो निर्जरा होती है, उसे अविपाकी निर्जरा कहा जाता है। यह सहेतुक निर्जरा है। इसका हेतु शुभ-प्रयत्न है। वह धर्म है। धर्म हेतुक निर्जरा नव-तत्त्वों में सातवां तत्त्व है। मोक्ष इसीका उत्कृष्ट रूप है। कर्म की पूर्ण निर्जरा (विलय) जो है, वही मोक्ष है। कर्म का अपूर्ण विलय निर्जरा है। दोनों में मात्रा भेद है, स्वरूप-भेद नहीं। निर्जरा का अर्थ है—आत्मा का विकास या स्वभावोदय [१०९]। अभेदोपचार की दृष्टि से स्वभावोदय के साधनों को भी निर्जरा कहा जाता है [११०]। इसके बारह प्रकार इसी दृष्टि के आधार पर किये गये हैं [१११]। इसके सकाम और अकाम—इन दो भेदों का

आधार भी यही दृष्टि है [११२]। वस्तुतः सकाम और अकाम तप होता है निर्जरा नहीं। निर्जरा आत्म-शुद्धि है। उसमें मात्रा का तारतम्य होता है किन्तु स्वरूप का भेद नहीं होता।

आत्मा स्वतन्त्र है या कर्म के अधीन

कर्म की मुख्य दो अवस्थाएं हैं—बन्ध और उदय। दूसरे शब्दों में ग्रहण और फल। "कर्म ग्रहण करने में जीव स्वतन्त्र है और उसका फल भोगने में परतन्त्र [११३]। जैसे कोई व्यक्ति वृक्ष पर चढ़ता है, वह चढ़ने में स्वतन्त्र है—इच्छानुसार चढ़ता है। प्रमादवश गिर जाए तो वह गिरने में स्वतंत्र नहीं है।" इच्छा से गिरना नहीं चाहता, फिरभी गिर जाता है, इसलिये गिरने में परतन्त्र है। इसी प्रकार विष खाने में स्वतन्त्र है और उसका परिणाम भोगने में परतन्त्र। एक रोगी व्यक्ति भी गरिष्ठ से गरिष्ठ पदार्थ खा सकता है, किन्तु उसके फलस्वरूप होने वाले अजीर्ण से नहीं बच सकता। कर्म-फल भोगने में जीव स्वतन्त्र है, यह कथन प्रायिक है। कहीं-कहीं जीव उसमें स्वतन्त्र भी होते हैं। जीव और कर्म का संघर्ष चलता रहता है [११४]। जीव के काल आदि लब्धियों की अनुकूलता होती है, तब वह कर्मों को पछाड़ देता है और कर्मों की बहुलता होती है, तब जीव उनसे दब जाता है। इसलिए यह मानना होता है कि कहीं जीव कर्म के अधीन है और कहीं कर्म जीव के अधीन [११५]।

कर्म दो प्रकार के होते हैं—(१) निकाचित—जिनका विपाक अन्यथा नहीं हो सकता। (२) दलिक—जिनका विपाक अन्यथा भी हो सकता है।

सोपक्रम—जो कर्म उपचार साध्य होता है। निरूपक्रम—जिसका कोई प्रतिकार नहीं होता, जिसका उदय अन्यथा नहीं हो सकता।

निकाचित कर्मोदय की अपेक्षा जीव कर्म के अधीन ही होता है। दलिक की अपेक्षा दोनों बातें हैं—जहाँ जीव उसको अन्यथा करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता, वहाँ वह उस कर्म के अधीन होता है और जहाँ जीव प्रबल धृति, मनोबल, शरीरबल आदि सामग्री की सहायता से सत्प्रयत्न करता है, वहाँ कर्म उसके अधीन होता है। उदयकाल से पूर्व कर्म को उदय में ला, तोड़ डालना, उसकी स्थिति और रस को मन्द कर देना, यह सब इसी स्थिति में हो सकता है। यदि यह न होता तो तपस्या करने का कोई अर्थ ही नहीं

रहता। पहले बन्धे हुए कर्मों की स्थिति और फल-शक्ति नष्ट कर, उन्हें शीघ्र तोड़ डालने के लिए ही तपस्या की जाती है। पातंजलयोग भाष्य में भी अदृष्ट-जन्म-वेदनीय कर्म की तीन गतियां बताई हैं[११६]। उनमें "कई कर्म बिना फल दिये ही प्रायश्चित्त आदि के द्वारा नष्ट हो जाते हैं।" एक गति यह है। इसीको जैन-दृष्टि में उदीरणा कहा है।

कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया

कर्म परमाणुओं के विकर्षण के साथ-साथ दूसरे कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता रहता है। किन्तु इससे मुक्ति होने में कोई बाधा नही आती।

कर्म-सम्बन्ध के प्रधान साधन दो हैं—कपाय और योग। कपाय प्रबल होता है, तब कर्म-परमाणु आत्मा के साथ अधिक काल तक चिपके रहते हैं और तीव्र फल देते हैं। कपाय के मन्द होते ही उनकी स्थिति कम और फल-शक्ति मन्द हो जाती है।

ज्यों-ज्यों कपाय मन्द होता है, त्यो त्यों निर्जरा अधिक होती है और पुण्य का बन्ध शिथिल होता जाता है। वीतराग के सिर्फ दो समय की स्थिति का बन्ध होता है। पहले क्षण में कर्म-परमाणु उसके साथ सम्बन्ध करते हैं, दूसरे क्षण में भोग लिए जाते हैं और तीसरे क्षण में वे उनसे बिछुड़ जाते हैं।

चौदहवीं भूमिका में मन, वाणी और शरीर की सारी प्रक्रियाएं रुक जाती हैं। वहाँ केवल पूर्व-संचित कर्म का निर्जरण होता है, नये कर्म का बन्ध नहीं होता। अबन्ध-दशा में आत्मा शेष कर्मों को खपा मुक्त हो जाता है।

कुछ व्यक्ति अल्प और अल्पतर और कुछ एक महत् और महत्तर कर्म-संचय को लिए हुए जन्म लेते हैं। उनकी साधना का क्रम और काल भी उसीके अनुरूप होता है[११७]। जैसे—अल्पकर्म-प्रत्ययात्—अल्प तप, अल्प वेदना, दीर्घ प्रव्रज्या (साधना-काल)—भरत चक्रवर्तीवत्।

अल्पतर कर्म-प्रत्ययात्—अल्प तप, अल्प वेदना, अल्पतर प्रव्रज्या—मरुदेवावत्।

महत्कर्म प्रत्ययात्—घोर तप, घोर वेदना, अल्प प्रव्रज्या—गजसुकुमालवत्।

महत्तरकर्म-प्रत्ययात्—घोरतर तप, घोरतर वेदना, दीर्घतर प्रव्रज्या—सनत्कुमारवत् [११८]।

अनादि का अन्त कैसे?

जो अनादि होता है, उसका अन्त नहीं होता, ऐसी दशा में अनादि-कालीन कर्म-सम्बन्ध का अन्त कैसे हो सकता है? यह ठीक, किन्तु इसमें बहुत कुछ समझने जैसा है। अनादि का अन्त नही होता, यह सामुदायिक नियम है और जाति से सम्बन्ध रखता है। व्यक्ति-विशेष पर यह लागू नही भी होता। प्रागभाव अनादि है, फिर भी उसका अन्त होता है। स्वर्ण और मृत्तिका का, घी, और दूध का सम्बन्ध अनादि है, फिर भी वे पृथक् होते हैं। ऐसे ही आत्मा और कर्म के अनादि-सम्बन्ध का अन्त होता है। यह ध्यान रहे कि इसका सम्बन्ध प्रवाह की अपेक्षा अनादि है, व्यक्तिशः नहीं। आत्मा से जितने कर्म पुद्गल चिपटते हैं, वे सब अवधि सहित होते हैं। कोई भी एक कर्म अनादिकाल से आत्मा के साथ घुलमिलकर नहीं रहता। आत्मा मोक्षोचित सामग्री पा, अनास्रव बन जाती है, तब नये कर्मों का प्रवाह रुक जाता है, संचित कर्म तपस्या द्वारा टूट जाते हैं, आत्मा मुक्त बन जाती है।

लेश्या

लेश्या का अर्थ है—पुद्गल द्रव्य के संसर्ग से उत्पन्न होने वाला जीव का अध्यवसाय—परिणाम, विचार। आत्मा चेतन है, जड़स्वरूप से सर्वथा पृथक् है, फिर भी संसार-दशा में इसका जड़द्रव्य (पुद्गल) के साथ गहरा संसर्ग रहता है, इसीलिए जड़ द्रव्यजन्य परिणामों का जीव पर असर हुए बिना नहीं रहता। जिन पुद्गलों से जीव के विचार प्रभावित होते हैं, वे भी द्रव्य-लेश्या कहलाते हैं। द्रव्य-लेश्याएं पौद्गलिक हैं, इसलिए इनमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होते हैं। लेश्याओं का नामकरण द्रव्य-लेश्याओं के रंग के आधार पर हुआ है, जैसे कृष्ण-लेश्या, नील लेश्या आदि-आदि। पहली तीन लेश्याएं अप्रशस्त लेश्याएं हैं। इनके वर्ण आदि चारों गुण अशुभ होते हैं। उत्तरवर्ती तीन लेश्याओं के वर्ण आदि चारों शुभ होते हैं, इसलिए वे प्रशस्त होती हैं। खान-पान, स्थान और बाहरी वातावरण एवं वायुमण्डल का शरीर और मन पर असर होता है, यह प्रायः सर्वसम्मत-सी बात है। 'जैसा अन्न वैसा मन'

यह उक्ति भी निराधार नहीं है। शरीर और मन, दोनों परस्परापेक्ष हैं। इनमें एक दूसरे की क्रिया का एक दूसरे पर असर हुए बिना नहीं रहता। "जल्लेसाइं दव्वाइं आदिअन्ति तल्लेसे परिणामे भवइ[११९]"—जिस लेश्या के द्रव्य ग्रहण किये जाते हैं, उसी लेश्या का परिणाम हो जाता है। इस आगम-वाक्य से उक्त विषय की पुष्टि होती है। व्यावहारिक जगत् में भी यही बात पाते हैं। प्राकृतिक चिकित्सा-प्रणाली में मानस-रोगी को सुधारने के लिए विभिन्न रंगो की किरणों का या विभिन्न रंगों की बोतलो के जलो का प्रयोग किया जाता है। योग प्रणाली में पृथ्वी, जल आदि तत्त्वों के रंगों के परिवर्तन के अनुसार मानस-परिवर्तन का क्रम बतलाया है।

इस पूर्वोक्त विवेचन से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य-लेश्या के साथ भाव-लेश्या का गहरा सम्बन्ध है। किन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि द्रव्य-लेश्या के ग्रहण का क्या कारण है? यदि भाव-लेश्या को उसका कारण मानें तो उसका अर्थ होता है—भाव-लेश्या के अनुरूप द्रव्य-लेश्या, न कि द्रव्य-लेश्या के अनुरूप भाव-लेश्या। ऊपर की पंक्तियों में यह बताया गया है कि द्रव्य-लेश्या के अनुरूप भाव-लेश्या होती है। यह एक जटिल प्रश्न है। इसके समाधान के लिए हमें लेश्या की उत्पत्ति पर ध्यान देना होगा। भाव-लेश्या यानी द्रव्य-लेश्या के साहाय्य से होने वाले आत्मा के परिणाम की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है—मोह-कर्म के उदय से तथा उसके उपशम, क्षय या क्षयोपशम से[१२०]। औदयिक भाव-लेश्याएं बुरी (अप्रशस्त) होती हैं और औपशमिक, क्षायिक या क्षयौपशमिक लेश्याएं भली (प्रशस्त) होती हैं। कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अप्रशस्त और तेज, पद्म एवं शुक्ल—ये तीन प्रशस्त लेश्याएं हैं। प्रज्ञापना में कहा है—"तओ दुग्गइ गामिणिओ, तओ सुग्गइ गामिणिओ"[१२१]—अर्थात् पहली तीन लेश्याएं बुरे अध्यवसायवाली हैं, इसलिए वे दुर्गति की हेतु हैं। उत्तरवर्ती तीन लेश्याएं भले अध्यवसायवाली हैं, इसलिए वे सुगति की हेतु हैं। उत्तराध्ययन में इनको अधर्म लेश्या और धर्म-लेश्या भी कहा है—"किण्हा नीला काऊ, तिण्णि वि एयाओ अहम्मलेसाओ।......तेऊ पम्हा सुक्काए, तिण्णि वि एयाओ धम्म लेसाओ"[१२२] -कृष्ण, नील और कापोत—ये तीन अधर्म-लेश्याएं हैं और तेजः, पद्म एवं शुक्ल—

ये तीन धर्म-लेश्याएं हैं। उक्त प्रकरण से हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि आत्मा के भले और बुरे अध्यवसाय (भाव-लेश्या) होने का मूल कारण मोह का अभाव (पूर्ण या अपूर्ण) या भाव है। कृष्ण आदि पुद्गल द्रव्य भले-बुरे अध्यवसायों के सहकारी कारण बनते हैं। तात्पर्य यह है कि मात्र काले, नीले आदि पुद्गलों से ही आत्मा के परिणाम बुरे-भले नहीं बनते। परिभाषा के शब्दों में कहें तो सिर्फ द्रव्य-लेश्या के अनुरूप ही भाव-लेश्या नहीं बनती। मोह का भाव अभाव तथा द्रव्य-लेश्या—इन दोनों के कारण आत्मा के बुरे या भले परिणाम बनते हैं। द्रव्य-लेश्याओं के स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण जानने के लिए देखो यन्त्र।

लेश्या	वर्ण	रस	गन्ध	स्पर्श
कृष्ण	काजल के समान काला	नीम से अनन्त गुण कटु	मृत सर्प की गन्ध से अनन्त गुण अनिष्ट गंध	गाय की जीभ से अनन्त गुण कर्कश
नील	नीलम के समान नीला	सोंठ से अनन्त गुण तीक्ष्ण		
कापोत	कबूतर के गले के समान रंग	कच्चे आम के रस से अनन्तगुण तिक्त		
तेजस्	हिंगुल-सिन्दूर के समान रक्त	पके आम के रस से अनन्त गुण मधुर	सुरभि-कुसुम की गन्ध से अनन्त गुण इष्ट गन्ध	नवनीत-मक्खन से अनन्त गुण सुकुमार
पद्म	हल्दी के समान पीला	मधु से अनन्त गुण मिष्ट		
शुक्ल	शंख के समान सफेद	मिसरी से अनन्त गुण मिष्ट		

लेश्याकी* विशेष जानकारी के लिए प्रज्ञापना का १७ वां पद और उत्तराध्ययन का ३४ वां अध्ययन द्रष्टव्य है। जैनेतर ग्रन्थों में भी कर्म की विशुद्धि या वर्ण के आधार पर जीवों की कई अवस्थाएं बतलाई हैं। तुलना के लिए देखो महाभारत पर्व १२-२८६। पातञ्जलयोग में वर्णित कर्म की कृष्ण शुक्ल-कृष्ण, शुक्ल और अशुक्ल-अकृष्ण—ये चार जातियां भाव-

लेश्या की श्रेणी में आती है [१२३]। सांख्यदर्शन[१२४] तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् में रजः, सत्त्व और तमोगुण को लोहित, शुक्ल और कृष्ण कहा गया है [१२५]। यह द्रव्य-लेश्या का रूप है। रजोगुण मन को मोहरंजित करता है, इसलिए वह लोहित है। सत्त्व गुण से मन मलरहित होता है, इसलिए वह शुक्ल है। तमो गुण ज्ञान को आवृत करता है, इसलिए वह कृष्ण है।

कर्म के संयोग और वियोग से होने वाली आध्यात्मिक विकास और ह्रास की रेखाएं

इस विश्वमें जो कुछ है, वह होता रहता है। 'होना' वस्तु का स्वभाव है। 'नहीं होना' ऐसा जो है, वह वस्तु ही नहीं है। वस्तुएं तीन प्रकार की हैं—

(१) अचेतन और अमूर्त—धर्म, अधर्म, आकाश, काल।

(२) ,, ,, मूर्त—पुद्गल।

(३) चेतन और अमूर्त—जीव।

पहली प्रकार की वस्तुओं का होना—परिणामतः स्वाभाविक ही होता है और वह सतत् प्रवहमान रहता है।

पुद्गल में स्वाभाविक परिणमन के अतिरिक्त जीव-कृत प्रायोगिक परिणमन भी होता है। उसे अजीवोदय-निष्पन्न कहा जाता है [१२६]। शरीर और उसके प्रयोग में परिणत पुद्गल वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये अजीवोदय-निष्पन्न हैं। यह जितना दृश्य संसार है, वह सब या तो जीवत् शरीर है या जीव-मुक्त शरीर। जीव में स्वाभाविक और पुद्गलकृत प्रायोगिक परिणमन होता है।

स्वाभाविक परिणमन अजीव और जीव दोनों में समरूप होता है। पुद्गल में जीवकृत परिवर्तन होता है, वह केवल उसके संस्थान-आकार का होता है। वह चेतनाशील नहीं, इसलिए इससे उसके विकास-ह्रास, उन्नति-अवनति का क्रम नहीं बनता। पुद्गलकृत जैविक परिवर्तन पर आत्मिक विकास-ह्रास, आरोह-पतन का क्रम अवलम्बित रहता है। इसी प्रकार उससे नानाविध अवस्थाएं और अनुभूतियां बनती हैं। वह दार्शनिक चिन्तन का एक मौलिक विषय बन जाता है। जैन दर्शन ने इस आध्यात्मिक परिवर्तन की चार श्रेणियां निर्धारित की हैं—

(१) औदयिक (२) औपशमिक (३) क्षायिक (४) क्षायोपशमिक।

बाहरी पुद्गलों के संयोग-वियोग से असंख्य-अनन्त अवस्थाएं बनती हैं। पर वे जीव पर आन्तरिक असर नहीं डालतीं, इसलिए उनकी मीमांसा भौतिक-शास्त्र या शरीर-शास्त्र तक ही सीमित रह जाती है। यह मीमांसा आत्मा द्वारा स्वीकृत किये गये कर्म-पुद्गलों के संयोग-वियोग की है। जीव-संयुक्त कर्म-परमाणुओं के परिपाक या उदय से जीव में ये अवस्थाएं होती हैं :—

गति—नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देव।

काय—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस काय, वायु काय, वनस्पतिकाय, त्रस काय।

कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ।

वेद—स्त्री, पुरुष, नपुंसक।

लेश्या—कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म, शुक्ल आदि-आदि [127]।

कर्मवियोग के तीन रूप हैं—उपशम, क्षय (सर्व-विलय) और क्षयोपशम (अंश-विलय)। उपशम केवल 'मोह' का ही होता है। उससे (औपशमिक) सम्यक्-दर्शन व चरित्र—दो अवस्थाएं बनती हैं [128]।

क्षय सभी कर्मों का होता है। क्षायिकभाव आत्मा का स्वभाव है। आवरण, वेदना, मोह, आयु, शरीर, गोत्र और अन्तराय—ये कर्मकृत वैभाविक अवस्थाएं हैं। इनका क्षय होने पर आत्मा का स्वभावोदय होता है। फिर आत्मा निरावरण, अवेदन, निर्मोह, निरायु, अशरीर, अगोत्र और निरन्तराय हो जाता है [129]। ज्ञानात्मक चेतना के आवारक पुद्गलों के अंश-विलय से होने वाले आत्मिक विकास का क्रम इस प्रकार है—इन्द्रिय-ज्ञान—मानस ज्ञान—पौद्गलिक वस्तुओं का प्रत्यक्ष ज्ञान।

परिभाषा के शब्दों में इनकी प्रारम्भिक अभेदात्मक-दशा को दर्शन, उत्तरवर्ती या विश्लेषणात्मक दशा को ज्ञान कहा जाता है। ये सम्यक् दृष्टि के हों तो इन्हें ज्ञान और मिथ्या-दृष्टि के हों तो अज्ञान कहा जाता है।

मोह के अंश-विलय से सम्यक् श्रद्धा और सम्यक्-आचार का क्रमिक विकास होता है।

अन्तराय के अंश-विलय से आत्म-वीर्य का सीमित उदय होता है [१३०]।

क्षयोपशम

आठ कर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय,—ये चार कर्म घाती हैं, और शेष चार अघाती। घाती कर्म आत्म गुणों की साक्षात् घात करते हैं। इनकी अनुभाग-शक्ति का सीधा असर जीव के ज्ञान आदि गुणों पर होता है, गुण-विकास रुकता है। अघाती कर्मों का सीधा सम्बन्ध पौद्‌गलिक द्रव्यों से होता है। इनकी अनुभाग-शक्ति का जीव के गुणों पर सीधा असर नहीं होता। अघाती कर्मों का या तो उदय होता है या क्षय—सर्वथा अभाव। इनके उदय से जीव का पौद्‌गलिक द्रव्य से सम्बन्ध जुड़ा रहता है। इन्हीं के उदय से आत्मा 'अमूर्तोऽपि मूर्त इव' रहती है। इनके क्षय से जीव का पौद्‌गलिक द्रव्य से सदा के लिए सर्वथा सम्बन्ध टूट जाता है। और इनका क्षय मुक्त-अवस्था के पहले क्षण में होता है। घाती कर्मों के उदय से जीव के ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व-चारित्र और वीर्य-शक्ति का विकास रुका रहता है। फिर भी उक्त गुणों का सर्वावरण नहीं होता। जहाँ इनका) घातिक कर्मों का) उदय होता है, वहाँ अभाव भी। यदि ऐसा न हो, आत्मा के गुण पूर्णतया ढक जाएं तो जीव और अजीव में कोई अन्तर न रहे। इसी आशय से नन्दी में कहा है:—"पूर्ण ज्ञान का अनन्तवां भाग तो जीव मात्र के अनावृत रहता है, यदि वह आवृत हो जाए तो जीव अजीव बन जाए। मेघ कितना ही गहरा हो, फिर भी चांद और सूरज की प्रभा कुछ न कुछ रहती है। यदि ऐसा न हो तो रात-दिन का विभाग ही मिट जाए।" घाती कर्म के दलिक दो प्रकार के होते हैं—देशघाती और सर्वघाती। जिस कर्म-प्रकृति से आंशिक गुणों की घात होती है, वह देशघाती और जो पूर्ण गुणों की घात करे, वह सर्वघाती। देशघाती कर्म के स्पर्धक भी दो प्रकार के होते हैं—देशघाती स्पर्धक और सर्वघाती स्पर्धक। सर्वघाती स्पर्धकों का उदय रहने तक देश-गुण भी प्रगट नहीं होते। इसलिए आत्म-गुण का यत् किञ्चित् विकास होने में भी सर्वघाती स्पर्धकों का अभाव होना आवश्यक है, चाहे वह क्षयरूप हो या उपशमरूप। जहाँ सर्वघाती स्पर्धकों में कुछ का क्षय और कुछ का उपशम रहता है और देशघाती स्पर्धकों का उदय रहता है, उस कर्म-अवस्था को क्षयोपशम कहते हैं। क्षयोपशम में विपाकोदय नहीं होता,

उसका अभिप्राय यही है कि सर्वघाती स्पर्धकों का विपाकोदय नहीं रहता। देश-घाती स्पर्धको का विपाकोदय गुणी के प्रगट होने में बाधा नही डालता। इसलिए यहाँ उसकी अपेक्षा नहीं की गई। क्षयोपशम की कुछेक रूपान्तर के साथ तीन व्याख्याएं हमारे सामने आती हैं—(१) घाती कर्म का विपाकोदय नही होना क्षयोपशम है—इससे मुख्यतया कर्म की अवस्था पर प्रकाश पड़ता है। (२) उदय में आये हुए घाती कर्म का क्षय होना, उपशम होना—विपाक रूप से उदय में न आना, प्रदेशोदय रहना क्षयोपशम है। इसमें प्रधानतया क्षयोपशम-दशा में होने वाले कर्मोदय का स्वरूप स्पष्ट होता है। (३) सर्वघाती स्पर्धको का क्षय होना। सत्तारूप उपशम होना तथा देशघाती स्पर्धकों का उदय रहना क्षयोपशम है। इससे प्राधान्यतः क्षयोपशम के कार्य—आवारक-शक्ति के नियमन का बोध होता है।

सारांश सब का यही है कि—जिस कर्म दशा में क्षय, उपशम और उदय—ये तीनो बातें मिलें, वह क्षयोपशम है। अथवा घाती कर्मो का जो आंशिक अभाव है—क्षययुक्त उपशम है, वह क्षयोपशम है। क्षयोपशम में उदय रहता अवश्य है किन्तु उसका क्षयोपशम के फल पर कोई असर नहीं होता। इसलिए इस कर्म-दशा को क्षय-उपशम इन दो शब्दो के द्वारा ही व्यक्त किया है।

दस

विश्व के आदि-बिन्दु की जिज्ञासा

श्रमण भगवान् महावीर के 'आर्यरोह' नाम का शिष्य था। वह प्रकृति से भद्र, मृदु, विनीत और उपशान्त था। उसके क्रोध, मान, माया और लोभ बहुत पतले हो चुके थे। वह मृदु मार्दव सम्पन्न अनगार भगवान् के पास रहता, ध्यान संयम और तपस्या से आत्मा को भावित किए हुए विहार करता। एक दिन की बात है वह भगवान् के पास आया, वन्दना की, नमस्कार किया, पर्युपासना करते हुए बोला—

"भन्ते! पहले लोक हुआ और फिर अलोक? अथवा पहले अलोक हुआ और फिर लोक?"

भगवान्—"रोह! लोक और अलोक—ये दोनों पहले से हैं और पीछे रहेंगे—अनादि काल से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। दोनों शाश्वत भाव हैं, अनानुपूर्वी हैं। इनमें पौर्वापर्य (पहले-पीछे का क्रम) नहीं है।

रोह—भन्ते! पहले अजीव हुए और फिर जीव? अथवा पहले जीव हुए और फिर अजीव?

भगवान्—रोह! लोक-अलोक की भांति ये भी शाश्वत हैं, इनमें भी पौर्वापर्य नहीं है।

रोह—भन्ते! (१) पहले भव्य हुए और फिर अभव्य अथवा पहले अभव्य हुए और फिर भव्य? (२) भन्ते! पहले सिद्धि (मुक्ति) हुई और फिर असिद्धि (संसार)? अथवा पहले असिद्धि और फिर सिद्धि? (३) भन्ते! पहले सिद्ध (मुक्त) हुए और फिर असिद्ध (संसारी)? अथवा पहले असिद्ध हुए और फिर सिद्ध?

भगवान्—रोह! ये सभी शाश्वत भाव हैं।

रोह—भन्ते पहले मुर्गी हुई फिर अंडा हुआ? अथवा पहले अंडा हुआ फिर मुर्गी?

भगवान्—अण्डा किससे पैदा हुआ?

रोह—भन्ते! मुर्गी से।

भगवान्—रोह ! मुर्गी किससे पैदा हुई ?

रोह—भन्ते ! अण्डे से।

भगवान्—इस प्रकार अण्डा और मुर्गी पहले भी हैं और पीछे भी हैं। दोनों शाश्वत भाव हैं। इनमें क्रम नही है[1]।

लोक अलोक

जहाँ हम रह रहे हैं वह क्या है ? यह जिज्ञासा सहज ही हो आती है। उत्तर होता है—लोक है। लोक अलोक के विना नहीं होता, इसलिए अलोक भी है। अलोक मे हमारा कोई लगाव नहीं। वह सिर्फ आकाश ही आकाश है[2]। इसके अतिरिक्त वहाँ कुछ भी नही। हमारी क्रिया की अभिव्यक्ति, गति, स्थिति, परिणति पदार्थ-सापेक्ष है। ये वही होती हैं, जहाँ आकाश के अतिरिक्त अन्य पदार्थ हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव—इन छहों द्रव्यो की सह-स्थिति है, वह लोक है[3]। पंचास्तिकायों का जो सहावस्थान है, वह लोक है[4]। संक्षेप में जीव और अजीव की सह-स्थिति है, वह लोक है[5]।

लोक-अलोक का विभाजक तत्त्व

लोक-अलोक का स्वरूप समझने के बाद हमें उनके विभाजक तत्त्व की समीक्षा करनी होगी। उनका विभाग शाश्वत है। इसलिए विभाजक तत्त्व भी शाश्वत होना चाहिए। कृत्रिम वस्तु से शाश्वतिक वस्तु का विभाजन नहीं होता। शाश्वतिक पदार्थ इन छहों द्रव्यों के अतिरिक्त और है नहीं। आकाश स्वयं विभज्यमान है, इसलिए वह विभाजन का हेतु नहीं बन सकता[6]। काल परिणमन का हेतु है। उसमें आकाश को द्विरूप करने की क्षमता नहीं। व्यावहारिक काल मनुष्य-लोक के सिवाय अन्य लोकों में नहीं होता। नैश्चयिक काल लोक-अलोक दोनों में मिलता है। काल वास्तविक तत्त्व नहीं। व्यावहारिक काल सूर्य और चन्द्र की गति क्रिया से होने वाला समय विभाग है। नैश्चयिक काल जीव और अजीव की पर्याय मात्र है[7]। जीव और पुद्गल गतिशील और मध्यम परिणाम वाले तत्त्व हैं। लोक-अलोक की सीमा-निर्धारण के लिए कोई स्थिर और व्यापक तत्त्व होना चाहिए। इसलिए ये भी उसके लिए योग्य नहीं बनते। अब दो द्रव्य शेष रह जाते हैं—

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय। ये दोनों स्थिर और व्यापक हैं। बस ये ही अखंड आकाश को दो भागों में बांटते हैं। यही लोक की प्राकृतिक सीमा है। ये दो द्रव्य जिस आकाश-खण्ड में व्याप्त हैं, वह लोक है और शेष आकाश अलोक। ये अपनी गति, स्थिति के द्वारा सीमा-निर्धारण के उपयुक्त बनते हैं। ये जहाँ तक हैं वहीं तक जीव और पुद्गल की गति, स्थिति होती है। उससे आगे उन्हें गति, स्थिति का सहाय्य नहीं मिलता, इसलिए वे अलोक में नहीं जा सकते। गति के बिना स्थिति का प्रश्न ही क्या? इससे उनकी नियामकता और अधिक पुष्ट हो जाती है।

लोक-अलोक का परिमाण

धर्म और अधर्म ससीम हैं—चौदह राजू परिमाण परिमित हैं[८]। इसलिए लोक भी सीमित है। लोकाकाश असंख्यप्रदेशी है। अलोक अनन्त असीम है। इसलिए अलोकाकाश अनन्तप्रदेशी है। भौतिक विज्ञान के उद्भट पण्डित अलबर्ट आइन्स्टीन ने लोक-अलोक का जो स्वरूप माना है, वह जैन दृष्टि से पूर्ण सामन्जस्य रखता है। उन्होंने लिखा है कि—"लोक परिमित है, लोक के परे अलोक अपरिमित है [९]। लोक के परिमित होने का कारण यह है कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का (द्रव्य का) अभाव है, जो गति में सहायक होता है।" स्कन्धक संन्यासी के प्रश्नों का उत्तर देते हुए भगवान महावीर ने कहा कि क्षेत्र—लोक सान्त है[१०] (सीमित है) धर्मास्तिकाय, जो गति में सहायक होता है,[११] वह लोक-प्रमाण है[१२]। इसीलिए लोक के बाहर कोई भी पदार्थ नहीं जा सकता।

लोक-अलोक का संस्थान

लोक सुप्रतिष्ठक आकार वाला है। तीन शरावों में से एक शराव औंधा, दूसरा सीधा और तीसरा उसके ऊपर औंधा रहने से जो आकार बनता है, उसे सुप्रतिष्ठक संस्थान या त्रिशरावसंपुटसंस्थान कहा जाता है।

लोक नीचे विस्तृत है, मध्य में संकड़ा और ऊपर-ऊपर मृदंगाकार है। इसलिए उसका आकार ठीक त्रिशरावसंपुट जैसा बनता है। अलोक का आकार बीच में पोल वाले गोले के समान है। अलोकाकाश एकाकार है।

उसका कोई विभाग नहीं होता। लोकाकाश तीन भागों में विभक्त है[13]— ऊर्ध्व लोक, अधो लोक और मध्य लोक। लोक चौदह राजू लम्बा है। उसमें ऊंचा लोक सात राजू से कुछ कम है। तिरछा लोक अठारह सौ योजन प्रमाण है। नीचा लोक सात राजू से कुछ अधिक है।

जिस प्रकार एक ही आकाश धर्म अधर्म के द्वारा लोक और अलोक इन दो भागों में बंटता है, ठीक वैसे ही इनके द्वारा लोकाकाश के तीन विभाग और प्रत्येक विभाग की भिन्न-भिन्न आकृतियां बनती हैं[14]। धर्म और अधर्म कहीं विस्तृत हैं और कहीं संकुचित। नीचे की ओर विस्तृत रूप से व्याप्त है अतः अधोलोक का आकार औंधे किये हुए *शराव जैसा बनता है।* मध्यलोक में वे कृश रूप में हैं, इसलिए उनका आकार बिना किनारी वाली झालर के समान हो जाता है। ऊपर की ओर वे फिर कुछ-कुछ विस्तृत होते चले गए हैं, इसलिए उर्ध्व लोक का आकार उर्ध्व मुख मृदंग जैसा होता है। अलोकाकाश में दूसरा कोई द्रव्य नहीं, इसलिए उसकी कोई आकृति नहीं बनती। लोकाकाश की अधिक से अधिक मोटाई सात राजू की है। लोक चार प्रकार का है—द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक, भावलोक[15]। द्रव्यलोक पंचास्तिकायमय एक है, इसलिए वह सांत है[16]। लोक की परिधि असंख्य योजन कोड़ाकोड़ी की है, इसलिए क्षेत्रलोक भी सांत है[17]।

सापेक्षवाद के आविष्कर्ता प्रो॰ आइन्स्टीन ने लोक का व्यास (Diametre) एक करोड़ अस्सी लाख प्रकाश वर्ष माना है। "एक प्रकाश वर्ष दूरी को कहते हैं जो प्रकाश की किरण *१,८६,००० मील* प्रति सेकण्ड के हिसाब से एक वर्ष में तय करती है।"

भगवान् महावीर ने देवताओं की "शीघ्रगति" की कल्पना से लोक की मोटाई को समझाया है। जैसे छह देवता लोक का अन्त लेने के लिए शीघ्र गति से छहों दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊंची और नीची) में चले[18]। ठीक उसी समय एक सेठ के घर में एक हजार वर्ष की आयु वाला एक पुत्र जन्मा···उसकी आयु समाप्त हो गई। उसके बाद हजार वर्ष की आयु वाले उसके बेटे-पोते हुए। इस प्रकार सात पीढ़ियां बीत गईं। उनके नाम, गोत्र भी मिट गए, तब तक वे देवता चलते रहे, फिर भी लोक के अन्त तक नहीं पहुंचे। हां, वे चलते·

चलते अधिक भाग पार कर गए। बाकी रहा वह भाग कम है—वे चले उसका असंख्यातवां भाग बाकी रहा है। जितना भाग चलना बाकी रहा है उससे असंख्यात् गुणा भाग पार कर चुके हैं। यह लोक इतना बड़ा है। काल और भाव की दृष्टि से लोक अनन्त है। ऐसा कोई काल नहीं, जिसमें लोक का अस्तित्व न हो[१९]।

लोक पहले था, वर्तमान में है और भविष्य में सदा रहेगा—इसलिए काल लोक अनन्त है। लोक में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श की पर्याएं अनन्त हैं तथा बादर-स्कन्धों की गुरु लघु पर्याएं, सूक्ष्म स्कन्धो और अमूर्त्त द्रव्यो की अगुरु लघु पर्याएं अनन्त हैं। इसलिए भाव लोक अनन्त है।

लोक-अलोक का पौर्वापर्य

आर्य रोह—भगवन्! पहले लोक और फिर अलोक बना अथवा पहले अलोक और फिर लोक बना?

भगवान्—रोह! ये दोनो शाश्वत हैं। इनमें पहले पीछे का क्रम नहीं है[२०]।

लोक-स्थिति

गौतम ने पूछा—भंते! लोक-स्थिति कितने प्रकार की है?

भगवान् - गौतम! लोक-स्थिति के आठ प्रकार हैं। वे यों हैं :—

(१) वायु आकाश पर टिकी हुई है।

(२) समुद्र वायु पर टिका हुआ है।

(३) पृथ्वी समुद्र पर टिकी हुई है।

(४) त्रस-स्थावर जीव पृथ्वी पर टिके हुए हैं।

(५) अजीव-जीव के आश्रित हैं।

(६) सकर्म-जीव कर्म के आश्रित हैं।

(७) अजीव जीवो द्वारा संगृहीत है।

(८) जीव कर्म-संगृहीत हैं[२१]।

आकाश, पवन, जल और पृथ्वी—ये विश्व के आधारभूत अंग हैं। विश्व की व्यवस्था इन्हीं के आधाराधेय भाव से बनी हुई है। संसारी जीव और अजीव (पुद्गल) में आधाराधेय भाव और संग्राह्य-संग्राहक भाव ये दोनों हैं

जीव आधार है और शरीर उसका आधेय। कर्म संसारी जीव का आधार है और संसारी जीव उसका आधेय।

जीव-अजीव (भाषा-वर्गणा, मन-वर्गणा और शरीर-वर्गणा) का संग्राहक है। कर्म संसारी जीव का संग्राहक है। तात्पर्य यह है—कर्म से बंधा हुआ जीव ही सशरीर होता है। वही चलता, फिरता, बोलता और सोचता है।

अचेतन जगत् से चेतन जगत् की जो विलक्षणताएं हैं, वे जीव और पुद्गल के संयोग से होती हैं। जितना भी वैभाविक परिवर्तन या दृश्य रूपान्तर है, वह सब इन्ही की संयोग-दशा का परिणाम है। जीव और पुद्गल के सिवाय दूसरे द्रव्यो का आपस में संग्राह्य संग्राहक भाव नही है।

लोक-स्थिति में जीव और पुद्गल का संग्राह्य संग्राहक भाव माना गया है। यह परिवर्तन है। परिवर्तन का अर्थ है—उत्पाद और विनाश।

जैन दर्शन सर्वथा असृष्टिवादी भी नही है। वह परिवर्तनात्मक सृष्टिवादी भी है।

सृष्टिवाद के दो विचार-पक्ष हैं। एक विचार असत् से सत् की सृष्टि मानता है। दूसरा सत् से सत् की सृष्टि मानता है।

जैन दर्शन दूसरे प्रकार का सृष्टिवादी है। कई दर्शन चेतन से अचेतन[२२] और कई अचेतन से चेतन की सृष्टि मानते हैं[२३]। जैन दर्शन का मत इन दोनों के पक्ष में नही है।

जैन दर्शन सृष्टि के बारे में वैदिक ऋषि की भांति संदिग्ध भी नहीं है[२४]।

चेतन से अचेतन अथवा अचेतन से चेतन की सृष्टि नहीं होती। दोनों अनादि-अनन्त हैं।

विश्व का वर्गीकरण

अरस्तू ने विश्व का वर्गीकरण (१) द्रव्य (२) गुण (३) परिमाण (४) सम्बन्ध (५) दिशा (६) काल (७) आसन (८) स्थिति (९) कर्म (१०) परिणाम—इन दस पदार्थों में किया।

वैशेषिक द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—इन छह तत्त्वों में करते हैं।

जैन दृष्टि से विश्व छह द्रव्यों में वर्गीकृत है। छह द्रव्य हैं—धर्म, अधर्म,

आकाश, काल, पुद्गल और जीव। काल के सिवाय शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं। अस्तिकाय का अर्थ है—प्रदेश-समूह—अवयव-समुदाय। प्रत्येक द्रव्य का सबसे छोटा, परमाणु जितना भाग प्रदेश कहलाता है। उनका काय-समूह अस्तिकाय है। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव के प्रदेशों का विघटन नहीं होता। इसलिए वे अविभागी द्रव्य हैं। ये अवयवी इस दृष्टि से हैं कि इनके परमाणु तुल्य खण्डों की कल्पना की जाए तो वे असंख्य होते हैं। पुद्गल विभागी द्रव्य हैं। उसका शुद्ध रूप परमाणु है। वह अविभागी है। परमाणुओं में संयोजन-वियोजन स्वभाव होता है। अतः उनके स्कन्ध बनते हैं और उनका विघटन होता है। कोई भी स्कन्ध शाश्वत नहीं होता। इसी दृष्टि से पुद्गल द्रव्य विभागी हैं। वह धर्म द्रव्यों की तरह एक व्यक्ति नहीं, किन्तु अनन्त व्यक्तिक है। जिस स्कन्ध में जितने परमाणु मिले हुए होते हैं, वह स्कन्ध उतने प्रदेशों का होता है। द्व्यणुक स्कन्ध द्विप्रदेशी यावत् अनन्ताणुक स्कन्ध अनन्त प्रदेशी होता है। जीव भी अनन्त व्यक्ति है। किन्तु प्रत्येक जीव असंख्य प्रदेशी है। काल न प्रदेश है और न परमाणु। वह औपचारिक द्रव्य है। प्रदेश नहीं, इसलिए उसके अस्तिकाय होने का प्रश्न ही नहीं उठता। काल वास्तविक वस्तु नहीं तब द्रव्य क्यों? इसका समाधान यह है कि वह द्रव्य की भांति उपयोगी है—व्यवहार प्रवर्तक है, इसलिए उसे द्रव्य की कोटि में रखा गया है। वह दो प्रकार का है—नैश्चयिक और व्यावहारिक। पांच अस्तिकाय का जो वर्तमान-रूप परिणमन है, वह नैश्चयिक है, ज्योतिष की गति के आधार पर होने वाला व्यावहारिक। अथवा वर्तमान का एक समय नैश्चयिक और भूत, भविष्य व्यावहारिक। बीता हुआ समय चला जाता है और आने वाला समय उत्पन्न नहीं होता, इसलिए ये दोनों अविद्यमान होने के कारण व्यावहारिक या औपचारिक हैं। क्षण, मुहूर्त, दिन रात, पक्ष, मास, वर्ष आदि सब भेद व्यावहारिक काल के होते हैं। दिग् स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। आकाश के काल्पनिक खण्ड का नाम दिग् है [२५]।

द्रव्य

भूत और भविष्य का संकलन करने वाला (जोड़ने वाला) वर्तमान है। वर्तमान के बिना भूत और भविष्य का कोई मूल्य नहीं रहता। इसका अर्थ

यह है कि हम जिस वस्तु का जब कभी एक बार अस्तित्व स्वीकार करते हैं तब हमें यह मानना पड़ता है कि वह वस्तु उससे पहले भी थी और बाद में भी रहेगी। वह एक ही अवस्था में रहती आई है या रहेगी—ऐसा नहीं होता, किन्तु उसका अस्तित्व कभी नहीं मिटता, यह निश्चित है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होते हुए भी वस्तु के मौलिक रूप और शक्ति का नाश नहीं होता। दार्शनिक परिभाषा में द्रव्य वही है जिसमें गुण और पर्याएं (अवस्थाएं) होती हैं। द्रव्य-शब्द की उत्पत्ति करते हुए कहा है—"अद्रुवत् द्रवति, द्रोष्यति, तांस्तान् पर्यायान् इति द्रव्यम्"—जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ, हो रहा है और होगा, वह द्रव्य है। इसका फलित अर्थ यह है—अवस्थाओं का उत्पाद और विनाश होते रहने पर भी जो ध्रुव रहता है, वही द्रव्य है। दूसरे शब्दों में यूं कहा जा सकता है कि अवस्थाएं उसीमें उत्पन्न एवं नष्ट होती हैं जो ध्रुव रहता है। क्योंकि ध्रौव्य (समानता) के बिना पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं का सम्बन्ध नहीं रह सकता। हम कुछ और सरलता में जाएं तो द्रव्य की यह भी परिभाषा कर सकते हैं कि—"पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं में जो व्याप्त रहता है, वह द्रव्य है।" संक्षेप में "सद् द्रव्यम्"—जो सत् है वह द्रव्य है[२१]। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इस त्रयात्मक स्थिति का नाम सत् है। द्रव्य में परिणमन होता है—उत्पाद और व्यय होता है फिर भी उसकी स्वरूप-हानि नहीं होती। द्रव्य के प्रत्येक अंश में प्रति समय जो परिवर्तन होता है, वह सर्वथा विलक्षण नहीं होता। परिवर्तन में कुछ समानता मिलती है और कुछ असमानता। पूर्व परिणाम और उत्तर परिणाम में जो समानता है वही द्रव्य है। उस रूप से द्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट। वह अनुस्यूत रूप वस्तु की प्रत्येक अवस्था में प्रभावित रहता है, जैसे माला के प्रत्येक मोती में धागा अनुस्यूत रहता है। पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती परिणमन में जो असमानता होती है, वह पर्याय है। उस रूप में द्रव्य उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। इस प्रकार द्रव्य प्रति समय उत्पन्न होता है, नष्ट होता है और स्थिर भी रहता है। द्रव्य रूप से वस्तु स्थिर रहती है और पर्याय रूप से उत्पन्न और नष्ट होती है। इससे यह फलित होता है कि कोई भी वस्तु न सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य, किन्तु परिणामी-नित्य है।

परिणामी नित्यवाद

परिणाम की व्याख्या करते हुए पूर्वाचार्यों ने लिखा है—

> "परिणामो ह्यर्थान्तरगमनं न च सर्वथा व्यवस्थानम्।
> न च सर्वथा विनाशः, परिणामस्तद्विदामिष्टः ॥ १ ॥
> सत्पर्यायेण विनाशः, प्रादुर्भावोऽसता च पर्ययतः।
> द्रव्याणां परिणामः, प्रोक्तः खलु पर्यवनयस्य ॥" ॥ २ ॥

जो एक अर्थ से दूसरे अर्थ में चला जाता है—एक वस्तु से दूसरी वस्तु के रूप में परिवर्तित हो जाता है, उसका नाम परिणाम है। यह परिणाम द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से होता है। सर्वथा व्यवस्थित रहना या सर्वथा नष्ट हो जाना परिणाम का स्वरूप नहीं है। वर्तमान पर्याय का नाश और अविद्यमान पर्याय का उत्पाद होता है, वह पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से होने वाला परिणाम है। द्रव्यार्थिक नय का विषय द्रव्य है। इसलिए उसकी दृष्टि से सत् पर्याय की अपेक्षा जिसका कथंचित् रूपान्तर होता है, किन्तु जो सर्वथा नष्ट नहीं होता, वह परिणाम है। पर्यायार्थिक नय का विषय पर्याय है। इसलिए उसकी दृष्टि से जो सत् पर्याय से नष्ट और असत् पर्याय से उत्पन्न होता है, वह परिणाम है। दोनों दृष्टियों का समन्वय करने से द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक बन जाता है। जिसको हम दूसरे शब्दों में परिणामी-नित्य या कथंचित्-नित्य कहते हैं।

आगम की भाषा में जो गुण का आश्रय-अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है—वही द्रव्य है। इनमें पहली परिभाषा स्वरूपात्मक है और दूसरी अवस्थात्मक दोनों में समन्वय का तात्पर्य है—द्रव्य को परिणामी-नित्य स्थापित करना।

द्रव्य में दो प्रकार के धर्म होते हैं—सहभावी (यावत् द्रव्यभावी)—गुण और क्रमभावी-पर्याय। बौद्ध सत् द्रव्य को एकान्त अनित्य (निरन्वय क्षणिक—केवल उत्पाद-विनाश स्वभाव) मानते हैं, उस स्थिति में वेदान्ती सत्पदार्थ-ब्रह्म को एकान्त नित्य। पहला परिवर्तनवाद है तो दूसरा नित्यसत्तावाद। जैन-दर्शन इन दोनों का समन्वय कर परिणामि नित्यत्ववाद स्थापित करता है, जिसका आशय यह है कि सत्ता भी है और परिवर्तन भी—

उत्पन्न भी होता है, नष्ट भी, तथा इस परिवर्तन में भी उसका अस्तित्व नहीं मिटता। उत्पाद और विनाश के बीच यदि कोई स्थिर आधार न हो तो हमें सजातीयता—'यह वही है', का अनुभव नहीं हो सकता। यदि द्रव्य निर्विकार ही हो तो विश्व की विविधता संगत नहीं हो सकती। इसलिए 'परिणामि-नित्यत्व' जैन दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इसकी तुलना रासायनिक विज्ञान के 'द्रव्याक्षरत्ववाद' से की जा सकती है।

द्रव्याक्षरत्ववाद का स्थापन सन् १७८९ में Lawoisier नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने किया था। संक्षेप में इस सिद्धान्त का आशय यह है कि इस अनन्त विश्व में द्रव्य का परिणाम सदा समान रहता है, उसमें कोई न्यूनाधिकता नहीं होती। न किसी वर्तमान द्रव्य का सर्वथा नाश होता है और न किसी सर्वथा नये द्रव्य की उत्पत्ति होती है। साधारण दृष्टि से जिसे द्रव्य का नाश होना समझा जाता है, वह उसका रूपान्तर में परिणाम मात्र है। उदाहरण के लिए कोयला जलकर राख हो जाता है, उसे साधारणतः नाश हो गया कहा जाता है। परन्तु वस्तुतः वह नष्ट नहीं होता। वायुमण्डल के आक्सीजन अंश के साथ मिलकर कार्बोनिक एसिड गैस के रूप में परिवर्तित होता है। यूं ही शक्कर या नमक पानी में घुलकर नष्ट नहीं होते, किन्तु ठोस से वे सिर्फ द्रव रूप में परिणत होते हैं। इसी प्रकार जहाँ कहीं कोई नवीन वस्तु उत्पन्न होती प्रतीत होती है वह भी वस्तुतः किसी पूर्ववर्ती वस्तु का रूपान्तर मात्र है। घर में अव्यवस्थित रूप से पड़ी रहने वाली कड़ाई में जंग लग जाता है, यह क्या है? यहाँ भी जंग नामक कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं हुआ अपितु धातु की ऊपरी सतह, जल और वायुमण्डल के आक्सीजन के संयोग से लोहे के आक्सी-हाइड्रेट के रूप में परिणत हो गई। भौतिकवाद पदार्थों के गुणात्मक अन्तर को परिमाणात्मक अन्तर में बदल देता है। शक्ति परिमाण में परिवर्तनशील नहीं, गुण की अपेक्षा परिवर्तनशील है। प्रकाश, तापमान, चुम्बकीय आकर्षण आदि का ह्रास नहीं होता, सिर्फ ये एक दूसरे में परिवर्तित होते हैं। जैन दर्शन में मातृपदिका का सिद्धान्त भी यही है[२७]।

उत्पादध्रुवविनाशैः, परिणामः क्षणे-क्षणे।
द्रव्याणामविरोधश्च, प्रत्यक्षादिह दृश्यते[२८]॥

उत्पाद; ध्रुव और व्यय—यह त्रिविध लक्षण द्रव्यों का परिणाम प्रतिक्षण अविरोधतया होता रहता है—इन शब्दो में और "जिसे द्रव्य का नाश हो जाना समझा जाता है, वह उसका रूपान्तर में परिणाम मात्र है" इनमें कोई अन्तर् नहीं है। वस्तु-दृष्ट्या संसार में जितने द्रव्य हैं, उतने ही थे और उतने ही रहेंगे। उनमें से न कोई घटता है और न कोई बढ़ता है। अपनी-अपनी सत्ता की परिधि में सब द्रव्य जन्म और मृत्यु, उत्पाद और नाश पाते रहते हैं। आत्मा की भी सापेक्ष मृत्यु होती है। तन्तुओ से पट या दूध से दही—ये सापेक्ष उत्पन्न होते हैं। जन्म और मृत्यु दोनो सापेक्ष हैं—एक ध्रुव द्रव्य की, दो—पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं के सूचक हैं। सूक्ष्म-दृष्ट्या पहला क्षण सापेक्ष उत्पाद और दूसरा क्षण सापेक्ष नाश का हेतु है। स्थूल-दृष्ट्या स्थूल पर्याय का पहला क्षण जन्म और अन्तिम क्षण मृत्यु के व्यपदेश का हेतु है।

पुरुष नित्य है और प्रकृति परिणामि-नित्य, इस प्रकार सांख्य भी नित्या-नित्यत्ववाद स्वीकार करता है। नैयायिक और वैशेषिक परमाणु, आत्मा आदि को नित्य मानते हैं तथा घट, पट आदि को अनित्य। समूहापेक्षा से ये भी परिणामि-नित्यत्ववाद को स्वीकार करते हैं किन्तु जैन दर्शन की तरह द्रव्य-मात्र को परिणामि-नित्य नहीं मानते। महर्षि पतंजलि, कुमारिल भट्ट, पार्थसार मिश्र आदि ने 'परिणामि-नित्यत्ववाद' को एक स्पष्ट सिद्धान्त के रूप में स्वीकार नही किया, फिर भी उन्होने इसका प्रकारान्तर से पूर्ण समर्थन किया है[२९]।

धर्म और अधर्म

जैन साहित्य में जहाँ धर्म-अधर्म शब्द का प्रयोग शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों के अर्थ में होता है, वहाँ दो द्रव्यो के अर्थ में भी—धर्म—गतितत्त्व, अधर्म—स्थितितत्त्व। दार्शनिक जगत् में जैन दर्शन के सिवाय किसी ने भी इनकी स्थिति नहीं मानी है। वैज्ञानिको में सब से पहले न्यूटन ने गति-तत्त्व (Medium of motion) को स्वीकार किया है। प्रसिद्ध गणितज्ञ अलबर्ट आइंस्टीन ने भी गति-तत्त्व स्थापित किया है—"लोक परिमित है, लोक के परे अलोक अपरिमित है। लोक के परिमित होने का कारण यह

कि द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नहीं जा सकती। लोक के बाहर उस शक्ति का—द्रव्य का अभाव है, जो गति में सहायक होता है।" वैज्ञानिकों द्वारा सम्मत ईथर (Fther) गति-तत्त्व का ही दूसरा नाम है[३०]। जहाँ वैज्ञानिक अध्यापक छात्रों को इसका अर्थ समझाते हैं, वहाँ ऐसा लगता है, मानो कोई जैन गुरु शिष्यों के सामने धर्म-द्रव्य की व्याख्या कर रहा हो। हवा से रिक्त नालिका में शब्द की गति होने में यह अभौतिक ईथर ही सहायक बनता है। भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए बताया कि जितने भी चल भाव हैं—सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्पन्दन मात्र हैं, वे सब धर्म की सहायता से प्रवृत्त होते हैं, गति-शब्द केवल सांकेतिक है[३१]। गति और स्थिति दोनों सापेक्ष हैं। एक के अस्तित्व से दूसरे का अस्तित्व अत्यन्त अपेक्षित है।

धर्म, अधर्म की तार्किक मीमांसा करने से पूर्व इनका स्वरूप समझ लेना अनुपयुक्त नहीं होगा :—

	द्रव्य से	क्षेत्र से	काल से	भाव से	गुण से
धर्म	[३२] एक और व्यापक	[३३] लोक प्रमाण	अनादि-अनन्त	अमूर्त्त	गति सहायक
अधर्म	,,	,,	,,	,,	स्थिति सहायक

धर्म अधर्म की यौक्तिक अपेक्षा

धर्म और अधर्म को मानने के लिए हमारे सामने मुख्यतया दो यौक्तिक दृष्टियां हैं—(१) गतिस्थितिनिमित्तक द्रव्य और (२) लोक, अलोक की विभाजक-शक्ति। प्रत्येक कार्य के लिए उपादान और निमित्त—इन दो कारणों की आवश्यकता होती है। विश्व में जीव और पुद्गल दो द्रव्य गतिशील हैं। गति के उपादान कारण तो वे दोनों स्वयं हैं। निमित्त कारण किसे माने? यह प्रश्न सामने आता है, तब हमें ऐसे द्रव्यों की आवश्यकता होती है, जो

गति एवं स्थिति में सहायक बन सकें। हवा स्वयं गतिशील है, तो पृथ्वी, पानी आदि सम्पूर्ण लोक में व्याप्त नहीं है। गति और स्थिति सम्पूर्ण लोक में होती है, इसलिए हमें ऐसी शक्तियों की अपेक्षा है, जो स्वयं गतिशून्य और सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो, अलोक में न हो[३४]। इस यौक्तिक आधार पर हमें धर्म, अधर्म की आवश्यकता का सहज बोध होता है।

लोक-अलोक की व्यवस्था पर दृष्टि डालें, तब भी इसके अस्तित्व की जानकारी मिलती है। आचार्य मलयगिरी ने इनका अस्तित्व सिद्ध करते हुए लिखा है—"इनके बिना लोक-अलोक की व्यवस्था नहीं होती [३५]।"

लोक है इसमें कोई सन्देह नहीं, क्योंकि यह इन्द्रिय-गोचर है। अलोक इन्द्रियातीत है, इसलिए उसके अस्तित्व या नास्तित्व का प्रश्न उठता है। किन्तु लोक का अस्तित्व मानने पर अलोक की अस्तिता अपने आप मान ली जाती है। तर्क-शास्त्र का नियम है कि "जिसका वाचक पद व्युत्पत्तिमान् और शुद्ध होता है, वह पदार्थ सत् प्रतिपक्ष होता है, जैसे अघट-घट का प्रतिपक्ष है, इसी प्रकार जो लोक का विपक्ष है, वह अलोक है [३६]।"

जिसमें जीव आदि सभी द्रव्य होते हैं, वह लोक है[३७] और जहाँ केवल आकाश ही आकाश होता है, वह अलोक है [३८]। अलोक में जीव, पुद्गल नहीं होते, इसका कारण है—वहाँ धर्म और अधर्म द्रव्य का अभाव। इसलिए ये (धर्म-अधर्म) लोक, अलोक के विभाजक बनते हैं। "आकाश लोक और अलोक दोनों में तुल्य है,[३९] इसीलिए धर्म और अधर्म को लोक तथा अलोक का परिच्छेदक मानना युक्तियुक्त है। यदि ऐसा न हो तो उनके विभाग का आधार ही क्या रहे।"

गौतम—"भगवन्! गति सहायक तत्त्व (धर्मास्तिकाय) से जीवों को क्या लाभ होता है?

भगवान्—"गौतम! गति का सहारा नहीं होता तो कौन आता और कौन जाता? शब्द की तरंगे कैसे फैलती? आंख कैसे खुलती? कौन मनन करता? कौन बोलता? कौन हिलता-डुलता?—यह विश्व अचल ही होता। जो चल है उन सब का आलम्बन गति-सहायक तत्त्व ही है [४०]।"

गौतम—"भगवन्! स्थिति-सहायक-तत्त्व (अधर्मास्तिकाय) से जीवों को क्या लाभ होता है?"

भगवान्—"गौतम! स्थिति का सहारा नहीं होता तो खड़ा कौन रहता? कौन बैठता सोना कैसे होता? कौन मन को एकाग्र करता? मौन कौन करता? कौन निस्पन्द बनता? निमेष कैसे होता? यह विश्व चल ही होता। जो स्थिर है उन सब का आलम्बन स्थिति-सहायक तत्व ही है[४१]।"

सिद्धसेन दिवाकर धर्म-अधर्म के स्वतन्त्र द्रव्यत्व को आवश्यक नहीं मानते। वे इन्हें द्रव्य के पर्याय-मात्र मानते हैं[४२]।

आकाश और दिक

"धर्म और अधर्म का अस्तित्व जैन दर्शन के अतिरिक्त किसी भी दर्शन द्वारा स्वीकृत नहीं है।" आकाश और दिक् के बारे में भी अनेक विचार प्रचलित हैं। कुछ दार्शनिक आकाश और दिक् को पृथक् द्रव्य मानते हैं। कुछ दिक् को आकाश से पृथक् नहीं मानते।

कणाद ने दिक् को नौ द्रव्यों में से एक माना है[४३]।

न्याय और वैशेषिक जिसका गुण शब्द है, उसे आकाश और जो बाह्य जगत् को देशस्थ करता है उसे दिक् मानते हैं। न्याय कारिकावली के अनुसार दूरत्व और सामीप्य तथा क्षेत्रीय परत्व और अपरत्व की बुद्धि का जो हेतु है वह दिक् है। वह एक और नित्य है। उपाधि-भेद से उसके पूर्व, पश्चिम आदि विभाग होते हैं।

दूरान्तिकादिधीर्हेतुरेका नित्यादिगुच्यते (४६)

उपाधिभेदादेकापि, प्राच्यादि व्यपदेशभाक् (४७)

कणाद सूत्र (२।२।१३) के अनुसार इनका भेद कार्य-विशेष से होता है। यदि वह शब्द की निष्पत्ति का कारण बनता है तो आकाश कहलाता है और यदि वह बाह्य-जगत् के अर्थों के देशस्थ होने का कारण बनता है तो दिक् कहलाता है।

अभिधम्म के अनुसार आकाश एक धातु है। आकाश-धातु का कार्य रूपपरिच्छेद (ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् रूपों का विभाग) करना—है।

जैन दर्शन के अनुसार आकाश स्वतन्त्र द्रव्य है। दिक् उसीका काल्पनिक

विभाग है, आकाश का गुण शब्द नहीं है। शब्द-पुद्गलों के संघात और भेद का कार्य है [४४]। आकाश का गुण अवगाहन है, वह स्वयं अनालम्ब है, शेष सब द्रव्यों का आलम्बन है। स्वरूप की दृष्टि से सभी द्रव्य स्व-प्रतिष्ठ है। किन्तु क्षेत्र या आयतन की दृष्टि से वे आकाश प्रतिष्ठ होते हैं। इसीलिए उसे सब द्रव्यों का भाजन कहते हैं [४५]।

गौतम—भगवन्! आकाश-तत्त्व से जीवों और अजीवों को क्या लाभ होता है?

भगवान्—गौतम! आकाश नहीं होता तो—ये जीव कहाँ होते? ये धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय कहाँ व्याप्त होते? काल कहाँ बरतता? पुद्गल का रंगमंच कहाँ बनता?—यह विश्व निराधार ही होता [४६]।

द्रव्य-दृष्टि—आकाश-अनन्त प्रदेशात्मक द्रव्य है।

क्षेत्र-दृष्टि—आकाश-अनन्त विस्तार वाला है—लोक-अलोकमय है।

काल-दृष्टि—आकाश-अनादि अनन्त है।

भाव-दृष्टि—आकाश अमूर्त है।

आकाश के जिस भाग से वस्तु का व्यपदेश या निरूपण किया जाता है, वह दिक् कहलाता है [४७]।

दिशा और अनुदिशा की उत्पत्ति तिर्यक् लोक से होती है।

दिशा का प्रारम्भ आकाश के दो प्रदेशों से शुरू होता है और उनमें दो-दो प्रदेशों की वृद्धि होते-होते वे असंख्य प्रदेशात्मक बन जाती हैं। अनुदिशा केवल एक देशात्मक होती है। ऊर्ध्व और अधः दिशा का प्रारम्भ चार प्रदेशों से होता है फिर उनमें वृद्धि नहीं होती [४८]। यह दिशा का आगमिक स्वरूप है।

जिस व्यक्ति के जिस ओर सूर्योदय होता है, वह उसके लिए पूर्व और जिस ओर सूर्यास्त होता है, वह पश्चिम तथा दाहिने हाथ की ओर दक्षिण और बाएं हाथ की ओर उत्तर दिशा होती है। इन्हें ताप-दिशा कहा जाता है [४९]।

निमित्त-कथन आदि प्रयोजन के लिए दिशा का एक प्रकार और होता है। प्रज्ञापक जिस ओर मुंह किये होता है वह पूर्व, उसके पृष्ठ भाग

पश्चिम, दोनों पार्श्व दक्षिण और उत्तर होते हैं। इन्हें प्रज्ञापक-दिशा कहा जाता है [५०]।

काल

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार काल औपचारिक द्रव्य है। वस्तु-वृत्या वह जीव और अजीव की पर्याय है [५१]। जहाँ इसके जीव अजीव की पर्याय होने का उल्लेख है, वहाँ इसे द्रव्य भी कहा गया है [५२]। ये दोनों कथन विरोधी नहीं किन्तु सापेक्ष हैं। निश्चय-दृष्टि में काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहार-दृष्टि में वह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है—"उपकारकं द्रव्यम्।" वर्तना आदि काल के उपकार हैं। इन्हीं के कारण वह द्रव्य माना जाता है। पदार्थों की स्थिति आदि के लिए जिसका व्यवहार होता है, वह आवलिकादिरूप काल जीव, अजीव से भिन्न नहीं है, उन्हीं की पर्याय है [५३]।

दिगम्बर आचार्य काल को अणुरूप मानते हैं [५४]। वैदिक दर्शनों में भी काल के सम्बन्ध में—नैश्चियक और व्यावहारिक दोनों पक्ष मिलते हैं। नैयायिक और वैशेपिक काल को सर्वव्यापी और स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं [५५]। योग सांख्य आदि दर्शन काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते [५६]।

कालवाद का आधार

श्वेताम्बर-परम्परा की दृष्टि से औपचारिक और दिगम्बर-परम्परा की दृष्टि से वास्तविक काल के उपकार या लिंग पांच हैं—वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और अपरत्व [५७]। न्याय-दर्शन के अनुसार परत्व और अपरत्व आदि काल के लिंग है [५८]। वैशेपिक—पूर्व, अपर, युगपत्, अयुगपत्, चिर और क्षिप्र को काल के लिंग मानते हैं [५९]।

कालाणुओं के अस्तित्व का आधार

एगम्हि संति समये, सम्भव ठिइणास सण्णिदा अट्ठा।

समयस्स सव्वकाल, एसहि कालाणु सब्भावो—प्रव० १४३

एक-एक समय में उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थ काल के सदा होते हैं। यही कालाणु के अस्तित्व का हेतु है।

विज्ञान की दृष्टि में आकाश और काल

आइन्स्टीन के अनुसार—आकाश और काल कोई स्वतन्त्र तथ्य नहीं हैं। ये द्रव्य या पदार्थ के धर्म मात्र हैं।

किसी भी वस्तु का अस्तित्व पहले तीन दिशाओं—लम्बाई, चौड़ाई और गहराई या ऊंचाई में माना जाता था। आइन्स्टीन ने वस्तु का अस्तित्व चार दिशाओं में माना।

वस्तु का रेखागणित (ऊंचाई, लम्बाई, चौड़ाई) में प्रसार आकाश है और उसका क्रमानुगत प्रसार काल है। काल और आकाश दो भिन्न तथ्य नहीं हैं।

ज्यों-ज्यों काल बीतता है त्यों-त्यों वह लम्बा होता जा रहा है। काल आकाश सापेक्ष है। काल की लम्बाई के साथ-साथ आकाश (विश्व के आयतन) का भी प्रसार हो रहा है। इस प्रकार काल और आकाश दोनों वस्तु धर्म हैं [६०]।

अस्तिकाय और काल

धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव—ये पांच अस्तिकाय हैं। ये तिर्यक्-प्रचय-स्कन्ध रूप में हैं, इसलिए उन्हें अस्तिकाय कहा जाता है। धर्म, अधर्म, आकाश और एक जीव एक स्कन्ध हैं। इनके देश या प्रदेश ये विभाग काल्पनिक हैं। ये अविभागी हैं। पुद्गल विभागी हैं। उसके स्कन्ध और परमाणु—ये दो मुख्य विभाग हैं। परमाणु उसका अविभाज्य भाग है। दो परमाणु मिलते हैं—द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है। जितने परमाणु मिलते हैं उतने प्रदेशों का स्कन्ध बन जाता है। प्रदेश का अर्थ है पदार्थ का परमाणु जितना अवयव या भाग। धर्म, अधर्म, आकाश और जीव के स्कन्धों को परमाणु जितने विभाग किए जाएं तो आकाश के अनन्त और शेष तीनों के असंख्य होते हैं। इसलिए आकाश को अनन्त प्रदेशी और शेष तीनों को असंख्य प्रदेशी कहा है। देश बुद्धि-कल्पित होता है, उसका कोई निश्चित परिमाण नहीं बताया जा सकता।

	स्कन्ध	देश	प्रदेश
धर्म	एक	अनियत	असंख्य
अधर्म	एक	अनियत	असंख्य
आकाश	एक	अनियत	अनन्त
पुद्गल	अनन्त (द्वि प्रदेशी यावत् अनन्त प्रदेशी)	अनियत	दो यावत् अनन्त परमाणु
एक जीव	एक	अनियत	असंख्य

काल के अतीत समय नष्ट हो जाते हैं। अनागत समय अनुत्पन्न होते हैं। इसलिए उसका स्कन्ध नहीं बनता। वर्तमान समय एक होता है, इसलिए उसका तिर्यक्प्रचय (तिरछा फैलाव) नहीं होता। काल का स्कन्ध या तिर्यक् प्रचय नहीं होता, इसलिए वह अस्तिकाय नहीं है।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार कालाणुओं की संख्या लोकाकाश के तुल्य है। आकाश के एक-एक प्रदेश पर एक-एक कालाणु अवस्थित है। काल-शक्ति और व्यक्ति की अपेक्षा एक प्रदेश वाला है। इसलिए इसके तिर्यक्-प्रचय नहीं होता। धर्म आदि पांचों द्रव्य के तिर्यक्-प्रचय क्षेत्र की अपेक्षा से होता है। और ऊर्ध्व प्रचय काल की अपेक्षा से होता है। उनके प्रदेश-समूह होता है, इसलिए वे फैलते हैं और काल के निमित्त से उनमें पौर्वापर्य या क्रमानुगत प्रसार होता है। समयों का प्रचय जो है वही काल द्रव्य का ऊर्ध्व-प्रचय है। काल स्वयं समय रूप है। उसकी परिणति किसी दूसरे

निमित्त की अपेक्षा से नहीं होती[61]। केवल ऊर्ध्व-प्रचय वाला द्रव्य अस्तिकाय नहीं होता।

काल के विभाग

काल चार प्रकार का होता है—प्रमाण-काल, यथायु निर्वृत्ति-काल, मरण-काल और अद्धा-काल[62]।

काल के द्वारा पदार्थ मापे जाते हैं, इसलिए उसे प्रमाण-काल कहा जाता है।

जीवन और मृत्यु भी काल सापेक्ष हैं, इसलिए जीवन के अवस्थान को यथायु-निर्वृत्तिकाल और उसके अन्त को मरण काल कहा जाता है।

सूर्य, चन्द्र आदि की गति से सम्बन्ध रखने वाला अद्धा-काल कहलाता है। काल का प्रधान-रूप अद्धा-काल ही है। शेष तीनो इसीके विशिष्ट रूप हैं। अद्धा-काल व्यावहारिक है। वह मनुष्य-लोक में ही होता है। इसीलिए मनुष्य लोक को 'समय-क्षेत्र' कहा जाता है। निश्चय-काल जीव-अजीव का पर्याय है, वह लोकालोक व्यापी है। उसके विभाग नहीं होते। समय से लेकर पुद्गल-परावर्त्त तक के जितने विभाग हैं, वे सब अद्धा-काल के हैं[63]। इसका सर्व सूक्ष्म भाग समय कहलाता है। यह अविभाज्य होता है। इसकी प्ररूपणा कमल-पत्र भेद और वस्त्र-विदारण के द्वारा की जाती है।

(क) एक दूसरे से सटे हुए कमल के सौ पत्तो को कोई बलवान् व्यक्ति सूई से छेद देता है, तब ऐसा ही लगता है कि सब पते साथ ही छिद गए, किन्तु यह होता नही। जिस समय पहला पत्ता छिदा, उस समय दूसरा नहीं। इसी प्रकार सब का छेदन क्रमशः होता है।

(ख) एक कलाकुशल युवा और बलिष्ठ जुलाहा जीर्ण-शीर्ण वस्त्र या साड़ी को इतनी शीघ्रता से फाड़ डालता है कि दर्शक को ऐसा लगता है मानो सारा वस्त्र एक साथ फाड़ डाला, किन्तु ऐसा होता नही। वस्त्र अनेक तन्तुओं से बनता है। जब तक ऊपर के तन्तु नही फटते तब तक नीचे के तन्तु नहीं फट सकते। अतः यह निश्चित है कि वस्त्र फटने में काल-भेद होता है।

तात्पर्य यह है कि वस्त्र अनेक तन्तुओं से बनता है। प्रत्येक तन्तु में अनेक रूएं होते हैं। उनमें भी ऊपर का रूआं पहले छिदता है, तब कहीं उसके नीचे का रूआ छिदता है। अनन्त परमाणुओं के मिलन का नाम संघात है। अनन्त संघातो का एक समुदय और अनन्त समुदयो की एक समिति होती है। ऐसी अनन्त समितियों के संगठन से तन्तु के ऊपर का एक रूआं बनता है। इन सबका छेदन क्रमशः होता है। तन्तु के पहले रूएं के छेदन में जितना समय लगता है, उसका अत्यन्त सूक्ष्म अंश यानी असंख्यातवां भाग (हिस्सा) समय कहलाता है।

अविभाज्य काल	—एक समय
असंख्य समय	—एक आवलिका
२५६ आवलिका	—एक क्षुल्लक भव (सब से छोटी आयु)
२२२३ १२२९/३७७३ —आवलिका—एक उच्छ्वास निःश्वास	
४४४६ २४५८/३७७३ —आवलिका या	
साधिक १७ क्षुल्लक भव या एक श्वासोच्छ्वास	—एक प्राण
७ प्राण	—एक स्तोक
७ स्तोक	—एक लव
३८॥ लव	—एक घड़ी (२४ मिनट)
७७ लव	—दो घड़ी। अथवा,
	—६५५३६ क्षुल्लक भव। या,
	—१६७७७२१६ आवलिका अथवा,
	—३७७३ प्राण। अथवा,
	—एक मुहूर्त (सामायिक काल)
३० मुहूर्त	—एक दिन रात (अहो रात्रि)
१५ दिन	—एक पक्ष

२ पक्ष	—एक मास
२ मास	—एक ऋतु
३ ऋतु	—एक अयन
२ अयन	—एक साल
५ साल	—एक युग
७० क्रोड़ाक्रोड़ ५६ लाख क्रोड़ वर्ष	—एक पूर्व
असंख्य वर्ष	—एक पल्योपम[६४]
१० क्रोड़ाक्रोड़ पल्योपम	—एक सागर
२० क्रोड़ाक्रोड़ सागर	—एक काल चक्र
अनन्त काल चक्र	—एक पुद्गल परावर्तन

इन सारे विभागो को संक्षेप में अतीत, प्रत्युत्पन्न-वर्तमान और अनागत कहा जाता है।

पुद्गल

विज्ञान जिसको मैटर (Matter) और न्याय-वैशेषिक आदि जिसे भौतिक तत्त्व कहते हैं, उसे जैन-दर्शन में पुद्गल संज्ञा दी है। बौद्ध-दर्शन में पुद्गल शब्द आलय-विज्ञान—चेतनासन्तति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैन-शास्त्रो में भी अभेदोपचार से पुद्गल युक्त आत्मा को पुद्गल कहा है[६५]। किन्तु मुख्यतया पुद्गल का अर्थ है मूर्तिक द्रव्य। छह द्रव्यों में काल को छोड़कर शेष पांच द्रव्य अस्तिकाय हैं—यानी अवयवी हैं, किन्तु फिर भी इन सबकी स्थिति एक सी नहीं। जीव, धर्म, अधर्म और आकाश—ये चार अविभागी हैं। इनमें संयोग और विभाग नही होता। इनके अवयव परमाणु द्वारा कल्पित किये जाते हैं। कल्पना करो—यदि इन चारों के परमाणु जितने-जितने खण्ड करें तो जीव, धर्म अधर्म के असंख्य और आकाश के अनन्त खण्ड होते हैं। पुद्गल अखंड द्रव्य नहीं है। उसका सबसे छोटा रूप एक परमाणु है और सबसे बड़ा रूप है विश्वव्यापी अचित महास्कन्ध[६६]। इसीलिए उसको पूरण-गलन-धर्मा कहा है। छोटा-बड़ा सूक्ष्म-स्थूल, हल्का-भारी, लम्बा-चौड़ा, बन्ध-भेद, आकार, प्रकाश-अन्धकार, ताप-छाया इनको पौद्गलिक मानना जैन तत्त्व-ज्ञान की सूक्ष्म-दृष्टि का परिचायक है।

तत्त्व-संख्या में परमाणु की स्वतन्त्र गणना नहीं है। वह पुद्गल का ही एक विभाग है। पुद्गल के दो प्रकार बतलाए हैं[६७] :—

१—परमाणु-पुद्गल।

नो परमाणु-पुद्गल—द्वयणुक आदि स्कन्ध।

पुद्गल के विषय में जैन-तत्त्व-वेत्ताओं ने जो विवेचना और विश्लेषणा दी है, उसमें उनकी मौलिकता सहज सिद्ध है।

यद्यपि कई पश्चिमी विद्वानों का खयाल है कि भारत में परमाणुवाद यूनान से आया, किन्तु यह सही नहीं। यूनान में परमाणुवाद का जन्म-दाता डिमोक्रिटस् हुआ है। उसके परमाणुवाद से जैनों का परमाणुवाद बहुतांश में भिन्न है, मौलिकता की दृष्टि से सर्वथा भिन्न है। जैन-दृष्टि के अनुसार परमाणु चेतन का प्रतिपक्षी है, जबकि डिमोक्रिटस् के मतानुसार आत्म-सूक्ष्म परमाणुओं का ही विकार है।

कई भारतीय विद्वान् परमाणुवाद को कणाद ऋषि की उपज मानते हैं। किन्तु तटस्थ दृष्टि से देखा जाए तो वैशेषिकों का परमाणुवाद जैन-परमाणुवाद से पहले का नहीं है और न जैनों की तरह वैशेषिकों ने उसके विभिन्न पहलुओं पर वैज्ञानिक प्रकाश ही डाला है। इस विषय में 'दर्शन-शास्त्र का इतिहास' पुस्तक के लेखक का मत मननीय है[६८]। उन्होंने लिखा है कि भारतवर्ष में परमाणुवाद के सिद्धान्त को जन्म देने का श्रेय जैन दर्शन को मिलना चाहिए। उपनिषद में अणु शब्द का प्रयोग हुआ है, जैसे—'अणोरणीयान् महतो महीयान्', किन्तु परमाणुवाद नाम की कोई वस्तु उनमें नहीं पाई जाती। वैशेषिकों का परमाणुवाद शायद इतना पुराना नहीं है।

ई० पू० के जैन-सूत्रों एवं उत्तरवर्ती साहित्य में परमाणु के स्वरूप और कार्य का सूक्ष्मतम अन्वेषण परमाणुवाद के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

परमाणु का स्वरूप

जैन-परिभाषा के अनुसार अछेद्य, अभेद्य, अग्राह्य, अदाह्य और निर्विभागी पुद्गल को परमाणु कहा जाता है[६९]। आधुनिक विज्ञान के विद्यार्थी को परमाणु

के उपलक्षणों में सन्देह हो सकता है, कारण कि विज्ञान के सूक्ष्म यन्त्रों में परमाणु की अविभाज्यता सुरक्षित नहीं है।

परमाणु अगर अविभाज्य न हो तो उसे परम+अणु नहीं कहा जा सकता। विज्ञान-सम्मत परमाणु टूटता है, उसे भी हम अस्वीकार नहीं करते। इस समस्या के बीच हमें जैन-सूत्र अनुयोगद्वार में वर्णित परमाणु-द्विविधता का सहज स्मरण हो आता है [७०]—

१ सूक्ष्म परमाणु।

२ व्यावहारिक परमाणु।

सूक्ष्म परमाणु का स्वरूप वही है, जो कुछ ऊपर की पंक्तियों में बताया गया है। व्यावहारिक परमाणु अनन्त सूक्ष्म परमाणुओं के समुदय से बनता है [७१]। वस्तुवृत्त्या वह स्वयं परमाणु-पिंड है, फिर भी साधारण दृष्टि से ग्राह्य नहीं होता और साधारण अस्त्र-शस्त्र से तोड़ा नहीं जा सकता, थोड़े में उसकी परिणति सूक्ष्म होती है, इसलिए व्यवहारतः उसे परमाणु कहा गया है। विज्ञान के परमाणु की तुलना इस व्यावहारिक परमाणु से होती है। इसलिए परमाणु के टूटने की बात एक सीमा तक जैन-दृष्टि को भी स्वीकार्य है।

पुद्गल के गुण

स्पर्श—शीत, उष्ण, रूक्ष, स्निग्ध, लघु, गुरु, मृदु और कर्कश।

रस—आम्ल, मधुर, कटु, कषाय और तिक्त।

गन्ध—सुगन्ध और दुर्गन्ध।

वर्ण—कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत।

ये बीस पुद्गल के गुण हैं।

यद्यपि संस्थान—परिमंडल, वृत्त, त्र्यंश, चतुरंश आदि पुद्गल में ही होता है, फिर भी उसका गुण नहीं है [७२]।

सूक्ष्म परमाणु द्रव्य रूप में निरवयव और अविभाज्य होते हुए भी पर्याय दृष्टि से वैसा नहीं है [७३]। उसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श—ये चार गुण और अनन्त पर्याय होते हैं [७४]। एक परमाणु में एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श (शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष, इन युगलों में से एक-एक) होते हैं। पर्याय की दृष्टि से एक गुण वाला परमाणु अनन्त गुण वाला हो जाता है और अनन्त

गुण वाला परमाणु एक गुण वाला। एक परमाणु में वर्ण से वर्णान्तिर, गन्ध से गन्धान्तर, रस से रसान्तर और स्पर्श से स्पर्शान्तर होना जैन-दृष्टि-सम्मत है।

एक गुण वाला पुद्गल यदि उसी रूप में रहे तो जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः असंख्य काल तक रह सकता है [७५]। द्विगुण से लेकर अनन्त गुण तक के परमाणु पुद्गलों के लिए यही नियम है। बाद में उनमें परिवर्तन अवश्य होता है। यह वर्ण विषयक नियम गन्ध, रस और स्पर्श पर भी लागू होता है।

परमाणु की अतीन्द्रियता

परमाणु इन्द्रियग्राह्य नहीं होता। फिर भी अमूर्त नही है, वह रूपी है। पारमार्थिक प्रत्यक्ष से वह देखा जाता है। परमाणु मूर्त्त होते हुए भी दृष्टि-गोचर नही होता, इसका कारण है उसकी सूक्ष्मता।

केवल-ज्ञान का विषय मूर्त्त और अमूर्त्त दोनों प्रकार के पदार्थ हैं। इसलिए केवली (सर्वज्ञ और अतीन्द्रिय-द्रष्टा। तो परमाणु को जानते ही हैं; चाहे वे संसार-दशा में हों, चाहे सिद्ध हो। अकेवली यानी छद्मस्थ अथवा क्षायोपशमिक ज्ञानी—जिसका आवरण-विलय अपूर्ण है, परमाणु को जान भी सकता है, नहीं भी। अवधिज्ञानी—रूपी द्रव्य विषयक प्रत्यक्ष वाला योगी उसे जान सकता है, इन्द्रिय प्रत्यक्ष वाला व्यक्ति नही जान सकता [७६]।

एक प्राचीन श्लोक में उक्त लक्षण-दिशा का सकेत मिलता है —

कारणमेव तदन्त्यं, सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरसवर्णगन्धो, द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च॥

परमाणुसमुदय—स्कन्ध और पारमाणविक जगत्

यह दृश्य जगत्—पौद्गलिक जगत् परमाणुसंघटित है। परमाणुओ से स्कन्ध बनते हैं और स्कन्धो से स्थूल पदार्थ। पुद्गल में संघातक और विघातक —ये दोनों शक्तियाँ हैं। पुद्गल शब्द में ही 'पूरण और गलन' इन दोनों का मेल है [७७]। परमाणु के मेल से स्कन्ध बनता है और एक स्कन्ध के टूटने से भी अनेक स्कन्ध बन जाते हैं। यह गलन और मिलन की प्रक्रिया स्वाभाविक भी होती है और प्राणी के प्रयोग से भी। कारणकि पुद्गल की अवस्थाएं

सादि, सान्त होती है; अनादि, अनन्त नहीं [78]। पुद्गल में अगर वियोजक शक्ति नहीं होती तो सब अणुओं का एक पिण्ड बन जाता और यदि संयोजक शक्ति नहीं होती तो एक-एक अणु अलग-अलग रहकर कुछ नहीं करपाते। प्राणी-जगत् के प्रति परमाणु का जितना भी कार्य है, वह सब परमाणुसमुदयजन्य है और साफ कहा जाए तो अनन्त परमाणु स्कन्ध ही प्राणीजगत् के लिए उपयोगी हैं [79]।

स्कन्ध-भेद की प्रक्रिया के कुछ उदाहरण

दो परमाणु-पुद्गल के मेल से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है और द्विप्रदेशी स्कन्ध के भेद से दो परमाणु हो जाते हैं [80]।

तीन परमाणु मिलने से त्रिप्रदेशी स्कन्ध बनता है और उनके अलगाव में दो विकल्प हो सकते हैं—तीन परमाणु अथवा एक परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध।

चार परमाणु के समुदय से चतुःप्रदेशी स्कन्ध बनता है और उसके भेद के चार विकल्प होते हैं —

१—एक परमाणु और एक त्रिप्रदेशी स्कन्ध।

२—दो द्विप्रदेशी स्कन्ध।

३—दो पृथक्-पृथक् परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध।

४—चारों पृथक्-पृथक परमाणु।

पुद्गल में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य

पुद्गल शाश्वत भी है और अशाश्वत भी [81]। द्रव्यार्थतया शाश्वत है और पर्यायरूप में अशाश्वत। परमाणु-पुद्गल द्रव्य की अपेक्षा अचरम है। यानी परमाणु संघात रूप में परिणत होकर भी पुनः परमाणु बन जाता है। इसलिए द्रव्यत्व की दृष्टि से चरम नहीं है। क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चरम भी होता है और अचरम भी [82]।

पुद्गल की द्विविधा परिणति

पुद्गल की परिणति दो प्रकार की होती है —

१—सूक्ष्म।

२—बादर।

अनन्त प्रदेशी स्कन्ध भी जब तक सूक्ष्म परिणति में रहता है, तब तक इन्द्रियग्राह्य नहीं बनता और सूक्ष्म परिणति वाले स्कन्ध चतुःस्पर्शी होते हैं। उत्तरवर्ती चार स्पर्श बादर परिणाम वाले चार स्कन्धों में ही होते हैं,। गुरु-लघु और मृदु-कठिन—ये स्पर्श पूर्ववर्ती चार स्पर्शों के सापेक्ष संयोग से बनते हैं। रूक्ष स्पर्श की बहुलता से लघु स्पर्श होता है और स्निग्ध की बहुलता से गुरु। शीत व स्निग्ध स्पर्श की बहुलता से मृदु स्पर्श और उष्ण तथा रूक्ष की बहुलता से कर्कश स्पर्श बनता है। तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म परिणति की विवृति के साथ-साथ जहाँ स्थूल परिणति होती है, वहाँ चार स्पर्श भी बढ़ जाते हैं।

पुद्गल के विचार

पुद्गल द्रव्य चार प्रकार का माना गया है[८३]:—

१—स्कन्ध

२—स्कन्ध-देश

३—स्कन्ध-प्रदेश

४—परमाणु

स्कन्ध—परमाणु-प्रचय। देश—स्कन्ध का कल्पित विभाग। प्रदेश—स्कन्ध से अपृथग्भूत अविभाज्य अंश। परमाणु—स्कन्ध से पृथग् निरंश-तत्त्व।

प्रदेश और परमाणु में सिर्फ स्कन्ध से पृथग्भाव और अपृथग्भाव का अन्तर है।

पुद्गल कबसे और कब तक?

प्रवाह की अपेक्षा स्कन्ध और परमाणु अनादि अपर्यवसित हैं। कारण कि इनकी सन्तति अनादिकाल से चली आ रही है और चलती रहेगी। स्थिति की अपेक्षा यह सादि सपर्यवसान भी है। जैसे परमाणुओं से स्कन्ध बनता है और स्कन्ध-भेद से परमाणु बन जाते हैं।

परमाणु परमाणु के रूप में, स्कन्ध स्कन्ध के रूप में रहें तो कम-से-कम एक समय और अधिक से अधिक असंख्यात काल तक रह सकते हैं[८४]। बाद में तो उन्हें बदलना ही पड़ता है। यह इनकी कालसापेक्ष स्थिति है। क्षेत्रसापेक्ष स्थिति—परमाणु अथवा स्कन्ध के एक क्षेत्र में रहने की स्थिति भी यही है।

परमाणु के स्कन्धरूप में परिणत होकर फिर परमाणु बनने में जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः असंख्य काल लगता है [८५]। और द्व्यणुकादि स्कन्धों के परमाणुरूप में अथवा त्र्यणुकादि स्कन्धरूप में परिणत होकर फिर मूल रूप में आने में जघन्यतः एक समय और उत्कृष्टतः अनन्त काल लगता है।

एक परमाणु अथवा स्कन्ध जिस आकाश-प्रदेश में थे और किसी कारण-वश वहाँ से चल पड़े, फिर उसी आकाश-प्रदेश में उत्कृष्टतः अनन्त काल के बाद और जघन्यतः एक समय के बाद ही आ जाते हैं [८६]। परमाणु आकाश के एक प्रदेश में ही रहते हैं। स्कन्ध के लिए यह नियम नहीं है। वे एक, दो संख्यात, असंख्यात प्रदेशों में रह सकते हैं। यावत्—समूचे लोकाकाश तक भी फैल जाते हैं। समूचे लोक में फैल जाने वाला स्कन्ध 'अचित्त महास्कन्ध' कहलाता है।

पुद्गल का अप्रदेशित्व और सप्रदेशित्व

स्कन्ध—द्रव्य की अपेक्षा स्कन्ध सप्रदेशी होते हैं [८७]। जिस स्कन्ध में जितने परमाणु होते हैं, वह तत्परिमाणप्रदेशी स्कन्ध कहलाता है।

क्षेत्र की अपेक्षा स्कन्ध सप्रदेशी भी होते हैं और अप्रदेशी भी। जो एक आकाश-प्रदेशावगाही होता है, वह अप्रदेशी और जो दो आदि आकाश-प्रदेशावगाही होता है, वह सप्रदेशी।

काल की अपेक्षा जो स्कन्ध एक समय की स्थिति वाला होता है, वह अप्रदेशी और जो इससे अधिक स्थिति वाला होता है, वह सप्रदेशी।

भाव की अपेक्षा एक गुण वाला अप्रदेशी और अधिक गुण वाला सप्रदेशी।

परमाणु

द्रव्य की अपेक्षा परमाणु अप्रदेशी होते हैं। क्षेत्र की अपेक्षा अप्रदेशी होते हैं। काल की अपेक्षा एक समय की स्थिति वाला परमाणु अप्रदेशी और अधिक समय की स्थिति वाला सप्रदेशी। भाव की अपेक्षा एक गुण वाला अप्रदेशी और अधिक गुण वाला सप्रदेशी।

परिणमन के तीन हेतु[८८]

परिणमन की अपेक्षा पुद्गल तीन प्रकार के होते हैं :—

१—वैस्रसिक

२—प्रायोगिक

३—मिश्र

स्वभावतः जिनका परिणमन होता है वे वैस्रसिक, जीव के प्रयोग से शरीरादि रूप में परिणत पुद्गल प्रायोगिक और जीव के द्वारा मुक्त होने पर भी जिनका जीव के प्रयोग से हुआ परिणमन नहीं छूटता अथवा जीव के प्रयत्न और स्वभाव दोनों के संयोग से जो बनते हैं, वे मिश्र कहलाते हैं, जैसे—

१—प्रायोगिक परिणाम—जीवच्छरीर

२—मिश्र परिणाम—मृत शरीर

३—वैस्रसिक परिणाम—उल्कापात

इनका रूपान्तर असंख्य काल के बाद अवश्य ही होता है।

पुद्गल द्रव्य में एक ग्रहण नाम का गुण होता है। पुद्गल के सिवाय अन्य पदार्थों में किसी दूसरे पदार्थ से जा मिलने की शक्ति नहीं है। पुद्गल का आपस में मिलन होता है वह तो है ही, किन्तु इसके अतिरिक्त जीव के द्वारा उसका ग्रहण किया जाता है। पुद्गल स्वयं जाकर जीव से नहीं चिपटता, किन्तु वह जीव की क्रिया से आकृष्ट होकर जीव के साथ संलग्न होता है। जीव-सम्बद्ध पुद्गल का जीव पर बहुविध असर होता है, जिसका औदारिक आदि वर्गणा के रूप में आगे उल्लेख किया जाएगा।

प्राणी और पुद्गल का सम्बन्ध

प्राणी के उपयोग में जितने पदार्थ आते हैं, वे सब पौद्गलिक होते हैं ही, किन्तु विशेष ध्यान देने की बात यह है कि वे सब जीव-शरीर में प्रयुक्त हुए होते हैं। तात्पर्य यह है कि मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, साग-सब्जी और त्रस कायिक जीवों के शरीर या शरीरमुक्त पुद्गल हैं।

दूसरी दृष्टि से देखें तो स्थूल स्कन्ध वे ही हैं, जो विस्रसा-परिणाम से औदारिक आदि वर्गणा के रूप में सम्बद्ध होकर प्राणियों के स्थूल शरीर के रूप में परिणत अथवा उससे मुक्त होते हैं [८९]। वैशेषिकों की तरह जैन-दर्शन में पृथ्वी, पानी आदि के परमाणु पृथग् लक्षण वाले नहीं हैं। इन सब में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण, ये सभी गुण रहते हैं।

पुद्गल की गति

परमाणु स्वयं गतिशील है। वह एक क्षण में लोक के एक सिरे से दूसरे सिरे तक जो असंख्य योजन की दूरी पर है, चला जाता है। गति-परिणाम उसका स्वाभाविक धर्म है। धर्मास्तिकाय उसका प्रेरक नहीं, सिर्फ सहायक है। दूसरे शब्दों में गति का उपादान परमाणु स्वयं है। धर्मास्तिकाय तो उसका निमित्तमात्र है[१०]।

परमाणु सेज (सकम्प) भी होता है[११] और अनेज (अकम्प) भी। कदाचित् वह चंचल होता है, कदाचित् नहीं। उनमें न तो निरन्तर कम्प-भाव रहता है और न निरन्तर अकम्प-भाव भी।

द्व्यणु-स्कन्ध में कदाचित् कम्पन कदाचित् अकम्पन होता है। वे द्व्यंश होते हैं, इसलिए उनमें देश-कम्प और देश-अकम्प ऐसी स्थिति भी होती है।

त्रिप्रदेशी स्कन्ध में कम्प-अकम्प की स्थिति द्विप्रदेशी स्कन्ध की तरह होती है। सिर्फ देश-कम्प के एक वचन और द्विवचन सम्बन्धी विकल्पों का भेद होता है। जैसे एक देश में कम्प होता है, देश में कम्प नहीं होता। देश में कम्प होता है, देशों (दो) में कम्प नहीं होता। देशो (दो) में कम्प होता है, देश में कम्प नहीं होता।

चतुः प्रदेशी स्कन्ध में देश में कम्प, देश में अकम्प, देश में कम्प और देशो (दो) में अकम्प, देशो (दो) में अकम्प और देश में अकम्प, देश में कम्प और देशों में अकम्प होता है।

पाँच प्रदेश यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध की भी यही स्थिति है।

पुद्गल के आकार-प्रकार

परमाणु-पुद्गल अनर्द्ध, अमध्य और अप्रदेश होते हैं[१२]।

द्विप्रदेशी स्कन्ध सार्द्ध, अमध्य और सप्रदेश होते हैं।

त्रिप्रदेशी स्कन्ध अनर्द्ध, समध्य और सप्रदेश होते हैं।

समसंख्यक परमाणु-स्कन्धो की स्थिति द्विप्रदेशी स्कन्ध की तरह होती है और विषम-संख्यक परमाणु स्कन्धों की स्थिति त्रिप्रदेशी स्कन्ध की तरह।

पुद्गल द्रव्य की चार प्रकार की स्थिति बतलाई गई है[१३]—

१—द्रव्य स्थानायु
२—क्षेत्र स्थानायु
३—अवगाहन स्थानायु
४—भाव स्थानायु

१—परमाणु परमाणुरूप में और स्कन्ध स्कन्धरूप में अवस्थित हैं, वह द्रव्य स्थानायु है।

२—जिस आकाश-प्रदेश में परमाणु या स्कन्ध अवस्थित रहते हैं, उसका नाम है क्षेत्र स्थानायु।

३—परमाणु और स्कन्ध का नियत परिमाण में जो अवगाहन होता है, वह है अवगाहन स्थानायु।

क्षेत्र और अवगाहन में इतना अन्तर है कि क्षेत्र का सम्बन्ध आकाश प्रदेशों से है, वह परमाणु और स्कन्ध द्वारा अवगाढ़ होता हैं तथा अवगाहन का सम्बन्ध पुद्‌गल द्रव्य से है। तात्पर्य, कि उनका अमुक-परिमाण क्षेत्र में प्रसरण होता है।

४—परमाणु और स्कन्ध के स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण की परिणति को भाव स्थानायु कहा जाता है।

परमाणुओं का श्रेणी-विभाग

परमाणुओं की आठ मुख्य वर्गणाएं (Qualities) हैं :—

१—औदारिक वर्गणा
२—वैक्रिय वर्गणा
३—आहारक वर्गणा
४—तैजस वर्गणा
५—कार्मण वर्गणा
६—श्वासोच्छ्वास वर्गणा
७—वचन वर्गणा
८—मन वर्गणा

औदारिक वर्गणा—स्थूल पुद्‌गल—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों के शरीर-निर्माण योग्य पुद्‌गल-समूह।

वैक्रिय वर्गणा—छोटा-बड़ा, हल्का-भारी, दृश्य-अदृश्य आदि विविध क्रियाएं करने में समर्थ शरीर के योग्य पुद्गल-समूह।

आहारक वर्गणा—योग-शक्तिजन्य शरीर के योग्य पुद्गल-समूह।

तैजस वर्गणा—विद्युत-परमाणु-समूह (Electrical Molecues)

कार्मण वर्गणा—जीवों की अत् असत् क्रिया के प्रतिफल में बनने वाला पुद्गल-समूह

श्वासोच्छ्वास वर्गणा—आन-प्राण योग्य पुद्गल-समूह

वचन वर्गणा—भाषा के योग्य पुद्गल-समूह।

मन वर्गणा—चिन्तन में सहायक बनने वाला पुद्गल-समूह।

इन वर्गणाओं के अवयव क्रमशः सूक्ष्म और अति प्रचय वाले होते हैं। एक पौद्गलिक पदार्थ का दूसरे पौद्गलिक पदार्थ के रूप में परिवर्तन होता है। वर्गणा का वर्गणान्तर के रूप में परिवर्तन होना भी जैन-दृष्टि-सम्मत है।

पहली चार वर्गणाएं अष्टस्पर्शी—स्थूल स्कन्ध हैं। वे हल्की-भारी, मृदु-कठोर भी होती हैं। कार्मण, भाषा और मन—ये तीन वर्गणाएं चतुःस्पर्शी—सूक्ष्म स्कन्ध हैं। इनमें केवल शीत, उष्ण, स्निग्ध, रुक्ष—ये चार ही स्पर्श होते हैं। गुरु, लघु, मृदु, कठिन—ये चार स्पर्श नहीं होते। श्वासोच्छ्वास वर्गणा चतुःस्पर्शी और अष्ट-स्पर्शी दोनों प्रकार के होते हैं।[१४]

परमाणु-स्कन्ध की अवस्था

परमाणु स्कन्ध रूप में परिणत होते हैं, तब उनकी दस अवस्थाएँ—कार्य हमें उपलब्ध होती हैं :—

१—शब्द[१५]

२—बन्ध

३—सौक्ष्म्य

४—स्थौल्य

५—संस्थान

६—भेद

७— तम

८ छाया

९ आतप
१० उद्योत
ये पौद्‌गलिक कार्य तीन प्रकार के होते हैं :—
१ प्रायोगिक[६६]
२ मिश्र
३ वैस्रसिक

इनका क्रमशः अर्थ है—जीव के प्रयत्न से बनने वाली वस्तुएं जीव, के प्रयत्न और स्वभाव दोनों के संयोग से बनने वाली वस्तुएं तथा स्वभाव से बनने वाली वस्तुएं।

शब्द

जैन दार्शनिकों ने शब्द को केवल पौद्‌गलिक कहकर ही विश्राम नहीं लिया किन्तु उसकी उत्पत्ति,[९७] शीघ्रगति,[९८] लोक व्यापित्व,[९९] स्थायित्व, आदि विभिन्न पहलुओं पर पूरा प्रकाश डाला है[१००]। तार का सम्बन्ध न होते हुए भी सुघोषा घण्टा का शब्द असंख्य योजन की दूरी पर रही हुई घण्टाओं में प्रतिध्वनित होता है[१०१]—यह विवेचन उस समय का है जबकि 'रेडियो' वायरलेस आदि का अनुसन्धान नहीं हुआ था। हमारा शब्द क्षणमात्र में लोकव्यापी बन जाता है, यह सिद्धान्त भी आज से ढाई हजार वर्ष पहले ही प्रतिपादित हो चुका था।

शब्द पुद्‌गल-स्कन्धों के संघात और भेद से उत्पन्न होता है। उसके भाषा शब्द (अक्षर-सहित और अक्षर रहित), नो भाषा शब्द (आतोद्य शब्द और नो आतोद्य शब्द) आदि अनेक भेद हैं।

वक्ता बोलने के पूर्व भाषा-परमाणुओं को ग्रहण करता है, भाषा के रूप में उनका परिणमन करता है और तीसरी अवस्था है उत्सर्जन[१०२]। उत्सर्जन के द्वारा बाहर निकले हुए भाषा-पुद्‌गल आकाश में फैलते हैं। वक्ता का प्रयत्न अगर मन्द है तो वे पुद्‌गल अभिन्न रहकर 'जल-तरंग-न्याय' से असंख्य योजन तक फैलकर शक्तिहीन हो जाते हैं। और यदि वक्ता का प्रयत्न तीव्र होता है तो वे भिन्न होकर दूसरे असंख्य स्कन्धों को ग्रहण करते-करते अति सूक्ष्म काल में लोकान्त तक चले जाते हैं।

हम जो सुनते हैं वह वक्ता का मूल शब्द नहीं सुन पाते। वक्ता का शब्द श्रेणियों—आकाश-प्रदेश की पंक्तियों में फैलता है। ये श्रेणियां वक्ता के पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊचे और नीचे छहो दिशाओं में हैं।

हम शब्द की सम श्रेणी में होते हैं तो मिश्र शब्द सुनते हैं अर्थात् वक्ता द्वारा उच्चारित शब्द द्रव्यों और उनके द्वारा वासित शब्द-द्रव्यो को सुनते हैं।

यदि हम विश्रेणी (विदिशा) में होते हैं तो केवल वासित शब्द ही सुन पाते हैं [१०३]।

सूक्ष्मता और स्थूलता

परमाणु सूक्ष्म हैं और अचित्त-महास्कन्ध स्थूल हैं। इनके मध्यवर्ती सौक्ष्म्य और स्थौल्य आपेक्षिक हैं—एक स्थूल वस्तु की अपेक्षा किसी दूसरी वस्तु को सूक्ष्म और एक सूक्ष्म वस्तु की अपेक्षा किसी दूसरी वस्तु को स्थूल कहा जाता है।

दिगम्बर आचार्य स्थूलता और सूक्ष्मता के आधार पर पुद्गल को छह भागों में विभक्त करते हैं :—

१—वादर-वादर—पत्थर आदि जो विभक्त होकर स्वयं न जुड़े।
२—वादर—प्रवाही पदार्थ जो विभक्त होकर स्वयं मिल जाएं।
३—सूक्ष्म वादर—धूम आदि जो स्थूल भासित होने पर भी अविभाज्य हैं।
४—वादर सूक्ष्म—रस आदि जो सूक्ष्म होने पर इन्द्रिय गम्य हैं।
५—सूक्ष्म—कर्म-वर्गणा आदि जो इन्द्रियातीत हैं।
६—सूक्ष्म-सूक्ष्म—कर्म-वर्गणा से भी अत्यन्त सूक्ष्म स्कन्ध।

वन्ध

अवयवों का परस्पर अवयव और अवयवी के रूप में परिणमन होता है—उसे वन्ध कहा जाता है। संयोग में केवल अन्तर रहित अवस्थान होता है किन्तु वन्ध में एकत्व होता है।

वन्ध के दो प्रकार हैं—

१—वैस्रसिक २—प्रायोगिक

स्वभाव जन्य वन्ध वैस्रसिक कहलाता है।

जीव के प्रयोग से जो वन्ध होता है उसे प्रायोगिक कहा जाता है। वैस्रसिक वन्ध सादि और अनादि-दोनों प्रकार का होता है। धर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों का वन्ध अनादि है। सादि वन्ध केवल पुद्गलो का होता है। द्व्यणुक आदि स्कन्ध वनते हैं वह सादि वन्ध है उसकी प्रक्रिया यह है—

स्कन्ध केवल परमाणुओं के संयोग से नहीं वनता। चिकने और रूखे परमाणुओं का परस्पर एकत्व होता है तव स्कन्ध वनता है अर्थात् स्कन्ध की उत्पत्ति का हेतु परमाणुओ का स्निग्धत्व और रुक्षत्व है।

विशेष नियम यह है—

(१) जघन्य अंश वाले चिकने और रूखे परमाणु मिलकर स्कन्ध नहीं वना सकते।

(२) समान अंश वाले परमाणु, यदि वे सदृश हों—केवल चिकने हों या केवल रूखे हो, मिलकर स्कन्ध नहीं वना सकते।

(३) स्निग्धता या रूक्षता दो अंश या तीन अंश आदि अधिक हों तो सदृश परमाणु मिलकर स्कन्ध का निर्माण कर सकते हैं।

इस प्रक्रिया में श्वेताम्वर और दिगम्बर-परम्परा में कुछ मतभेद है। श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार—

(१) जघन्य अंश वाले परमाणु का अजघन्य-अंश वाले परमाणु के साथ वन्ध होता है।

(२) सदृश परमाणुओं में तीन-चार आदि अंश अधिक होने पर भी स्कन्ध होना माना जाता है।

(३) दो अंश आदि अधिक हों तो वन्ध होता है—यह सदृश परमाणुओं के लिए ही है।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार—

(१) एक जघन्य अंश वाले परमाणु का दूसरे अजघन्य अंश वाले परमाणु के साथ वन्ध नहीं होता [१०४]।

(२) सदृश परमाणुओं में केवल दो अंश अधिक होने पर ही वन्ध माना जाता है [१०५]।

(३) दो अंश अधिक होने का विधान सदृश-सदृश की तरह असदृश-असदृश परमाणुओं के लिए भी है [१०६]।

श्वेताम्बर-ग्रन्थ तत्त्वार्थ भाषानुसारिणी टीका के अनुसार

अंश	सदृश	विसदृश
१—जघन्य जघन्य[१०७]	नहीं	नही
२—जघन्य ऐकाधिक	नहीं	है
३—जघन्य द्वयाधिक	है	है
४—जघन्य त्र्यादि अधिक	है	है
५—जघन्येतर समजघन्येतर	नहीं	नही
६—जघन्येतर एकाधिक जघन्येतर	नहीं	है
७—जघन्येतर द्वयाधिक जघन्येतर	है	है
८—जघन्तेर अधिक जघन्येतर	है	है

दिगम्बर-ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि के अनुसार

अंश	सदृश	विसदृश
१—जघन्य जघन्य	नहीं	नही
२—जघन्य एकाधिक	नहीं	नहीं
३—जघन्य द्वयाधिक	नही	नहीं
४—जघन्य त्र्यादि अधिक	नही	नहीं
५—जघन्येतर सम जघन्येतर	नहीं	नही
६—जघन्येतर एकाधिक जघन्येतर	नहीं	नहीं
७—जघन्येतर द्वयाधिक जघन्येतर	है	है
८—जघन्येतर त्र्यादि अधिक जघन्येतर	नही	नहीं

वन्ध काल में अधिक अंश वाले परमाणुहीन अंश वाले परमाणुओं को अपने रूप में परिणत कर लेते हैं। पांच अंश वाले स्निग्ध परमाणु के योग से तीन अंश वाला स्निग्ध परमाणु पांच अंश वाला हो जाता है। इसी प्रकार पांच अंश वाले स्निग्ध परमाणु के योग से तीन अंश वाला रूखा परमाणु स्निग्ध हो जाता है। जिस प्रकार स्निग्धत्व हीनांश रूक्षत्व को अपने में मिला लेता है उसी प्रकार रूक्षत्व भी हीनांश स्निग्धत्व अपने में मिला लेत है।

कभी-कभी परिस्थितिवश स्निग्ध परमाणु समांश रूक्ष परमाणुओं को और रूक्ष परमाणु समांश स्निग्ध परमाणुओं को भी अपने-अपने रूप में परिणत कर लेते हैं[१०८]।

दिगम्बर-परम्परा को यह समांश-परिणति मान्य नहीं है[१०९]।

छाया—अपारदर्शक और पारदर्शक—दोनो प्रकार की होती है।

आतप—उष्ण प्रकाश या ताप किरण।

उद्योत—शीत प्रकाश या ताप किरण।

अग्नि—स्वय गरम होती है और उसकी प्रभा भी गरम होती है।

आतप—स्वयं ठण्डा और उसकी प्रभा गरम होती है।

उद्योत—स्वयं ठण्डा और उसकी प्रभा भी ठण्डी होती है।

प्रतिविम्ब

गौतम—भगवन्! काच में देखने वाला व्यक्ति क्या काच को देखता है? अपने शरीर को देखता है? अथवा अपने प्रतिविम्ब को देखता है? वह क्या देखता है?

भगवान्—गौतम! काच में देखने वाला व्यक्ति कांच को नहीं देखता—वह स्पष्ट है। अपने शरीर को भी नहीं देखता—वह उसमें नहीं है। वह अपने शरीर का प्रतिबिम्ब देखता है[११०]।

प्रतिविम्ब-प्रक्रिया औरउसका दर्शन

पौद्गलिक वस्तुएं दो प्रकार की होती हैं। (१) सूक्ष्म (२) स्थूल। इन्द्रिय-गोचर होने वाली सभी वस्तुएं स्थूल होती हैं। स्थूल वस्तुएं चयापचय धर्मक (घट-बढ़ जाने वाली) होती हैं। इनमें से रश्मियां निकलती हैं—वस्तु आकार के अनुरूप छाया-पुद्गल निकलते हैं। और वे भास्कर या अभास्कर वस्तुओं में प्रतिविम्बित हो जाते हैं[१११]। अभास्कर वस्तु में पड़ने वाली छाया दिन में श्याम और रात को काली होती है। भास्कर वस्तुओं में पड़ने वाली छाया वस्तु के वर्णानुरूप होती है[११२]। आदर्श में जो शरीर के अवयव संक्रान्त होते हैं वे प्रकाश के द्वारा वहाँ दृष्टिगत होते हैं। इसलिए आदर्शद्रष्टा व्यक्ति आदर्श में न आदर्श देखता है, न अपना शरीर किन्तु अपना प्रतिविम्ब देखता है।

प्राणी-जगत् के प्रति पुद्गल का उपकार

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह जीव की मुख्य क्रियाएं हैं। इन्हीं के द्वारा प्राणी की चेतना का स्थूल बोध होता है। प्राणी का आहार, शरीर, दृश्य, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास और भाषा—ये सब पौद्गलिक हैं।

मानसिक चिन्तन भी पुद्गल-सहायापेक्ष है। चिन्तक चिन्तन के पूर्व क्षण में मन-वर्गणा के स्कन्धो को ग्रहण करता है। उनकी चिन्तन के अनुकूल आकृतियाँ बन जाती हैं। एक चिन्तन से दूसरे चिन्तन में संक्रान्त होते समय पहली-पहली आकृतियाँ बाहर निकलती रहती हैं और नई नई आकृतियाँ बन जाती हैं। वे मुक्त आकृतियाँ आकाश-मण्डल में फैल जाती हैं। कई थोड़े काल बाद परिवर्तित हो जाती हैं और कई असंख्य काल तक परिवर्तित नहीं भी होतीं। इन मन-वर्गणा के स्कन्धो का प्राणी के शरीर पर भी अनुकूल एवं प्रतिकूल परिणाम होता है। विचारों की दृढ़ता से विचित्र काम करने का सिद्धान्त इन्हीं का उपजीवी है।

यह समूचा दृश्य ससार पौद्गलिक ही है। जीव की समस्त वैभाविक अवस्थाएं पुद्गल-निमित्तक होती हैं। तात्पर्य-दृष्टि से देखा जाए तो यह जगत् जीव और परमाणुओं के विभिन्न संयोगो का प्रतिबिम्ब (परिणाम) है। जैन-सूत्रो में परमाणु और जीव-परमाणु की संयोगकृत दशाओं का अति प्रचुर वर्णन है। भगवती, प्रज्ञापना और स्थानाङ्ग आदि इसके आकर-ग्रन्थ हैं। 'परमाणु-षट्त्रिंशिका' आदि परमाणुविषयक स्वतन्त्र ग्रन्थो का निर्माण जैन-तत्त्वज्ञों की परमाणुविषयक स्वतन्त्र अन्वेषणा का मूर्त्त रूप है। आज के विज्ञान की अन्वेषणाओं के विचित्र वर्ण इनमें भरे पड़े हैं। भारतीय वैज्ञानिक जगत् के लिए यह गौरव की बात है।

एक द्रव्य-अनेक द्रव्य

समानजातीय द्रव्यों की दृष्टि से सब द्रव्यों की स्थिति एक नही है। छह द्रव्यों में धर्म, अधर्म और आकाश—ये तीन द्रव्य एक द्रव्य हैं—व्यक्ति रूप से एक हैं। इनके समानजातीय द्रव्य नहीं हैं। एक-द्रव्य द्रव्य व्यापक होते हैं

धर्म अधर्म समूचे लोक में व्याप्त हैं। आकाश लोक अलोक दोनो में व्याप्त है। काल, पुद्गल और जीव—ये तीन द्रव्य अनेक द्रव्य हैं—व्यक्ति रूप से अनन्त हैं।

पुद्गल द्रव्य सांख्य-सम्मत प्रकृति की तरह एक या व्यापक नहीं किन्तु अनन्त हैं, अनन्त परमाणु और अनन्त स्कन्ध हैं [११३]। जीवात्मा भी एक और व्यापक नहीं, अनन्त हैं। काल के भी समय अनन्त हैं [११४]। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन में द्रव्यों की संख्या के दो ही विकल्प हैं—एक या अनन्त [११५]। कई ग्रन्थकारों ने काल के असंख्य परमाणु माने हैं पर वह युक्त नहीं। यदि उन कालाणुओं को स्वतन्त्र द्रव्य माने तब तो द्रव्य-संख्या में विरोध आता है और यदि उन्हें एक समुदय के रूप में माने तो अस्तिकाय की संख्या में विरोध आता है। इसलिए कालाणु असंख्य हैं और वे समूचे लोकाकाश में फैले हुए हैं। यह बात किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होती।

सादृश्य-वैसादृश्य

विशेष गुण की अपेक्षा पांचों द्रव्य—धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल और जीव विसदृश हैं। सामान्य गुण की अपेक्षा वे सदृश भी हैं। व्यापक गुण की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश सदृश हैं। अमूर्तत्व की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश और जीव सदृश है। अचैतन्य की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्गल सदृश हैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व प्रदेशत्व और अगुरु-लघुत्व की अपेक्षा सभी द्रव्य सदृश हैं।

असंख्य द्वीप-समुद्र और मनुष्य-क्षेत्र

जैन-दृष्टि के अनुसार भूवलय (भूगोल) का स्वरूप इस प्रकार है—तिरछे लोक में असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र हैं। उनमें मनुष्यों की आबादी सिर्फ ढाई द्वीप [जम्बू, धातकी और अर्ध पुष्कर] में ही है। इनके बीच में लवण और कालोदधि—ये दो समुद्र भी आ जाते हैं, बाकी के द्वीप-समुद्रों में न तो मनुष्य पैदा होते हैं और न सूर्य-चन्द्र की गति होती है, इसलिए ये ढाई द्वीप और दो समुद्र शेष द्वीप समुद्रों से विभक्त हो जाते हैं। इनको 'मनुष्य क्षेत्र' या 'समय-क्षेत्र' कहा जाता है। शेष इनसे व्यतिरिक्त हैं। उनमें सूर्य-चन्द्र हैं सही, पर वे चलते नहीं, स्थिर हैं। जहाँ सूर्य है वहाँ सूर्य और जहाँ चन्द्रमा है

वहाँ चन्द्रमा। इसलिए वहाँ समय का माप नहीं है। तिरछालोक असंख्य योजन का है, उसमें मनुष्य-लोक सिर्फ ४५ लाख योजन का है। पृथ्वी का इतना बड़ा रूप वर्तमान की साधारण दुनियां को भले ही एक कल्पना-सा लगे, किन्तु विज्ञान के विद्यार्थी के लिए कोई आश्चर्यजनक नहीं। वैज्ञानिको ने ग्रह, उपग्रह और ताराओ के रूप में असंख्य पृथ्वियां मानी हैं। वैज्ञानिक जगत् के अनुसार—"ज्येष्ठ तारा इतना बड़ा है कि उसमें हमारी वर्तमान दुनियां जैसी सात नील पृथ्वियां समा जाती हैं [११६]।" वर्तमान में उपलब्ध पृथ्वी के बारे में एक वैज्ञानिक ने लिखा है—"और तारो के सामने यह पृथ्वी एक धूल के कण के समान है [११७]। विज्ञान निहारिका की लम्बाई-चौड़ाई का जो वर्णन करता है, उसे पढ़कर कोई भी व्यक्ति आधुनिक या विज्ञानवादी होने के कारण ही प्राच्य वर्णनो को कपोल-कल्पित नहीं मान सकता।" नंगी आँखों से देखने से यह निहारिका शायद एक धुंधले विन्दु मात्र-सी दिखलाई पड़ेगी, किन्तु इसका आकार इतना बड़ा है कि हम बीस करोड़ मील व्यास वाले गोले की कल्पना करें, तब ऐसे दस लाख गोलों की लम्बाई-चौड़ाई का अनुमान करें—फिर भी उक्त निहारिका की लम्बाई-चौड़ाई के सामने उक्त अपरिमेय आकार भी तुच्छ होगा और इस ब्रह्माण्ड में ऐसी हजारों निहारिकाएं हैं। इससे भी बड़ी और इतनी दूरी पर हैं कि १ लाख ८६ हजार मील प्रति सेकेण्ड चलने वाले प्रकाश को वहाँ से पृथ्वी तक पहुँचने में १० से ३० लाख वर्ष तक लग सकते हैं [११८]। वैदिक शास्त्रों में भी इसी प्रकार अनेक द्वीप-समुद्र होने का उल्लेख मिलता है। जम्बूद्वीप, भरत आदि नाम भी समान ही हैं। आज की दुनियां एक अन्तर-खण्ड के रूप में है। इसका शेष दुनियां से सम्बन्ध जुड़ा हुआ नहीं दीखता। फिर भी दुनियां को इतना ही मानने का कोई कारण नहीं। आज तक हुई शोधों के इतिहास को जानने वाला इस परिणाम तक कैसे पहुँच सकता है कि दुनियां बस इतनी है और उसकी अन्तिम शोध हो चुकी है।

अलोक का आकाश अनन्त है। लोक का आकाश सीमित है [११९]। अलोक की तुलना में लोक एक छोटा-सा टुकड़ा है। अपनी सीमा में वह बहुत बड़ा है। पृथ्वी और उसके आश्रित जीव और अजीव आदि सारे द्रव्य

extending to Australia. The Professor mentioned, further an out the Gondwanaland theory, the ling fish, which can live out of water as well as in it, is found in fresh water only in South Africa and South America, the two species being almost indistinguishable. Dr. Du Joit (South Africa) declared that the former existance of Gondwanaland and was almost indisputable......

अर्थात् प्रो० वाटसन ने प्राणी-विज्ञान की अपेक्षा-दृष्टि से विवेचन करते हुए बतलाया कि इन द्वीप-महाद्वीपों में पाये जाने वाले कृमियों (Reptiles) में बड़ी भारी समानता है। उदाहरणस्वरूप कारू का विचित्र सांप दक्षिणी अमेरिका, मेडागास्कर (अफ्रिका का निकटवर्ती अन्तर द्वीप) हिन्दुस्थान और आस्ट्रेलिया में भी पाया जाता है। अत एव उन्होंने इन प्रमाणों द्वारा यह परिणाम निकाला कि दक्षिणी अमेरिका, अफ्रिका और सम्भवतः आस्ट्रेलिया तक फैला हुआ भूमध्य-रेखा के निकटवर्ती कोई महाद्वीप अवश्य था जो अब नहीं रहा। इसी के समर्थन में उन्होंने एक विशेष प्रकार की मछली का भी बयान किया जो जल के बाहर अथवा भीतर दोनों प्रकार जीवित रहती है। तत्पश्चात् दक्षिणी अफ्रिका के डा० डूरो ने अनेक प्रमाणों सहित इस बात को स्वीकार किया कि गौंडवाना लैंड की;स्थिति के सम्बन्ध में अब कोई विशेष मतभेद नहीं है।

समय-समय पर और भी अनेक परिवर्तन हुए हैं। यह दिखलाने के लिए "वीणा" वर्ष ३ अंक ४ में प्रकाशित एक लेख का कुछ अंश उद्धृत करते हैं जिसका हमारे वक्तव्य से विशेष सम्बन्ध है :—

"सन् १८१४ में 'अटलांटिक' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उसमें भारतवर्ष के चार चित्र बनाये गए हैं :—पहले नक्शे में ईशा के पूर्व १० लाख से ८ लाख वर्ष तक की स्थिति बताई गई है। उस समय भारत के उत्तर में समुद्र नहीं था। बहुत दूर अक्षांश ५५ तक धरातल ही था, उसके उपरान्त ध्रुव पर्यन्त समुद्र था। (अर्थात् नोरवे, स्वीडन आदि देश भी विद्यमान न थे)

दूसरा नक्शा ई० पू० ८ लाख से २ लाख वर्ष की स्थिति बतलाता है··· चीन, लाशा व हिमालय आदि सब उस समय समुद्र में थे···दक्षिण की ओर वर्तमान हिमालय की चोटी का प्रादुर्भाव हो गया था। उसे उस समय भारतीय लोग 'उत्तरगिरि' कहते थे···।

तीसरा चित्र ई० पू० २ लाख से ८० हजार वर्ष तक की स्थिति बतलाता है। इस काल में जैसे-जैसे समुद्र सूखता गया वैसे-वैसे इस पर हिमपात होता गया। जिसे आजकल हिमालय के नाम से पुकारा जाता है।

चौथा चित्र ई० पू० ८० हजार से ६५६४ वर्ष पर्यन्त की स्थिति को बतलाता है। इन वर्षों में समुद्र घटते-घटते पूर्व अक्षांश ७८.१२ व उत्तर अक्षांश ३८.५३ के प्रदेश में एक तालाब के रूप में बतलाया गया है।

इन उद्धरणो से स्पष्ट विदित है कि आधुनिक भूगोल की प्राचीन विवरण से तुलना करने में अनेक कठिनाइयों का सामना होना अवश्यंभावी है और सम्भवतः अनेक विषमताओं का कारण हो सकता है [१२०]।

दस करोड़ वर्ष पुराने कीड़े की खोज ने भू-भाग के परिवर्तन पर नया प्रकाश डाला है। भारतीय जन्तु-विद्यासमिति (जूलोजिकल सर्वे आफ इन्डिया) के भूतपूर्व डाइरेक्टर डा० बी० एन० चोपड़ा को बनारस के कुओं में एक आदिम युग के कीड़े का पता चला जिसके पुरखे करीब १० करोड़ वर्ष पहिले पृथ्वी पर वास करते थे। वह कीड़ा एक प्रकार के झींगे (केकड़े) की शक्ल का है। यह शीशे के समान पारदर्शी है, और इसके १०० पैर हैं। यह कीड़ा आकार में बहुत छोटा है।

भू-मण्डल निर्माण के इतिहास में करीब १० करोड़ वर्ष पूर्व (मेसोजोइक) काल में यह कीड़ा पृथ्वी पर पाया जाता था। अभी तक इस किस्म के कीड़े केवल आस्ट्रेलिया, टैसमिनिया, न्यूजीलैंड तथा दक्षिणी अफ्रिका में देखे जाते हैं।

इस कीड़े के भारतवर्ष में प्राप्त होने से भू-विज्ञान वेत्ताओं का यह अनुमान सत्य मालूम पड़ता है कि अत्यन्त पुरातन काल में एक समय भारत, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रिका, अमेरिका, टैसमिनिया, न्यूजीलैंड और एशिया का दक्षिणी भाग एक साथ मिले हुए थे।

बाबा आदम के जमाने का १० करोड़ वर्ष बूढ़ा यह कीड़ा पृथ्वी की सतह के नीचे के पानी में रहता है और वरसात के दिनो में कुओं में पानी अधिक होने से इनके बन्धुओं की संख्या अधिक दिखाई पड़ती है। बरसात में कुओं में यह कीड़े इतने बढ़ जाते हैं कि कोई भी इन्हें आसानी से देख सकता है। बनारस छावनी के 'केशर महल' में नहाने के लिए पानी कुएँ से मशीन से पम्प किया जाता था वहाँ गुसलखाने (स्नानागार) के नहाने के टबों में भी ये कीड़े काफी संख्या में उपस्थित पाये गए।

वह छोटा कीड़ा इस प्रकार सुन्दरता के साथ पृथ्वी के आदिम युग की कहानी और अमेरिका, आस्ट्रेलिया और भारत की प्राचीन एकता की कहानी भी बहुत पटु सुनाता है।

"ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत और सुदूर पूर्व के ये द्वीप-समूह किसी अतीत काल में अखण्ड और अविभक्त प्रदेश था [१२१]।"

भू-भाग के विविध परिवर्तनो को ध्यान में रखकर कुछ जैन मनीषियो ने आगमोक्त और वार्तमानिक भूगोल की संगति बिठाने का यत्न किया है। इसके लिए यशोविजयजी द्वारा सम्पादित संग्रहणी द्रष्टव्य है।

कुछ विद्वानों ने इसके बारे में निम्नप्रकार की संगति बिठाई है :—

भरत-क्षेत्र की सीमा पर जो हैमवत पर्वत है उससे महागंगा और महा-सिन्धु दो नदियां निकलकर भरत-क्षेत्र में बहती हुई लवण-समुद्र में गिरी है। जहाँ ये दोनों नदियां समुद्र में मिलती हैं वहाँ से लवण-समुद्र का पानी आकर भरत-क्षेत्र में भर गया है जो आज पांच महासागरो के नाम से पुकारा जाता है, तथा मध्य में अनेक द्वीप से बन गए हैं जो एशिया, अमेरिका आदि कहलाते हैं। इस प्रकार आज कल जितनी पृथ्वी जानने में आई है, वह सब भरत-क्षेत्र में है।

ऊपर के कथन से यह बात अच्छी तरह समझ में आ जाती है कि पृथ्वी इतनी बड़ी है कि इसमें एक-एक सूर्य-चन्द्रमा से काम नहीं चल सकता। केवल जम्बूद्वीप में ही दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं [१२२]। कुछ दिन पहले जापान के किसी विज्ञान-वेत्ता ने भी यही बात प्रगट की कि जब भरत और ऐरावत में दिन रहता है तब विदेहों में रात होती है। इस हिसाब से समस्त

भरत-क्षेत्र में एक साथ ही सूर्य दिखाई देना चाहिए और अमेरिका, एशिया में जो रात-दिन का अन्तर है वह नहीं होना चाहिए। परन्तु भरत-क्षेत्र के अन्तर्गत आर्य-क्षेत्र के मध्य की भूमि बहुत ऊँची हो गई है जिससे एक ओर का सूर्य दूसरी ओर दिखाई नहीं देता। वह ऊँचाई की आड में आ जाता है। और इसलिए उधर जाने वाले चन्द्रमा की किरणें वहाँ पर पड़ती हैं। ऐसा होने से एक ही भरत-क्षेत्र में रात-दिन का अन्तर पड़ जाता है। इस आर्य-क्षेत्र के मध्य-भाग के ऊँचे होने से ही पृथ्वी गोल जान पड़ती है। उस पर चारों ओर उपसमुद्र का पानी फैला हुआ है और बीच में द्वीप पड़ गए हैं। इसलिए चाहे जिधर से जाने में भी जहाज नियत स्थान पर पहुंच जाते हैं। सूर्य और चन्द्रमा दोनों ही लगभग जम्बूद्वीप के किनारे-किनारे मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए घूमते हैं और छह-छह महीने तक उत्तरायण-दक्षिणायन होते रहते हैं। इस आर्य-क्षेत्र की ऊँचाई में भी कोई-कोई मीलो लम्बे-चौड़े स्थान बहुत नीचे रह गए हैं कि जब सूर्य उत्तरायण होता है तभी उन पर प्रकाश पड़ सकता है। तथा वे स्थान ऐसी जगह पर हैं कि जहाँ पर दोनों सूर्यों का प्रकाश पड़ सकता है तथा दक्षिणायन के समय सतत् अन्धकार रहता है।—

जैन-दृष्टि के अनुसार पृथ्वी चिपटी है। पृथ्वी के आकार के बारे में विज्ञान का मत अभी स्थिर नहीं है। पृथ्वी को कोई नारंगी की भांति गोलाकार, कोई लौकी के आकार वाली[123] और कोई पृथिव्याकार मानते हैं[124]।

विलियम एडगल ने इसे चिपटा माना है। वे कहते हैं—हरएक किन्तु सभी मानते हैं कि पृथ्वी गोल है,[125] किन्तु रूस की लेनिनग्राड-कार्टोग्राफी संख्या के प्रमुख प्रोफेसर 'इसाकोम' ने अपनी राय में जाहिर किया है कि—"भू मध्य रेखा एक वृत्त नहीं किन्तु तीन धुरियों की एक 'इलिप्स' है।"

"पृथ्वी चिपटी है इसे प्रमाणित करने के लिए, अनेक मनुष्यों ने धन [illegible] दिये, किन्तु बहुत थोड़ों ने 'सोमरसेट' के रहने वाले 'विलियम एडगल' के जितना साहस दिखाया था। [illegible] उसने रात्रि के समय आकाश की [illegible] के लिए, [illegible] कुर्सी पर ही रातें बिताईं। [illegible] गाड़ा जो कि ध्रुव तारे की [illegible]

सकता था। उस उत्साही निरीक्षक ने शेष में इस सिद्धान्त का अन्वेषण किया कि पृथ्वी थाली के आकार-चपटी है जिसके चारो तरफ सूर्य उत्तर से दक्षिण की तरफ घूमता है। उसने यह भी प्रगट किया कि ध्रुव ५०० माइल दूर है और सूर्य का व्यास १० माइल है।"

जैन-दृष्टि से पृथ्वी को चिपटा माना गया है—यह समग्रता की दृष्टि से है। विशाल भूमि के मध्यवर्ती बहुत सारे भूखण्ड वर्तुलाकार भी मिल सकते हैं। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार लङ्का से पश्चिम की ओर आठ योजन नीचे पाताल लङ्का है[१२६]।

काल-परिवर्तन के साथ-साथ भरत व ऐरावत के क्षेत्र की भूमि में ह्रास होता है—"भरतैरावतयो वृ'द्धिह्रासौ···तत्त्वार्थ ३।२८ ताभ्यामपरा भूमयोपस्थिता···३।२६ श्लोक वार्तिककार विद्यानन्द स्वामी ने—तात्स्थ्यात् तच्छब्दासिद्धे भरतैरावतयो वृ'द्धिह्रासयोगः, अधिकरणनिर्देशो वा"—तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक ३।२८ टीका पृ० ३५४ त्रिलोकसार में प्रलय के समय पृथ्वी को १ योजन विध्वस्त होना माना है—"तेहिंतो सेसजणा, नस्संति विसग्गिवरिस-दड्ढमही।

इगि जोयण मेत्त मधो, चुण्णी किज्जदिहु कालवसा।

(ति० ८६७)

इसका तात्पर्य यह है कि भोग-भूमि के प्रारम्भ से ही मूल जम्बूद्वीप के समतल पर 'मलवा' लदता चला आ रहा है, जिसकी ऊंचाई अति दुषमा के अन्त में पूरी एक योजन हो जाती है। वही 'मलवा' प्रलयकाल में साफ हो जाता है और पूर्व वाला समतल भाग ही निकल आता है। इस बढ़े हुए 'मलवे' के कारण ही भूगोल मानी जाने लगी है। अनेक देश नीचे और ऊपर विषम-स्थिति में आ गए हैं। इस प्रकार वर्तमान की मानी जाने वाली भूगोल के भी जैनशास्त्रानुसार अर्ध-मलवा या आंशिक-मलवा सिद्ध हो जाती है एवं समतल की प्रदक्षिणा रूप अर्ध नारंगी के समान गोलाई भी सिद्ध हो जाती है।

चर-अचर :—

जैन-दृष्टि के अनुसार पृथ्वी स्थिर है। वर्तमान के भूगोल-वेत्ता पृथ्वी को

चर मानते हैं। यह मत-द्वैध बहुत दिनों तक विवाद का स्थल बना रहा। आइंस्टीन ने इसका भाग्य पलट दिया।

"क्या पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है या स्थिर है" ? सापेक्षवाद के अनुसार कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। हम Denton की पुस्तक Relativity से कुछ यहाँ भावार्थ उपस्थित करते हैं :—

"सूर्य-मंडल के भिन्न-भिन्न ग्रहों में जो आपेक्षिक गति है उसका समाधान पुराने 'अचल पृथ्वी' के आधार पर भी किया जा सकता है और 'कोपर निकस' के उस नए सिद्धान्त के अनुसार जिसमें पृथ्वी को चलती हुई माना जाता है। दोनों ही सिद्धान्त सही हैं और जो कुछ खगोल में हो रहा है उसका ठीक-ठीक विवरण देते हैं। किन्तु पृथ्वी को स्थिर मान लेने पर गणित की दृष्टि से कई कठिनाइयां उत्पन्न होती हैं। सूर्य और चन्द्रमा की कक्षा से तो अवश्य गोलाकार रहती है, किन्तु सूर्य से अन्य ग्रहों का मार्ग बड़ा जटिल हो जाता है जिसका सरलता से हिसाब नहीं लगाया जा सकता (इस हिसाब को जैनाचार्यों ने बड़ी सुगमता से लगाया है जिसे देखकर जर्मनी के बड़े-बड़े विद्वान् Gr. D. C Schubieng प्रभृति शत् मुख से प्रशंसा करते हैं) किन्तु सूर्य को स्थिर मान लेने पर सब ग्रहों की कक्षा गोलाकार रहती है। जिसकी गणना बड़ी सुगमता से हो सकती है।"

आइन्स्टीन के अनुसार विज्ञान का कोई भी प्रयोग इस विषय के निश्चयात्मक सत्य का पता नहीं लगा सकते [१२७]।

"सूर्य चलता हो अथवा पृथ्वी चलती हो किसी को भी चलायमान मानने से गणित में कोई त्रुटि नहीं आएगी [१२८]।"

सृष्टिवाद

सापेक्ष दृष्टि के अनुसार विश्व अनादि-अनन्त और सादि-सान्त जो है, द्रव्य की अपेक्षा अनादि अनन्त है, पर्याय की अपेक्षा सादि सान्त। लोक में दो द्रव्य हैं—चेतन और अचेतन। दोनों अनादि हैं, शाश्वत हैं। इनका पौर्वापर्य (अनुक्रम-आनुपूर्वी।) सम्बन्ध नहीं है। पहले जीव और बाद में अजीव अथवा पहले अजीव और बाद में जीव—ऐसा सम्बन्ध नहीं होता। अण्डा मुर्गी से पैदा होता है और मुर्गी अण्डे से पैदा होती है। बीज वृक्ष से

पैदा होता है और वृक्ष बीज से पैदा होता है—ये प्रथम भी हैं और पश्चात् भी। अनुक्रम सम्बन्ध से रहित शाश्वतभाव है। इनका प्राथम्य और पाश्चात्य भाव नहीं निकाला जा सकता। यह ध्रुव अंश की चर्चा है। परिणमन की दृष्टि से जगत् परिवर्तनशील है। परिवर्तन स्वाभाविक भी होता है और वैभाविक भी। स्वाभाविक परिवर्तन सब पदार्थों में प्रतिक्षण होता है। वैभाविक परिवर्तन कर्म-बद्ध-जीव और पुद्गल-स्कन्धों में ही होता है। हमारा दृश्य जगत् वही है।

विश्व को सादि-सान्त मानने वाले भूतवादी या जड़ाद्वैतवादी दर्शन सृष्टि और प्रलय को स्वीकार करते हैं, इसलिए उन्हें विश्व के आदि कारण की अपेक्षा होती है। इनके अनुसार चैतन्य की उत्पत्ति जड़ से हुई है। जड़-चैतन्याद्वैतवादी कहते हैं—"जगत् की उत्पत्ति जड़ और चैतन्य—इन दोनों गुणों के मिश्रित पदार्थ से हुई है।

विश्व को अनादि अनन्त मानने वाले अधिकांश दर्शन भी सृष्टि और प्रलय को या परिवर्तन को स्वीकार करते हैं। इसलिए उन्हें भी विश्व के आदि कारण की मीमांसा करनी पड़ी। अद्वैतवाद के अनुसार विश्व का आदि कारण ब्रह्म है। इस प्रकार अद्वैतवाद की तीन शाखाएं बन जाती हैं—(१) जड़ाद्वैतवाद (२) जड़चैतन्याद्वैतवाद (३) चैतन्याद्वैतवाद।
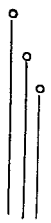
जड़ाद्वैतवाद और चैतन्याद्वैतवाद—ये दोनों "कारण के अनुरूप कार्य होता है"—इस तथ्य को स्वीकार नहीं करते। पहले में जड़ से चैतन्य, दूसरे में चैतन्य से जड़ की उत्पत्ति मान्य है।

द्वैतवादी दर्शन जड़ और चैतन्य दोनों का अस्तित्व स्वतन्त्र मानते हैं। इनके अनुसार जड़ से चैतन्य या चैतन्य से जड़ उत्पन्न नहीं होता। कारण के अनुरूप ही कार्य उत्पन्न होने के तथ्य को ये स्वीकार करते हैं। इस अभिमत के अनुसार जड़ और चैतन्य के संयोग का नाम सृष्टि है।

नैयायिक, वैशेषिक और मीमांसक दर्शन सृष्टि-पक्ष में आरम्भवादी हैं [१२९]। सांख्य और योग परिणामवादी हैं [१३०]। जैन और बौद्ध दर्शन सृष्टिवादी नहीं, परिवर्तनवादी हैं [१३१]। जैन-दृष्टि के अनुसार विश्व एक शिल्प-गृह है। उसकी व्यवस्था स्वयं उसीमें समाविष्ट नियमों के द्वारा होती है। नियम वह पद्धति

है जो चेतन और अचेतन-पुद्गल के विविध जातीय संयोग से स्वयं प्रगट होती है।

नं०	वाद	दृश्य जगत् का कारण क्या है ?
१	जड़ाद्वैतवाद	जड़पदार्थ
२	जड़ चैतन्याद्वैतवाद	जड़-चैतन्ययुक्त पदार्थ
३	चैतन्याद्वैतवाद (विवर्त्तवाद) [१३२]	ब्रह्म
४	आरम्भवाद	परमाणु-क्रिया
५	परिणामवाद	प्रकृति
६	प्रतीत्यसमुत्पादवाद	अव्याकृत (कहा नहीं जा सकता)
७	सापेक्ष-सादि-सान्तवाद	जीव और पुद्गल की वैभाविक पर्याय।

चौथा खण्ड

आचार मीमांसा

सम्यग् दर्शन और पुञ्ज
मिश्र-पुञ्ज संक्रम
व्यावहारिक सम्यग् दर्शन
सम्यग्दर्शी का संकल्प
व्यावहारिक सम्यग्-दर्शन की स्वीकार-विधि।
आचार और अतिचार
पाच अतिचार
सम्यग्-दर्शन की व्यावहारिक पहचान
पांच लक्षण
सम्यग्-दर्शन का फल
महत्त्व
ध्रुवसत्य
असंभाव्य कार्य
चार सिद्धान्त
सत्य क्या है ?
साध्य-सत्य

शील और श्रुत

एक समय भगवान् राजगृह में समवसृत थे। गौतम स्वामी आए। भगवान् को वंदना कर बोले—भगवन्! कई अन्य यूथिक कहते हैं—शील ही श्रेय है, कई कहते हैं श्रुत ही श्रेय है, कई कहते हैं शील श्रेय है और श्रुत भी श्रेय है, कई कहते हैं श्रुत श्रेय है और शील भी श्रेय है; इनमें कौनसा अभिमत ठीक है भगवन्?

भगवान् बोले—गौतम! अन्य-यूथिक जो कहते हैं, वह मिथ्या (एकान्त अपूर्ण) है। मैं यूं कहता हूँ—प्ररूपणा करता हूँ—

चार प्रकार के पुरुष-जात होते हैं—

१—शीलसम्पन्न, श्रुतसम्पन्न नहीं।

२—श्रुतसम्पन्न, शीलसम्पन्न नहीं।

३—शीलसम्पन्न और श्रुतसम्पन्न।

४—न शीलसम्पन्न और न श्रुतसम्पन्न।

पहला पुरुष-जात शीलसम्पन्न है—उपरत (पाप से निवृत्त) है, किन्तु अश्रुतवान् है—अविज्ञातधर्मा है, इसलिए वह मोक्ष मार्ग का देश-आराधक है[1]।

दूसरा श्रुत-सम्पन्न है—विज्ञातधर्मा है, किन्तु शील सम्पन्न नहीं—उपरत नहीं, इसलिए वह देशविराधक है[2]।

तीसरा शीलवान् भी है (उपरत भी है), श्रुतवान् भी है (विज्ञातधर्मा भी है), इसलिए वह सर्व-आराधक है।

चौथा शीलवान् भी नहीं है (उपरत भी नहीं है), श्रुतवान् भी नहीं है (विज्ञातधर्मा भी नहीं है), इसलिए वह सर्व विराधक है[3]।

इसमें भगवान् ने बताया कि कोरा ज्ञान श्रेयस् की एकांगी आराधना है। कोरा शील भी वैसा ही है। ज्ञान और शील दोनों नहीं, वह श्रेयस् की विराधना है; आराधना है ही नहीं। ज्ञान और शील दोनों की संगति ही श्रेयस् की सर्वांगीण आराधना है[4]।

आराधना या मोक्ष-मार्ग

बन्धन से मुक्ति की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, बाह्य-दर्शन से अन्तर-दर्शन की ओर जो गति है, वह आराधना है। उसके तीन प्रकार हैं[५]—
(१) ज्ञान-आराधना (२) दर्शन-आराधना (३) चरित्र-आराधना, इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार होते हैं—

(१) ज्ञान-आराधना—उत्कृष्ट (प्रकृष्ट प्रयत्न) मध्यम (मध्यम प्रयत्न) जघन्य (अल्पतम प्रयत्न)

(२) दर्शन-आराधना— ,, ,, ,,

(३) चरित्र-आराधना—,, ,, ,,

आत्मा की योग्यता विविधरूप होती है। अत एव तीनों आराधनाओं का प्रयत्न भी सम नहीं होता। उनका तरतमभाव निम्न यंत्र से देखिए—

	ज्ञान का उत्कृष्ट प्रयत्न	ज्ञान का मध्यम प्रयत्न	ज्ञान का अल्पतम प्रयत्न	दर्शन का उत्कृष्ट प्रयत्न	दर्शन का मध्यम प्रयत्न	दर्शन का अल्पतम प्रयत्न	चरित्र का उत्कृष्ट प्रयत्न	चरित्र का मध्यम प्रयत्न	चरित्र का अल्पतम प्रयत्न
ज्ञान के उत्कृष्ट प्रयत्न में				है	है		है	है	
दर्शन के उत्कृष्ट प्रयत्न में	है	है	है				है	है	है
चरित्र के उत्कृष्ट प्रयत्न में	है	है	है	है					

यह आन्तरिक वृत्तियो का बड़ा ही सुन्दर और सूक्ष्म विश्लेषण है। श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र के तारतम्य को समझने की यह पूर्ण दृष्टि है।

धर्म

श्रेयस् की साधना ही धर्म है। साधना ही चरम रूप तक पहुँच कर सिद्धि बन जाती है। श्रेयस् का अर्थ है—आत्मा का पूर्ण-विकास या चैतन्य का निर्द्वन्द्व प्रकाश। चैतन्य सब उपाधियो से मुक्त हो चैतन्यस्वरूप हो जाए, उसका नाम श्रेयस् है। श्रेयस् की साधना भी चैतन्य की आराधनामय है, इसलिए वह भी श्रेयस् है। उसके दो, तीन, चार और दस; इस प्रकार अनेक अपेक्षाओ से अनेक रूप बतलाए हैं। पर वह सब विस्तार है। संक्षेप में आत्मरमण ही धर्म है। वास्तविकता की दृष्टि (वस्तुस्वरूप के निर्णय की दृष्टि) से हमारी गति संक्षेप की ओर होती है। पर यह साधारण जनता के लिए बुद्धि-गम्य नहीं होता, तब फिर संक्षेप से विस्तार की ओर गति होती है। ज्ञानमय और चरित्रमय आत्मा ही धर्म है। इस प्रकार धर्म दो रूपो में बंट जाता है—ज्ञान और चरित्र [१]।

ज्ञान के दो पहलू होते हैं—रुचि और जानकारी। सत्य की रुचि हो तभी सत्य का ज्ञान और सत्य का ज्ञान हो तभी उसका स्वीकरण हो सकता है।

इस दृष्टि से धर्म के तीन रूप बन जाते हैं—(१) रुचि, (श्रद्धा या दर्शन) (२) ज्ञान (३) चरित्र।

चरित्र के दो प्रकार हैं :—

(१) संवर (क्रियानिरोध या अक्रिया)

(२) तपस्या या निर्जरा (अक्रिया द्वारा क्रिया का विशोधन) इस दृष्टि से धर्म के चार प्रकार बन जाते हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप।

चारित्र-धर्म के दस प्रकार भी होते हैं—

(१) क्षमा
(२) मुक्ति
(३) आर्जव
(४) मार्दव
(५) लाघव
(६) सत्य
(७) संयम
(८) त्याग
(९) धर्म-दान
(१०) ब्रह्मचर्य

इनमें सर्वाधिक प्रयोजकता रत्न-त्रयी—ज्ञान, दर्शन (श्रद्धा या

आराधना या मोक्ष-मार्ग

बन्धन से मुक्ति की ओर, शरीर से अ
अन्तर-दर्शन की ओर जो गति है, वह आराध
(१) ज्ञान-आराधना (२) दर्शन-आराधना
से प्रत्येक के तीन-तीन प्रकार होते हैं—

(१) ज्ञान-आराधना—उत्कृष्ट (प्रकृष्ट प्र
जघन्य (अल्पतम प्रयत्न)

(२) दर्शन-आराधना— ,, ,,

(३) चरित्र-आराधना—,, ,,

आत्मा की योग्यता विविधरूप होती है।
का प्रयत्न भी सम नहीं होता। उनका तरतमभा

	ज्ञान का उत्कृष्ट प्रयत्न	ज्ञान का मध्यम प्रयत्न	ज्ञान का अल्पतम प्रयत्न	दर्शन का उत्कृष्ट प्रयत्न	दर्शन का मध्यम प्रयत्न	द अ प्र
ज्ञान के उत्कृष्ट प्रयत्न में				है	है	
दर्शन के उत्कृष्ट प्रयत्न में	है	है	है			
चरित्र के उत्कृष्ट प्रयत्न में	है	है	है	है		

दशा को विपरीत दृष्टि से देखता है। तीसरा उसे अविपरीत दृष्टि से देखता है। पहला स्थूल-दर्शन है, दूसरा बहि-र्दर्शन और तीसरा अन्तर्-दर्शन। स्थूल-दर्शन जगत् का व्यवहार है, केवल वस्तु की ज्ञेय दशा से सम्बन्धित है। अगले दोनों का आधार मुख्यवृत्त्या वस्तु की हेय और उपादेय दशा है। अन्तर्-दर्शन मोह के पुद्गलों से ढका होता है। तब (सही नहीं होता इसलिए) वह मिथ्या-दर्शन (विपरीत दर्शन) कहलाता है। तीव्र कषाय के (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्व-मोह, मिथ्यात्व-मोह और सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-मोह के पुद्गल-विजातीय द्रव्य का विपाक) उदय रहते हुए अन्तर्-दर्शन सम्यक् नहीं बनता, आग्रह या आवेश नहीं छूटता। इस विजातीय द्रव्य के दूर हो जाने पर आत्मा में एक प्रकार का शुद्ध परिणमन पैदा होता है। उसकी संज्ञा 'सम्यक्त्व' है। यह अन्तर्-दर्शन का कारण है। वस्तु को जान लेना मात्र अन्तर्-दर्शन नहीं, वह आत्मिक शुद्धि की अभिव्यक्ति है। यही सम्यक्-दर्शन (यथार्थ-दर्शन)—अविपरीत-दर्शन, सही दृष्टि, सत्य रुचि, सत्याभिमुखता, अन्-अभिनिवेश, तत्त्व-श्रद्धा, यथावस्थित वस्तु परिज्ञान है। सम्यक्त्व और सम्यग्-दर्शन में कार्य-कारणभाव है। सत्य के प्रति आस्था होने की क्षमता को मोह परमाणु विकृत न कर सकें, उतनी प्रतिरोधात्मक शक्ति जो है, वह 'सम्यक्त्व' है। यह केवल आत्मिक स्थिति है। सम्यग्-दर्शन इसका ज्ञान-सापेक्ष परिणाम है। उपचार-दृष्टि से सम्यग्-दर्शन को भी सम्यक्त्व कहा जाता है [१]।

मिथ्या दर्शन और सम्यग् दर्शन

मिथ्यात्व का अभिव्यक्त रूप तत्त्व-श्रद्धा का विपर्यय और सम्यक्त्व का अभिव्यक्त रूप तत्त्व-श्रद्धा का अविपर्यय है।

विपरीत तत्त्व-श्रद्धा के दस रूप बनते हैं :—

१—अधर्म में धर्म संज्ञा।

२—धर्म में अधर्म संज्ञा।

३—अमार्ग में मार्ग संज्ञा।

४—मार्ग में अमार्ग संज्ञा।

५—अजीव में जीव संज्ञा।

और चरित्र की है। इस त्रयात्मक श्रेयोमार्ग (मोक्ष-मार्ग) की आराधना करने वाला ही सर्वाराधक या मोक्ष-गामी है।

सम्यक् संप्रयोग

ज्ञान, दर्शन और चरित्र का त्रिवेणी-संगम प्राणीमात्र में होता है। पर उससे साध्य सिद्ध नहीं बनता। साध्य-सिद्धि के लिए केवल त्रिवेणी का संगम ही पर्याप्त नहीं है। पर्याप्ति (पूर्णता) का दूसरा पण (शर्त) है यथार्थता। ये तीनों यथार्थ (तथाभूत) और अयथार्थ (अतथाभूत) दोनों प्रकार के होते हैं। श्रेयस्-साधना की समग्रता अयथार्थ ज्ञान, दर्शन, चरित्र से नहीं होती। इसलिए इनके पीछे सम्यक् शब्द और जोड़ा गया। सम्यग्-ज्ञान, सम्यग्-दर्शन और सम्यग्-चरित्र—मोक्ष-मार्ग है [७]।

पौर्वापर्य

साधना और पूर्णता (स्वरूप-विकास के उत्कर्ष) की दृष्टि से सम्यग्-दर्शन का स्थान पहला है, सम्यग्-ज्ञान का दूसरा और सम्यग्-चरित्र का तीसरा है।

साधना-क्रम

दर्शन के बिना ज्ञान, ज्ञान के बिना चरित्र, चरित्र के बिना कर्म-मोक्ष और कर्म-मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता [८]।

स्वरूप-विकास-क्रम

सम्यग्-दर्शन का पूर्ण विकास 'चतुर्थ गुण-स्थान' (आरोह क्रम की पहली भूमिका) में भी हो सकता है। अगर यहाँ न हो तो बारहवें गुणस्थान (आरोह क्रम की आठवीं भूमिका—क्षीणमोह) की प्राप्ति से पहले तो हो ही जाता है।

सम्यग् ज्ञान का पूर्ण विकास तेरहवें और सम्यक् चरित्र का पूर्ण विकास चौदहवें गुणस्थान में होता है। ये तीनों पूर्ण होते हैं और साध्य मिल जाता है—आत्मा कर्ममुक्त हो परम-आत्मा बन जाता है।

सम्यक्त्व

एक चक्षुष्मान् वह होता है, जो रूप और संस्थान को ज्ञेय दृष्टि से देखता है। दूसरा चक्षुष्मान् वह होता है, जो वस्तु को ज्ञेय, हेय और उपादेय

दशा को विपरीत दृष्टि से देखता है। तीसरा उसे अविपरीत दृष्टि से देखता है। पहला स्थूल-दर्शन है, दूसरा बहि-र्दर्शन और तीसरा अन्तर्-दर्शन। स्थूल-दर्शन जगत् का व्यवहार है, केवल वस्तु की ज्ञेय दशा से सम्बन्धित है। अगले दोनों का आधार मुख्यवृत्त्या वस्तु की हेय और उपादेय दशा है। अन्तर्-दर्शन मोह के पुद्गलों से ढका होता है। तब (सही नहीं होता इसलिए) वह मिथ्या-दर्शन (विपरीत दर्शन) कहलाता है। तीव्र कषाय के (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्व-मोह, मिथ्यात्व-मोह और सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-मोह के पुद्गल-विजातीय द्रव्य का विपाक) उदय रहते हुए अन्तर्-दर्शन सम्यक् नहीं बनता, आग्रह या आवेश नहीं छूटता। इस विजातीय द्रव्य के दूर हो जाने पर आत्मा में एक प्रकार का शुद्ध परिणमन पैदा होता है। उसकी संज्ञा 'सम्यक्त्व' है। यह अन्तर्-दर्शन का कारण है। वस्तु को जान लेना मात्र अन्तर्-दर्शन नहीं, वह आत्मिक शुद्धि की अभिव्यक्ति है। यही सम्यक्-दर्शन (यथार्थ-दर्शन)—अविपरीत-दर्शन, सही दृष्टि, सत्य रुचि, सत्याभिमुखता, अन्-अभिनिवेश, तत्त्व-श्रद्धा, यथावस्थित वस्तु परिज्ञान है। सम्यक्त्व और सम्यग्-दर्शन में कार्य-कारणभाव है। सत्य के प्रति आस्था होने की क्षमता को मोह परमाणु विकृत न कर सकें, उतनी प्रतिरोधात्मक शक्ति जो है, वह 'सम्यक्त्व' है। यह केवल आत्मिक स्थिति है। सम्यग्-दर्शन इसका ज्ञान-सापेक्ष परिणाम है। उपचार-दृष्टि से सम्यग्-दर्शन को भी सम्यक्त्व कहा जाता है[१]।

मिथ्या दर्शन और सम्यग् दर्शन

मिथ्यात्व का अभिव्यक्त रूप तत्त्व-श्रद्धा का विपर्यय और सम्यक्त्व का अभिव्यक्त रूप तत्त्व-श्रद्धा का अविपर्यय है।

विपरीत तत्त्व-श्रद्धा के दस रूप बनते हैं :—

१—अधर्म में धर्म संज्ञा।

२—धर्म में अधर्म संज्ञा।

३—अमार्ग में मार्ग संज्ञा।

४—मार्ग में अमार्ग संज्ञा।

५—अजीव में जीव संज्ञा।

६—जीव में अजीव संज्ञा।
७—असाधु में साधु संज्ञा।
८—साधु में असाधु संज्ञा।
९—अमुक्त में मुक्त संज्ञा।
१०—मुक्त में अमुक्त संज्ञा।

इसी प्रकार सम्यक्-तत्व-श्रद्धा के भी दस रूप बनते हैं :—

१—अधर्म में अधर्म संज्ञा।
२—धर्म में धर्म संज्ञा।
३—अमार्ग में अमार्ग संज्ञा।
४—मार्ग में मार्ग संज्ञा।
५—अजीव में अजीव संज्ञा।
६—जीव में जीव संज्ञा
७—असाधु में असाधु संज्ञा।
८—साधु में साधु संज्ञा।
९—अमुक्त में अमुक्त संज्ञा।
१०—मुक्त में मुक्त संज्ञा।

यह साधक, साधना और साध्य का विवेक है। जीव-अजीव की यथार्थ श्रद्धा के बिना साध्य की जिज्ञासा ही नहीं होती। आत्मवादी ही परमात्मा बनने का प्रयत्न करेगा, अनात्मवादी नहीं। इस दृष्टि से जीव अजीव का संज्ञान साध्य के आधार का विवेक है। साधु-असाधु का संज्ञान साधक की दशा का विवेक है। धर्म, अधर्म, मार्ग, अमार्ग का संज्ञान साधना का विवेक है। मुक्त, अमुक्त का संज्ञान साध्य-असाध्य का विवेक है।

ज्ञान और सम्यग् दर्शन का भेद

सम्यग्-दर्शन-तत्त्व-रुचि है और सम्यग्-ज्ञान उसका कारण है[१०]। पदार्थ-विज्ञान तत्त्व-रुचि के बिना भी हो सकता है, मोह-दशा में हो सकता है, किन्तु तत्त्व-रुचि मोह-परमाणुओं की तीव्र परिपाक-दशा में नहीं होती।

तत्त्व रुचि का अर्थ है आत्माभिमुखता, आत्म-विनिश्चय अथवा आत्म-विनिश्चय का प्रयोजक पदार्थ-विज्ञान।

ज्ञान-शक्ति आत्मा की अनावरण-दशा का परिणाम है। इसलिए वह सिर्फ पदार्थाभिमुखी या ज्ञेयाभिमुखी वृत्ति है। दर्शन-शक्ति अनावरण और अमोह दोनो का संयुक्त परिणाम है। इसलिए वह साध्याभिमुखी या आत्माभिमुखी वृत्ति है।

दर्शन के प्रकार

एकविध दर्शन—

सामान्यवृत्त्या दर्शन एक है [११]। आत्मा का जो तत्त्व श्रद्धात्मक परिणाम है, वह दर्शन (दृष्टि, रुचि, अभिप्रीति, श्रद्धा) है। उपाधि-भेद से वह अनेक प्रकार का होता है। फिर भी सब में श्रद्धा की व्याप्ति समान होती है। इसलिए निरुपाधिक वृत्ति या श्रद्धा की अपेक्षा वह एक है। एक समय में एक व्यक्ति को एक ही कोटी की श्रद्धा होती है। इस दृष्टि से भी वह एक है।

त्रिविध दर्शन :—

श्रद्धा का सामान्य रूप एक है—यह अभेद-बुद्धि है, श्रद्धा का सामान्य निरूपण है। व्यवहार जगत् में वह एक नहीं है। वह सही भी होती है और गलत भी। इसलिए वह द्विरूप है—(१) सम्यग्-दर्शन (२) मिथ्या-दर्शन [१२]। ये दोनों भेद तत्त्वोपाधिक हैं। श्रद्धा अपने आपमें सत्य या असत्य नहीं होती। तत्त्व भी अपने आपमें सत्य-असत्य का विकल्प नहीं रखता। तत्त्व और श्रद्धा का सम्बन्ध होता है तब 'तत्त्व श्रद्धा' ऐसा प्रयोग बनता है। तब यह विकल्प खड़ा होता है—श्रद्धा सत्य है या असत्य ? यही श्रद्धा की द्विरूपता का आधार है। तत्त्व की यथार्थता का दर्शन या दृष्टि है अथवा तत्त्व की यथार्थता में जो रुचि या विश्वास है, वह श्रद्धा सम्यक् है। तत्त्व का अयथार्थ दर्शन, अयथार्थ रुचि या प्रतीति है, वह श्रद्धा मिथ्या है। तत्त्व-दर्शन का तीसरा प्रकार यथार्थता और अयथार्थता के बीच का होता है। तत्त्व का अमुक स्वरूप यथार्थ है और अमुक नहीं—ऐसी दोलायमान वृत्ति वाली श्रद्धा सम्यग् मिथ्या है। इसमें यथार्थता और अयथार्थता दोनों का स्पर्श होता है, किन्तु निर्णय किसी का भी नहीं जमता। इसलिए यह मिश्र है। इस प्रकार तत्त्वोपाधिकता से श्रद्धा के तीन रूप बनते हैं—(१) सम्यक्-दर्शन (सम्यक्त्व) (२) मिथ्या-दर्शन) (मिथ्यात्व) (३) सम्यक्-मिथ्या-दर्शन (सम्यक्त्व-मिथ्यात्व)।

पंचविध दर्शन—
(१) औपशमिक
(२) क्षायोपशमिक
(३) क्षायिक
(४) सास्वादन
(५) वेदक

आत्मा पर आठ प्रकार के सूक्ष्मतम विजातीय द्रव्यों (पुद्गल वर्गणाओं) का मलावलेप लगा रहता है [१३]। उनमें कोई आत्म-शक्ति के आवारक हैं, कोई विकारक, कोई निरोधक और कोई पुद्गल-संयोगकारक। चतुर्थ प्रकार का विजातीय द्रव्य आत्मा को मूढ़ बनाता है, इसलिए उसकी संज्ञा 'मोह' है। मूढ़ता दो प्रकार की होती है—(१) तत्त्व-मूढ़ता (२) चरित्र-मूढ़ता [१४]। तत्त्व-मूढ़ता पैदा करने वाले सम्मोहक परमाणुओं की संज्ञा दर्शन-मोह है [१५]। वे विकारी होते हैं, तब सम्यक्-मिथ्यात्व (संशयशील दशा) प्रगट होता है [१६]। उनके अविकारी बन [१७] जाने पर सम्यक्त्व प्रगट होता है [१८]। उनका पूर्ण शमन हो जाने पर विशुद्धतर स्वल्पकालिक-सम्यक्त्व प्रगट होता है [१९]। उनका पूर्ण क्षय (आत्मा से सर्वथा विसम्बन्ध या वियोग) होने से विशुद्धतम और शाश्वतिक-सम्यक्त्व प्रगट होता है [२०]। यही सम्यक्त्व का मौलिक रूप है। पूर्व रूपों की तुलना में इसे सम्यक्त्व का पूर्ण विकास या पूर्णता भी कहा जा सकता है। इस सम्मोहन पैदा करने वाले विजातीय द्रव्यों (पुद्गलों) का स्वीकरण या अविशोधन, अर्ध-शुद्धीकरण, विशुद्धीकरण, उपशमन और विलयन—ये सब आत्मा के अशुद्ध और शुद्ध प्रयत्न के द्वारा होते हैं। इनके स्वीकरण या अविशोधन के हेतुओं की जानकारी के लिए कर्म-बन्ध के कारण सास्वादन-अपक्रान्तिकालीन सम्यक्-दर्शन होता है [२१]। वेदक-दर्शन-सम्मोहक परमाणुओं के क्षीण होने का पहला समय जो है, वह वेदक-सम्यग्-दर्शन है। इस काल में उन परमाणुओं का एकबारगी वेद होता है। उसके बाद वे सब आत्मा से विलग हो जाते हैं। यह आत्मा की दर्शन-मोह-मुक्ति-दशा (क्षायिक-सम्यक्-भाव की प्राप्ति-दशा) है। इसके बाद आत्मा फिर कभी दर्शन-मूढ़ नहीं बनता।

सम्यग् दर्शन की प्राप्ति के हेतु

सम्यग् दर्शन की प्राप्ति दर्शन-मोह के परमाणुओं का विलय होने से होती है। इस दृष्टि का प्राप्ति-हेतु दर्शन मोह के परमाणुओं का विलय है। यह (विलय) निसर्गजन्य और ज्ञान-जन्य दोनों प्रकार का होता है। आचरण की शुद्धि होते-होते दर्शन-मोह के परमाणु शिथिल हो जाते हैं। वैसा होने पर जो तत्त्व रुचि पैदा होती है, यथार्थ-दर्शन होता है, वह नैसर्गिक-सम्यग्-दर्शन कहलाता है।

श्रवण, अध्ययन, वाचन या उपदेश से जो सत्य के प्रति आकर्षण होता है, वह आधिगमिक सम्यक् दर्शन है। सम्यक् दर्शन का मुख्य हेतु (दर्शन-मोह विलय) दोनों में समान है। इनका भेद सिर्फ बाहरी प्रक्रिया से होता है। इनकी तुलना सहज प्रतिभा और अभ्यासलब्ध ज्ञान से की जा सकती है।

पंचविध सम्यग् दर्शन दोनो प्रकार का होता है। इस दृष्टि से वह दसविध हो जाता है:—

(१-२) नैसर्गिक	और आधिगमिक	औपशमिक	सम्यग्	दर्शन
(३-४) ,,	,,	क्षायोपशमिक	,,	,,
(५-६) ,,	,,	क्षायिक	,,	,,
(७-८) ,,	,,	सास्वाद	,,	,,
(६-१०) ,,	,,	वेदक	,,	,,

दसविध रुचि

किसी भी वस्तु के स्वीकरण की पहली अवस्था रुचि है। रुचि से श्रुति होती है या श्रुति से रुचि—यह बड़ा जटिल प्रश्न है। ज्ञान, श्रुति, मनन, चिन्तन, निदिध्यासन—ये रुचि के कारण हैं, ऐसा माना गया है। दूसरी ओर यथार्थ रुचि के बिना यथार्थ ज्ञान नहीं होता है—यह भी माना गया है। इनमें पौर्वापर्य है या एक साथ उत्पन्न होते हैं? इस विचार से यह मिला कि पहले रुचि होती है और फिर ज्ञान होता है। सत्य की रुचि होने के पश्चात् ही उसकी जानकारी का प्रयत्न होता है। इस दृष्टि-बिन्दु से रुचि या सम्यक्त्व जो है, वह नैसर्गिक ही होता है। दर्शन-मोह के परमाणुओं का विलय होते ही वह अभिव्यक्त हो जाता है। निसर्ग और अधिगम का प्रपंच जो है, वह सिर्फ

उसकी अभिव्यक्ति के निमित्त की अपेक्षा से है। जो रुचि अपने आप किसी बाहरी निमित्त के बिना भी व्यक्त हो जाती है, वह नैसर्गिक और जो बाहरी निमित्त (उपदेश-अध्ययन आदि) से व्यक्त होती है, वह आधिगमिक है।

ज्ञान से रुचि का स्थान पहला है। इसलिए सम्यक् दर्शन (अविपरीत दर्शन) के बिना ज्ञान भी सम्यक्—(अविपरीत) नहीं होता। जहाँ मिथ्या-दर्शन वहाँ मिथ्या ज्ञान और जहाँ सम्य् दर्शन वहाँ सम्यक् ज्ञान—ऐसा क्रम है। दर्शन सम्यक् बनते ही ज्ञान सम्यक् बन जाता है। दर्शन और ज्ञान का सम्यक्त्व युगपत् होता। उसमें पौर्वापर्य नहीं है। वास्तविक कार्य-कारण-भाव भी नहीं है। ज्ञान का कारण ज्ञानावरण और दर्शन का कारण दर्शन-मोह का विलय है। इसमें साहचर्य-भाव है। इस (साहचर्य-भाव) में प्रधानता दर्शन की है। दृष्टि का मिथ्यात्व ज्ञान के सम्यक्त्व का प्रतिबन्धक है।

मिथ्या-दृष्टि के रहते बुद्धि में सम्यग् भाव नहीं आता। यह प्रतिबन्ध दूर होते ही ज्ञान का प्रयोग सम्यक् हो जाता है। इस दृष्टि से सम्यग् दृष्टि को सम्यग् ज्ञान का कारण या उपकारक भी कहा जा सकता है।

दृष्टि शुद्धि श्रद्धा-पक्ष है। सत्य की रुचि ही इसकी सीमा है। बुद्धि-शुद्धि ज्ञान-पक्ष है। उसकी मर्यादा है—सत्य का ज्ञान। क्रिया-शुद्धि उसका आचरण-पक्ष है। उसका विषय है—सत्य का आचरण। तीनों मर्यादित हैं, इसलिए असहाय हैं। केवल रुचि या आस्था-बन्ध होने मात्र से जानकारी नहीं होती, इसलिए रुचि को ज्ञान की अपेक्षा होती है। केवल जानने मात्र से साध्य नहीं मिलता। इसलिए ज्ञान को क्रिया की अपेक्षा होती है। संक्षेप में रुचि ज्ञान-सापेक्ष है और ज्ञान क्रिया-सापेक्ष। ज्ञान और क्रिया के सम्यग् भाव का मूल रुचि है, इसलिए वे दोनो रुचि-सापेक्ष हैं। यह सापेक्षता ही मोक्ष का पूर्ण योग है। इसलिए रुचि, ज्ञान और क्रिया को सर्वथा तोड़ा नही जा सकता। इनका विभाग केवल उपयोगितापरक है या निरपेक्ष-दृष्टिकृत है। इनकी सापेक्ष स्थिति में कहा जा सकता है—रुचि ज्ञान को आगे ले जाती है। ज्ञान से रुचि को पोषण मिलता है, ज्ञान से क्रिया के प्रति उत्साह बढ़ता है, क्रिया से ज्ञान का क्षेत्र विस्तृत होता है, रुचि और आगे बढ़ जाती है।

इस प्रकार तीनों आपस में सहयोगी, पोषक व उपकारक हैं। इस विशाल दृष्टि से रुचि के दस प्रकार बतलाए हैं[२२]—

सम्यग् दर्शन का प्राप्ति-क्रम और लब्धि-प्रक्रिया

सम्यग् दर्शन की प्राप्ति के तीन कारण हैं :—दर्शन-मोह के परमाणुओं का (१) पूर्ण उपशमन, (२) अपूर्ण विलय (३) पूर्ण विलय। इनसे प्रगट होने वाला सम्यग् दर्शन क्रमशः (१) औपशमिक सम्यक्त्व, (२) क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, (३) क्षायिक सम्यक्त्व—कहलाता है। इनका प्राप्ति-क्रम निश्चित नहीं है। प्राप्ति का पौर्वापर्य भी नहीं है। पहले पहल औपशमिक—सम्यग् दर्शन भी हो सकता है। क्षायोपशमिक भी और क्षायिक भी।

अनादि मिथ्या दृष्टि व्यक्ति (जो कभी भी सम्यग् दर्शनी नहीं बना) अज्ञात कष्ट सहते-सहते कुछ उदयाभिमुख होता है, संसार-परावर्तन की मर्यादा सीमित रह जाती है, कर्मावरण कुछ क्षीण होता है, दुःखाभिघात से संतप्त हो सुख की ओर मुड़ना चाहता है, तब उसे आत्म-जागरण की एक स्पष्ट रेखा मिलती है। उसके परिणामों (विचारों) में एक तीव्र आन्दोलन शुरू होता है। पहले चरण में राग-द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि (जिसे तोड़े बिना सम्यग् दर्शन प्रगट नहीं होता) के समीप पहुँचता है। दूसरे चरण में वह उसे तोड़ने का प्रयत्न करता है। विशुद्ध परिणाम वाला प्राणी वहाँ मिथ्यात्वग्रन्थि के घटक पुद्गलों का शोधन कर उनकी मादकता या मोहकता को निष्प्रभ बना क्षायोपशमिक सम्यग् दर्शनी बन जाता है। मन्दविशुद्ध परिणाम वाला व्यक्ति वैसा नहीं कर सकता। वह आगे चलता है। तीसरे चरण में पहुँच मिथ्यात्व मोह के परमाणुओं को दो भागों में विभक्त कर डालता है[२३]। पहला भाग अल्प कालवेद्य और दूसरा बहु-कालवेद्य (अल्प स्थितिक और दीर्घ स्थितिक) होता है। इस प्रकार वहाँ दोनों स्थितियों के बीच में व्यवधान (अन्तर) हो जाता है। पहला पुञ्ज भोग लिया जाता है। (उदीरणा द्वारा शीघ्र उदय में आ नष्ट हो जाता है) दूसरा पुञ्ज उपशान्त (निरुद्ध-उदय) रहता है। ऐसा होने पर चौथे चरण में (अन्तर करण के पहले समय में) औपशमिक सम्यग् दर्शन प्रगट होता है[२४]।

यथा प्रवृत्ति :—

अनादि काल से जैसी प्रवृत्ति है वैसी की वैसी बनी रहे यह 'यथा प्रवृत्ति' है। संसार का मूल मोह-कर्म है। उसके भेद परमाणु दीर्घ-स्थितिक होते हैं,

तवतक 'यथाप्रवृत्ति' करण से आगे गति नहीं होती। अकाम-निर्जरा तथा भवस्थिति के परिपाक होने से कषाय मन्द होता है। मोह-कर्म की स्थिति देशोन कोड़ाकोड़ सागर जितनी रहती है, आयुवर्जित शेष कर्मों की भी इतनी ही रहती है, तव परिणाम-शुद्धि का क्रम आगे वढ़ता है। फल स्वरूप 'अपूर्व करण' होता है—पहले कभी नहीं हुई, वैसी आत्म-दर्शन की प्रेरणा होती है। किन्तु इसमें आत्म-दर्शन नहीं होता। यह धारा और आगे वढ़ती है—अनिवृत्तिकरण होता है। यह फल-प्राप्ति के बिना निवृत्त नहीं होता। इसमें आत्म-दर्शन हो जाता है।

मार्ग लाभ

पथिक चला। मार्ग हाथ नहीं लगा। इधर-उधर भटकता रहा। आखिर अपने आप पथ पर आ गया। यह नैसर्गिक मार्ग-लाभ है।

दूसरा पथभ्रष्ट व्यक्ति इधर उधर भटकता रहा, मार्ग नहीं मिला। इतने में दूसरा व्यक्ति दीखा। उससे पूछा और मार्ग मिल गया। यह आधिगमिक मार्ग-लाभ है।

आरोग्य लाभ

रोग हुआ। दवा नहीं ली। रोग की स्थिति पकी। वह मिट गया। आरोग्य हुआ। यह नैसर्गिक आरोग्य-लाभ है।

रोग हुआ। सहा नहीं गया। वैद्य के पास गया। दवा ली, वह मिट गया। यह प्रायोगिक आरोग्य-लाभ है।

सम्यग् दर्शन-लाभ

अनादि काल से जीव संसार में भ्रमण करता रहा। सम्यग्-दर्शन नहीं हुआ—आत्म-विकास का मार्ग नहीं मिला। संसार-भ्रमण की स्थिति पकी। घिसते-घिसते पत्थर चिकना, गोल बनता है, वैसे थपेड़े खाते-खाते कर्मावरण शिथिल हुआ, आत्म-दर्शन की रुचि जाग उठी। यह नैसर्गिक सम्यग् दर्शन लाभ है।

कष्टों से विलमिला उठा। त्रिविध ताप से संतप्त हो गया। शान्ति का उपाय नहीं सूझा। मार्ग-द्रष्टा का योग मिला, प्रयत्न किया। कर्म का आवरण हटा। आत्म-दर्शन की रुचि जाग उठी। यह आधिगमिक सम्यग् दर्शन लाभ है।

अन्तर् मुहूर्त के बाद

औपशमिक सम्यग् दर्शन अल्पकालीन (अन्तर्मुहूर्त स्थितिक) होता है। दबा हुआ रोग फिर से उभर आता है। अन्तर् मुहूर्त के लिए निरुद्धोदय किए हुए दर्शन-मोह के परमाणु काल-मर्यादा पूर्ण होते ही फिर सक्रिय बन जाते हैं। थोड़े समय के लिए जो सम्यग् दर्शनी बना, वह फिर मिथ्या-दर्शनी बन जाता है। रोग के परमाणुओं को निर्मूल नष्ट करने वाला सदा के लिए स्वस्थ बन जाता है। उनका शोधन करने वाला भी उनसे ग्रस्त नहीं होता। किन्तु उन्हें दबाये रखने वाला हरदम खतरे में रहता है। औपशमिक सम्यग् दर्शनी इस तीसरी कोटि का होता है। औपशमिक सम्यग् दर्शन के बारे में दो परम्पराएं हैं—(१) सैद्धान्तिक और (२) कर्मग्रन्थिक। सिद्धान्त-पक्ष की मान्यता यह है कि क्षायौपशमिक सम्यग् दर्शन पाने वाला व्यक्ति ही अपूर्व करण में दर्शन-मोह के परमाणुओं का त्रि-पुञ्जीकरण करता है। औपशमिक सम्यग् दर्शनी औपशमिक सम्यग् दर्शन से गिरकर मिथ्या दर्शनी होता है।

कर्मग्रन्थ का पक्ष है—अनादिमिथ्या दृष्टि अन्तर-करण में औपशमिक-सम्यग् दर्शन या दर्शन-मोह के परमाणुओं को त्रि-पुञ्जीकृत करता है। उस आन्तर् मौहूर्तिक सम्यग् दर्शन के बाद जो पुञ्ज अधिक प्रभावशाली होता है, वह उसे प्रभावित करता है। (जिस पुञ्ज का उदय होता है, उसी दशा में वह चला जाता है) अशुद्ध पुञ्ज के प्रभावकाल (उदय) में वह मिथ्या-दर्शनी, अर्ध-विशुद्ध पुञ्ज के प्रभाव-काल में सम्यग् मिथ्या दर्शनी और शुद्ध पुञ्ज के प्रभाव-काल में सम्यग् दर्शनी बन जाता है।

सिद्धान्त-पक्ष में पहले क्षायोपशमिक सम्यग् दर्शन प्राप्त होता है—ऐसी मान्यता है। कर्म-ग्रन्थ पक्ष में पहले औपशमिक सम्यग् दर्शन प्राप्त होता है—यह माना जाता है।

कई आचार्य दोनों विकल्पों को मान्य करते हैं। कई आचार्य क्षायिक-सम्यक् दर्शन भी पहले-पहल प्राप्त होता है—ऐसा मानते हैं। सम्यग् दर्शन का आदि-अनन्त विकल्प इसका आधार है।

क्षायोपशमिक सम्यग् दर्शनी (अपूर्व करण में) ग्रन्थि भेद कर मिथ्यात्व-मोह के परमाणुओं को तीन पुंजों में बांट देता है :—

(१) अशुद्ध पुञ्ज—यह पूर्ण आवरण है।

(२) अर्द्धशुद्ध पुञ्ज—यह अर्धावरण है।

(३) शुद्ध पुञ्ज—यह पारदर्शक है।

तीन पुञ्ज

(१) मैला कपड़ा, कोरे जल से धुला कपड़ा और साबुन से धुला कपड़ा।

(२) मैला जल, थोड़ा स्वच्छ जल और स्वच्छ जल।

(३) मादक द्रव्य, अर्ध-शोधित मादक द्रव्य और पूर्ण-शोधित मादक द्रव्य।

जैसे एक ही वस्तु की ये तीन-तीन दशाएं हैं, वैसे ही दर्शन-मोह के परमाणुओं की भी तीन दशाएं होती हैं। आत्मा का परिणाम अशुद्ध होता है, तब वे परमाणु एक पुञ्ज में ही रहते हैं। उनकी मादकता सम्यग् दर्शन को मूढ़ बनाए रखती है। यह मिथ्यात्व-दशा है। आत्मा का परिणाम कुछ शुद्ध होता है (मोह की गांठ कुछ ढीली पड़ती है) तब उन परमाणुओं का दो रूपों में पुञ्जीकरण होता है—(१) अशुद्ध (२) अर्ध शुद्ध। दूसरे पुञ्ज में मादकता का लोहावरण कुछ टूटता है, उसमें सम्यग् दर्शन की कुछ पारदर्शक रेखाएं खिंच जाती हैं। यह सम्यग् मिथ्यात्व (मिश्र) दशा है।

आत्मा का परिणाम शुद्ध होता है, उन परमाणुओं की मादकता धो डालने में पूर्ण होता है, तब उनके तीन पुञ्ज बनते हैं। तीसरा पुञ्ज शुद्ध होता है।

क्षायोपशमिक सम्यग् दर्शनी पहले दो पुञ्जों को निष्क्रिय बना देता है[२५]। तीसरे पुञ्ज का उदय रहता है, पर वह शोधित होने के कारण शक्ति-हीन बना रहता है। इसलिए यथार्थ दर्शन में बाधा नहीं डालता। मैले अभ्रक या काच में रही हुई बिजली या दीपक पार की वस्तु को प्रकाशित नहीं करती। उन्हें साफ कर दिया जाए, फिर वे उनके प्रकाश-प्रसरण में बाधक नहीं बनते। वैसे ही शुद्ध पुञ्ज सम्यग् दर्शन को मूढ़ बनाने वाले परमाणु हैं। किन्तु परिणाम-

शुद्धि के द्वारा उनकी मोहक-शक्ति का मालिन्य धुल जाने के कारण वे आत्म-दर्शन में सम्मोह पैदा नहीं कर सकते।

क्षायिक-सम्यक्त्वी दर्शन-मोह के परमाणुओं को पूर्ण रूपेण नष्ट कर डालता है। वहाँ इनका अस्तित्व भी शेष नहीं रहता। यह वास्तविक या सर्व-विशुद्ध सम्यग् दर्शन है। पहले दोनों (औपशमिक और क्षायोपशमिक) प्रतिघाती हैं, पर अप्रतिपाती हैं।

मिथ्या दर्शन के तीन रूप

काल की दृष्टि से मिथ्या दर्शन के तीन विकल्प होते हैं :—

(१) अनादि अनन्त (२) अनादि-सान्त (३) सादि-सान्त।

(१) कभी सम्यग् दर्शन नहीं पाने वाले (अभव्य या जाति भव्य) जीवों की अपेक्षा मिथ्या दर्शन अनादि-अनन्त हैं।

(२) पहली वार सम्यग् दर्शन प्रगट हुआ, उसकी अपेक्षा यह अनादि-सान्त है।

(३) प्रतिपाति सम्यग् दर्शन (सम्यग् दर्शन आया और चला गया) की अपेक्षा वह सादि-सान्त है।

सम्यग् दर्शन के दो रूप

सम्यग् दर्शन के सिर्फ दो विकल्प वनते हैं :

(१) सादि-सान्त (२) सादि-अनन्त। प्रतिपाति (औपशमिक और क्षायोपशमिक) सम्यग् दर्शन सादि-सान्त हैं। अप्रतिपाति (क्षायिक)— सम्यग्-दर्शन सादि-अनन्त होता है।

मिथ्या दर्शनी एक वार सम्यग् दर्शनी वनने के वाद फिर से मिथ्या दर्शनी वन जाता है। किन्तु अनन्त काल की असीम मर्यादा तक वह मिथ्या दर्शनी ही वना नहीं रहता है, इसलिए मिथ्या दर्शन सादि-अनन्त नहीं होता।

सम्यग् दर्शन सहज नहीं होता। वह विकास-दशा में प्राप्त होता है, इसलिए वह अनादि-सान्त और अनादि-अनन्त नहीं होता।

सम्यग् दर्शन और पुञ्ज

(१) क्षायिक सम्यग् दर्शनी अपुञ्जी होता है। उसके दर्शन मोह के

परमाणुओं का पुञ्ज होता ही नहीं। यह क्षपक (उनको खपाने वाला—नष्ट करने वाला) होता है।

(२) मिथ्या दर्शनी एक पुञ्जी होता है। दर्शन-मोह के परमाणु उसे सघन रूप में प्रभावित किये रहते हैं।

(३) सम्यग् मिथ्या दर्शनी द्विपुञ्जी होता है। दर्शन-मोह के परमाणुओं का शोधन करने चल पड़ता है। किन्तु पूरा नहीं कर पाता, यह उस समय की दशा है।

(४) क्षायोपशमिक-सम्यक् दर्शनी त्रिपुंजी होता है। प्रकारान्तर से मिथ्यात्व मोह के परमाणु क्षीण नहीं होते, उसी दशा में सम्यग् दृष्टि (क्षायोपशमिक सम्यग् दृष्टि) त्रिपुञ्जी होता है। मिथ्यात्व पुञ्ज के क्षीण होने पर वह द्विपुञ्जी, मिश्र पुञ्ज के क्षीण होने पर एक पुञ्जी और सम्यक्त्व-पुञ्ज के क्षीण होने पर अपुञ्जी (क्षायिक सम्यग् दृष्टि) बन जाता है।

मिश्र-पुञ्ज संक्रम

दर्शन-मोह के परमाणुओं का पुञ्जीकरण, उनका उदय और संक्रमण परिणाम-धारा की अशुद्धि, अशुद्धि-अल्पता और शुद्धि पर निर्भर है।

परिणाम शुद्ध होते हैं मोह का दबाव ढीला पड़ जाता है। तब शुद्ध पुञ्ज का उदय रहता है। परिणाम कुछ शुद्ध होते हैं (मोह का दबाव कुछ ढीला पड़ता है) तब अर्ध-शुद्ध पुञ्ज का उदय रहता है। परिणाम अशुद्ध होते हैं (मोह का दबाव तीव्र होता है) तब अशुद्ध-पुञ्ज का उदय रहता है।

मिथ्यात्व परमाणुओं की त्रिपुञ्जीकृत अवस्था में जिस पुञ्ज की प्रेरक परिणाम-धारा का प्राबल्य होता है, वह दूसरे को अपने में संक्रान्त कर लेती है। सम्यग् दृष्टि शुद्धि की जागरणोन्मुख परिणाम-धारा के द्वारा मिथ्यात्व पुञ्ज को मिश्र पुञ्ज में और जागृत परिणाम-धारा के द्वारा उसे सम्यक्त्व पुञ्ज में संक्रान्त करता है। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व पुञ्ज का संक्रमण मिश्र पुञ्ज और सम्यक्त्व पुञ्ज दोनों में होता है।

मिश्र पुञ्ज का संक्रमण मिथ्यात्व और सम्यक्त्व—इन दोनों पुञ्जों में होता है। मिथ्या दृष्टि सम्यक् मिथ्यात्व पुञ्ज को मिथ्यात्व पुञ्ज में संक्रान्त करता है। सम्यक्त्वी उसको सम्यक्त्व पुञ्ज में संक्रान्त करता है। मिश्र-दृष्टि

शुद्धि के द्वारा उनकी मोहक-शक्ति का मालिन्य धुल जाने के कारण वे आत्म-दर्शन में सम्मोह पैदा नहीं कर सकते।

क्षायिक-सम्यक्त्वी दर्शन-मोह के परमाणुओं को पूर्ण रूपेण नष्ट कर डालता है। वहाँ इनका अस्तित्व भी शेष नहीं रहता। यह वास्तविक या सर्व-विशुद्ध सम्यग् दर्शन है। पहले दोनों (औपशमिक और क्षायोपशमिक) प्रतिपाती हैं, पर अप्रतिपाती है।

मिथ्या दर्शन के तीन रूप

काल की दृष्टि से मिथ्या दर्शन के तीन विकल्प होते हैं :—

(१) अनादि अनन्त (२) अनादि-सान्त (३) सादि-सान्त।

(१) कभी सम्यग् दर्शन नहीं पाने वाले (अभव्य या जाति भव्य) जीवों की अपेक्षा मिथ्या दर्शन अनादि-अनन्त है।

(२) पहली बार सम्यग् दर्शन प्रगट हुआ, उसकी अपेक्षा यह अनादि-सान्त है।

(३) प्रतिपाति सम्यग् दर्शन (सम्यग् दर्शन आया और चला गया) की अपेक्षा वह सादि-सान्त है।

सम्यग् दर्शन के दो रूप

सम्यग् दर्शन के सिर्फ दो विकल्प बनते हैं :

(१) सादि-सान्त (२) सादि-अनन्त। प्रतिपाति (औपशमिक और क्षायोपशमिक) सम्यग् दर्शन सादि-सान्त है। अप्रतिपाति (क्षायिक)—सम्यग्-दर्शन सादि-अनन्त होता है।

मिथ्या दर्शनी एक बार सम्यग् दर्शनी बनने के बाद फिर से मिथ्या दर्शनी बन जाता है। किन्तु अनन्त काल की असीम मर्यादा तक वह मिथ्या दर्शनी ही बना नहीं रहता है, इसलिए मिथ्या दर्शन सादि-अनन्त नहीं होता।

सम्यग् दर्शन सहज नहीं होता। वह विकास-दशा में प्राप्त होता है, इसलिए वह अनादि-सान्त और अनादि-अनन्त नहीं होता।

सम्यग् दर्शन और पुञ्ज

(१) क्षायिक सम्यग् दर्शनी अपुञ्जी होता है। उसके दर्शन-मोह के

परमाणुओं का पुञ्ज होता ही नहीं। यह क्षपक (उनको खपाने वाला—नष्ट करने वाला) होता है।

(२) मिथ्या दर्शनी एक पुञ्जी होता है। दर्शन-मोह के परमाणु उसे सघन रूप में प्रभावित किये रहते हैं।

(३) सम्यग् मिथ्या दर्शनी द्विपुञ्जी होता है। दर्शन-मोह के परमाणुओं का शोधन करने चल पड़ता है। किन्तु पूरा नहीं कर पाता, यह उस समय की दशा है।

(४) क्षायोपशमिक-सम्यक् दर्शनी त्रिपुंजी होता है। प्रकारान्तर से मिथ्यात्व मोह के परमाणु क्षीण नहीं होते, उसी दशा में सम्यग् दृष्टि (क्षायोपशमिक सम्यग् दृष्टि) त्रिपुञ्जी होता है। मिथ्यात्व पुञ्ज के क्षीण होने पर वह द्विपुञ्जी, मिश्र पुञ्ज के क्षीण होने पर एक पुञ्जी और सम्यक्त्व-पुञ्ज के क्षीण होने पर अपुञ्जी (क्षायिक सम्यग् दृष्टि) बन जाता है।

मिश्र-पुञ्ज संक्रम

दर्शन-मोह के परमाणुओं का पुञ्जीकरण, उनका उदय और संक्रमण परिणाम-धारा की अशुद्धि, अशुद्धि-अल्पता और शुद्धि पर निर्भर है।

परिणाम शुद्ध होते हैं मोह का दबाव ढीला पड़ जाता है। तब शुद्ध पुञ्ज का उदय रहता है। परिणाम कुछ शुद्ध होते हैं (मोह का दबाव कुछ ढीला पड़ता है) तब अर्ध-शुद्ध पुञ्ज का उदय रहता है। परिणाम अशुद्ध होते हैं (मोह का दबाव तीव्र होता है) तब अशुद्ध-पुञ्ज का उदय रहता है।

मिथ्यात्व परमाणुओं की त्रिपुञ्जीकृत अवस्था में जिस पुञ्ज की प्रेरक परिणाम-धारा का प्राबल्य होता है, वह दूसरे को अपने में संक्रान्त कर लेती है। सम्यग् दृष्टि शुद्धि की जागरणोन्मुख परिणाम-धारा के द्वारा मिथ्यात्व पुञ्ज को मिश्र पुञ्ज में और जागृत परिणाम-धारा के द्वारा उसे सम्यक्त्व पुञ्ज में संक्रान्त करता है। तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व पुञ्ज का संक्रमण मिश्र पुञ्ज और सम्यक्त्व पुञ्ज दोनों में होता है।

मिश्र पुञ्ज का संक्रमण मिथ्यात्व और सम्यक्त्व—इन दोनों पुञ्जो में होता है। मिथ्या दृष्टि सम्यक् मिथ्यात्व पुञ्ज को मिथ्यात्व पुञ्ज में संक्रान्त करता है। सम्यक्त्वी उसको सम्यक्त्व पुञ्ज में संक्रान्त करता है। मिश्र-दृष्टि

मिथ्यात्व पुञ्ज को सम्यक् मिथ्यात्व पुञ्ज में संक्रान्त कर सकता है। पर सम्यक्त्व पुञ्ज को उसमें संक्रान्त नहीं कर सकता।

व्यावहारिक-सम्यग् दर्शन

सम्यग् दर्शन का सिद्धान्त सम्प्रदाय परक नहीं, आत्मपरक है। आत्मा अमुक मर्यादा तक मोह के परमाणुओं से विमुक्त हो जाती है, तीव्र कषाय (अनन्तानुबन्धी चतुष्क) रहित हो जाती है, तब उसमें आत्मोन्मुखता (आत्म-दर्शन की प्रवृत्ति) का भाव जागृत होता है। यथार्थ में वह (आत्म-दर्शन) ही सम्यग् दर्शन है। जिसे एक का सम्यग् दर्शन होता है, उसे सबका सम्यग् दर्शन होता है। आत्मदर्शी समदर्शी हो जाता है और इसलिए वह सम्यक् दर्शी होता है। यह निश्चय-दृष्टि की बात है और यह आत्मानुमेय या स्वानुभवगम्य है। सम्यग् दर्शन का व्यावहारिक रूप तत्त्व श्रद्धान है [२६]।

सम्यग् दर्शी का संकल्प

कषाय की मन्दता होते ही सत्य के प्रति रुचि तीव्र हो जाती है। उसकी गति अतथ्य से तथ्य की ओर, असत्य से सत्य की ओर, अबोधि से बोधि की ओर, अमार्ग से मार्ग की ओर अज्ञान से ज्ञान की ओर अक्रिया से क्रिया की ओर, मिथ्यात्व से सम्यक्त्व की ओर हो जाती है। उसका संकल्प ऊर्ध्व मुखी और आत्मलक्षी हो जाता है [२७]।

व्यावहारिक सम्यग् दर्शन की स्वीकार-विधि

लोक में चार मंगल हैं (१) अरिहन्त[२८] (२) सिद्ध[२९] (३) साधु (४) केवली भाषित धर्म [३०]।

चार लोकोत्तम हैं—(१) अरिहन्त (२) सिद्ध (३) साधु (४) केवली-भाषित धर्म।

चार शरण्य हैं—मैं (१) अरिहन्त की शरण लेता हूँ (२) सिद्ध की शरण लेता हूँ। (३) साधु की शरण लेता हूँ (४) केवली भाषित धर्म की शरण लेता हूँ [३१]। जिसमें अरिहन्त देव, सुसाधु गुरु और तत्त्व-धर्म की यथार्थ श्रद्धा है, उस सम्यक्त्व को मैं यावज्जीवन के लिए स्वीकार करता हूँ [३२]। यह दर्शन-पुरुष के व्यावहारिक सम्यग् दर्शन के स्वीकार की विधि है [३३]। इसमें उसके सत्य संकल्प का ही स्थिरीकरण है।

दर्शन-बुद्ध के लिए साधना, साधक और सिद्ध से बढ़कर कोई सत्य नहीं होता [३४]। इसलिए वह उन्हीं को 'मंगल' लोकोत्तम मानता है और उन्ही की शरण स्वीकार करता है। यह व्यक्ति की आस्था या व्यक्तिवाद नहीं, किन्तु गुणवाद है।

आचार और अतिचार

सम्यग् दर्शन में पोष लाने वाली प्रवृत्ति उसका आचार और दोष लाने वाली प्रवृत्ति उसका अतिचार होती है। ये व्यावहारिक निमित्त हैं, सम्यग् दर्शन का स्वरूप नहीं है।

सम्यग् दर्शन के आचार आठ हैं[३५]—

(१) निःशंकित······सत्य में निश्चित विश्वास।
(२) निःकांक्षित······मिथ्या विचार के स्वीकार की अरुचि।
(३) निर्विचिकित्सा······सत्याचरण के फल में विश्वास।
(४) अमूढ़-दृष्टि··········असत्य और असत्याचरण की महिमा के प्रति अनाकर्षण, अव्यामोह।
(५) उपबृंहण··················आत्म-गुण की वृद्धि।
(६) स्थिरीकरण·········सत्य से डगमगा जाए, उन्हें फिर से सत्य में स्थापित करना।
(७) वात्सल्य············सत्य धर्मों के प्रति सम्मान-भावना, सत्याचरण का सहयोग।
(८) प्रभावना···············प्रभावकढंग से सत्य के महात्म्य का प्रकाशन।

पांच अतिचार

(१) शंका···सत्य में संदेह।
(२) काङ्क्षा···मिथ्याचार के स्वीकार की अभिलाषा।
(३) विचिकित्सा···सत्याचरण की फल-प्राप्ति में संदेह।
(४) परपाखण्ड-प्रशंसा···इतर सम्प्रदाय की प्रशंसा।
(५) परपाषण्ड-संस्तव···इतर सम्प्रदाय का परिचय।

सम्यग्-दर्शन की व्यावहारिक पहिचान

सम्यग् दर्शन आध्यात्मिक शुद्धि है। वह बुद्धिगम्य वस्तु नहीं है। फिर भी उसकी पहिचान के कुछ व्यावहारिक लक्षण बतलाए हैं।

सम्यक्त्व श्रद्धा के तीन लक्षण [३६] :—

(१) परमार्थ संस्तव···परम सत्य के अन्वेषण की रुचि।

(२) सुदृढ़ परमार्थ सेवन···परम सत्य के उपासक का संसर्ग या मिले हुए सत्य का आचरण।

(३) कुदर्शन वर्जना—कुमार्ग से दूर रहने की दृढ़ आस्था।

सत्यान्वेषी या सत्यशील और असत्यविरत जो हो तो जाना सकता है कि वह सम्यग् दर्शन-पुरुष है।

पांच लक्षण

(१) शम···कषाय उपशमन

(२) संवेग···मोक्ष की अभिलाषा

(३) निर्वेद···संसार से विरक्ति

(४) अनुकम्पा···प्राणीमात्र के प्रति कृपाभाव, सर्वभूत मैत्री-आत्मौपम्यभाव।

(५) आस्तिक्य···आत्मा में निष्ठा।

सम्यक् दर्शन का फल

गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन्! दर्शन-सम्पन्नता का क्या लाभ है?

भगवान्—गौतम! दर्शन-सम्पदा से विपरीत दर्शन का अन्त होता है। दर्शन-सम्पन्न व्यक्ति यथार्थ द्रष्टा बन जाता है। उसमें सत्य की लौ जलती है, वह फिर बुझती नहीं। वह अनुत्तर-ज्ञान धारा से आत्मा को भावित किए रहता है। यह आध्यात्मिक फल है। व्यावहारिक फल यह है कि सम्यग् दर्शी देवगति के सिवाय अन्य किसी भी गति का आयु-बन्ध नहीं करता [३७]।

महत्त्व

भगवान् महावीर का दर्शन गुण पर आश्रित था। उन्होंने बाहरी सम्पदा के कारण किसी को महत्त्व नहीं दिया। परिवर्तित युग में जैन धर्म भी जात्याश्रित होने लगा। जाति-मद से मदोन्मत्त बने लोग समान धर्मी, भाइ-

यों की भी अवहेलना करने लगे। ऐसे समय में व्यावहारिक सम्यग् दर्शन की व्याख्या और विशाल बनी। आचार्य समन्त भद्र ने मद के साथ उसकी विसंगति बताते हुए कहा है—"जो धार्मिक व्यक्ति अष्टमद (१) जाति (२) कुल (३) बल (४) रूप (५) श्रुत (६) तप (७) ऐश्वर्य (८) लाभ से उन्मत्त होकर धर्मस्थ व्यक्तियों का अनादर करता है, वह अपने आत्म-धर्म का अनादर करता है। सम्यग् दर्शन आदि धर्म को धर्मात्मा ही धारण करता है। जो धर्मात्मा है, वह महात्मा है। धार्मिक के बिना धर्म नहीं होता। सम्यग् दर्शन की सम्पदा जिसे मिली है, वह भंगी भी देव है। तीर्थंकरों ने उसे देव माना है। राख से ढकी हुई आग का तेज तिमिर नहीं बनता, वह ज्योतिपुञ्ज ही रहता है[३८]।

आचार्य भिक्षु ने कहा है :—

वे व्यक्ति विरले ही होते हैं, जिनके घट में सम्यकत्व रम रहा हो। जिस के हृदय में सम्यकत्व-सूर्य का उदय होता है, वह प्रकाश से भर जाता है, उसका अन्धकार चला जाता है।

सभी खानों में हीरे नहीं मिलते, सर्वत्र चन्दन नहीं होता, रत्न-राशि सर्वत्र नहीं मिलती, सभी सर्प 'मणिधर' नहीं होते, सभी लब्धि (विशेष शक्ति) के धारक नहीं होते, बन्धन-मुक्त सभी नहीं होते, सभी सिंह 'केसरी' नहीं होते, सभी साधु 'साधु' नहीं होते, उसी प्रकार सभी जीव सम्यक्त्वी नहीं होते।

नव-तत्त्व के सही श्रद्धान से मिथ्यात्व (१० मिथ्यात्व) का नाश होता है। यही सम्यकत्व का प्रवेश-द्वार है।

सम्यकत्व के आजाने पर श्रावक-धर्म या साधु-धर्म का पालन सहज हो जाता है, कर्म-बन्धन टूटने लगते हैं और वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

तथ्य (भावों ध्रुव सत्यों) की अन्वेषणा, प्राप्ति और प्रतीति जो है, वह सम्यकत्व है, यह व्यावहारिक सम्यग् दर्शन की परिभाषा है। इसका आधार तत्त्वों की सम्यग्-श्रद्धा है। दर्शन-पुरुष की तत्त्व-श्रद्धा अपने आप सम्यक् हो जाती है। तत्त्व श्रद्धा का विपर्यय आग्रह और अभिनिवेश से होता है। अभिनिवेश का हेतु तीव्र कषाय है। दर्शन-पुरुष का कषाय मन्द हो जाता है, उसमें आग्रह का भाव नहीं रहता। वह सत्य को सरल और सहज भाव से पकड़ लेता है।

ध्रुव सत्य

विश्व के सर्व सत्यों का समावेश दो ध्रुव सत्यों—चेतन और अचेतन में होता है। शुद्ध-तत्त्व दृष्टि से चेतन और अचेतन—ये दो ही तत्त्व हैं। इनके छह भेद विश्व की व्यवस्था जानने के लिए होते हैं। इनके नव भेद आत्म-साधना की साधक-बाधक दशा और साहित्य की मीमांसा के हेतु किए जाते हैं।

जैन दर्शन के ध्रुवसत्य

सम्यग् दर्शन के आधार भूत तत्त्व :—

(१) आत्मा है (२) नित्य है (३) कर्ता है (४) भोक्ता है (५) बन्ध है (६) मोक्ष है।

विश्व-स्थिति के आधार भूत तत्त्व :—

(१) पुनर्जन्म—जीव मरकर पुनरपि बार-बार जन्म लेते हैं।

(२) कर्म-बन्ध—जीव सदा (प्रवाह रूपेण अनादि काल से) निरन्तर कर्म बाँधते हैं।

(३) मोहनीय कर्म बन्ध—जीव सदा (प्रवाह रूपेण अनादि काल से) निरन्तर मोहनीय कर्म बांधते हैं।

(४) जीव अजीव का अत्यन्ताभाव—ऐसा न हुआ, न भाव्य है और न होगा कि जीव अजीव हो जाए और अजीव जीव हो जाए।

(५) त्रस-स्थावर—अविच्छेद—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि गतिशील प्राणी स्थावर बन जाए। और स्थावर प्राणी गतिशील बन जाए।

(६) लोकालोक पृथक्त्व—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि लोक अलोक हो जाए और अलोक लोक हो जाए।

(७) लोकालोक अन्योन्याप्रवेश—ऐसा न तो हुआ, न भाव्य है और न होगा कि लोक अलोक में प्रवेश करे और अलोक लोक में प्रवेश करे।

(८) लोक और जीवों का आधार-आधेय सम्बन्ध—जितने क्षेत्र का नाम लोक है, उतने क्षेत्र में जीव हैं और जितने क्षेत्र में जीव हैं, उतने क्षेत्र का नाम लोक है।

(९) लोक-मर्यादा—जितने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं, उतना क्षेत्र 'लोक' है और जितना क्षेत्र लोक है, उतने क्षेत्र में जीव और पुद्गल गति कर सकते हैं।

(१०) अलोकगति कारणाभाव—लोक के सब अन्तिम भागों में आवद्ध-पार्श्व-स्पृष्ट पुद्गल हैं। लोकान्त के पुद्गल स्वभाव से ही रूखे होते हैं। वे गति में सहायता करने की स्थिति में संघटित नहीं हो सकते। उनकी सहायता के विना जीव अलोक में गति नहीं कर सकते।

असम्भाव्य कार्य[३९]

(१) अजीव को जीव नहीं वनाया जा सकता।

(२) जीव को अजीव नहीं वनाया जा सकता।

(३) एक साथ दो भाषा नहीं वोली जा सकती।

(४) अपने किए कर्मों के फलों को इच्छा-अधीन नहीं किया जा सकता।

(५) परमाणु तोड़ा नहीं जा सकता।

(६) अलोक में नही जाया जा सकता।

सर्वज्ञ या विशिष्ट योगी के सिवाय कोई भी व्यक्ति इन तत्त्वों का साक्षात्कार नहीं कर सकता[४०]।

(१) धर्म (गति-तत्त्व)

(२) अधर्म (स्थिति-तत्त्व)

(३) आकाश

(४) शरीर रहित जीव

(५) परमाणु

(६) शब्द

पारमार्थिक सत्ता—

(१) ज्ञाता का सतत अस्तित्व[४१]।

(२) ज्ञेय का स्वतन्त्र अस्तित्व वस्तु-ज्ञान पर निर्भर नहीं है[४२]।

(३) ज्ञाता और ज्ञेय में योग्य सम्बन्ध।

(४) वाणी में ज्ञान का प्रामाणिक प्रतिबिम्ब—विचारों या लक्ष्यों की अभिव्यक्ति का यथार्थ साधन [४३]।

(५) ज्ञेय (संवेद्य या विषय) और ज्ञातृ (संवित् या विषयी) के समकालीन अस्तित्व, स्वतन्त्र-अस्तित्व तथा पारस्परिक सम्बन्ध के कारण उनका विषयविषयीभाव।

चार सिद्धान्त

(१) पदार्थमात्र—परिवर्तनशील है।

(२) सत् का सर्वथा नाश और सर्वथा असत् का उत्पाद नहीं होता।

(३) जीव और पुद्गल में गति-शक्ति होती है।

(४) व्यवस्था वस्तु का मूल भूत स्वभाव है।

इनकी जड़वाद के चार सिद्धान्तों से तुलना कीजिए।

(क) ज्ञाता और ज्ञेय नित्य परिवर्तनशील हैं।

(ख) सद् वस्तु का सम्पूर्ण नाश नहीं होता—पूर्ण अभाव में से सद् वस्तु उत्पन्न नहीं होती।

(ग) प्रत्येक वस्तु में स्वभाव-सिद्ध गति-शक्ति किंवा परिवर्तनशक्ति अवश्य रहती है।

(घ) रचना, योजना, व्यवस्था, नियमबद्धता अथवा सुसंगति वस्तु का मूलभूत स्वभाव है [४४]।

सत्य क्या है

भगवान् ने कहा—सत्य वही है, जो जिन-प्रवेदित है—प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा निरूपित है [४५]। यह यथार्थवाद है, सत्य का निरूपण है किन्तु यथार्थता नहीं है—सत्य नहीं है।

जो सत् है, वही सत्य है—जो है वही सत्य है, जो नहीं है वह सत्य नहीं है। यह अस्तित्व—सत्य, वस्तु-सत्य, स्वरूप-सत्य या ज्ञेय सत्य है। जिस वस्तु का जो सहज शुद्ध रूप है, वह सत्य है। परमाणु परमाणु रूप में सत्य है। आत्मा-आत्मा रूप में सत्य है। धर्म, अधर्म, आकाश भी अपने रूप में सत्य हैं। एक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाला। अविभाज्य पुद्गल—यह परमाणु का सहज रूप सत्य है। बहुत सारे परमाणु मिलते हैं—स्कन्ध बन

जाता है, इसलिए परमाणु पूर्ण सत्य (त्रैकालिक सत्य) नहीं है। परमाणु-दशा में परमाणु सत्य है। भूत-भविष्यत् कालीन स्कन्ध की दशा में उसका विभक्त रूप सत्य नहीं है।

आत्मा शरीर-दशा में अर्ध सत्य है। शरीर, वाणी, मन और श्वास उसका स्वरूप नहीं है। आत्मा का स्वरूप है—अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य (शक्ति), अरूप। सरूप (सशरीर) आत्मा वर्तमान पर्याय की अपेक्षा सत्य है (अर्ध सत्य है)। अरूप (अशरीर, शरीरमुक्त) आत्मा पूर्ण सत्य (परम सत्य या त्रैकालिक सत्य) है। धर्म, अधर्म और आकाश (इन तीनों तत्त्वों का वैभाविक रूपान्तर नहीं होता। ये सदा अपने सहज रूप में ही रहते हैं—इसलिए) पूर्ण सत्य हैं।

साध्य-सत्य

साध्य-सत्य स्वरूप-सत्य का ही एक प्रकार है। वस्तु-सत्य व्यापक है। परमाणु में ज्ञान नहीं होता, अतः उसके लिए कुछ साध्य भी नहीं होता। वह स्वाभाविक काल मर्यादा के अनुसार कभी स्कन्ध में जुड़ जाता है और कभी उससे विलग हो जाता है।

आत्मा ज्ञानशील पदार्थ है। विभाव-दशा (शरीर-दशा) में स्वभाव (अशरीर-दशा या ज्ञान, आनन्द और वीर्य का पूर्ण प्रकाश) उसका साध्य होता है। साध्य न मिलने तक यह सत्य होता है और उसके मिलने पर (सिद्धि के पश्चात्) वह स्वरूप-सत्य के रूप में बदल जाता है।

साध्य-काल में मोक्ष सत्य होता है और आत्मा अर्ध-सत्य। सिद्धि-दशा में मोक्ष और आत्मा का अद्वैत (अभेद) हो जाता है, फिर कभी भेद नहीं होता। इसलिए मुक्त आत्मा का स्वरूप पूर्ण-सत्य है (त्रैकालिक है, अपुनरावर्तनीय है)।

जैन-तत्त्व-व्यवस्था के अनुसार चेतन और अचेतन—ये दो सामान्य सत्य हैं। ये निरपेक्ष स्वरूप-सत्य हैं। गति-हेतुकता, स्थिति-हेतुकता, .. हेतुकता, परिवर्तन-हेतुकता और ग्रहण (संयोग-वियोग) की अपेक्षा—वि. कार्यों और गुणों की अपेक्षा धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल

के ये पांच रूप (पांच द्रव्य) और जीव, ये छह सत्य हैं। ये विभाग-सापेक्ष स्वरूप सत्य हैं।

आस्रव (बन्ध-हेतु), संवर (बन्धन-निरोध) निर्जरा (बन्धन-क्षय हेतु)— ये तीनों साधन-सत्य हैं। मोक्ष साध्य-सत्य है। बन्धन-दशा में आत्मा के ये चारों रूप सत्य हैं। मुक्त-दशा में आस्रव भी नहीं होता, संवर भी नहीं होता, निर्जरा भी नहीं होती, साध्यरूप मोक्ष भी नही होता, इसलिए वहाँ आत्मा का केवल आत्मरूप ही सत्य है।

आत्मा के साथ अनात्मा (अजीव-पुद्गल) का सम्बन्ध रहते हुए उसके बन्ध, पुण्य और पाप से तीनों रूप सत्य हैं। मुक्त-दशा में बन्धन भी नहीं होता, पुण्य भी नही होता, पाप भी नहीं होता। इसलिए जीव वियुक्त-दशा में केवल अजीव (पुद्गल) ही सत्य है। तात्पर्य कि जीव-अजीव की संयोग-दशा में नव सत्य हैं। उनकी वियोग-दशा में केवल दो ही सत्य हैं।

व्यवहार-नय से वस्तु का वर्तमान रूप (वैकारिक रूप) भी सत्य है। निश्चय-नय से वस्तु का त्रैकालिक (स्वाभाविक रूप) सत्य है।

अहीणपंचिंदियत्तं पि से लहे उत्तम धम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे समयं गोयम मा पमायए॥

—उत्त० १०-१८

सुइं च लद्धुं सद्धं च वीरियंपुण दुल्लहं।
बहवे रोयमाणावि नो 'य णं पडिवज्जए॥
माणु सत्तंमि आयाओ जो धम्मं सोच सद्द है।
तवस्सी वीरयं लद्धुं संवुडे निद्धुणे रयं॥

—उत्त० ३।१०-११

(१) उत्क्रान्ति-क्रम :—

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति आत्म-ज्ञान से शुरू होकर आत्म-मुक्ति (निर्वाण) में परिसमाप्त होती है। उसका क्रम इस प्रकार है[1]—

(१) श्रवण
(२) जीव-अजीव का ज्ञान
(३) गति-ज्ञान (संसार-भ्रमण का ज्ञान)
(४) बन्ध और बन्ध मुक्ति का ज्ञान
(५) भोग-निर्वेद
(६) संयोग-त्याग
(७) अनगारित्व (साधुपन)
(८) उत्कृष्ट संवर-धर्म स्पर्श (लगने वाले कर्मों का निरोध)
(९) कर्म-रज-धुनन (अबोधिवश पहले किये हुए कर्मों का निर्जरण)
(१०) केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन (सर्वज्ञता)
(११) लोक-अलोक-ज्ञान
(१२) शैलेशी-प्रतिपत्ति (अयोग-दशा, पूर्ण निरोधात्मक समाधि)
(१३) सम्पूर्ण-कर्म-क्षय
(१४) सिद्धि

(१५) लोकान्तगमन

(१६) शाश्वत-स्थिति

धर्म का यथार्थ श्रवण पाए बिना कल्याणकारी और पापकारी कर्म का ज्ञान नहीं होता। इसलिए सबसे पहले 'श्रुति' है। उससे आत्म और अनात्म तत्त्व की प्रतीति होती है। इनकी प्रतीति होने पर अहिंसा या संयम का विवेक आता है। आत्म-अनात्म की प्रतीति का दूसरा फल है—गति-विज्ञान। इसका फल होता है—गति के कारक और उसके निवर्तक तत्त्वों का ज्ञान—मोक्ष के साधक-बाधक तत्त्वों का ज्ञान (मोक्ष के साधक तत्त्व गति के निवर्तक हैं, उसके बाधक तत्त्व गति के प्रवर्तक) पाप का विपाक कटु होता है। पुण्य का फल क्षणिक तृप्ति देने वाला और परिमाणतः दुःख का कारण होता है। मोक्ष-सुख शाश्वत और सहज है। यह सब जान लेने पर भोग-विरक्ति होती है। यह (आन्तरिक कषायादि और बाहरी पारिवारिक जन के) संयोग-त्याग की निमित्त बनती है। संयोगों की आसक्ति छूटने पर अनगारित्व आता है। संवर-धर्म का अनुशीलन गृहस्थी भी करते हैं। पर अनगार के उत्कृष्ट संवर-धर्म का स्पर्श होता है। यहाँ से आध्यात्मिक उत्कर्ष का द्वार खुल जाता है। सिद्धि सुलभ हो जाती है। उत्क्रान्ति का यह विस्तृत क्रम है। इसमें साधना और सिद्धि—दोनों का प्रतिपादन है। इनका संक्षेपीकरण करने पर साधना की भूमिकाएं पांच बनती हैं।

साधना की पांच भूमिकाएं :—

(१) सम्यग्-दर्शन

(२) विरति

(३) अप्रमाद

(४) अकषाय

(५) अयोग

आरोह क्रम

इनका आरोह-क्रम यही है। सम्यग्-दर्शन के बिना विरति नहीं, विरति के बिना अप्रमाद नहीं, अप्रमाद के बिना अकषाय नहीं, अकषाय के बिना अयोग नहीं।

अयोग-दशा अक्रिया की स्थिति है। इसके बाद साधना शेष नहीं रहती। फिर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त और निर्वाण-दशा हो जाती है।

साधना का विघ्न

साधना में बाधा डालने वाला मोह-कर्म है। उसके दो रूप हैं (१) दर्शन-मोह (२) चारित्र-मोह। पहला रूप सम्यग् दर्शन में बाधक बनता है, दूसरा चारित्र में।

दर्शन-मोह के तीन प्रकार हैं—

(१) सम्यक्त्व-मोह, (२) मिथ्यात्व-मोह, (३) मिश्र (सम्यक्-मिथ्यात्व) मोह।

चारित्र-मोह के पचीस प्रकार हैं—

सोलह कषाय :—

अनन्तानुबन्धी—क्रोध, मान, माया, लोभ।
प्रत्याख्यानी—क्रोध, मान, माया, लोभ।
अप्रत्याख्यानी—क्रोध, मान, माया, लोभ।
संज्वलन—क्रोध, मान, माया, लोभ।

नौ नो-कषाय—

(१७) हास्य (१८) रति (१९) अरति (२०) भय (२१) शोक (२२) जुगुप्सा (२३) स्त्री-वेद (२४) पुरुष-वेद (२५) नपुंसक-वेद।

जब तक दर्शन-मोह के तीन प्रकार और चारित्र-मोह के प्रथम चतुष्क (अनन्तानुबन्ध) का अत्यन्त विलय (क्षायिक भाव) नहीं होता, तब तक सम्यग् दर्शन (क्षायिक-सम्यक्त्व) का प्रकाश नहीं मिलता। सत्य के प्रति सतत् जागरूकता नहीं आती। इन सात प्रकृतियों (दर्शन-सप्तक) का विलय होने पर साधना की पहली मंजिल तय होती है।

सम्यग् दर्शन साधना का मूल है। "अदर्शनी (सम्यग् दर्शन रहित) ज्ञान नहीं पाता [२]। ज्ञान के बिना चरित्र, चरित्र के बिना मोक्ष, मोक्ष के बिना निर्वाण—शाश्वत शान्ति का लाभ नहीं होता।"

गुणस्थान

विशुद्धि के तरतम भाव की अपेक्षा जीवो के चौदह स्थान (भूमिकाएं) बतलाए हैं। उनमें सम्यग् दर्शन चौथी भूमिका है। उत्क्रान्ति का आदि बिन्दु होने के कारण इसे साधना की पहली भूमिका भी माना जा सकता है।

पहली तीन भूमिकाओं में प्रथम भूमिका (पहले गुणस्थान) के तीन रूप बनते हैं—(१) अनादि-अनन्त (२) अनादि-सान्त (३) सादि सान्त। प्रथम रूप के अधिकारी अभव्य या जाति-भव्य (कभी भी मुक्त न होने वाले) जीव होते हैं। दूसरा रूप उनकी अपेक्षा से बनता है जो अनादिकालीन मिथ्या-दर्शन की गांठ को तोड़कर सम्यग् दर्शनी बन जाते हैं। सम्यक्त्वी बन फिर से मिथ्यात्वी हो जाते हैं और फिर सम्यक्त्वी—ऐसे जीवो की अपेक्षा से तीसरा रूप बनता है। पहला गुणस्थान उत्क्रान्ति का नहीं है। इस दशा में शील की देश आराधना हो सकती है [३] । शील और श्रुत दोनो की आराधना नही, इसलिए सर्वाराधना की दृष्टि से यह अपक्रान्ति-स्थान है। मिथ्या दर्शनी व्यक्ति में भी विशुद्धि होती है। ऐसा कोई जीव नहीं जिसमें कर्म-विलयजन्य (न्यूनाधिक रूप में) विशुद्धि का अंश न मिले। उस (मिथ्या दृष्टि) का जो विशुद्धि-स्थान है, उसका नाम मिथ्या, 'दृष्टि-गुणस्थान' है [४] ।

मिथ्या दृष्टि के (१) ज्ञानावरण कर्म का विलय (क्षयोपशम) होता है, अतः वह यथार्थ जानता भी है, (२) दर्शनावरण का विलय होता है अतः वह इन्द्रिय-विषयों का यथार्थ ग्रहण भी करता है; (३) मोह का विलय होता है अतः वह सत्यांश का श्रद्धान और चारित्रांश—तपस्या भी करता है। मोक्ष या आत्म-शोधन के लिए प्रयत्न भी करता है [५] । (४) अन्तराय कर्म का विलय होता है, अतः वह यथार्थ-ग्रहण (इन्द्रिय मन के विषय का साक्षात्), यथार्थ गृहीत का यथार्थ ज्ञान (अवग्रह आदि के द्वारा निर्णय तक पहुँचना) उसके (यथार्थ ज्ञान) प्रति श्रद्धा और श्रद्धेय का आचरण—इन सब के लिए प्रयत्न करता है—आत्मा को लगाता है। यह सब उसका विशुद्धि-स्थान है। इसलिए मिथ्यात्वी को 'सुव्रती' [१] और 'कर्म-सत्य' कहा गया है [२] । इनकी

मार्गानुसारी क्रिया का अनुमोदन करते हुए उपाध्याय विनय विजयजी ने लिखा है—

"मिथ्यादृशामप्युपकारसारं, संतोषसत्यादि गुणप्रसारम्।
वदान्यता वैनयिकप्रकारं, मार्गानुसारीत्यनुमोदयामः [8]॥"

श्रुत की न्यूनता के कारण इनके प्रत्याख्यान (विरति) को दुष्प्रत्याख्यान भी बताया है।

गौतम ने भगवान् से पूछा—भगवन्! सर्व प्राण, सर्वभूत, सर्वजीव और सर्व सत्व को मारने का कोई प्रत्याख्यान करता है, वह सुप्रत्याख्यात है या दुष्प्रत्याख्यात?

भगवान् ने कहा—गौतम? सुप्रत्याख्यात भी होता है और दुष्प्रत्याख्यात भी?

गौतम—यह कैसे भगवन्?

भगवान्—गौतम! सर्वजीव यावत् सर्वसत्व को मारने का प्रत्याख्यान करने वाला नहीं जानता कि ये जीव हैं, ये अजीव हैं, ये त्रस हैं, ये स्थावर हैं। उसका प्रत्याख्यात दुष्प्रत्याख्यात होता है और सब जीवों को जाने बिना "सब को मारने का प्रत्याख्यान है" यूं बोला जाता है; वह असत्य भाषा है...............।

"...................जो व्यक्ति जीव अजीव, त्रस-स्थावर को जानता है और वह सर्वजीव यावत् सर्व सत्व को मारने का प्रत्याख्यान करता है—उसका प्रत्याख्यात सुप्रत्याख्यात होता है और उसका वैसा बोलना सत्य भाषा है।" इस प्रकार प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यात भी होता है और सुप्रत्याख्यात भी [९]।

इसका तात्पर्य यह है कि सब जीवों को जाने बिना जो व्यक्ति सब जीवों की हिंसा का त्याग करता है, वह त्याग पूरा अर्थ नहीं रखता। किन्तु वह जितनी दूर तक जानकारी रखता है, हेय को छोड़ता है, वह चारित्र की देश-आराधना है। इसीलिए पहले गुणस्थान के अधिकारी को मोक्ष-मार्ग का देश-आराधक कहा गया है [१०]।

दूसरा गुण स्थान (सास्वादन-सम्यग् दृष्टि) अपक्रमण-दशा है। सम्यग्-दर्शनी (औपशमिक-सम्यक्त्वी) दर्शन-मोह के उदय से मिथ्या-दर्शनी

बनता है। उस संक्रमण-काल में यह स्थिति बनती है। पेड़ से फल गिर गया और जमीन को न छू पाया—ठीक यही स्थिति इसकी है। इसीलिए इसका कालमान बहुत थोड़ा है (छह आवलिका मात्र है)।

तीसरा स्थान मिश्र है। इसका अधिकारी न सम्यग् दर्शनी होता है और न मिथ्या-दर्शनी। यह संशयशील व्यक्ति की दशा है। पहली भूमिका का अधिकारी दृष्टि-विपर्यय वाला होता है, इसका अधिकारी संशयालु—यह दोनों में अन्तर है। दोलायमान दशा अन्तर्-मुहूर्त से अधिक नहीं टिकती। फिर वह या तो विपर्यय में परिणित हो जाती है या सम्यग् दर्शन में। इन आध्यात्मिक अनुत्क्रमण की तीनों भूमिकाओं में दीर्घकालीन भूमिका पहली ही है। शेष दो अल्पकालीन हैं। सम्यग् दर्शन उत्क्रान्ति का द्वार है, इसीलिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। आचार की दृष्टि से उसका उतना महत्त्व नहीं, जितना है कि इससे अगली कक्षाओं का है। कर्म-मुक्त होने की प्रक्रिया है—आने वाले कर्मोंका निरोध (संवरण) और पिछले कर्मों का विनाश (निर्जरण)। सम्यग्-दर्शनी के विरति नहीं होती, इसलिए उसके तपस्या द्वारा केवल कर्म-निर्जरण होता है, कर्म-निरोध नहीं होता। इसे हस्ति-स्नान के समान बताया गया है। हाथी नहाता है और तालाब से बाहर आ धूल या मिट्टी उछाल फिर उससे गन्दला बन जाता है। वैसे ही अविरत-व्यक्ति इधर तपस्या द्वारा कर्म-निर्जरण कर शोधन करते हैं और उधर अविरति तथा सावद्य आचरण से फिर कर्म का उपचय कर लेते हैं [११]। इस प्रकार यह साधना की समग्र भूमिका नहीं है। वह (समग्र भूमिका) विद्या और आचरण दोनों की सह-स्थिति में बनती है [१२]।

चरण-करण या संवर धर्म के बिना सम्यग् दृष्टि सिद्ध नहीं होता। इसीलिए साधना की समग्रता को रथ-चक्र और अन्ध-पंगु के निदर्शन के द्वारा समझाया है। जैसे एक पहिए से रथ नहीं चलता, वैसे ही केवल विद्या (श्रुत या सम्यग् दर्शन) से साध्य नहीं मिलता। विद्या पंगु है, क्रिया अन्धी। साध्य तक पहुँचने के लिए पैर और आंख दोनों चाहिए।

ऐसा विश्वास पाया जाता है कि "तत्त्वों को सही रूप में जानने वाला सब दुःखों से छूट जाता है। ऐसा सोच कई व्यक्ति धर्म का आचरण नहीं

करते। वे एकान्त अक्रियावादी बन जाते हैं। भगवान् महावीर ने इसे वाणी का वीर्य या वाचनिक आश्वासन कहा है[13]।"

सम्यग् दृष्टि के पाप का बन्ध नहीं होता या उसके लिए कुछ करना शेष नहीं रहता—ऐसी मिथ्या धारणा न बने, इसीलिए चतुर्थ भूमिका के अधिकारी को अधर्मी,[14] बाल[15] और सुप्त कहा है[16]।

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जनाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः"

"धर्म को जानता हूँ, पर उसमें प्रवृत्ति नहीं है, अधर्म को भी जानता हूँ पर उससे निवृत्ति नही है।"—यह एक बहुत बड़ा तथ्य है। इसका पुनरावर्तन प्रत्येक जीव में होता है। यह प्रश्न अनेक मुखों से मुखरित होता रहता है कि "क्या कारण है, हम बुराई को बुराई जानते हुए भी—समझते हुए भी छोड़ नहीं पाते?" जैन कर्मवाद इसका कारण के साथ समाधान प्रस्तुत करता है। वह यूं है – जानना ज्ञान का कार्य है। ज्ञान 'ज्ञानावरण' के पुद्गलो का विलय होने पर प्रकाशमान होता है। सही विश्वास होना श्रद्धा है। वह दर्शन को मोहने वाले पुद्गलो के अलग होने पर प्रगट होती है बुरी वृत्ति को छोड़ना, अच्छा आचरण करना—यह चारित्र को मोहने वाले पुद्गलों के दूर होने पर सम्भव होता है।

ज्ञान के आवारक पुद्गलों के हट जाने पर भी दर्शन-मोह के पुद्गल आत्मा पर छाए हुए हों तो वस्तु जान ली जाती है, पर विश्वास नहीं होता। दर्शन को मोहने वाले पुद्गल बिखर जाएं, तब उस पर श्रद्धा बन जाती है। पर चारित्र को मोहने वाले पुद्गलों के होते हुए उसका स्वीकार (या आचरण) नहीं होता। इस दृष्टि से इनका क्रम यह बनता है—(१) ज्ञान, (२) श्रद्धा (३) चारित्र। ज्ञान श्रद्धा के बिना भी हो सकता है पर श्रद्धा उसके बिना नहीं होती। श्रद्धा चारित्र के बिना भी हो सकती है, पर चारित्र उसके बिना नहीं होता। अतः वाणी और कर्म का द्वैध (कथनी और करनी का अन्तर) जो होता है, वह निष्कारण नहीं है। ज्यों साधना आगे बढ़ती है, चारित्र का भाव प्रगट होता है, त्यों द्वैध की खाई पटती जाती है पर वह छद्मस्थ-दशा (प्रमत्त-दशा) में पूरी नहीं पटती।

छद्मस्थ की मनोदशा का विश्लेषण करते हुए भगवान् ने कहा—"छद्मस्थ सात कारणों से पहचाना जाता है—(१) वह प्राणातिपात करता है (२) मृषावादी होता है (३) अदत्त लेता है (४) शब्द, स्पर्श, रस, रूप और गंध का आस्वाद लेता है (५) पूजा, सत्कार की वृद्धि चाहता है (६) पापकारी कार्य को पापकारी कहता हुआ भी उसका आचरण करता है (७) जैसा कहता है, वैसा नहीं करता [१७]।

यह प्रमाद युक्त व्यक्ति की मनः स्थिति का प्ररूपण है। मोह प्रबल होता है, तब कथनी करनी की एकता नहीं आती। उसके बिना ज्ञान और क्रिया का सामञ्जस्य नहीं होता। इनके असामञ्जस्य में पूजा-प्रतिष्ठा की भूख होती है। जहाँ यह होती है, वहाँ विषय का आकर्षण होता है। विषय की पूर्ति के लिए चोरी होती है। चोरी झूठ लाती है और झूठ से प्राणातिपात आता है। साधना की कमी या मोह की प्रबलता में ये विकार एक ही शृंखला से जुड़े रहते हैं। अप्रमत्त या वीतराग में ये सातों विकार नहीं होते।

देश विरति

भगवान् ने कहा—गौतम! सत्य (धर्म) की श्रुति दुर्लभ है। बहुत सारे लोग मिथ्यावादियों के संग में ही लीन रहते हैं। उन्हें सत्य-श्रुति का अवसर नहीं मिलता। श्रद्धा सत्य-श्रुति से भी दुर्लभ है। बहुत सारे व्यक्ति सत्यांश सुनते हुए भी (जानते हुए भी) उस पर श्रद्धा नहीं करते। वे मिथ्यावाद में ही रचे-पचे रहते हैं। काय-स्पर्श (सत्य का आचरण) श्रद्धा से भी दुर्लभ है। सत्य की जानकारी और श्रद्धा के उपरान्त भी काम-भोग की मूर्छा छूटे बिना सत्य का आचरण नहीं होता। तीव्रतम-कषाय (अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ) के विलय से सम्यक् दर्शन (सत्य श्रद्धा) की योग्यता आजाती है। किन्तु तीव्रतर कषाय (अप्रत्याख्यान क्रोधादि चतुष्क) के रहते हुए चारित्रिक योग्यता नहीं आती। इसीलिए श्रद्धा से चारित्र का स्थान आगे है। चरित्रवान् श्रद्धा सम्पन्न अवश्य होता है किन्तु श्रद्धावान् चरित्र-सम्पन्न होता भी है और नहीं भी। यही इस भूमिका-भेद का आधार है। पांचवी भूमिका चारित्र की है। इसमें चरित्रांश का उदय होता है। *कर्म-निरोध* या संवर का यही प्रवेश-द्वार है।

चारित्रिक योग्यता एक रूप नही होती। उसमें असीम तारतम्य होता है। विस्तार-दृष्टि से चारित्र-विकास के अनन्त स्थान हैं। संक्षेप में उसके वर्गीकृत स्थान दो हैं—(१) देश (अपूर्ण)-चारित्र (२) सर्व-(पूर्ण) चारित्र। पाँचवी भूमिका देश-चारित्र (अपूर्ण-विरति) की है। यह गृहस्थ का साधना-क्षेत्र है।

जैनागम गृहस्थ के लिए बारह व्रतों का विधान करते हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदार-सन्तोष और इच्छा-परिमाण—ये पाँच अणुव्रत हैं। दिग्-विरति, भोगोपभोग-विरति और अनर्थ-दण्ड-विरति—ये तीन गुणव्रत हैं। सामायिक, देशावकाशिक, पौषधोपवास और अतिथि-संविभाग—ये चार शिक्षाव्रत हैं।

बहुत लोग दूसरों के अधिकार या स्वत्व को छीनने के लिए, अपनी भोग-सामग्री को समृद्ध करने के लिए एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाया करते हैं। इसके साथ शोषण या असंयम की कड़ी जुड़ी हुई है। असंयम को खुला रखकर चलने वाला स्वस्थ अणुव्रती नही हो सकता। दिग्-व्रत में सार्वभौम (आर्थिक राजनीतिक या और और सभी प्रकार के) अनाक्रमण की भावना है। भोग-उपभोग की खुलावट और प्रमाद जन्य भूलों से बचने के लिए सातवां और आठवां व्रत किया गया है।

ये तीनों व्रत अणुव्रतो के पोषक है, इसलिए इन्हें गुण व्रत कहा गया है।

धर्म समतामय है। राग-द्वेष विषमता है। समता का अर्थ है—राग द्वेष का अभाव। विषमता है राग-द्वेष का भाव। सम भाव की आराधना के लिए सामायिक व्रत है। एक मुहूर्त तक सावद्य प्रवृत्ति का त्याग करना सामायिक व्रत है।

सम भाव की प्राप्ति का साधन जागरूकता है। जो व्यक्ति पल-पल जागरूक रहता है, वही सम भाव की ओर अग्रसर हो सकता है। पहले आठ व्रतों की सामान्य मर्यादा के अतिरिक्त थोड़े समय के लिए विशेष मर्यादा करना, अहिंसा आदि की विशेष साधना करना देशावकाशिक व्रत है।

पौषधोपवास-व्रत साधु-जीवन का पूर्वाभ्यास है। उपवासपूर्वक सा-प्रवृत्ति को त्याग समभाव की उपासना करना पौषधोपवास व्रत है।

महाव्रती मुनि को अपने लिए बने हुए आहार का संविभाग देना अतिथि-संविभाग-व्रत है।

चारों व्रत अभ्यासात्मक या बार-बार करने योग्य हैं। इसलिए इन्हें शिक्षा व्रत कहा गया।

ये बारह व्रत हैं। इनके अधिकारी को देशव्रती श्रावक कहा जाता है।

छठी भूमिका से लेकर अगली सारी भूमिकाएँ मुनि-जीवन की हैं।

सर्व-विरति

यह छठी भूमिका है। इसका अधिकारी महाव्रती होता है। महाव्रत पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। रात्रि-भोजन-विरति छठा व्रत है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार भगवान् ऋषभ देव और भगवान् महावीर के समय में रात्रि-भोजन को मूल गुण माना जाता था। इसलिए इसे महाव्रत के साथ व्रत रूप में रखा गया है। शेष बाईस तीर्थंकरों के समय यह उत्तर-गुण के रूप में रहता आया है। इसलिए इसे अलग व्रत का रूप नहीं मिलता [१८]।

जैन परिभाषा के अनुसार व्रत या महाव्रत मूल गुणों को कहा जाता है। उनके पोषक गुण उत्तर गुण कहलाते हैं। उन्हें व्रत की संज्ञा नहीं दी जाती। मूलगुण की मान्यता में परिवर्तन होता रहा है—धर्म का निरूपण विभिन्न रूपों में मिलता है।

व्रत-विकास

'अहिंसा शाश्वत धर्म है—यह एक व्रतात्मक धर्म का निरूपण है [१९]।'

सत्य और अहिंसा यह दो धर्मों का निरूपण है [२०]।'

'अहिंसा, सत्य और बहिर्धादान—यह तीन यामों का निरूपण है।'

'अहिंसा सत्य, अचौर्य, और बहिर्धादान-यह चतुर्याम-धर्म का निरूपण है।'

'अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह'—यह पंच महाव्रतों का निरूपण है।

जैन सूत्रों के अनुसार बाईस तीर्थंकरों के समय में चतुर्याम-धर्म रहा और पहले और चौबीसवें तीर्थंकरों के समय में पंचयाम धर्म [२१]। तीन याम का निरूपण आचारांग में मिलता है [२२]। किन्तु उसकी परम्परा कब रही, इसकी कोई जानकारी नहीं मिलती। यही बात दो और एक महाव्रत के

लिए है। अहिंसा ही धर्म है। शेष महाव्रत उसकी सुरक्षा के लिए हैं। यह विचार उत्तरवर्ती संस्कृत साहित्य में बहुत दृढ़ता से निरूपित हुआ है।

धर्म का मौलिक रूप सामायिक—चारित्र या समता का आचरण है। अहिंसा, सत्य आदि उसी की साधना के प्रकार हैं। समता का अखंड रूप एक अहिंसा महाव्रत में भी समा जाता है और भेद-दृष्टि से चले तो उसके पाँच और अधिक भेद किये जा सकते हैं।

अप्रमाद

यह सातवीं भूमिका है। छठी भूमिका का अधिकारी प्रमत्त होता है—उसके प्रमाद की सत्ता भी होती है और वह कहीं-कहीं हिंसा भी कर लेता है। सातवीं का अधिकारी प्रमादी नहीं होता, सावद्य प्रवृत्ति नहीं करता। इसलिए अप्रत्त-संयती को अनारम्भ—अहिंसक और प्रमत्त-संयती को शुभ-योग की अपेक्षा अनारम्भ और अशुभ-योग की अपेक्षा आत्मारम्भ (आत्म-हिंसक) परारम्भ (पर-हिंसक) और उभयारम्भ (उभय-हिंसक) कहा है।

श्रेणी-आरोह और अकषाय या वीतराग-भाव

आठवी भूमिका का आरम्भ अपूर्व-करण से होता है। पहले कभी न आया हो, वैसा विशुद्ध भाव आता है, आत्मा 'गुण-श्रेणी' का आरोह करने लगता है। आरोह की श्रेणियां दो हैं—उपशम और क्षपक। मोह को उपशान्त कर आगे बढ़ने वाला ग्यारहवीं भूमिका में पहुंच मोह को सर्वथा उपशान्त कर वीतराग बन जाता है। उपशम स्वल्पकालीन होता है, इसलिए मोह के उभरने पर वह वापस नीचे की भूमिकाओं में आ जाता है। मोह को खपाकर आगे बढ़ने वाला बारहवीं भूमिका में पहुंच वीतराग बन जाता है। क्षीण मोह का अवरोह नहीं होता।

केवली या सर्वज्ञ

तेरहवीं भूमिका सर्व-ज्ञान और सर्व-दर्शन की है। भगवान् ने कहा—कर्म का मूल मोह है। सेनानी के भाग जाने पर सेना भाग जाती है, वैसे ही मोह के नष्ट होने पर शेष कर्म नष्ट हो जाते हैं। मोह के नष्ट होते ही ज्ञान और दर्शन के आवरण तथा अन्तराय—ये तीनों कर्म-बन्धन टूट जाते हैं। आत्मा

निरावरण और निरन्तराय बन जाता है। निरावरण आत्मा को ही सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहा जाता है।

अयोग-दशा और मोक्ष

केवली के भवोपग्राही कर्म शेष रहते हैं। उन्हीं के द्वारा शेष जीवन का धारण होता है। जीवन के अन्तिम क्षणों में मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्तियों का निरोध होता है। यह निरोध दशा ही अन्तिम भूमिका है। इस काल में वे शेष कर्म टूट जाते हैं। आत्मा मुक्त हो जाता है—आचार स्वभाव में परिणत हो जाता है। साधन स्वयं साध्य बन जाता है। ज्ञान की परिणति आचार और आचार की परिणति मोक्ष है और मोक्ष ही आत्मा का स्वभाव है।

तेरह

जागरण

जो असंयम है, वही असत्य है और जो असत्य है, वही असंयम है। जो संयम है, वही सत्य है और जो सत्य है, वही संयम है[1]। जो संयम की उपासना करता है, वह स्वयं शिव और सुन्दर वन जाता है—विजातीय तत्त्व को खपा स्वस्थ या आत्मस्थ वन जाता है[2]।

चार प्रकार के पुरुष होते हैं :—

(१) कोई व्यक्ति द्रव्य-नींद से जागता है, भाव नींद से सोता है, वह असंयमी है।

(२) कोई व्यक्ति द्रव्य-नींद से भी सोता है और भाव-नींद से भी सोता है, वह प्रमादी और असंयमी दोनों है।

(३) कोई व्यक्ति द्रव्य-नींद से सोता है किन्तु भाव-नींद से दूर है, वह संयमी है।

(४) कोई व्यक्ति द्रव्य और भाव नींद—दोनों से दूर है, वह अति जागरूक संयमी है।

दैहिक नींद वास्तव में नींद नहीं है, यह द्रव्य-नींद है। वास्तविक नींद श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की शून्यता है।

जो अमुनि (असंयमी) हैं, वे सदा सोये हुए हैं। जो मुनि (संयमी) हैं, वे सदा जागते हैं[3]। यह सतत-शयन और सतत-जागरण की भाषा अलौकिक है। असंयम नींद है और संयम जागरण। असंयमी अपनी हिंसा करता है, दूसरों का वध करता है, इसलिए वह सोया हुआ है। संयमी किसी की भी हिंसा नहीं करता, इसलिए वह अप्रमत्त है—सदा जागरूक है।

आत्मा से परमात्मा

जो व्यक्ति दिन में, परिषद् में, जागृत-दशा में या दूसरों के संकोचवश पाप से बचते हैं, वे बहिर्दृष्टि हैं—अन्-अध्यात्मिक हैं। उनमें अभी अध्यात्म-चेतना का जागरण नहीं हुआ है।

जो व्यक्ति दिन और रात, विजन और परिषद्, सुप्ति और जागरण में अपने

आत्म-पतन के भय से, किसी बाहरी संकोच या भय से नही, परम-आत्मा के सान्निध्य में रहते हैं—वे आध्यात्मिक हैं।

उन्हीं में परम-आत्मा से सम्बन्ध बनाये रखने के सामर्थ्य का विकास होता है। इसके चरम शिखर पर पहुँच, वे स्वयं परम-आत्मा बन जाते हैं।

साधना के सूत्र (अप्रमाद)

आर्यों! आओ! भगवान् ने गौतम आदि श्रमणों को आमंत्रित किया।

भगवान् ने पूछा—आयुष्मन् श्रमणो! जीव किससे डरते हैं?

गौतम आदि श्रमण निकट आये, वन्दना की, नमस्कार किया, विनम्र भाव से बोले—भगवन्! हम नही जानते, इस प्रश्न का क्या तात्पर्य है? देवानुप्रिय को कष्ट न हो तो भगवान् कहें। हम भगवान् के पास से यह जानने को उत्सुक हैं।

भगवान् बोले—आर्यों! जीव दुःख से डरते हैं।

गौतम ने पूछा—भगवन्! दुःख का कर्त्ता कौन है और उसका कारण क्या है?

भगवान्—गौतम! दुःख का कर्त्ता जीव और उसका कारण प्रमाद है[४]।

गौतम—भगवन्! दुःख का अन्त-कर्ता कौन है और उसका कारण क्या है?

भगवान्—गौतम! दुःख का अन्त-कर्त्ता जीव और उसका कारण अप्रमाद है[५]।

उपशम

मानसिक सन्तुलन के बिना कष्ट सहन की क्षमता नही आती। उसका उपाय उपशम है। व्याधियों की अपेक्षा मनुष्य को आधियां अधिक सताती हैं। हीन-भावना और उत्कर्ष-भावना की प्रतिक्रिया दैहिक कष्टों से अधिक भयंकर होती है, इसलिए भगवान् ने कहा—जो निर्मम और निरहंकार है, निःसंग है, ऋद्धि, रस और सुख के गौरव से रहित है, सब जीवों के प्रति सम है, लाभ-अलाभ सुख-दुःख, जीवन, मौत, निन्दा, प्रशंसा, मान-अपमान में सम है, अकषाय, अदण्ड, निःशल्य और अभय है, हास्य, शोक और पौद्गलिक सुख की आशा से मुक्त है, ऐहिक और पारलौकिक बन्धन से

मुक्त है, पूजा और प्रहार में सम है, आहार और अनशन में सम है, अप्रशस्त वृत्तियों का संवारक है, अध्यात्म-ध्यान और योग में लीन है, प्रशस्त आत्मानुशासन में रत है, श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र और तप में निष्ठावान् है—वही भावितात्मा श्रमण है।

भगवान् ने कहा—कोई श्रमण कभी कलह में फँस जाए तो वह तत्काल सम्हल कर उसे शान्त कर दे। वह क्षमा याचना करले। सम्भव है, दूसरा श्रमण वैसा करे या न करे, उसे आदर दे या न दे, उठे या न, उठे, वन्दना करे, या न करे, साथ में खाये या न खाये, साथ में रहे या न रहे कलह को उपशान्त करे या न करे, किन्तु जो कलह का उपशमन करता है वह धर्म की आराधना करता है, जो उसे शांत नहीं करता उसके धर्म की आराधना नहीं होती। इसलिए आत्म-गवेषक श्रमण को उसका उपशमन करना चाहिए।

गौतम ने पूछा—भगवन्! उसे अकेले को ही ऐसा क्यों करना चाहिए?

भगवान् ने कहा—गौतम! श्रामण्य उपशम-प्रधान है। जो उपशम करेगा, वही श्रमण, साधक या महान् है।

उपशमन विजय का मार्ग है। जो उपशम-प्रधान होता है, वही मध्यस्थभाव और तटस्थ-नीति को बरत सकता है।

साम्य-योग

जाति और रंग का गर्व कौन कर सकता है? यह जीव अनेक बार ऊंची और अनेक बार नीची जाति में जन्म ले चुका है।

यह जीव अनेक बार गोरा और अनेक बार काला बन चुका है। जाति और रंग, ये बाहरी आवरण हैं। ये जीव को हीन और उच्च नहीं बनाते।

बाहरी आवरणों को देख जो हृष्ट व रुष्ट होते हैं, वे मूढ़ हैं।

प्रत्येक व्यक्ति में स्वाभिमान की वृत्ति होती है। इसलिए किसी के प्रति भी तिरस्कार, घृणा और निम्नता का व्यवहार करना हिंसा है, व्यामोह है[1]।

तितिक्षा

भगवान् ने कहा—गौतम! अहिंसा का आधार तितिक्षा है[2]। जो कष्टों से घबड़ाता है, वह अहिंसक नहीं हो सकता।

इस शरीर को तपा[९]। साध्य (आत्म-हित) तपने से सधता है[१०]।

इस शरीर को तपा[११]। साध्य तपने से ही सधता है[११]।

अभय

लोक-विजय का मार्ग अभय है। कोई भी व्यक्ति सर्वदा शस्त्र-प्रयोग नहीं करता, किन्तु शस्त्रीकरण से दूर नहीं होता, उससे सब डरते हैं[१२]।

अणुबम की प्रयोग-भूमि केवल जापान है। उसकी भय-व्याप्ति सभी राष्ट्रों में है।

जो स्वयं अभय होता है, वह दूसरों को अभय दे सकता है। स्वयं भीत दूसरों को अभीत नहीं कर सकता।

आत्मानुशासन

संसार में जो भी दुःख है, वह शस्त्र से जन्मा हुआ है[१३]। संसार में जो भी दुःख है, वह संग और भोग से जन्मा हुआ है[१४]। नश्वर सुख के लिए प्रयुक्त क्रूर शस्त्र को जो जानता है, वही अशस्त्र का मूल्य जानता है, वही नश्वर सुख के लिए प्रयुक्त क्रूर शस्त्र को जान सकता है[१५]।

भगवान् ने कहा—गौतम! तू आत्मानुशासन में आ। अपने आपको जीत। यही दुःख-मुक्ति का मार्ग है[१६]। कामों, इच्छाओं और वासनाओं को जीत। यही दुःख-मुक्ति का मार्ग है[१७]।

लोक का सिद्धान्त देख—कोई जीव दुःख नहीं चाहता। तू भेद में अभेद देख, सब जीवों में समता देख। शस्त्र-प्रयोग मत कर। दुःख-मुक्ति का मार्ग यही है[१८]।

कषाय-विजय, काम विजय या इन्द्रिय-विजय, मनोविजय, शस्त्र-विजय और साम्य-दर्शन—ये दुःख मुक्ति के उपाय हैं। जो साम्यदर्शी होता है, वह शस्त्र का प्रयोग नहीं करता। शस्त्र-विजेता का मन स्थिर हो जाता है। स्थिर-चित्त व्यक्ति को इन्द्रियां नहीं सतातीं। इन्द्रिय-विजेता के कषाय (क्रोध, मान, माया, लोभ) स्वयं स्फूर्त नहीं होते।

संवर और निर्जरा

यह जीव मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (मन, वाणी

अहिंसा का यह व्यापक रूप है। इसकी परिभाषा है जो संवर और सत्प्रवृत्ति है वह अहिंसा है।

अहिंसा का दूसरा रूप है—प्राणातिपात-विरति।

भगवान् ने कहा जीवमात्र को मत मारो, मत सताओ, आधि-व्याधि मत पैदा करो, कष्ट मत दो, अधीन मत बनाओ, दास मत बनाओ यही ध्रुव-धर्म है, यही शाश्वत सत्य है। इसकी परिभाषा है—मनसा, वाचा, कर्मणा और कृत, कारित अनुमति से आक्रोश, बन्ध और वध का त्याग। दूसरे महाव्रतों की रचना का मूल यही परिभाषा है। इसमें मृषावाद, चौर्य, मैथुन और परिग्रह का समावेश नहीं होता। अहिंसा सत्य और ब्रह्मचर्य जितने व्यापक शब्द हैं, उतने व्यापक प्राणातिपात-विरति, मृषावाद-विरति और मैथुन-विरति नहीं है।

प्राणातिपात-विरति भी अहिंसा है। स्वरूप की दृष्टि से अहिंसा एक है। हिंसा भी एक है। कारण की दृष्टि से हिंसा के दो प्रकार बनते हैं—(१) अर्थ हिंसा—आवश्यकतावश की जाने वाली हिंसा और (२) अनर्थ हिंसा—अन्-आवश्यक हिंसा। मुनि सर्व हिंसा का सर्वथा प्रत्याख्यान करता है। वह अहिंसा महाव्रत को इन शब्दों में स्वीकार करता है—"भंते! मैं उपस्थित हुआ हूँ पहले महाव्रत प्राणातिपात से विरत होने के लिए। भंते! मैं सब प्रकार के प्राणातिपात का प्रत्याख्यान करता हूँ। सूक्ष्म और बादर, त्रस और स्थावर जीवों का अतिपात मनसा, वाचा, कर्मणा, मैं स्वयं न करूँगा—दूसरों से न कराऊँगा और न करने वाले का अनुमोदन करूँगा। मैं यावज्जीवन के लिए इस प्राणातिपात-विरति महाव्रत को स्वीकार करता हूँ।"

गृहस्थ अर्थ-हिंसा छोड़ने में क्षम नहीं होता, वह अनर्थ-हिंसा का त्याग और अर्थ-हिंसा का परिमाण करता है। इसलिए उसका अहिंसा-व्रत स्थूल-प्राणातिपात-विरति कहलाता है। जैन आचार्यों ने गृहस्थ के उत्तरदायित्वों और विवशताओं को जानते हुए कहा—"आरम्भी—कृषि, व्यापार सम्बन्धी और विरोधी प्रत्याक्रमण कालीन हिंसा से न बच सको तो संकल्पी-आक्रमणात्मक और अप्रायोजनिक हिंसा से अवश्य बचो।" इस मध्यम-मार्ग पर अनेक लोग

भंते ! मैं उपस्थित हुआ हूँ—दूसरे महाव्रत में मृषावाद-विरति के लिए। भंते ! मैं सब प्रकार के मृषावाद का प्रत्याख्यान करता हूँ। क्रोध, लोभ, भय और हास्यवश—मनसा, वाचा, कर्मणा मैं स्वयं मृषा न बोलूँगा, न दूसरों से बुलवाऊँगा और न बोलने वाले का अनुमोदन करूँगा। जीवन पर्यन्त मैं मृषावाद से विरत होता हूँ।

भंते ! मैं उपस्थित हुआ हूँ—तीसरे महाव्रत में अदत्तादान-विरति के लिए। भंते ! मैं सब प्रकार के अदत्तादान का त्याग करता हूँ। गाँव, नगर या अरण्य में अल्प या बहुत, अणु या स्थूल, सचित्त या अचित्त अदत्तादान मनसा, वाचा, कर्मणा मै स्वयं न लूँगा न दूसरो से लिवाउँगा और न लेने वाले का अनुमोदन करूँगा। जीवन पर्यन्त मैं अदत्तादान से विरत होता हूँ।

भंते ! मैं उपस्थित हुआ हूँ—चौथे महाव्रत में मैथुन-विरति के लिए।

भंते ! मैं सब प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूँ। दिव्य, मनुष्य और तिर्यञ्च मैथुन का मनसा, वाचा, कर्मणा मैं स्वयं न सेवन करूँगा न दूसरो से सेवन करवाउँगा न सेवन करने वाले का अनुमोदन करूँगा। जीवन पर्यन्त मैं मैथुन से विरत होता हूँ।

भंते ! मैं उपस्थित हुआ हूँ पाँचवे महाव्रत परिग्रह-विरति के लिए। भंते ! मैं सब प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ। गांव, नगर या अरण्य में अल्प या बहुत, अणु या स्थूल, सचित्त या अचित्त, परिग्रह मनसा, वाचा, कर्मण मैं स्वयं न ग्रहण करूँगा न दूसरों से ग्रहण करवाऊंगा न ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करूँगा। जीवन पर्यन्त मैं परिग्रह से विरत होता हूँ।

भंते ! मैं उपस्थित हुआ हूँ छठे व्रत रात्रि-भोजन-विरति के लिए। भंते ! मैं सब प्रकार के असन, पान, खाद्य और स्वाद्य को रात्रि में खाने का प्रत्याख्यान करता हूँ। मनसा, वाचा कर्मणा मैं स्वयं रात के समय न खाऊँगा, न दूसरों को खिलाऊँगा, न खाने वाले का अनुमोदन करूँगा। जीवन पर्यन्त मैं रात्रि-भोजन से विरत होता हूँ।

गृहस्थ के मृषावाद आदि की स्थूल-विरति होती है, इसलिए वे अणुव्रत होते हैं। स्थूल-मृषावाद-विरति, स्थूल अदत्तादान-विरति, स्वदार-सन्तोष और

इच्छा परिमाण—ये उनके नाम हैं। महाव्रतो की स्थिरता के लिए २५ भावनाएं हैं। प्रत्येक महाव्रत की पाँच-पाँच भावनाएं हैं[३०]।

इनके द्वारा मन को भावित कर ही महाव्रतो की सम्यक् आराधना की जा सकती है।

पाँच महाव्रतों में मैथुन देह से अधिक सम्बन्धित है। इसलिए मैथुन-विरति की साधना के लिए विशिष्ट-नियमो की रचना की गई है।

ब्रह्मचर्य का साधना-मार्ग

ब्रह्मचर्य भगवान् है[३१]।

ब्रह्मचर्य सब तपस्याओं में प्रधान है[३२]। जिसने ब्रह्मचर्य की आराधना कर ली उसने सब व्रतों को आराध लिया[३३]। जो अब्रह्मचर्य से दूर हैं—वे आदि मोक्ष हैं। मुमुक्षु मुक्ति के अग्रगामी हैं[३४]। ब्रह्मचर्य के भग्न होने पर सारे व्रत टूट जाते हैं[३५]।

ब्रह्मचर्य जितना श्रेष्ठ है, उतना ही दुष्कर है[३६]। इस आसक्ति को तरने वाला महासागर को तर जाता है[३७]।

कहीं पहले दण्ड, पीछे भोग है, और कहीं पहले भोग, पीछे दण्ड है—ये भोग संगकारक हैं[३८]। इन्द्रिय के विषय विकार के हेतु हैं किन्तु वे राग-द्वेष को उत्पन्न या नष्ट नही करते। जो रक्त और द्विष्ट होता है, वह उनका संयोग पा विकारी बन जाता है[३९]। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए विकार के हेतु वर्जनीय हैं। ब्रह्मचारी की चर्या यूँ होनी चाहिए :—

(१) एकान्त वास—विकार-वर्धक सामग्री से दूर रहना।

(२) कथा-संयम—कामोत्तेजक वार्तालाप से दूर रहना।

(३) परिचय-संयम—कामोत्तेजक सम्पर्कों से बचना।

(४) दृष्टि-संयम—दृष्टि के विकार से बचना।

(५) श्रुति-संयम—कर्ण-विकार पैदा करनेवाले शब्दो से बचना।

(६) स्मृति-संयम—पहले भोगे हुए भोगों की याद न करना।

(७) रस-संयम—पुष्ट-हेतु के बिना सरस पदार्थ न खाना।

(८) अति-भोजन-संयम (मिताहार)—मात्रा और संख्या में कम खाना, बार-बार न खाना, जीवन-निर्वाह मात्र खाना।

(६) विभूषा-संयम—शृङ्गार न करना।

(१०) विषय-संयम—मनोज्ञ शब्दादि इन्द्रिय विषयों तथा मानसिक संकल्पों से बचना[४०]।

(११) भेद-चिन्तन—विकार हेतुक प्राणी या वस्तु से अपने को पृथक् मानना।

(१२) शीत और ताप सहना—ठंडक में खुले बदन रहना, गर्मी में सूर्य का आतप लेना।

(१३) सौकुमार्य-त्याग।

(१४) राग-द्वेष के विलय का सकल्प करना[४१]।

(१५) गुरु और स्थविर से मार्ग-दर्शन लेना।

(१६) अज्ञानी या आसक्त का संग-त्याग करना।

(१७) स्वाध्याय में लीन रहना।

(१८) ध्यान में लीन रहना।

(१९) सूत्रार्थ का चिन्तन करना।

(२०) धैर्य रखना, मानसिक चंचलता होने पर निराश न होना[४२]।

(२१) शुद्धाहार—निर्दोष और मादक वस्तु-वर्जित आहार।

(२२) कुशल साथी का सम्पर्क[४३]।

(२३) विकार-पूर्ण-सामग्री का अदर्शन, अप्रार्थन, अचिन्तन, अकीर्तन[४४]।

(२४) काय-क्लेश—आसन करना, साज-सज्जा न करना।

(२५) ग्रामानुग्राम-विहार—एक जगह अधिक न रहना।

(२६) रूखा भोजन—रूखा आहार करना।

(२७) अनशन—यावज्जीवन आहार का परित्याग कर देना[४५]।

(२८) विषय की नश्वरता का चिन्तन करना[४६]।

(२९) इन्द्रिय का बहिर्मुखी व्यापार न करना[४७]।

(३०) भविष्य-दर्शन—भविष्य में होनेवाले विपरिणाम को देखना[४८]।

(३१) भोग में रोग का संकल्प करना[४९]।

(३२) अप्रमाद—सदा जागरूक रहना—जो व्यक्ति विकार-हेतुक सामग्री को उप-मान उसका सेवन करने लगता है; उसे पहले ब्रह्मचर्य में

शंका उत्पन्न होती है फिर क्रमशः आकांक्षा (कामना), विचिकित्सा (फल के प्रति सन्देह), द्विविधा, उन्माद और ब्रह्मचर्य-नाश हो जाता है[५०]।

इसलिए ब्रह्मचारी को पल-पल सावधान रहना चाहिए। वायु जैसे अग्नि-ज्वाला को पार कर जाता है—वैसे ही जागरूक ब्रह्मचारी काम-भोग की आसक्ति को पार कर जाता है[५१]।

साधना के स्तर

धर्म की आराधना का लक्ष्य है—मोक्ष-प्राप्ति। मोक्ष पूर्ण है। पूर्ण की प्राप्ति के लिए साधना की पूर्णता चाहिए। वह एक प्रयत्न में ही प्राप्त नहीं होती। ज्यों-ज्यों मोह का वन्धन टूटता है, त्यों-त्यों उसका विकास होता है। मोहात्मक वन्धन की तरतमता के आधार पर साधना के अनेक स्तर निश्चित किये गए हैं।

(१) सुलभ-वोधि—यह पहला स्तर है। इसमें न तो साधना का ज्ञान होता है और न अभ्यास। केवल उसके प्रति एक अज्ञात अनुराग या आकर्षण होता है। सुलभ वोधि व्यक्ति निकट भविष्य में साधना का मार्ग पा सकता है।

(२) सम्यग् दृष्टि—यह दूसरा स्तर है। इसमें साधना का अभ्यास नहीं होता किन्तु उसका ज्ञान सम्यग् होता है।

(३) अणुव्रती—यह तीसरा स्तर है। इसमें साधना का ज्ञान और स्पर्श दोनों होते हैं। अणुव्रती के लिए चार विश्राम-स्थल वताए गए हैं :—

रूपक की भाषा में :—

क—एक भारवाहक वोझ से दवा जा रहा था। उसे जहाँ पहुँचना था, वह स्थान वहाँ से वहुत दूर था। उसने कुछ दूर पहुँच अपनी गठड़ी वाएं से दाहिने कन्धे पर रख ली।

ख—थोड़ा आगे वढ़ा और देह-चिन्ता से निवृत्त होने के लिए गठड़ी नीचे रख दी।

ग—उसे उठा फिर आगे चला। मार्ग लम्बा था। वजन भी वहुत था। इसलिए उसे एक सार्वजनिक स्थान में विश्राम लेने को रुकना पड़ा।

घ—चौथी वार उसने अधिक हिम्मत के साथ उस भार को उठाया और वह ठीक वहीं जा ठहरा, जहाँ उसे जाना था।

गृहस्थ के लिए—(क) पांच शीलव्रतों का और तीन गुणव्रतों का पालन एवं उपवास करना पहला विश्राम है (ख) समायिक तथा देशावकाशिक व्रत लेना दूसरा विश्राम है, (ग) अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण पौषध करना तीसरा विश्राम है (घ) अन्तिम मारणांतिक-संलेखना करना चौथा विश्राम है।

(४) प्रतिमा-धर—*यह चौथा स्तर है*[५२]। *प्रतिमा का अर्थ अभिग्रह या* प्रतिज्ञा है। इसमें दर्शन और चारित्र दोनों की विशेष शुद्धि का प्रयत्न किया जाता है। इनके नाम, कालमान और विधि इस प्रकार है :—

नाम	कालमान
(१) दर्शन-प्रतिमा	एक मास
(२) व्रत-प्रतिमा	दो मास
(३) सामायिक-प्रतिमा	तीन मास
(४) पौषध-प्रतिमा	चार मास
(५) कायोत्सर्ग-प्रतिमा	पाँच मास
(६) ब्रह्मचर्य-प्रतिमा	छह मास
(७) सचित्ताहार वर्जन-प्रतिमा	सात मास
(८) स्वयं आरम्भ वर्जन-प्रतिमा	आठ मास
(९) प्रेष्यारम्भ वर्जन-प्रतिमा	नव मास
(१०) उद्दिष्ट भक्त वर्जन-प्रतिमा	दस मास
(११) श्रमणभूत-प्रतिमा	ग्यारह मास

विधि :—

पहली प्रतिमा में सर्व-धर्म (पूर्ण-धर्म)—रुचि होना, सम्यक्त्व-विशुद्धि रखना सम्यक्त्व के दोषों को वर्जना।

दूसरी प्रतिमा में पाँच अणुव्रत और तीन गुणव्रत धारण करना तथा पौषध-उपवास करना।

तीसरी प्रतिमा में सामायिक और देशावकाशिक व्रत धारण करना।

चौथी प्रतिमा में अष्टमी, चतुर्दशी अमावस्या और पूर्णमासी को प्रतिपूर्ण पौषध-व्रत का पालन करना।

पाँचवीं प्रतिमा में (१) स्नान नहीं करना (२) रात्रि-भोजन नहीं करना (३) धोती की लांग नहीं देना (४) दिन में ब्रह्मचारी रहना (५) रात्रि में मैथुन का परिमाण करना।

छठी प्रतिमा में सर्वथा शील पालना।

सातवीं प्रतिमा में सचित्त-आहार का परित्याग करना।

आठवीं प्रतिमा में स्वयं आरम्भ-समारम्भ न करना।

नौवीं प्रतिमा में नौकर-चाकर आदि से आरम्भ समारम्भ न कराना।

दशवीं प्रतिमा में उद्दिष्ट भोजन का परित्याग करना, बालों का क्षुर से मुण्डन करना अथवा शिखा धारण करना, घर - सम्बन्धी प्रश्न करने पर मैं जानता हूँ या नहीं', इन दो वाक्यों से ज्यादा नहीं बोलना।

ग्यारहवीं प्रतिमा में क्षुर से मुण्डन करना अथवा लुञ्चन करना और साधु का आचार, भण्डोपकरण एवं वेश धारण करना। केवल ज्ञाति-वर्ग से ही उसका प्रेम-बन्धन नहीं टूटता, इसलिए भिक्षा के लिए केवल ज्ञातिजनों में ही जाना।

(५) प्रमत्त मुनि—यह पाँचवा स्तर है। यह सामाजिक जीवन से पृथक् केवल साधना का जीवन है।

(६) अप्रमत्त-मुनि—यह छठा स्तर है। प्रमत्त-मुनि साधना में स्खलित भी हो जाता है किन्तु अप्रमत्त मुनि कभी स्खलित नहीं होता। अप्रमाद-दशा में वीतराग भाव आता है, केवल-ज्ञान होता है।

(७) अयोगी-यह सातवाँ स्तर है। इससे आत्मा मुक्त होता है।

इस प्रकार साधना के विभिन्न स्तर हैं। इनके अधिकारियों की योग्यता भी विभिन्न होती है। योग्यता की कसौटी वैराग्य भावना या निर्मोह मनोदशा है। उसकी तरतमता के अनुसार ही साधना का आलम्बन लिया जाता है। हिंसा हेय है—यह जानते हुए भी उसे सब नहीं छोड़ सकते। साधना के तीसरे स्तर में हिंसा का आंशिक त्याग होता है। हिंसा के निम्न प्रकार हैं :—
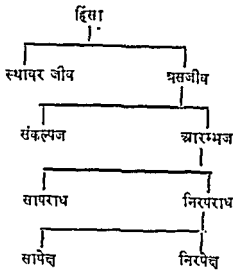
गृहस्थ के लिए आरम्भज कृषि, वाणिज्य आदि में होने वाली हिंसा से बचना कठिन होता है।

गृहस्थ पर कुटुम्ब, समाज और राज्य का दायित्व होता है, इसलिए सापराध या विरोधी हिंसा से बचना भी उसके लिए कठिन होता है।

गृहस्थ को घर आदि को चलाने के लिए वध, बन्ध आदि का सहारा लेना पड़ता है, इसलिए सापेक्ष हिंसा से बचना भी उसके लिए कठिन होता है। वह सामाजिक जीवन के मोह का भार वहन करते हुए केवल संकल्प-पूर्वक निरपराध त्रसजीवों की निरपेक्ष हिंसा से बचता है, यही उसका अहिंसा-अणुव्रत है।

वैराग्य का उत्कर्ष होता है, वह प्रतिमा का पालन करता है। वैराग्य और बढ़ता है तब वह मुनि बनता है।

भूमिका-भेद को समझ कर चलने पर न तो सामाजिक संतुलन बिगड़ता है और न वैराग्य का क्रमिक आरोह भी लुप्त होता है।

समिति

जीवन-यात्रा के निर्वाह के लिए आवश्यक प्रवृत्तियां भी संयममय और संयमपूर्वक होनी चाहिए। वैसी प्रवृत्तियों को समिति कहा जाता है, वे पाँच हैं :—

(१) ईर्या—देखकर चलना।

(२) भाषा—निरवद्य वचन बोलना।

(३) एषणा—निर्दोष और विधिपूर्वक भिक्षा लेना।

(४) आदान-निक्षेप—सावधानी पूर्वक वस्तु को लेना व रखना।

(५) परिष्ठापना—मल-मूत्र का विसर्जन विधिपूर्वक करना। तात्पर्य की भाषा में इनका उद्देश्य है—हिंसा के स्पर्श से बचना।

गुप्ति

असत्-प्रवृत्ति तथा यथासमय सत् प्रवृत्ति का भी संवरण करना गुप्ति है। वे तीन हैं :—

(१) मनो-गुप्ति—मन की स्थिरता—मानसिक प्रवृत्ति का संयमन।

(२) वचन-गुप्ति—मौन।

(३) काय-गुप्ति—कायोत्सर्ग, शरीर का स्थिरीकरण।

मानसिक एकाग्रता के लिए मौन और कायोत्सर्ग अत्यन्त आवश्यक हैं। इसीलिए आत्म-लीन होने से पहले यह संकल्प किया जाता है—"मैं कायोत्सर्ग, मौन और ध्यान के द्वारा आत्म-व्युत्सर्ग करता हूँ—आत्मलीन होता हूँ[13]।"

आहार

आहार जीवन का साध्य तो नहीं है किन्तु उसकी उपेक्षा की जा सके, वैसा साधन भी नहीं है। यह मान्यता की जरूरत नहीं किन्तु जरूरत की मांग है।

शरीर-शास्त्र की दृष्टि से इस पर सोचा गया है पर इसके दूसरे पहलू बहुत कम छुए गए हैं। यह केवल शरीर पर ही प्रभाव नहीं डालता। उसका प्रभाव मन पर भी होता है। मन अपवित्र रहे तो शरीर की स्थूलता कुछ नहीं करती, केवल पाशविक शक्ति का प्रयोग कर सकती है। उससे सब घबड़ाते हैं।

मन शान्त और पवित्र रहे, उत्तेजनाएँ कम हों—यह अनिवार्य अपेक्षा है। इसके लिए आहार का विवेक होना बहुत जरूरी है। अपने स्वार्थ के लिए बिलखते मूक प्राणियों की निर्मम हत्या करना बहुत ही क्रूर-कर्म है मांसाहार इसका बहुत बड़ा निमित्त है।

जैनाचार्यों ने आहार के समय, मात्रा और योग्य वस्तुओं के विषय में बहुत गहरा विचार किया है। रात्रि-भोजन का निषेध जैन-परम्परा से चला है। ऊनोदरी को तप का एक प्रकार माना गया। मिताशन पर बहुत भार दिया गया। मद्य, मांस, मादक पदार्थ और विकृति का वर्जन भी साधना के लिए आवश्यक माना गया।

तपयोग

भगवान् ने कहा—गौतम! विजातीय-तत्त्व से वियुक्त कर अपने आप में युक्त करने वाला योग मैंने बारह प्रकार का बतलाया है। उनमें (१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) वृत्ति-संक्षेप, (४) रस-परित्याग, (५) काय-क्लेश, (६) प्रतिसंलीनता—ये छह बहिरङ्ग योग हैं।

(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय (३) वैयावृत्त्य, (४) स्वाध्याय (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग—ये छह अन्तरंग योग हैं।

गौतम ने पूछा—भगवन्! अनशन क्या है?

भगवान्—गौतम! आहार-त्याग का नाम अनशन है। वह (१) इत्वरिक (कुछ समय के लिए) भी होता है, तथा (२) यावत्-कथित (जीवन भर के लिए) भी होता है।

गौतम—भगवन्! ऊनोदरी क्या है?

भगवान्—गौतम! ऊनोदरी का अर्थ है कमी करना।

(१) द्रव्य-ऊनोदरी—खान-पान और उपकरणों की कमी करना।

(२) भाव-ऊनोदरी—क्रोध, मान, माया, लोभ और कलह की कमी करना।

इसी प्रकार जीविका-निर्वाह के साधनों का संकोच करना वृत्ति-संक्षेप है,

सरस आहार का त्याग रस परित्याग है।

प्रतिसंलीनता का अर्थ है—बाहर से हट कर अन्तर् में लीन होना।

उसके चार प्रकार हैं—

(१) इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता।

(२) कषाय-प्रतिसंलीनता—अनुदित क्रोध, मान, माया और लोभ का

निरोध; उदित क्रोध, मान माया और लोभ का विमूलीकरण।

(३) योग-प्रतिसंलीनता—अकुशल मन, वाणी और शरीर का निरोध; कुशल मन, वाणी और शरीर का प्रयोग।

(४) विविक्त-शयन-आसन का सेवन[५४]। इसकी तुलना पतञ्जलि के 'प्रत्याहार' से होती है। जैन-प्रक्रिया में प्राणायाम को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है। उसके अनुसार विजातीय-द्रव्य या बाह्यभाव का रेचन और अन्तर भाव में स्थिर-भाव—कुम्भक ही वास्तविक प्राणायाम है।

भगवान् ने कहा—गौतम! साधक को चाहिए कि वह इस देह को केवल पूर्व-सञ्चित मल पखालने के लिए धारण करे। पहले के पाप का प्रायश्चित्त करने के लिए ही इसे निबाहे। आसक्ति पूर्वक देह का लालन-पालन करना जीवन का लक्ष्य नहीं है। आसक्ति बन्धन लाती है। जीवन का लक्ष्य है—बन्धन-मुक्ति। वह ऊर्ध्वगामी और सुदूर है[५५]।

भगवान् ने कहा—गौतम! सुख-सुविधा की चाह आसक्ति लाती है। आसक्ति से चैतन्य मूर्च्छित हो जाता है। मूर्च्छा धृष्टता लाती है। धृष्ट व्यक्ति विजय का पथ नहीं पा सकता। इसलिए मैंने यथाशक्ति काय-क्लेश का विधान किया है[५६]।

गौतम ने पूछा भगवन्! काय-क्लेश क्या है?

भगवान्—गौतम! काय-क्लेश के अनेक प्रकार हैं। जैसे—[illegible] स्थिर शान्त खड़ा रहना—कायोत्सर्ग। स्थान-स्थिर—शान्त बैठे रहना—आसन। उत्कुटुक-आसन, पद्मासन, वीरासन, निषद्या, लकुट शयन, [illegible]—ये आसन हैं। बार-बार इन्हें करना।

आतापना—शीत-ताप सहना, निर्वस्त्र रहना, शरीर को [illegible] परिकर्म न करना—यह काय-क्लेश है[५७]।

यह अहिंसा—स्थैर्य का साधन है।

भगवान् ने कहा—गौतम! आलोचना ([illegible] पूर्वकृत पाप की विशुद्धि का हेतु है। प्रतिक्रमण—([illegible] इस भावनापूर्वक अशुभ कर्म से हटना) पूर्वकृत पाप की [illegible]

(५) तपस्वी, (६) स्थविर, (७) साधर्मिक—समान धर्म आचार वाला, (८) कुल, (६) गण, (१०) संघ।

गौतम—भगवन्! स्वाध्याय क्या है?

भगवान्—गौतम! स्वाध्याय का अर्थ है—आत्म-विकासकारी अध्ययन। इसके पांच प्रकार हैं।

(१) वाचन, (२) प्रश्न, (३) परिवर्तन-स्मरण, (४) अनुप्रेक्षा-चिन्तन (५) धर्म-कथा।

गौतम—भगवन्—ध्यान क्या है?

भगवान्—गौतम! ध्यान (एकाग्रता और निरोध) के चार प्रकार हैं—(१) आर्त्त, (२) रौद्र, (३) धर्म, (४) शुक्ल।

आर्त्त ध्यान के चार प्रकार हैं—(१) अमनोज्ञ वस्तु का संयोग होने पर उसके वियोग के लिए, (२) मनोज्ञ वस्तु का वियोग होने पर उसके संयोग के लिए, (३) रोग-निवृत्ति के लिए, (४) प्राप्त सुख-सुविधा का वियोग न हो इसके लिए, जो आतुर-भावपूर्वक एकाग्रता होती है, वह आर्त्त-ध्यान है।

(१) आक्रन्द, (२) शोक, (३) रुदन और (४) विलाप—ये चार उसके लक्षण हैं।

(१) हिंसानुबन्धी (२) असत्यानुबन्धी (३) चौर्यानुबन्धी प्राप्त भोग के संरक्षण सम्बन्धी जो चिन्तन है, वह रौद्र (क्रूर) ध्यान है।

(१) स्वल्प हिंसा आदि कर्म का आचरण (२) अधिक हिंसा आदि कर्म का आचरण (३) अनर्थ कारक शस्त्रों का अभ्यास (४) मौत आने तक दोष का प्रायश्चित्त न करना—ये चार उसके लक्षण हैं। ये दो ध्यान वर्जित हैं।

(१) आज्ञा-निर्णय (आगम या वीतराग वाणी), (२) अपाय, (दोष—हेय)-निर्णय, (३) विपाक (हेय-परिणाम)-निर्णय, (४) संस्थान-निर्णय—यह धर्म-ध्यान है।

(१) आज्ञारुचि, (२) निसर्गरुचि, (३) उपदेश-रुचि, (४) सूत्र-रुचि—यह चतुर्विध श्रद्धा उसका लक्षण है।

अशुद्ध वस्तु का परिहार, कायोत्सर्ग, तपस्या—ये सब पूर्वकृत पाप की विशुद्धि के हेतु हैं[५८]।

भगवान् ने कहा—गौतम ! विनय के सात प्रकार हैं—(१) ज्ञान का विनय, (२) श्रद्धा का विनय, (३) चारित्र का विनय और (४) मन-विनय।

अप्रशस्त मन-विनय के बारह प्रकार हैं :—

(१) सावद्य, (२) सक्रिय, (३) कर्कश, (४) कटुक, (५) निष्ठुर, (६) परुष, (७) आस्रवकर, (८) छेदकर, (६) भेदकर, (१०) परिताप कर, (११) उपद्रव कर और (१२) जीव-घातक। इन्हें रोकना चाहिए।

प्रशस्त मन के बारह प्रकार इनके विपरीत हैं। इनका प्रयोग करना चाहिए।

(५) वचन-विनय—मन की भांति अप्रशस्त और प्रशस्त वचन के भी बारह-बारह प्रकार हैं।

(६) काय-विनय—अप्रशस्त-काय-विनय—अनायुक्त (असावधान) वृत्ति से चलना, खड़ा रहना, बैठना, सोना, लांघना प्रलाघना, सब इन्द्रिय और शरीर का प्रयोग करना। यह साधक के लिए वर्जित है। प्रशस्त-काय विनय—आयुक्त (सावधान) वृत्ति से चलना, यावत् शरीर प्रयोग करना—यह साधक के लिए प्रयुज्यमान है।

(७) लोकोपचार-विनय के सात प्रकार हैं :—

(१) बड़ों की इच्छा का सम्मान करना, (२) बड़ों का अनुगमन करना, (३) कार्य करना, (४) कृतज्ञ बने रहना, (५) गुरु के चिन्तन की गवेषणा करना, (६) देश-काल का ज्ञान करना और (७) सर्वथा अनुकूल रहना।

गौतम—भगवन् ! वैयावृत्य क्या है ?

भगवान्—गौतम ! वैयावृत्य का अर्थ है—सेवा करना, संयम को अवलम्बन देना।

साधक के लिए वैयावृत्य के योग्य दस श्रेणी के व्यक्ति हैं :—

(१) आचार्य, (२) उपाध्याय, (३) शैक्ष-नयासाधक, (४) रोगी,

(५) तपस्वी, (६) स्थविर, (७) साधर्मिक—समान धर्म आचार वाला, (८) कुल, (९) गण, (१०) संघ।

गौतम—भगवन्! स्वाध्याय क्या है?

भगवान्—गौतम! स्वाध्याय का अर्थ है—आत्म-विकासकारी अध्ययन। इसके पांच प्रकार हैं।

(१) वाचन, (२) प्रश्न, (३) परिवर्तन-स्मरण, (४) अनुप्रेक्षा-चिन्तन (५) धर्म-कथा।

गौतम—भगवन्—ध्यान क्या है?

भगवान्—गौतम! ध्यान (एकाग्रता और निरोध) के चार प्रकार हैं—(१) आर्त्त, (२) रौद्र, (३) धर्म, (४) शुक्ल।

आर्त्त ध्यान के चार प्रकार हैं—(१) अमनोज्ञ वस्तु का संयोग होने पर उसके वियोग के लिए, (२) मनोज्ञ वस्तु का वियोग होने पर उसके संयोग के लिए, (३) रोग-निवृत्ति के लिए, (४) प्राप्त सुख-सुविधा का वियोग न हो इसके लिए, जो आतुर-भावपूर्वक एकाग्रता होती है, वह आर्त्त-ध्यान है।

(१) आक्रन्द, (२) शोक, (३) रुदन और (४) विलाप—ये चार उसके लक्षण हैं।

(१) हिंसानुबन्धी (२) असत्यानुबन्धी (३) चोर्यानुबन्धी प्राप्त भोग के संरक्षण सम्बन्धी जो चिन्तन है, वह रौद्र (क्रूर) ध्यान है।

(१) स्वल्प हिंसा आदि कर्म का आचरण (२) अधिक हिंसा आदि कर्म का आचरण (३) अनर्थ कारक शस्त्रों का अभ्यास (४) मौत आने तक दोष का प्रायश्चित्त न करना—ये चार उसके लक्षण हैं। ये दो ध्यान वर्जित हैं।

(१) आज्ञा-निर्णय (आगम या वीतराग वाणी), (२) अपाय, (दोष—हेय)-निर्णय, (३) विपाक (हेय-परिणाम)-निर्णय, (४) संस्थान-निर्णय—यह धर्म-ध्यान है।

(१) आज्ञारुचि, (२) निसर्गरुचि, (३) उपदेश-रुचि, (४) सूत्र-रुचि—यह चतुर्विध श्रद्धा उसका लक्षण है।

(१) वाचन, (२) प्रश्न, (३) परिवर्तन, (४) धर्म-कथा—ये चार उसकी अनुप्रेक्षाएं हैं—चिन्त्य विषय हैं। शुक्ल ध्यान के चार प्रकार हैं :—

(१) भेद-चिन्तन (पृथक्त्व-वितर्क-सविचार)

(२) अभेद-चिन्तन (एकत्व-वितर्क-अविचार)

(३) मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति का निरोध (सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाति)

(४) श्वासोच्छ्वास जैसी सूक्ष्म प्रवृत्ति का निरोधपूर्ण अकम्पन-दशा (समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति)

(१) विवेक—आत्मा और देह के भेद-ज्ञान का प्रकर्ष।

(२) व्युत्सर्ग—सर्व-संग-परित्याग, (३) अचल उपसर्ग-सहिष्णु।

(४) असम्मोह—ये चार उसके लक्षण हैं।

(१) क्षमा, (२) मुक्ति, (३) आर्जव, (४) मृदुता—ये चार उसके आलम्बन हैं।

(१) अपाय, (२) अशुभ, (३) अनन्त-पुद्गल-परावर्त्त, (४) वस्तु-परिणमन—ये चार उसकी अनुपेक्षाएं हैं। ये दो ध्यान धर्म और शुक्ल आचरणीय हैं।

वितर्क का अर्थ श्रुत है। विचार का अर्थ है—वस्तु, शब्द और योग का संक्रमण।

ध्येय दृष्टि से वितर्क या श्रुतालम्बन के दो रूप हैं—(१) पृथक्त्व का चिन्तन—एक द्रव्य के अनेक पर्यायों का चिन्तन। (२) एकत्व का चिन्तन—एक द्रव्य के एक पर्याय का चिन्तन।

ध्येय संक्रान्ति की दृष्टि से शुक्ल-ध्यान के दो रूप बनते हैं—सविचार और अविचार।

(१) सविचार (सकम्प) में ध्येय वस्तु, उसके वाचक शब्द और योग-(मन, वचन और शरीर) का परिवर्तन होता रहता है।

(२) अविचार (अकम्प) में ध्येय वस्तु, उसके वाचक शब्द और योग का परिवर्तन नहीं होता।

भेद चिन्तन की अपेक्षा अभेद-चिन्तन में और संक्रमण की अपेक्षा, संक्रमण-निरोध में ध्यान अधिक परिपक्व होता है।

धर्म-ध्यान के अधिकारी असंयत, देश-संयत, प्रमत्त-संयत और अप्रमत्त-संयत होते हैं[५९]।

शुक्ल-ध्यान—व्यक्ति की दृष्टि से :—

(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार और (२) एकत्व-वितर्क-अविचार के अधिकारी निवृत्ति वादर, अनिवृत्ति वादर, सूक्ष्म-सम्पराय, उपशान्त-मोह और क्षीण-मोह मुनि होते हैं[६०]।

(३) सूक्ष्म-क्रिय-अप्रतिपाति के अधिकारी सयोगी केवली होते हैं[६१]।

(४) समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति के अधिकारी अयोगी केवली होते हैं[६२]।

योग की दृष्टि से :—

(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार—तीन योग (मन, वाणी और काय) वाले व्यक्ति के होता है।

(२) एकत्व-वितर्क-अविचार—तीनों में से किसी एक योग वाले व्यक्ति के होता है।

(३) सूक्ष्म-क्रिय-अप्रतिपाति—काय-योग वाले व्यक्ति के होता है।

(४) समुच्छिन्न-क्रिय-अनिवृत्ति—अयोगी केवली के होता है[६३]।

गौतम—भगवन्! व्युत्सर्ग क्या है?

भगवान्—गौतम! शरीर, सहयोग, उपकरण और खान-पान का त्याग तथा कषाय, संसार और कर्म का त्याग व्युत्सर्ग है[६४]।

श्रमण संस्कृति और श्रामण्य

कर्म को छोड़कर मोक्ष पाना और कर्म का शोधन करते-करते मोक्ष पाना—ये दोनों विचारधाराएं यहाँ रही हैं। दोनों का साध्य एक ही है—"निष्कर्म बन जाना"। भेद सिर्फ प्रक्रिया में है। पहली कर्म के सन्यास की है, दूसरी उसके शोधन की। कर्म-संन्यास साध्य की ओर द्रुत-गति से जाने का क्रम है और कर्म-योग उसकी ओर धीमी गति से आगे बढ़ता है। शोधन का मतलब संन्यास ही है। कर्म के जितने असत् अंश का संन्यास होता है, उतने ही अंश में वह शुद्ध बनता है। इस दृष्टि से यह कर्म संन्यास का

अनुगामी मन्द-क्रम है। साध्य का स्वरूप निष्कर्म या सर्व-कर्म-निवृत्ति है। इस दृष्टि से प्रवृत्ति का संन्यास प्रवृत्ति के शोधन की अपेक्षा साध्य के अधिकनिकट है। जैन दर्शन के अनुसार जीवन प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय है, यह सिद्धान्त-पक्ष है। क्रियात्मक पक्ष यह है—प्रवृत्ति के असत् अंश को छोड़ना, सत्-अंश का साधन के रूप में अवलम्बन लेना तथा क्षमता और वैराग्य के अनुरूप निवृत्ति करते जाना। श्रामण्य या संन्यास का मतलब है—असत्-प्रवृत्ति के पूर्ण त्यागात्मक मत का ग्रहण और उसकी साधन सामग्री के अनुकूल स्थिति का स्वीकार। यह मोह-नाश का सहज परिणाम है। इसे सामाजिक दृष्टि से नहीं आंका जा सकता। कोरा ममत्व-त्याग हो—पदार्थ-त्याग न हो,—यह मार्ग पहले क्षण में सरस भले लगे पर अन्ततः सरस नहीं है। पदार्थ-संग्रह अपने आप में सदोष या निर्दोष कुछ भी नही है। वह व्यक्ति के ममत्व से जुड़कर सदोष बनता है। ममत्व टूटते ही संग्रह का संक्षेप होने लगता है और वह संन्यास की दशा में जीवन-निर्वाह का अनिवार्य साधन मात्र बन रह जाता है। इसीलिए उसे अपरिग्रही या अनिचय कहा जाता है। संस्कारो का शोधन करते-करते कोई व्यक्ति ऐसा हो सकता है, जो पदार्थ-संग्रहके प्रति अल्प-मोह हो, किन्तु यह सामान्य-विधि नही है। पदार्थ-संग्रहसे दूर रह कर ही निर्मोह-संस्कार को विकसित किया जा सकता है, असंस्कारी-दशा का लाभ किया जा सकता है—यह सामान्य विधि है।

पदार्थवाद या जड़वाद का युग है। जड़वादी दृष्टिकोण संन्यास को पसन्द ही नही करता। उसका लक्ष्य कर्म या प्रवृत्ति से आगे जाता ही नहीं। किन्तु जो आत्मवादी और निर्वाण-वादी हैं, उन्हें कोरी प्रवृत्ति की भूलभुलैया में नहीं भटक जाना चाहिए। संन्यास—जो त्याग का आदर्श और साध्य की साधना का विकसित रूप है, उसके निर्मूलन का भाव नही होना चाहिए। यह सारे अध्यात्म-मनीषियों के लिए चिन्तनीय है।

चिन्तन के आलोक में आत्मा का दर्शन नहीं हुआ, तबतक शरीर-सुख ही सब कुछ रहा। जब मनुष्य में विवेक जागा—आत्मा और शरीर दो हैं—यह भेद-ज्ञान हुआ, तब आत्मा साध्य बन गया और शरीर साधन मात्र। आत्म-ज्ञान के बाद आत्मोपलब्धि का क्षेत्र खुला। श्रमणों ने कहा—दृष्टि मोह

आत्म दर्शन में बाधा डालता है और चारित्र-मोह आत्म-उपलब्धि में। आत्म-साक्षात्कार के लिये संयम किया जाए, तप तपा जाए। संयम से मोह का प्रवेश रोका जा सकता है, और तपसे संचित मोह का व्यूह तोड़ा जा सकता है।

अकुव्वओ नवं नत्थि, कम्मं नाम वियाणइ।

सूत्र १।१५।७

भव कोडि संचियं कम्मं, तवसा निज्जरिज्जई।

उत्त० । ३०,६

ऋषियों ने कहा—आत्मा तप और ब्रह्मचर्य द्वारा लभ्य है :—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥

ऋग्वेद का एक ऋषि आत्म-ज्ञान की तीव्र जिज्ञासा से कहता है—"मैं नहीं जानता—मैं कौन हूँ अथवा कैसा हूँ[१५]?

वैदिक संस्कृति का जबतक श्रमण-संस्कृति से सम्पर्क नहीं हुआ, तबतक उसमें आश्रम दो ही थे—ब्रह्मचर्य और गृहस्थ। सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन की सुख-समृद्धि के लिए इतना ही पर्याप्त माना जाता था।

जब क्षत्रिय राजाओं से ब्राह्मण ऋषियों को आत्मा और पुनर्जन्म का बोध-बीज मिला, तबसे आश्रम-परम्परा का विकास हुआ, वे क्रमशः तीन और चार बने।

वेद-संहिता और ब्राह्मणों में संन्यास-आश्रम आवश्यक कहीं नहीं कहा गया है, उल्टा जैमिनि ने वेदों का यही स्पष्ट मत बतलाया है कि गृहस्थाश्रम में रहने से ही मोक्ष मिलता है[१६]। उनका यह कथन कुछ निराधार भी नहीं है। क्योंकि कर्मकाण्ड के इस प्राचीन मार्ग को गौण मानने का आरम्भ उपनिषदों में ही पहले-पहल देखा जाता है[१७]।

श्रमण-परम्परा में क्षत्रियों का प्राधान्य रहा है, और वैदिक-परम्परा में ब्राह्मणों का। उपनिषदों में अनेक ऐसे उल्लेख हैं, जिनसे पता चलता है कि ब्राह्मण ऋषि-मुनियों ने क्षत्रिय राजाओं से आत्म-विद्या सीखी।

(१) नचिकेता ने सूर्यवंशी शाखा के राजा वैवस्वत यमके पास आत्मा का रहस्य जाना[६८]।

(२) सनत्कुमार ने नारद से पूछा— बतलाओ तुमने क्या पढ़ा है? नारद बोले—भगवन्! मुझे ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद याद है, (इनके सिवा) इतिहास पुराण रूप पाँचवाँ वेद·····आदि—हे भगवन्! यह सब मैं जानता हूँ। भगवन्! मैं केवल मन्त्र-वेत्ता ही हूँ, आत्म वेत्ता नहीं हूँ। सनत्कुमार आत्मा की एक-एक भूमिका को स्पष्ट करते हुए नारद को परमात्मा की भूमिका तक ले गए,—'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति'। जहाँ कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता तथा कुछ और नहीं जानता वह भूमा है। किन्तु जहाँ और कुछ देखता है, कुछ और सुनता है एवं कुछ और जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है, वही अमृत है और जो अल्प है, वही मर्त्य है—'यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्[६९]।

(३) प्राचीनशाल आदि महा गृहस्थ और महा श्रोत्रिय मिले और परस्पर विचार करने लगे कि हमारा आत्मा कौन है और ब्रह्म क्या है?— 'को न आत्मा किं ब्रह्मेति'? वे वैश्वानर आत्मा को जानने के लिए अरुण पुत्र उद्दालक के पास गए। उसे अपनी अक्षमता का अनुभव था। वह उन सबको कैकेय अश्वपति के पास ले गया। राजा ने उन्हें धन देना चाहा। उन मुनियों ने कहा—हम धन लेने नहीं आये हैं। आप वैश्वानर-आत्मा को जानते हैं, इसीलिए वही हमें बतलाइए। फिर राजाने उन्हें वैश्वानर-आत्मा का उपदेश दिया[७०]। काशी नरेश अजातशत्रु ने गार्ग्य को विज्ञानमय पुरुष का तत्त्व समझाया[७१]।

(४) पांचाल के राजा प्रवाहण जैवलि ने गौतम ऋषि से कहा—गौतम! तू जिस विद्या को लेना चाहता है, वह विद्या तुझसे पहले ब्राह्मणों को प्राप्त नहीं होती थी। इसलिए सम्पूर्ण लोकों में क्षत्रियों का ही अनुशासन होता रहा है[७२]। प्रवाहण ने आत्मा की गति और आगति के बारे में पूछा। वह विषय बहुत ही अज्ञात रहा है, इसीलिए आचारांग के आरम्भ में कहा गया है—"कुछ लोग नहीं जानते थे कि मेरी आत्मा का पुनर्जन्म होगा

या नहीं होगा ? मैं कौन हूँ, पहले कौन था ? यहाँ से मरकर कहाँ होऊँगा"[७३]।

श्रमण-परम्परा इन शाश्वत प्रश्नों के समाधान पर ही अवस्थित हुई। यही कारण है कि वह सदा से आत्मदर्शी रही है। देह के पालन की उपेक्षा सम्भव नहीं, किन्तु उसका दृष्टिकोण देह-लक्षी नहीं रहा है। कहा जाता है—श्रमण-परम्परा ने समाज-रचना के बारे में कुछ सोचा ही नहीं। इसमें कुछ तथ्य भी है। भगवान् ऋषभदेव ने पहले समाज-रचना की और फिर वे आत्म-साधना में लगे। भारतीय-जीवन के विकास-क्रम में उनकी देन बहुत ही महत्त्वपूर्ण और बहुत ही प्रारम्भिक है। जिसका उल्लेख वैदिक और जैन—दोनों परम्पराओं में प्रचुरता से मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र, सोमदेव सूरि आदि के अर्हन्नीति, नीतिवाक्यामृत आदि ग्रन्थ समाज-व्यवस्था के सुन्दर ग्रन्थ हैं। यह सच भी है—जैन-बौद्ध मनीषियों ने जितना अध्यात्म पर लिखा, उसका शतांश भी समाज-व्यवस्था के बारे में नहीं लिखा। इसके कारण भी हैं—श्रमण-परम्परा का विकास आत्म-लक्षी दृष्टिकोण के आधार पर हुआ है। निर्वाण-प्राप्ति के लिए शाश्वत-सत्यों की व्याख्या में ही उन्होंने अपने आपको खपाया। समाज-व्यवस्था को वे धर्म से जोड़ना नहीं चाहते थे। धर्म जो आत्म-गुण है, को परिवर्तनशील समाज-व्यवस्था से जकड़ देने पर तो उसका ध्रुव रूप विकृत हो जाता है।

समाज-व्यवस्था का कार्य समाज-शास्त्रियों के लिए ही है। धार्मिकों को उनके क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। मनुस्मृति आदि समाज-व्यवस्था के शास्त्र हैं। वे विधि-ग्रन्थ हैं, मोक्ष ग्रन्थ नहीं। इन विधि-ग्रन्थों को शाश्वत रूप मिला, वह आज स्वयं प्रश्न-चिह्न बन रहा है। हिन्दू कोडबिल का विरोध इसीलिए हुआ कि उन परिवर्तनशील विधियों को शाश्वत सत्य का सा रूप मिल गया था। श्रमण-परम्परा ने न तो विवाह आदि संस्कारों के अपरिवर्तित रूप का आग्रह रखा और न उन्हें शेष समाज से अलग बनाये रखने का आग्रह ही किया।

सोमदेव सूरि के अनुसार जैनों की वह सारी लौकिक विधि प्रमाण है, जिससे सम्यक् दर्शन में बाधा न आये, व्रतों में दोष न लगे :—

"सर्व एव हि जैनानां, प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्व हानिर्न, यत्र न व्रतदूषणम्।"

श्रमण परम्परा ने धर्म को लौकिक-पक्ष से अलग रखना ही श्रेय समझा। धर्म लोकोत्तर वस्तु है। वह शाश्वत सत्य है। वह द्विरूप नहीं हो सकता। लौकिक विधियाँ भौगोलिक और सामयिक विविधताओं के कारण अनेक रूप होती हैं और उनके रूप बदलते ही रहते हैं। श्री रवीन्द्रनाथ ने 'धर्म और समाज' में लिखा है कि हिन्दू धर्म ने समाज और धर्म को एक-मेक कर दिया, इससे रूढ़िवाद को बहुत प्रश्रय मिला है धर्म शब्द के बहु-अर्थक प्रयोग से भी बहुत व्यामोह फैला है। धर्म-शब्द के प्रयोग पर ही लोग उलझ बैठे। शाश्वत-सत्य और तत्कालीन अपेक्षाओं का विवेक न कर सके। इसीलिए समय-समय पर होने वाले मनीषियों को उनका भेद समझाने का प्रयत्न करना पड़ा। लोकमान्य तिलक के शब्दों में—"महाभारत में धर्म शब्द अनेक स्थानों पर आया है और जिस स्थान में कहा गया है कि 'किसी को कोई काम करना धर्म संगत है' उस स्थान में धर्म-शब्द से कर्त्तव्य-शास्त्र अथवा तत्कालीन समाज-व्यवस्था शास्त्र ही का अर्थ पाया जाता है तथा जिस स्थान में पारलौकिक कल्याण के मार्ग बतलाने का प्रसंग आया है, उस स्थान पर अर्थात् शान्ति पूर्वक उत्तरार्ध में 'मोक्ष-धर्म' इस विशिष्ट शब्द की योजना की गई है[७४]।

श्रमण-परम्परा इस विषय में अधिक सतर्क रही है। उसने लोकोत्तर-धर्म के साथ लौकिक विधियों को जोड़ा नहीं। इसीलिए वह बराबर लोकोत्तर पक्ष की सुरक्षा करने में सफल रही है और इसी आधार पर वह व्यापक बन सकी है। यदि श्रमण-परम्परा में भी वैदिकों की भाँति जाति और संस्कारों का आग्रह होता तो करोड़ों चीनी और जापानी कभी भी श्रमण-परम्परा का अनुगमन नहीं करते।

आज जो करोड़ों चीनी और जापानी श्रमण-परम्परा के अनुयायी हैं, वे इसीलिए हैं कि वे अपने संस्कारों और सामाजिक विचारों में स्वतंत्र रहते हुए भी श्रमण-परम्परा के लोकोत्तर पक्ष का अनुसरण कर सकते हैं।

समन्वयकी भाषा में वैदिक परम्परा जीवन का व्यवहार-पक्ष है और श्रमण-परम्परा जीवन का लोकोत्तर पक्ष।

वैदिको व्यवहर्तव्यः, कर्तव्यः पुनरार्हतः।

लक्ष्य की उपलब्धि उसी के अनुरूप साधना से हो सकती है। आत्मा शरीर, वाणी और मन से परे है और न उन द्वारा प्राप्य है[७५]।

मुक्त आत्मा और ब्रह्म के शुद्ध रूप की मान्यता में दोनों परम्पराएँ लगभग एक मत हैं। कर्म या प्रवृत्ति शरीर, वाणी और मन का कार्य है। इनसे परे जो है, वह निष्कर्म है। श्रामण्य या संन्यास का मतलब है—निष्कर्म-भाव की साधना। इसीका नाम है संयम। पहले चरण में कर्म-मुक्ति नहीं होती। किन्तु संयम का अर्थ है कर्म-मुक्ति के संकल्प से चल कर्म-मुक्ति तक पहुँच जाना, निर्वाण पा लेना।

प्रवर्तक-धर्म के अनुसार वर्ग तीन ही थे—धर्म, काम और अर्थ। चतुर्वर्ग की मान्यता निवर्तक धर्म की देन है। निवर्तक-धर्म के प्रभाव से मोक्ष की मान्यता व्यापक बनी। आश्रम की व्यवस्था में भी विकल्प आ गया, जिसके स्पष्ट निर्देश हमें जाबालोपनिषद्, गौतम धर्म-सूत्र आदि में मिलते हैं—ब्रह्मचर्य पूरा करके गृही बनना, गृह में से वनी (वानप्रस्थ) होकर प्रव्रज्या—संन्यास लेना, अथवा ब्रह्मचर्याश्रम से ही गृहस्थाश्रम या वानप्रस्थाश्रम से ही प्रव्रज्या लेना। जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो जाए, उसी दिन प्रव्रज्या लेना[७६]।

पं० सुखलाल जी ने अश्रम-विकास की मान्यता के बारे में लिखा है—'जान पड़ता है, इस देश में जब प्रवर्तक धर्मानुयायी वैदिक आर्य पहले पहल आये, तब भी कहीं न कहीं इस देश में निवर्तक धर्म एक या दूसरे रूप में प्रचलित था। शुरू में इन दो धर्म-संस्थाओं के विचारों में पर्याप्त संघर्ष रहा, पर निवर्तक-धर्म के इने-गिने सच्चे अनुगामियों की तपस्या, ध्यान-प्रणाली और असंगचर्या का साधारण जनता पर जो प्रभाव धीरे-धीरे पड़ रहा था, उसने प्रवर्तक धर्म के कुछ अनुगामियों को भी अपनी ओर खींचा और निवर्तक-धर्म की संस्थाओं का अनेक रूप में विकास होना शुरू हुआ। इसका प्रभावशाली फल अन्त में यह हुआ कि प्रवर्तक धर्म के आधारभूत जो ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो आश्रम माने जाते थे, उनके स्थान में प्रवर्तक-धर्म के पुरस्कर्ताओंने पहले तो

वानप्रस्थ सहित तीन और पीछे संन्यास सहित चार आश्रमों को जीवन में स्थान में दिया। निवर्त्तक-धर्म की अनेक संस्थाओं के बढ़ते हुए जन-व्यापी प्रभाव के कारण अन्त में तो यहाँ तक प्रवर्तक धर्मानुयायी ब्राह्मणों ने विधान मान लिया कि गृहस्थाश्रम के बाद जैसे संन्यास न्याय प्राप्त है, वैसे ही अगर तीव्र वैराग्य हो तो गृहस्थाश्रम बिना किए भी सीधे ब्रह्मचर्याश्रम से प्रव्रज्या-मार्ग न्याय-प्राप्त है। इस तरह जो निवर्त्तक धर्म का जीवन में समन्वय स्थिर हुआ, उसका फल हम दार्शनिक साहित्य और प्रजा-जीवन में आज भी देखते हैं[७७]।

मोक्ष की मान्यता के बाद गृह-त्याग का सिद्धान्त स्थिर हो गया। वैदिक ऋषियों ने आश्रम-पद्धति से जो संन्यास की व्यवस्था की, वह भी यान्त्रिक होने के कारण निर्विकल्प न रह सकी। संन्यास का मूल अन्तःकरण का वैराग्य है। वह सब को आये, या अमुक अवस्था के ही बाद आये, पहले न आये, ऐसा विधान नहीं किया जा सकता। संन्यास आत्मिक-विधान है, यान्त्रिक स्थिति उसे जकड़ नहीं सकती। श्रमण-परम्परा ने दो ही विकल्प माने—अगार धर्म और अणगार धर्म—"अगार-धम्मं अणगार धम्मं च"[७८]।

श्रमण-परम्परा गृहस्थ को नीच और श्रमण को उच्च मानती है, यह निरपेक्ष नहीं है। साधना के क्षेत्र में नीच-ऊँच का विकल्प नहीं है। वहाँ संयम ही सब कुछ है। महावीर के शब्दों में—'कई गृह त्यागी भिक्षुओं की अपेक्षा कुछ गृहस्थों का संयम प्रधान है और उनकी अपेक्षा साधनाशील संयमी मुनियों का संयम प्रधान है[७९]।

श्रेष्ठता व्यक्ति नहीं, संयम है। संयम और तप का अनुशीलन करने वाले, शान्त रहने वाले भिक्षु और गृहस्थ—दोनों का अगला जीवन भी तेजोमय बनता है[८०]।

समता-धर्म को पालने वाला, श्रद्धाशील और शिक्षा-सम्पन्न गृहस्थ घर में रहता हुआ भी मौत के बाद स्वर्ग में जाता है[८१]।

किन्तु संयम का चरम-विकास मुनि-जीवन में ही हो सकता है। निर्वाण-लाभ मुनि को ही हो सकता है—यह श्रमण-परम्परा का ध्रुव अभिमत है।

मुनि-जीवन की योग्यता उन्हीं में आती है, जिनमें तीव्र वैराग्य का उदय हो जाए।

ब्राह्मण-वेषधारी इन्द्र ने राजर्षि नमि से कहा—"राजर्षि ! गृहवास घोर आश्रम है। तुम इसे छोड़ दूसरे आश्रम में जाना चाहते हो, यह उचित नहीं। तुम यहीं रहो और यहीं धर्म-पोषक कार्य करो।

नमि राजर्षि बोले—ब्राह्मण ! मास-मास का उपवास करनेवाला और पारणा में कुश की नोक टिके उतना स्वल्प आहार खाने वाला गृहस्थ मुनि-धर्म की सोलहवीं कला की तुलना में भी नहीं आता[८२]।

जिसे शाश्वत घर में विश्वास नहीं, वही नश्वर घर का निर्माण करता है[८३]।

यही है तीव्र वैराग्य। मोक्ष-प्राप्ति की दृष्टि से विचार न हो, तब गृहवास ही सब कुछ है। उस दृष्टि से विचार किया जाए, तब आत्म-साक्षात्कार ही सब कुछ है। गृहवास और गृहत्याग का आधार है—आत्म-विकास का तारतम्य। गौतम ने पूछा—भगवन् ! गृहवास असार है और गृह-त्याग सार-यह जानकर भला घर में कौन रहे ? भगवान् ने कहा—गौतम ! जो प्रमत्त हो वही रहे और कौन रहे[८४]।

किन्तु यह ध्यान रहे, श्रमण-परम्परा वेष को महत्त्व देती भी है और नहीं भी। साधना के अनुकूल वातावरण भी चाहिए—इस दृष्टि से वेष-परिवर्तन गृहवास का त्याग आदि-आदि बाहरी वातावरण की विशुद्धि का भी महत्त्व है। आन्तरिक विशुद्धि का उत्कृष्ट उदय होने पर गृहस्थ या किसी के भी वेष में आत्मा मुक्त हो सकता है[८५]।

मुक्ति—वेष या बाहरी वातावरण के कृत्रिम परिवर्तन से नहीं होती, किन्तु आत्मिक उदय से होती है। आत्मा का सहज उदय किसी विरल व्यक्ति में ही होता है। उसे सामान्य मार्ग नहीं माना जा सकता। सामान्य मार्ग यह है कि मुमुक्षु व्यक्ति अभ्यास करते-करते मुक्ति-लाभ करते हैं। अभ्यास के क्रमिक विकास के लिए बाहरी वातावरण को उसके अनुकूल बनाना आवश्यक है। साधना आखिर मार्ग है, प्राप्ति नहीं। मार्ग में चलने वाला भटक भी सकता है। जैन-आगमों और बौद्ध-पिटकों में ऐसा यत्न किया गया है, जिससे

साधक न भटके। ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य में विचिकित्सा न हो—इसलिए एकान्तवास, दृष्टि-संयम, स्वाद-विजय, मिताहार, स्पर्श-त्याग आदि-आदि का विधान किया है। स्थूलिभद्र या जनक जैसे अपवादों को ध्यान में रख कर इस सामान्य विधि का तिरस्कार नहीं किया जा सकता।

आत्मिक-उदय और अनुदय की परम्परा में पलने वाला पुरुष भटक भी सकता है, किन्तु वह ब्रह्मचर्य के आचार और विनय का परिणाम नहीं है। ब्रह्मचारी संसर्ग से बचे, यह मान्यता भय नहीं किन्तु सुरक्षा है। संसर्ग से बचने वाले भिक्षु कामुक बने और संसर्ग करने वाले—साथ-साथ रहने वाले स्त्री-पुरुष-कामुक नहो बने—यह क्वचित् उदाहरण मात्र हो सकता है, सिद्धान्त नहीं। सिद्धान्ततः ब्रह्मचर्य के अनुकूल सामग्री पाने वाला ब्रह्मचारी हो सकता है। उसके प्रतिकूल सामग्री में नहीं। भुक्ति और मुक्ति दोनों साथ चलते हैं, यह तथ्य श्रमण-परम्परा में मान्य रहा है। पर उन दोनों की दिशाएं दो हैं और स्वरूपतः वे दो हैं, यह तथ्य कभी भी नहीं भुलाया गया। भुक्ति सामान्य जीवन का लक्ष्य हो सकता है, किन्तु वह आत्मोदयी जीवन का लक्ष्य नहीं है। मुक्ति आत्मोदय का लक्ष्य है। आत्म-लक्षी व्यक्ति भुक्ति को जीवन की दुर्बलता मान सकता है, सम्पूर्णता नहीं। समाज में भोग प्रधान माने जाते हैं—यह चिरकालीन अनुश्रुति है, किन्तु श्रमण-धर्म का अनुगामी वह है जो भोग से विरक्त हो जाए, आत्म-साक्षात्कार के लिए उद्यत हो जाए[८१]।

इस विचारधारा ने विलासी समाज पर अंकुश का कार्य किया। "नहीं वेरेण वेराइं, सम्मंतीध कदाचन"—इस तथ्य ने भारतीय मानस को उस उत्कर्ष तक पहुँचाया, जिस तक—"जिते च लभ्यते लक्ष्मी-र्मृते चापि सुरांगना" का विचार पहुँच ही नहीं सका।

जैन और बौद्ध शासकों ने भारतीय समृद्धि को बहुत सफलता से बढ़ाया है। भारत का पतन विलास, आपसी फूट और स्वार्थपरता से हुआ है, त्याग परक संस्कृति से नहीं। कइयों ने यह दिखलाने का यत्न किया है कि श्रमण-परम्परा कर्म-विमुख होकर भारतीय संस्कृति के विकास में बाधक रही है। इसका कारण दृष्टिकोण का भेद ही हो सकता है। कर्म की व्याख्या में भेद होना एक बात है और कर्म का निरसन दूसरी बात। श्रमण-परम्परा के

अनुसार कोरे ज्ञानवादी जो कहते हैं, किन्तु करते नही, वे अपने आपको केवल वाणी के द्वारा आश्वासन देते हैं[८७]।

"सम्यग्-ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः"—"यह जैनों का सर्व विदित वाक्य है। कर्म का नाश मोक्ष में होता है या मुक्त होने के आसपास। इससे पहले कर्म को रोका ही नहीं जा सकता। कर्म प्रत्येक व्यक्ति में होता है। भेद यह रहता है कि कौन किस दशा में उसे लगता है और कौन किस कर्म को हेय और किसे उपादेय मानता है।

श्रमण-परम्परा के दो पक्ष हैं—गृहस्थ और श्रमण। गृहस्थ-जीवन के पक्ष दो होते हैं—लौकिक और लोकोत्तर। श्रमण-जीवन का पक्ष केवल लोकोत्तर होता है। श्रमण-परम्परा के आचार्य लौकिक कर्म को लोकोत्तर कर्म की भांति एक रूप और अपरिवर्तनशील नही मानते। इसलिए उन्होने गृहस्थ के लिए भी केवल लोकोत्तर कर्मों का विधान किया है, श्रमणो के लिए तो ऐसा है ही।

गृहस्थ अपने लौकिक पक्ष की उपेक्षा कर ही कैसे सकते हैं और वे ऐसा कर नही सकते, इसी दृष्टि से उनके लिए व्रतो का विधान किया गया, जबकि श्रमणों के लिए महाव्रतों की व्यवस्था हुई।

श्रमण कुछ एक ही हो सकते हैं। समाज का बड़ा भाग गृहस्थ जीवन बिताता है। गृहस्थ के लौकिक पक्ष में—"कौन सा कर्म उचित है और कौन सा अनुचित"—इसका निर्णय देने का अधिकार समाज-शास्त्र को है, मोक्ष-शास्त्र को नहीं। मोक्ष-साधना की दृष्टि से कर्म और अकर्म की परिभाषा यह है—'कोई कर्म को वीर्य कहते हैं और कोई अकर्म को। सभी मनुष्य इन्ही दोनों से घिरे हुए हैं[८८]। प्रमाद कर्म है और अप्रमाद अकर्म—"पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं[८९]।

प्रमाद को बाल वीर्य और अप्रमाद को पंडित-वीर्य कहा जाता है। जितना असंयम है, वह सब बाल-वीर्य या सकर्म-वीर्य है और जितना संयम है, सब पंडित-वीर्य या अकर्म-वीर्य है[९०]। जो अबुद्ध है, असम्यक्-दर्शी है, और असंयमी है, उसका पराक्रम—प्रमाद-वीर्य बन्धन कारक होता है[९१]। और जो बुद्ध है, सम्यक्-दर्शी है और संयमी है उनका पराक्रम—अप्रमाद-वीर्य मुक्ति-कारक होता है[९२]। मोक्ष-साधना की दृष्टि से गृहस्थ और श्रमण—दोनो के

लिए अप्रमाद-वीर्य या अकर्म-वीर्य का विधान है। यह अकर्मण्यता नहीं किन्तु कर्म का शोधन है। कर्म का शोधन करते-करते कर्म-मुक्त हो जाना, यही है श्रमण-परम्परा के अनुसार मुक्ति का क्रम। वैदिक परम्परा को भी यह अमान्य नहीं है। यदि उसे यह अमान्य होता तो वे वैदिक ऋषि वानप्रस्थ और संन्यास-आश्रम को क्यों अपनाते। इन दोनों में गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी कर्मों की विमुखता बढ़ती है। गृहस्थाश्रम से साध्य की साधना पूर्ण होती प्रतीत नहीं हुई, इसीलिए अगले दो आश्रमों की उपादेयता लगी और उन्हें अपनाया गया। जिसे बाहरी चिह्न बदल कर अपने चारों ओर अस्वाभाविक वातावरण उत्पन्न करना कहा जाता है, वह सबके लिए समान है। श्रमण और संन्यासी दोनों ने ऐसा किया है। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के नियमों को कृत्रिमता का बाना पहनाया जाए तो इस कृत्रिमता से कोई भी परम्परा नहीं बची है। जिस किसी भी परम्परा में संसार-त्याग को आदर्श माना है, उसमें संसार से दूर रहने की भी शिक्षा दी है। मुक्ति का अर्थ ही संसार से विरक्ति है। संसार का मतलब गाँव या अरण्य नहीं, गृहस्थ और संन्यासी का वेष नहीं, स्त्री और पुरुष नहीं। संसार का मतलब है—जन्म-मरण की परम्परा और उसका कारण। वह है—मोह। मोह का स्रोत ऊपर भी है, नीचे भी है और सामने भी है—"उड्ढं सोया, अहे सोया, तिरयं सोय" (आचारांग)।

मोह-रहित व्यक्ति गांव में भी साधना कर सकता है और अरण्य में भी। श्रमण-परम्परा कोरे वेष-परिवर्तन को कब महत्त्व देती है। भगवान् ने कहा—"वह पास भी नहीं है, दूर भी नहीं है भोगी भी नहीं है, त्यागी भी नहीं है[१३]। भोग छोड़ा आसक्ति नहीं छोड़ी—वह न भोगी है न त्यागी। भोगी इसलिए नहीं कि वह भोग नहीं भोगता। त्यागी इसलिए नहीं कि वह भोग की वासना त्याग नहीं सका। पराधीन होकर भोग का त्याग करने वाला त्यागी या श्रमण नहीं है। त्यागी या श्रमण वह है जो स्वाधीन भावना पूर्वक स्वाधीन भोग से दूर रहता है[१४]। यही है श्रमण का श्रामण्य।

आश्रम-व्यवस्था श्रौत नहीं है, किन्तु स्मार्त है। लोकमान्य तिलक के अनुसार—'कर्म कर' और 'कर्म छोड़' वेद की ऐसी जो दो प्रकार की आज्ञाएं

हैं, उनकी एक वाक्यता दिखलाने के लिए आयु के भेद के अनुसार आश्रमों की व्यवस्था स्मृतिकारों ने की है[९५]।

समाज व्यवस्था के विचार से "कर्म करो" यह आवश्यक है। मोक्ष-साधना के विचार से "कर्म छोड़ो"— यह आवश्यक है। पहली दृष्टि से गृहस्थाश्रम की महिमा गाई गई[९६]। दूसरी दृष्टि से संन्यास को सर्व-श्रेष्ठ कहा गया—

प्रव्रजेच्च परं स्थानं पारिव्राज्यमनुत्तमम्[९७]—

दोनों स्थितियों को एक ही दृष्टि से देखने पर विरोध आता है। दोनों को भिन्न दृष्टिकोण से देखा जाए तो दोनों का अपना-अपना क्षेत्र है, टक्कर की कोई बात ही नहीं। संन्यास-आश्रम के विरोध में जो वाक्य हैं, वे सम्भवतः उसकी ओर अधिक झुकाव होने के कारण लिखे गए। संन्यास की ओर अधिक झुकाव होना समाज व्यवस्था की दृष्टि से स्मृतिकारों को नहीं रुचा। इसलिए उन्होंने ऋण चुकाने के बाद ही संसार-त्याग का, संन्यास लेने का विधान किया। गृहस्थाश्रम का कर्त्तव्य पूरा किये बिना जो श्रमण बनता है, उसका जीवन थोथा और दुःखमय है—यह महाभारत की घोषणा भी उसी कोटि का प्रतिकारात्मक भाव है। किन्तु यह समाज-व्यवस्था का विरोध अन्तःकरण की भावना को रोक नहीं सका।

श्रमण परम्परा में श्रमण बनने का मानदण्ड यही—'संवेग' रहा है। जिन में वैराग्य का पूर्णोदय न हो, उनके लिए गृहवास है ही। वे घर में रहकर भी अपनी क्षमता के अनुसार मोक्ष की ओर आगे बढ़ सकते हैं। इस समग्र दृष्टि-कोण से विचार किया जाए तथा आयु की दृष्टि से विचार किया जाए तो आश्रम-व्यवस्था का यांत्रिक स्वरूप हृदयंगम नहीं होता। आज के लिए तो ७५ वर्ष की आयु के बाद संन्यासी होना प्रायिक अपवाद ही हो सकता है, सामान्य विधि नहीं। अब रही कर्म की बात। खान-पान से लेकर कायिक, वाचिक और मानसिक सारी प्रवृत्तियाँ कर्म हैं। लोकमान्य के अनुसार जीना मरना भी कर्म है[९८]।

गृहस्थ के लिए भी कुछ कर्म निषिद्ध माने गए हैं। गृहस्थ के लिए विहित कर्म भी संन्यासी के लिए निषिद्ध माने गए हैं[९९]। [illegible]

परिशिष्ट

टिप्पणियां

: दो :

१—भा० सं० अ०

२—भा० सं० अ० पृ० ३५

३—श्री० का० लो० सर्ग ३६। ८८७-८८

४—पार्श्व के उपदेश को 'चातुर्याम—संवर-वाद' कहते थे। भा० सं० ३८,४७

५— जैन मुनि श्री दर्शन विजयजी (त्रिपुटी)—जैन० भा० अंक २६ वर्ष ४

६—आव० चू० (पूर्व भाग) पत्र २४५

७—कल्प० १०६

८—आचा० २।२४।६६६

६—आचा० २।२४।१००४

१०—आच० २।२४।१००२

११—कल्प० १०६

१२—आचा० २।२४।६६२

१३—कल्प० ११०

१४—आचा० २।२४।१००५

१५—आचा० २।२४।१००५

१६—कल्प १०६

१७—आचा० २।२४।१००५

१८—महा० क० पृ० ११३

१६—आचा० १।६।१।४७२

२०—सव्वं मे अकरणिज्जं पावकम्मंति कट्टु—आच० २।२४

२१—सू० १।६

२२—लाढ-राढ—पश्चिमी बंगाल के अन्तर्गत हुगली, हावड़ा, बांकुड़ा, वर्दवान और पूर्वीय मिदनापुर के जिले।
लाढ-देश वज्र-भूमि, (वीरभूम) शुभ्र-भूमि (सिंघभूम) नामक प्रदेशों में विभक्त था।

२३—आचा० २।२४।१०२४

२४—स्था० १०।३।७७७

२५—इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मण्डित, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य, प्रभास।

२६—आचा० २।२४

२७—आचा० १।५।१।१४४

२८—भग० १।१

२९—आचा० १।५।५।१६४

३०—अग्निभूति—कर्म है या नहीं ?

वायुभूति—शरीर और जीव एक है या भिन्न ?

व्यक्त—पृथ्वी आदि भूत हैं या नहीं ?

सुधर्मा—यहाँ जो जैसा है वह परलोक में भी वैसा होता है या नहीं ?

मंडित-पुत्र—बन्ध-मोक्ष है या नहीं ?

मौर्य-पुत्र—देव है या नहीं ?

अकम्पित—नरक है या नहीं ?

अचल-भ्राता—पुण्य ही मात्रा भेद से सुख-दुख का कारण बनता है, या पाप उससे पृथक् है ?

मेतार्य—आत्मा होने पर भी परलोक है या नहीं ?

प्रभास—मोक्ष है या नहीं ?

(वि० भा० १५४९-२०२४)

३१—श्र० वर्ष ९ अंक ६ पृ० ३७-३९

३२—भग० १२।१

३३—जिनकी वाचना समान हो उनका समूह गण कहलाता है। आठवें-नवें तथा दसवें-ग्यारहवें गणधरों की वाचना समान थी, इसलिए उनके गण दो भी माने जाते हैं। सम०

३४—स्था० वृ० ३।३।१७७

३५—व्यव० ३

३६—नं० ४६

३७—सम० ११४

३८—सम० ११५

३६—दृष्टिवाद के एक बहुत बड़े भाग की संज्ञा "चतुर्दश-पूर्व" है। उसके ज्ञाता को 'श्रुत-केवली कहते हैं।

४०—देखो जैन० द० इ० पृ० १८०-१६०

४१—समणस्सणं भगवओ महावीरस्स तित्थंसि सत्त पवतण निण्हगा पन्नता-तंजहा वहुरता, जीवपएसिआ, अवत्तिया सामुच्छेइत्ता, दो किरिया, तेरासिया, अवद्धिया एएसि णं सत्तण्हं पवयणनिण्हगाणं सत्त धम्मायरिया हुत्था-तंजहा-जमालि तीसगुत्ते, आसाढ़े, आसमित्ते, गंगे, छलुए गोट्ठामाहिले,-एत्तेसि णं सत्तण्हं पवयण निण्हगाणं सत्तप्पत्ति नगरा हुत्था तंजहा-सावत्थी, उसभपुरं, सेतविता, मिहिला, मुल्लगातीरं, पुरिमंतरंजि, दसपुर निण्हग उप्पत्ति नगराइं'—स्था० ७।५८७

४२—वि० भा० २५५०-२६०२

४३—कल्प० ६।२८

४४—कल्प० ६।६३

४५—जं पि वत्थं व पायं वा, कम्बलं पायपुञ्छणं।
तं पि संजम-लज्जट्ठा, धारंति परिहरंति य॥
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा॥
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा॥
सव्वत्थुवहिणा बुद्धा, संरक्खण-परिग्गहे।
अवि अप्पणो वि देहम्मि नायरंति ममाइयं॥
—दश वै० ६।२०,२१,२२

४६—त० सू० ७।१२

४७—मण-परमोहि-पुलाए, आहारग-खवग-उवसमे कप्पे।
संजम-तिय केवलि-सिज्झणाय जंबुम्मि वुच्छिन्ना॥
—वि० भा० २५६३

४८—पट् प्रा० पृ० ६७

४६—जो वि दुवत्थ तिवत्थो, एगे [illegible] संथरइ।
ण हु ते हीलंति परं, सव्वे पि [illegible] १॥

जे खलु विसरिसकप्पा, संघयण धिइयादि कारणं पप्प।
णऽ वमन्नइ ण य हीणं, अप्पाणं मन्नई तेहिं ॥ २ ॥
सव्वे वि जिणाणाए, जहाविहिं कम्म खवणट्ठाए।
विहरंति उज्जया खलु, सम्मं अभिजाणइ एवं ॥ ३ ॥
—आचा० वृ० १।६।३

५०—६।६८०

५१—क० सु०

५२—देवड्ढि खमासमण जा, परंपरं भाव ओ वियाणेमि।
सिढिलायारे ठविया, दव्वेण परंपरा बहुहा।
—आ० अ०

५३—सू० २।२,५४

५४—जीवाभिगम ३।२।१०-४

: तीन :

१—जहजीवा वज्झंति, मुच्चंति जह य संकिलिस्संति।
जह दुक्खाणं अंतं करंति कइ अपडिबद्धा—औप० धर्म० ४

२—नं० ४६

३—सर्वश्रुतात् पूर्वं क्रियते इति पूर्वाणि, उत्पादपूर्वाऽदीनि चतुर्दश।
—स्था० वृ० १०।१

४—जइवि य भूयावाए सव्वस्स वयोगयस्स ओयारो।
निज्जहणा तहा वि दुम्मेहे पप्प इत्थी य —आव० नि० पृ० ४८,
वि० भा० ५५१

५—नं० ५७, सम० १४ वां तथा १४७ वां

६—नं०

७—"भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ"—सम० पृ० ६०
"तए णं समणे भगवं महावीरे कूणिअस्स रण्णो भिंभिसारपुत्तस्स…
अद्धमागहाए भासाए भासइ…सावि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं
सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेणं परिणमइ…
—औप०

८—"देवा णं भंते ! कयराए भासाए भासंति ? कयरा वा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति ? गोयमा ! देवाणं अद्धमागहाए भासाए भासंति । सावि य णं अद्धमागहा भासा भासिज्जमाणी विसिस्सति"।

—भग० ५।४

९—"से किं तं भासारिया ? भासारिया जे णं अद्धमागहाए भासाए भासंति"

—प्रज्ञा० १।६२

१०—

भारती

- वैदिक
  - ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा
  - ऐतिहासिक काव्यों की भाषा
  - पाणिनि की संस्कृत (पतंजलि पर्यन्त)
- प्राथमिक प्राकृत
  - द्वैतीयिक प्राकृत (प्रथम भूमिक)
  - द्वैतीयिक प्राकृत (द्वितीय भूमिका)
    - (१) पाली शौरसेनी
    - (२) अर्ध मागधी
    - (३) पूर्वीय मागधी
    - (४) पश्चिमीय प्राकृत (अशोक की धर्मलिपि
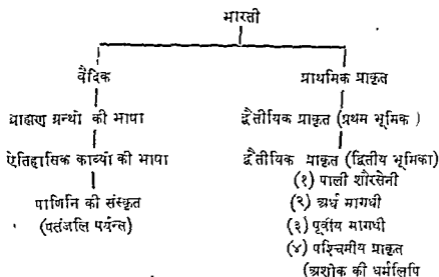
द्वैतीयिक प्राकृत का विभागीकरण नीचे दिया गया है।

द्वैतीयिक प्राकृत—प्रथम भूमिका

द्वैतीयिक प्राकृत—द्वितीय भूमिका

- पाली
  - शौरसेनी
  - महाराष्ट्री
  - अपभ्रंश
- मागधी भाषा (अशोक की लेख भाषा) (पूर्व देश की)
  - व्याकरणस्थ मागधी
- अर्धमागधी (शुद्ध)
  - अर्धमागधी (सूत्रों की)
  - Standrd जैन महाराष्ट्री
- अशोक की लेख भाषा (पश्चिम भाग की) गौर्जर अपभ्रंश (Standard)
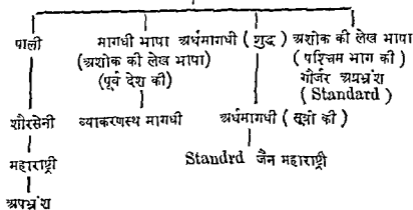
११—"मगदद्धविसयभासाणिवद्धं अद्धमागदं, अट्टारसदेसीभासाणिमयं वा अद्धमागहं" (नि॰ चू॰)

१२—हेम॰ ८।१।३

१३—सक्कता पागता चेव दुहा भणितीओ आहिया ।
सरमंडलम्मि गिज्जंते पसत्था इसिभासिता ॥"
(स्था॰ ७। ३९४)

१४—गणहरथेरकयं वा आएसा मुक्कवागरणतो वा ।
धुवचलविसेसतो वा अंगाणंगेसु नाणत्तं ॥
—आव॰ नि॰ ४८, वि॰ भा॰ ५५०

१५—दशवै॰ भूमिका

१६—दशवै॰ भूमिका

१७—पा॰ स॰ म उपोद्‌घात पृ॰ ३०-३१

१८—परि॰ पर्व ८।१९३, ६।५५-५८

१९—भग॰ २०।८

२०—चतुष्वैकैकसूत्रार्था—ख्याने स्यात् कोपि नक्षमः ।
ततोऽनुयोगाँश्चतुरः पार्थक्येन व्यधात् प्रभुः ।
—आव॰ कथा १७४

२१—दशवै॰ नि॰ ३ टी॰

२२—प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपिपुण्यम् ।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥ ४३ ॥
लोकालोकविभक्तेर्युगपारवृत्तेश्चतुर्गतीनांच्च ।
आदर्शमिव तथामतिरवैति करणानुयोगश्च ॥ ४४ ॥
गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाङ्गम् ।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥ ४५ ॥
जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥ ४६ ॥
—रत्न॰ श्रा॰ अधिकार १ पृ॰ ७१, ७२, ७३

२३—पहला पद,

२४—१३२,

२५—सम०, रा० प्र०, प्रश्न० ५ आस्रव

२६—जम्बू० पृ० २ वृत्त,

२७—लेख-सामग्री के लिए देखो भा० प्रा० लि० मा० पृ० १४२-१५९, पुर जै०
 (पु० १ पृ० ४१६-४२३ लिंबड़ी भंडार के सूचिपत्र के लेख)

२८—१ पद,

२९—१ पद,

३०—४-२,

३१—पत्र २५,

३२—१२ उ०

३३—ईसवी पूर्व चतुर्थ शतक

३४—भा० प्रा० लि० मा० प०,

३५—भा० प्रा० लि० मा० पृ० २,

३६—भा० प्रा० लि० मा० प० २

३७—कल्प १ अधि० ६।१४८,

३८—वायणंतरे पुण, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति

३९—(क) संत्तं सं अपडिलेहा, भारो अहिकरणमेव अविदिन्नं संकामण पलिमंथो, पमाए परिकम्मण लिहणा, १४७ वृ० नि० उ० ७३

(ख) पोत्थएसु घेप्पंतएसु असंजमो भवइ—दशवै० चू० पृ० २१
ननु—पूर्वं पुस्तकनिरपेक्षैव सिद्धान्तादिवाचना ऽभूत्, साम्प्रतं पुस्तक-संग्रहः क्रियते साधुभिस्तत् कथं संपतिमङ्गति ? उच्यते—पुस्तक-ग्रहणं तु कारणिकं नत्वौत्सर्गिकम्। अन्यथा तु पुस्तकग्रहणे भूयांसो दोषाः प्रतिपादिताः सन्ति —विशे० श० ३६

४०—यावतो वारान् तत्पुस्तकं बध्नाति मुंचति वा अक्षराणि वा लिखति तावन्ति चतुर्लघूनि आज्ञादयश्च दोषाः। —बृ० नि० ३ उ०

४१—कोई मूढ़ मिथ्याती जीव इम कहै रे, साधु नै लिखणो कल्पै नाहीं रे।
पाना पिण साधु नै नहीं राखणां रे, इम कहै घणां लोकां रे मांहि रे॥

वर्षसहस्रान्तरं गतेऽपि आगमानां कर्ता श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण एव जातः।" —म० वृ०

५५—ना० भा० गा० पृ० ६१

५६—ना० भा० गा० पृ० ६५

५७—ना० भा० गा०

५८—अनु०

५९—हैम० २।२।३८

६०—अन्य० अय० ३

६१—हैम० २।२।३६

६२—नृ० द्वा० ८

६३—एक० द्वा० १५

६४—रत्न० भा० प्रस्तावना पृ० १५७

६५—युक्त्य० ६१

६६—अध्या० उप० ४।२

६७—प्रमा० पृ० २०५, षड्० (लघु०) षड्० (वृहद्)

६८—लघ्य० २०

६९—श्रीहेमचन्द्रप्रभवाद्, वीतराग-स्तवादितः।
कुमारपालभूपालः, प्राप्नोतु फलमीप्सितम्— —वीत० २०।६

७०—वीत० २०।८

७१—वीत० १।५

७२—भर० महा०

७३—भर० महा० पुर्ग १७

७४—पद्० महा० ११।६७

७५—पद्० महा० १७।१३३

७६—शा० सु० १३।५,६

७७—क० क० च०

७८—सा० सं० भाग १६ अंक१-२ (भाषा विज्ञान विशेषांक) पृ० ७६।८०

७९—न० वा० दाल ९वीं दोहा २,३

८०—न० वा० ढाल ६ गाथा ६—१३, ३७, ३८

८१—आचारांग : प्रथम श्रुतस्कंध, भगवती, ज्ञाता, विपाक, प्रज्ञापना, निशीथ, उत्तराध्ययन (२२ अध्ययन) अनुयोग द्वार।

८२—इन्होंने नव-अंग—स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, भगवती, ज्ञाता, उपासक दशा, अन्तकृत् दशा, अनुत्तरौपपातिक दशा, प्रश्न व्याकरण और विपाक—पर टीकाएं लिखीं।

८३—इन्होंने आचारांग और सूत्रकृताङ्ग पर टीकाएं लिखीं। ये वि० १० वी शताब्दी में हुए।

८४—इन्होंने उत्तराध्ययन पर टीका लिखी। इनका समय वि० १० वीं शती है।

८५—इन्होंने दश वैकालिक पर टीका लिखी। इनका समय वि० १० वी शती है।

८६—ये अनुयोग द्वार के टीकाकार हैं। इनका समय वि० १२ वां शतक है।

८७—इन्होंने राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नन्दी, सूर्यप्रज्ञप्ति चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि पर टीकाएं लिखीं। इनका समय वि० १२ वीं शताब्दी है।

८८—निर्युक्तियां भद्रबाहु द्वितीय की रचना हैं। इनका समय वि० ५ वीं या छठी शताब्दी है।

८९—संघदास गणी और जिनभद्र के भाष्य सब से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इनका समय वि० ७ वी शताब्दी है।

९०—चूर्णिकारों में जिनदास महत्तर प्रसिद्ध हैं। इनका समय वि० ७ वीं ८ वी शताब्दी है।

९१—इनका समय वि० १८ वां शताब्दी है।

९२—बालावबोध।

९३—कालु० यशो० २।५।४-८

९४—कालु० यशो० १।५।१,६,८, १०

९५—कालु० यशो० १।५।१३-१४

९६—आचार्य श्री तुलसी (जीवन पर एकदृष्टि) पृ० ८६,९०,९१,९२,९३,९४

तत्पक्षस्थानान्तरं सर्वेषामपि ग्रामः
जातः।"

५५—पा० भा० गा० पृ० ६१
५६—पा० भा० गा० पृ० ६५
५७—पा० भा० गा०
५८—प्रनु०
५९—हैम० २।२।१८
६०—अन्य० व्यव० ३
६१—हैम० २।२।१६
६२—वृ० द्वा० ८
६३—एक० द्वा० १५
६४—स्त्र० भा० प्रस्तावना पृ० १'
६५—युक्त्य० ६१
६६—अध्या० उप० ४।२
६७—प्रभा० पृ० २०५, पद्०
६८—लघ्य० २०
६९—श्रीहेमचन्द्रप्रभवाद्, वीतर
कुमारपालभूपालः, प्राप्नो
७०—वीत० २०।८
७१—वीत० ११५
७२—भर० महा०
७३—भर० महा० पुर्ग १७
७४—पद्० महा० ११।६७
७५—पद्० महा० १७।१३३
७६—शा० सु० १३।५,६
७७—क० क० च०
७८—सा० सं० भाग १६ अंक१-
७९—न० या० ढाल ६वीं दोहा २,

२७—निर० दशा० १०, स्था० ६।६६६, सम० १५२ समवाय, भग०

२८—भग०

२९—जैन० भा० वर्ष २ अंक १

३०—जैन० भा० वर्ष २ अंक १ पृ० ४५, ४६, ४७, ४८,

३१—जैन० भा० वर्ष ६ अंक ४२ पृ० ६८६

३२—वि०, (इलाहाबाद) अहिंसक परम्परा

३३—मू० समाचार, २१ मार्च, १९३७

३४—जैन० भा० वर्ष ६ अंक ४१ पृ० ६६७

३५—जैन० भा० वर्ष ६ अंक ४२ पृ० ६९०

३६—Our Oriental Heritage, page 467, 471

३७—जैन० भा० वर्ष ६ अंक ४२ पृ० ६९० प्रवक्ता श्री आदित्यनाथ झा, उपकुलपति, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय।

३८—वेइंदियाणं जीवा असमारम्भमाणस्स चउविहे संजमे कज्जइ, तंजहा-जिब्भामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, जिब्भामएणं दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवइ, फासामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, फासामयाओ दुक्खाओ असंयोगेत्ता भवइ। —स्था० ४-४

३९—दसविहे संजमे पन्नते तंजहा-पुढविकायसंजमे, अप्प-तेउ-वाउ-वणस्सइ-वेइंदियसंजमे तेइंदियचउरिंदिससंजमे पंचेंदियसंजमे-अजीवकायसंजमे।

—स्था० १०

४०—दसविहे संवरे पन्नते तं जहा—सोइंदियसंवरे जावफासिंदियसंवरे, मण-वइ काय-उवगरणसंवरे, सूईकुसग्गसंवरे। —स्था० १०

४१—दसविहे आसंसप्पओगे पन्नते तं जहा—इह लोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, दुहओलोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामासंसप्पओगे भोगासंसप्पओगे, लाभासंसप्पओगे, पूयासंसप्पओगे, सक्कारासंसप्पओगे। —स्था० १०

४२—दो ठाणाइ अपरियाणित्ता आया णो केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणाए तंजहा—आरम्भे चेव परिग्गहे चेव। —स्था० २।१

४३—सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हन्तव्वा, न

: चार :

१—भग० ६,२६,३०
२—हि०, (दिसम्बर) १९४२ 'जैनी भारतीय संस्कृति में अहिंसा का'
  पृष्ठ—६
३—सू० १।७।१२
४—सू० १।७।१४
५—सू० १।७।१८
६—सू० १।७।१९
७—उत्त० १२।१७
८—सू० १।१३।११
९—उत्त० ६।१०
१०—उत्त० ६।८।१०
११—उत्त० २०।४४
१२—आचा० १।४।२।६
१३—उत्त० २३, भग० १।९, सू० २।७, भग० ६।३२,
१४—भग० २।१
१५—भग० ११।१२
१६—भग० ११।९
१७—भग० ७।१०, १८।८
१८—भग० १८।१०
१९—भग० २।५
२०—भग० १२।१
२१—भग० १८।३
२२—भग० २।१
२३—उत्त० २०।५६,५८, श्वे० शा०
२४—उत्त० वृ०
२५—अन्त०
२६—ज्ञाता १, अनु० दशा० वर्ग १

२७—निर० दशा० १०, स्था० ६।६६६, सम० १५२ समवाय, भग०

२८—भग०

२९—जैन० भा० वर्ष २ अंक १

३०—जैन० भा० वर्ष २ अंक १ पृ० ४५, ४६, ४७, ४८,

३१—जैन० भा० वर्ष ६ अंक ४२ पृ० ६८९

३२—वि०, (इलाहाबाद) अहिंसक परम्परा

३३—मू० समाचार, २१ मार्च, १९३७

३४—जैन० भा० वर्ष ६ अंक ४१ पृ० ६६७

३५—जैन० भा० वर्ष ६ अंक ४२ पृ० ६९०

३६—Our Oriental Heritage, page 467, 471

३७—जैन० भा० वर्ष ६ अंक ४२ पृ० ६९० प्रवक्ता श्री आदित्यनाथ झा, उपकुलपति, वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय।

३८—बेइंदियाणं जीवा असमारम्भमाणस्स चउविहे संजमे कज्जइ, तंजहा-जिब्भामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, जिब्भामएणं दुक्खेणं असंजोगेत्ता भवइ, फासामयाओ सोक्खाओ अववरोवेत्ता भवइ, फासामयाओ दुक्खाओ असंयोगेत्ता भवइ। —स्था० ४-४

३९—दसविहे संजमे पन्नते तंजहा-पुढविकायसंजमे, अप्प-तेउ-वाउ-वणस्सइ-बेइंदियसंजमे तेइंदियचउरिंदियसंजमे पंचेंदियसंजमे-अजीवकायसंजमे।

—स्था० १०

४०—दसविहे संवरे पन्नते तं जहा—सोइंदियसंवरे जावफासिंदियसंवरे, मण-वइ-काय-उवगरणसंवरे, सूईकुसग्गसंवरे। —स्था० १०

४१—दसविहे आसंसप्पओगे पन्नते तं जहा—इह लोगासंसप्पओगे, परलोगासंसप्पओगे, दुहओलोगासंसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे, मरणासंसप्पओगे, कामासंसप्पओगे भोगासंसप्पओगे, लाभासंसप्पओगे, पूयासंसप्पओगे, सक्कारासंसप्पओगे। —स्था० १०

४२—दो ठाणाइं अपरियाणित्ता आया णो केवलिपन्नत्तं धम्मं लभेज्जा सवणयाए तंजहा—आरंभे चेव परिग्गहे चेव। —स्था० २।१

४३—सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हन्तव्वा, न

अज्झत्थिरत्ता न परिताविरत्ता न परिताविरत्ता न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे निइए सासए। —आचा० २

४४—Indian Thought and its Development (Page 70-81)

४५—सूत्र० २।१।१।८।१२४

४६—कयाणमहं अप्पं वा बहुयं वा परिग्गहं परिचइस्सामि। —स्था० ३

४७—कयाणमहं मुण्डे भवित्ता आगाराओ अणगारियं पव्वइस्सामि। —स्था० ३

४८—कयाणमहं अपच्छिममारणंतियसंलेहणाझूसणाझूसिए, भत्तपाणं पडियाइक्खित्ते पाओवगए कालमणवकंखमाणे विहरिस्सामि। —स्था० ३

४९—तित्थं पुण…समणा समणीओ सावया साविगाओ य। — भग० २०।८

५०—उत्त० १२

५१—गामे वा अदुवा रण्णे, नेव गामे नेव रण्णे धम्ममायाणह। — आचा० ८।१।१९७

५२—भिक्खाए वा गिहत्थे वा, सुव्वए कम्मई दिवं। — उत्त० ५।२२

५३—जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ॥ — आचा० २।६।१०२

५४—नं०

५५—जम्बू प्र०, वृत्त २

५६—बावत्तरि कलाकुसला, पंडिय पुरिसा अपंडिया चेव।
सव्व कलाणं पवरं, धम्मकलं जे न [illegible]॥

५७—भा० मू० पृ० ५६

: पाँच :

१—यानि च तीणि यानि च सट्ठि

२—पू० वृ० १।१[illegible]

३—चत्तारि समोसरणाणिमाणि, पावादुया जाइं पुढो वयंति।
किरियं अकिरियं विणियंति तइयं, अन्नाणमाहंसु चउत्थमेव ॥
—सू० १।१२।१

४—दी० २

५—इन छह संघों में एक संघ का आचार्य पूरण कश्यप था। उसका कहना था कि "किसी ने कुछ किया या करवाया, काटा या कटवाया, तकलीफ दी या दिलवाई, शोक किया या करवाया, कष्ट सहा या दिया, डरा या दूसरे को डराया, प्राणी की हत्या की, चोरी की, डकैती की, घर लूट लिया, बटमारी की, परस्त्रीगमन किया, असत्य वचन कहा, फिर भी उसको पाप नहीं लगता। तीक्ष्ण धार के चक्र से भी अगर कोई इस संसार के सब प्राणियों को मारकर ढेर लगा दे तो भी उसे पाप न लगेगा।...गंगा नदी के उत्तर किनारे पर जाकर भी कोई दान दे या दिलवाए, यज्ञ करे या करवाए, तो कुछ भी पुण्य नहीं होने का। दान, धर्म, संयम सत्य-भाषण, इन सबों से पुण्य-प्राप्ति नहीं होती।" इस पूरण कश्यप के वाद को अक्रियवाद कहते थे।

दूसरे संघ का आचार्य मक्खलि गोसाल था। उसका कहना था कि "प्राणी के अपवित्र होने में न कुछ हेतु है न कुछ कारण। बिना हेतु के और बिना कारण के ही प्राणी अपवित्र होते हैं। प्राणी की शुद्धि के लिए भी कोई हेतु नहीं है, कुछ भी कारण नहीं है। बिना हेतु के और बिना कारण के ही प्राणी शुद्ध होते हैं। खुद अपनी या दूसरे की शक्ति से कुछ नहीं होता। बल, वीर्य, पुरुषार्थ या पराक्रम, यह सब कुछ नहीं है। सब प्राणी बलहीन और निर्वीर्य हैं—वे नियति (भाग्य) संगति और स्वभाव के द्वारा परिणत होते हैं—अक्लमन्द और मूर्ख सबों के दुःखों का नाश ८० लाख के महाकल्पों के फेर में होकर जाने के बाद ही होता है।" इस मक्खलि गोसाल के मत को संसार-शुद्धि-वाद कहते थे। इसी को नियतिवाद भी कह सकते हैं।

तीसरे संघ का प्रमुख अजित केश कंबली था। उसका कहना था कि "दान, यज्ञ तथा होम, यह सब कुछ नहीं है, भले-बुरे कर्मों का फल नहीं मिलता, न इहलोक है न परलोक—चार भूतों से मिलकर मनुष्य बना है। जब

वह मरता है तो उसमें का पृथ्वी, धातु पृथ्वी में, आपो धातु पानी में, तेजो धातु तेज में तथा वायु धातु वायु में मिल जाता है और इन्द्रियां सब आकाश में मिल जाती हैं। मरे हुए मनुष्य को चार आदमी अरथी पर सुलाकर उसका गुणगान करते हुए ले जाते हैं। वहाँ उसकी अस्थि सफेद हो जाती है और आहुति जल जाती है। दान का पागलपन मूर्खों ने उत्पन्न किया है। जो आस्तिकवाद कहते हैं, वे झूठ भाषण करते हैं। व्यर्थ की बड़बड़ करते हैं। अक्लमन्द और मूर्ख दोनों ही का मृत्यु के बाद उच्छेद हो जाता है। मृत्यु के बाद कुछ भी अवशेष नहीं रहता।" केस कंबली के इस मत को उच्छेदवाद कहते हैं। —भा० सं० अ० पृ० ४५, ४६

६—१।१२।४-८,

७—णाइच्चो उएइ ण अत्थमेति, ण चंदिमा वड्ढति हायती वा।
सलिला ण संदंति ण वंति वाया, वंझो णियत्तो कसिणे हु लोए॥
—सू० १।१२।७

८—चौथे संघ का आचार्य पकुधकात्यायन था। उसका कहना था कि "सातों पदार्थ न किसी न किये न करवाए। वे वंध्य, कूटस्थ तथा खंबे के समान अचल हैं। वे हिलते नहीं, बदलते नहीं, आपस में कष्टदायक नहीं होते। और एक दूसरे को सुख-दुःख देने में असमर्थ हैं। पृथ्वी, आप, तेज, वायु, सुख-दुःख तथा जीव—ये ही सात पदार्थ हैं। इनमें मारनेवाला, मार खानेवाला, सुननेवाला कहनेवाला, जाननेवाला, जनानेवाला कोई नहीं। जो तेज शस्त्रों से दूसरे के सिर काटता है वह खून नहीं करता सिर्फ उसका शस्त्र इन सात पदार्थों के अवकाश (रिक्तस्थान) में घुसता है, इतना ही।" इस मत को अन्योन्यवाद कहते हैं। —भा० सं० अ० पृ० ४६-४७

वन्ध्य और कुटस्थ शब्द अधिक ध्यान देने योग्य हैं। "वज्झा कूठठा" —दी० २

९—अण्णाणिया ता कुसला वि संता, असंथुया णो वितिगिच्छतिण्णा।
अकोविया आहु अकोवियेहिं, अणाणुवीइत्तु मुसं वयंति॥
—सू० १।१२।२

१०—छठे बड़े संघ का आचार्य संजय वेलट्ठ पुत्र था। वह कहता था—

"परलोक है या नहीं, यह मैं नहीं समझता। परलोक है यह भी नहीं, परलोक नहीं है, यह भी नहीं।...अच्छे या बुरे कर्मों का फल मिलता है, यह भी मैं नहीं मानता, नहीं मिलता, यह भी मैं नहीं मानता वह रहता भी है, नहीं भी रहता। तथागत मृत्यु के बाद रहता है या रहता नहीं, यह मैं नहीं समझता। वह रहता है यह भी नहीं, वह नहीं रहता, यह भी नहीं।" इस संजय वेलट्ठ पुत्र के वाद को विक्षेपवाद कहते थे। —भा० सं० अ० पृ० ४६

११—किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं, अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं।
से सव्व वायं इति वेयइत्ता, उवट्ठिए संजम दीहरायं॥
—सू० १।६।२७

१२—से वेमि जे य अतीता जे य पडुप्पन्ना जे य आगमिस्सा अरिहंता भगवंता सव्वे ते एव—माइक्खंति एवं भासंति एवं पण्णवेंति एवं परूवेंति—सव्वे पाणा जाव सत्ता ण हंतव्वा ण अज्जावेयव्वा ण परिघेतव्वा ण परितावेयव्वा ण उद्दवेयव्वा। एस धम्मे धुवे णीइए सासए समिच्च लोगं खेयन्नेहि पवेइए। —सू० २।१।१६

१३—सू० १।१।१।७-८

१४—सू० १।१।१।६-१०

१५—सू० १।१।१।११-१२

१६—सू० १।१।१।१३-१४

१७—सू० १।१।१।१५-१६

१८—सू० १।१।१।२-४

१९—सू० १।१।३।५

२०—भग० २५।७।८०२, स्था० ७।३।५८५, औप० (तवोधिकार)

२१—उत्त० २६।२-७

२२—दशा० (चतुर्थी दशा,)

२३—धर्म सं० २ श्लोक २२ टीका पृ० ४६, प्र० सा० १४८ गाथा ६४१

२४—दशा० (चतुर्थी दशा)

२५—दशवै० चूर्णि २।१२

२६—उत्त० २६।४८-५२

२७—उत्त० २६।८-१०

२८—उत्त० २६।१२

२९—उत्त० २६।१८

३०—उत्त० २६।४०-४३

३१—उत्त० २६।२२-२३

३२—उत्त० २६।३८

३३—स्था० ४

३४—उत्त० ५।२३

३५—धर्म० प्रक० ३३

३६—भग० १२

३७—नव भारत टाईम्स १९५९, 'भारत का राष्ट्रीय पर्व दीपावली'

लेखक—बच्चन श्रीवास्तव।

द्वितीय खण्ड

: छह :

१—जे आया से विण्णाया, जे विण्णाया से आया। —आचा० ५।५।१६६

२—भग० २५।४

३—उत्त० २८।६

४—उत्त० २८।११

५—प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैः, अचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञान दर्शनतस्तस्मात्, चेतनाचेतनात्मकः॥ —स्व० सं० ३

६—ज्ञानाद् भिन्नो न चा भिन्नो भिन्नाभिन्नः कथंचन।
ज्ञानं पूर्वापरीभूतं सोयमात्मेति कीर्तितः॥ —स्व०सं ४

७—णाणे पुण णियमं आया —भग० १२।१०

८—जेण वियाणइ से आया —आचा० ५।५।१६६

९—जैन० दी० २।२३,

१०—जैन० दी० २।६,

११—जैन १० दी० २।२३

१२—पुट्ठं सुणेइ सद्दं, रूवं पुण पासइ अपुट्ठं तु।
गंधं, रसं च फासं, बद्ध-पुट्ठं वियागरे॥ —नं० ३७ गाथा० ७८,

१३—नं० ३७ गाथा० ७८,

१४—विषयानुरूपभवनाच्च, बुद्धि-वृत्तेरनुभवत्वम्॥

१५—मन्ध्येव दिन-रात्रिभ्यां, केवलश्रुतयोः पृथक्।
बुधैरनुभवो दृष्टः केवलार्कारुणोदयः॥
—शा० वा० अष्टक २६ श्लोक १

१६—प्रज्ञा० ३५

१७—भग० ८।२

१८—भग० ८।२

१९—जैन० दी० २।७

२०—जैन० दी० २।१४

२१—जैन० दी० २।१६

२२—मननं मन्यते अनेन वा मनः।

२३—आता भंते ! मणे अन्ने मणे ? गोयमा ! णो आतामणे, अन्नेमणे···मणे मणिज्जमाणे मणे·········। —भग० १३।७।४६४।

२४—मणं च मणजीविया वयंति त्ति···। —प्रश्न० (आस्रवद्वार) २

२५—सर्व-विषयमन्तः करणं युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिलिङ्गं मनः, तदपि द्रव्य-मनः पौद्गलिकमजीवग्रहणेन गृहीतम्, भाव-मनस्तु आत्मगुणत्वात् जीवग्रहणेनेति···। —सू० वृ० १।१२

२६—कालिओवएसेणं जस्सणं अत्थि ईहा, अवोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिन्ता, वीमंसा सेणं सण्णी त्ति लब्भई। —नं० ३६

२७—मनः सर्वेन्द्रिय प्रवर्तकम्, आन्तरेन्द्रियम्, स्व संयोगेन बाह्येन्द्रियानुग्राहकम्। अतएव सर्वोपलब्धि कारणम्···। —जैनतर्क।

२८—इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि, समनस्केन गृह्यते।
कल्प्यते मनसा प्यूर्ध्वं, गुणतो दोषतो यथा ॥ —च० सू० १।२०

२९—न्याय० सू० १।१।१६।

३०—वा० भा० १।१।१६।

३१—सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः —तर्क स०

३२—संशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहासुखादिक्षमेच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि···।
—सन्म० (काण्ड २)

३३—चिन्त्यं विचार्यमुह्यं च, ध्येयं संकल्प्यमेव च।
यत् किंचिद् मनसो ज्ञेयं, तत्सर्वं ह्यर्थ संज्ञकम् ॥ —च० सू० १।१८

३४—अवग्रह-ज्ञानमनक्षरं तस्याऽनिर्देश्य सामान्यमात्र प्रतिभासात्मकतया निर्विकल्पकत्वात्, ईहादि ज्ञानं तु साक्षरं तस्य परामर्शादिरूपतयाऽवश्यं वर्णारुपितत्वात्। वि० भा० वृ०

३५—(क) वि० भा० वृ० २४२६-२४४८

(ख) येनैवेन्द्रियेण सह मनः संयुज्यते तदेवात्मीय विषय गुणग्रहणाय प्रवर्तते नेतरत्) —आचा० वृ० १।२।१।६३

३६—(क) एगे णाणे…लब्धितो बहूनां बोधविशेषाणामेकदा सम्भवेऽपि उपयोगत एक एव सम्भवति एकोपयोगत्वाद् जीवानामिति……
—स्था० वृ० १

(ख) एगे जीवाणं मणे……मननलक्षणत्वेन सर्वमनसा मेकत्वात्…।
—स्था० वृ० १

(ग) एगे मणे देवासुर मणुआणं तंसि तंसि समयसि…।—स्था० १

तुलना :—ज्ञानाऽयौगपद्यात् एकं मनः…। —न्याय सू० ३।२।५६

३७—तुलना—स्पर्शन इन्द्रिय को सर्वेन्द्रिय व्यापक और मन के साथ समवाय-सम्बन्ध से सम्बद्ध माना है। मन अणु होने पर भी स्पर्शन इन्द्रिय-सम्बद्ध होने के कारण सब इन्द्रियो में व्यापक रहता है। —च० सू० ११।३६

३८—योग० ५।२

३९—सव्वेणं सव्वे निज्जिण्णा… —भग० १।३

४०—अयौगपद्यात् ज्ञानानां, तस्याणुत्वमिहोच्यते…। —भा० प०।

४१—चेतना मानसं कर्म… —अभि० को० ४।१

४२—यत् प्रायः श्रुताभ्यासमन्तरेणाऽपि सहज विशिष्ट क्षयोपशमवशादुत्पद्यते तदश्रुतनिश्रितमौत्पत्तिक्यादिबुद्धिचतुष्टयम्…यत्तु पूर्वं श्रुतपरिकर्मितमते-र्व्यवहारकाले पुनरश्रुतानुसारितया समुत्पद्यते तत् श्रुतनिश्रितम्…कर्म वि०
(देवेन्द्रसूरि कृत स्वोपज्ञ वृत्ति गा० ४)

४३—(क) शब्दः वक्त्राभिधीयमानः श्रोतृगतस्य श्रुतज्ञानस्य कारणं निमित्तं भवति, श्रुतञ्च वक्तृगत श्रुतापयोगरूपं व्याख्यानकारणादौ तस्य वक्त्राभिधीयमानस्य शब्दस्य कारणं जायते, इत्यतः तस्मिन् श्रुत-ज्ञानस्य कारणभूते कार्यभूते वा शब्दे श्रुतोपचारः क्रियते। ततो न परमार्थतः शब्दः श्रुतं, किन्तूपचारतः। —वि० भा० वृ० ९९

(ख) "तत्र केवलज्ञानोपलब्धार्थाभिधायकः शब्दराशिर्भविष्यमाण स्तस्य भगवतः वाग्योग एव भवति न तु श्रुतम्, नामकर्मोदय जन्यत्वात् श्रुतस्य च क्षायोपशमिकत्वात्"—अयञ्च भवतु नामकर्मोदयजन्यः भाष्यमाणस्तु पुद्गलात्मकः शब्दः किं भवतु ? इति चेत् ? उच्यते सोऽपि श्रोतॄणां भावश्रुतकारणत्वात् द्रव्यश्रुतमात्रं भवति न तु भावश्रुतम्। —नं०

४४—शब्दोल्लेखान्वितमिन्द्रियादि-निमित्तं यज्ज्ञानमुदेति तच्छ्रुतज्ञानमिति। तच्च कथं भूतम् ? इत्याह—'निजकार्थोक्तिसमर्थमिति' निजकः स्वस्मिन् प्रतिभासमानो योऽसौ घटादि रर्थः तस्योक्तिः परस्मै प्रतिपादनं तत्र समर्थं क्षमं निजकार्थोक्तिसमर्थम्। अयमिह भावार्थः—शब्दोल्लेखसहितं विज्ञानमुत्पन्नं स्वप्रतिभासमानार्थ-प्रतिपादकं शब्दं जनयति, तेन च परः प्रत्याय्यते, इत्येव निजकार्थोक्तिसमर्थमिदं भवति, अभिलाप्य वस्तुविषयमिति यावत्। स्वरूप विशेषणं चैतत्, शब्दानुसारेणोत्पन्न-ज्ञानस्य निजकार्थोक्ति-सामर्थ्याऽव्यभिचारादिति···। —वि० भा० वृ० १००

४५—द्रव्यश्रुतमनक्षरम्-पुस्तकादिन्यस्ताक्षररूपं शब्दरूपं च, तदेव साक्षरं भावश्रुतमपि श्रुतानुसार्थाकारादि वर्णविज्ञानात्मकत्वात् साक्षरम्, पुस्तकादिन्यस्ताकाराद्यक्षररहितत्वात् शब्दाभावाच्च तदेवानक्षरम्, पुस्तकादिन्यस्ताक्षरस्य शब्दस्य च श्रुतान्तःपातित्वेन भावश्रुते ऽसत्त्वात्; तदेवं मतेर्भावश्रुतस्य च साक्षरानक्षरकृतो नास्ति विशेषः।

—वि० भा० वृ० १७०

४६—(क) तत्थ चत्तारि नाणाइं ठप्पाइं ठवणिज्जाइं। —अनु० २

(ख) अवग्रहापेक्षयाऽनभिलाप्यत्वाद्, ईहाद्यपेक्षया तु साभिलाप्यत्वात् साभिलापानभिलापं मतिज्ञानम्, अश्रुतानुसारि च, संकेतकाल-प्रवृत्तस्य श्रुतग्रन्थसम्बन्धिनो वा शब्दस्य व्यवहारकाले अननुसरणात्। श्रुतज्ञानं तु साभिलापमेव, श्रुतानुसार्येव च, संकेतकालप्रवृत्तस्य श्रुतग्रन्थसम्बन्धिनो वा शब्दरूपस्य श्रुतस्य व्यवहारकालेऽवश्य-मनुसरणादिति। —वि० भा० वृ० १००

४७—नं० २३

४८—श्रुतं द्विविधम्—परोपदेशः आगमग्रन्थश्च। व्यवहारकालात् पूर्वं तेन श्रुतेन कृत उपकारः संस्काराऽऽधानरूपो यस्य तत् कृतश्रुतोपकारम्, यज् ज्ञानमिदानीं तु व्यवहारकाले तस्य पूर्वप्रवृत्तस्य संस्काराधायक श्रुतस्याऽनपेक्षमेव प्रवर्तते तत् श्रुतनिश्रितमुच्यते······।

—वि० भा० वृ० १६८

४६—नं० १६

५०—भिक्षु० न्या० २-५

५१—नं० १७

५२—पहले चार ज्ञान आवरण के अपूर्ण क्षय से प्रगट होते हैं, इसलिए वे क्षायोपशमिक या छद्मस्थज्ञान कहलाते हैं।

५३—केवल ज्ञान आवरण के पूर्ण क्षय से प्रगट होता है, इसलिए वह क्षायिक या केवल ज्ञान कहलाता है।

५४—तेन द्रव्यमनसा प्रकाशितान् बाह्यांश्चिन्तनीयघटादीननुमानेन जानाति, यत एव तत्परिणतानि एतानि मनोद्रव्याणि तस्मादेवं विधेनेह चिन्तनीयवस्तुना भाव्यम्—इत्येवं चिन्तनीयवस्तूनि जानाति न साक्षादित्यर्थः। चिन्तको हि मूर्तममूर्तञ्च वस्तु चिन्तयेत्। न च छद्मस्थो ऽमूर्तं साक्षात् पश्यति। ततो ज्ञायते अनुमानादेव चिन्तनीयं वस्त्ववगच्छति···। —वि० भा० वृ० ८१४

५५—केवल मेगं सुद्धं, सगलमसाहारणं अणंतं च —वि० भा० ८४
केवलमिति कोर्थः ? इत्याह—एकमसहायम्, इन्द्रियादिसाहाय्यानपेक्षित्वात्, तद्भावेऽशेषछाद्मस्थिकज्ञाननिवृत्तेर्वा

—वि० भा० वृ० ८४

५६—भग० ६।१०

५७—शुद्धम्-निर्मलम्—सकलावरणमलकलंकविगमसम्भूतत्वात्

—वि० भा० वृ० ८४

५८—सकलम्-परिपूर्णम्—सम्पूर्णज्ञेयग्राहित्वात् —वि० भा० वृ० ८४

५९—असाधारणम्—अनन्य-सदृशम् तादृशापरज्ञानाभावात्।

—वि० भा० वृ० ८४

६०—अनन्तम्—अप्रतिपातित्वेन विद्यमानपर्यन्तत्वात्

—वि० भा० वृ० ८४

६१—दशवै० ४।२२

२—अभि० चि० १।३१

६३—तओ केवली पण्णत्ता तंजहा—ओहिनाणकेवली,
केवल मणपज्जवनाणकेवली, केवलनाणकेवली। —स्था० ३।४

६४—प्र० नं० ४।४७।

६५—(क) मनोऽणुपरिमाणं न भवति, इन्द्रियत्वात्—नयनवत्। न च शरीर-व्यापित्वे युगपज्ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गः तादृश-क्षयोपशम विशेषेणैव तस्य कृतोत्तरत्वात्। —प्र० नं० र० १।२

(ख) 'मनोणुवाद' की जानकारी के लिए देखिए।
—न्या० सि० मु० का०
—न्या० ४।११।

६६—नं० सू० ४४

६७—णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते, तंजहा—
देसणाणावरणिज्जे चेव सव्व णाणावरणिज्जे चेव —स्था० २।४

६८—प्र० मा० १।२७-३०

६९—भग० १८।८

७०—त० भा० १।३१

७१—सच कालतः छद्मस्थानामन्तर्मुहुर्तकालं केवलिनामेकसामयिकः
—प्रज्ञा० वृ० २८

७२—सन्म० टी० पृ० ६०८

७३—सर्वा० सि० १।६, आ० १०१

७४—ज्ञा० बि०

७५—नं० १६, १८, २१, ३७, ६०

७६—नं० १६

७७—नं० ६०

७८—स्था० ५।३

७९—भग० ८।२

८०—अनन्तमलोकाकाशं केवलिना परिच्छिन्नं चेत्तदा उपलब्धावसानत्वा दनन्तत्वहानिः। अथाऽपरिच्छिन्नं तदा तत्स्वरूपपरिच्छेद-विरहेण सर्वज्ञत्वा भावः नैव दोषः। केवलिनां यज्ज्ञानं तदविशयवत् क्षायिकमनन्तानन्त परिमाणं च, तेन तदनन्तमिति साक्षादवसीयते ततो नानन्तत्वस्य हानि नं

वा सर्वज्ञतायाः। नह्यन्यथा स्थितमर्थमन्यथा वेत्ति सर्वज्ञो यथार्थज्ञत्वात् इति न तेन सान्तमनन्तत्वेन परिच्छिन्नं किन्तु अनन्तमनन्तत्वेन।

— न्या० पृ० २२१

८१—भग० ५।४।१४२

८२—निय० १५८

८३—निय० १५८

: सात :

१—उत्त० २८।१०।११

२—दशवै० ४।३

३—दशवै० ४।३

४—इह हि सकलघनपटल विनिर्मुक्तशारददिनमणिरिव समन्ततः समस्त वस्तु स्तोमप्रकाशनैकस्वभावो जीवः, तस्य च तथाभूतस्वभावः केवलज्ञानमिति व्यपदिश्यते। —न० वृ० १

५—णाणावरणिज्जे कम्मे दुविहे पण्णत्ते-तंजहा—देसणाणावरणिज्जे चेव सव्वणाणावरणिज्जे चेव। —स्था० २।४

६—भग० ७।८

७—जैन० दी० ४।१

८—भग० ६।३२, प्रज्ञा० २३

९—गर्ति पप्प, ठिइंपप्प, भवंपप्प, पोग्गल परिणामं पप्प। —प्रज्ञा० पद २३

१०—बाह्यान्यपि द्रव्याणि, कर्मणामुदयक्षयोपशमादिहेतव उपलभ्यन्ते, यथा बाह्यौपधिर्ज्ञानावरण क्षयोपशमस्य, सुरापानं ज्ञानावरणोदयस्य, कथमन्यथा युक्तायुक्तविवेक-विकलतोपजायते।... [प्रज्ञा० पद० १७]

११—प्रज्ञा० पद० १३

१२—अणुत्तर कसिणं पडिपुण्णं निरावरणं वितिमिरं विसुद्धं लोगालोगप्पभावगं केवल वरनाणदंसण संमुप्पा इइ। —उत्त० २६।७१

१३—मणपज्जवणाणं पुण जणमण परिचिंतियत्थपागडणं। —नं० गाथा० ५८

१४—मनो द्रव्य स्थितानेव जानाति, न पुनश्चिन्तनीय बाह्यघटादि वस्तुगतानिति। —वि० भा० वृ० गाथा ८१४

१५—दव्वमणोपज्जाए जाणइ पासइ य तग्गएणं ते ? तेणावभासिए उण जाणइ वज्झेणुमाणेणं। —वि० भा० गाथा० ८१४

१६—यथा प्राकृतोलोकः स्फुटमाकारैर्मानसं भावं जानाति, तथा मनः पर्यवज्ञान्यपि मनोद्रव्यगतानाकारानवलोक्य तं तं मानसं भावं जानाति।
—वि० भा० वृ० ११३६

१७—सरूवी चेव अरूवी चेव—स्था० २।१।५७

१८—उत्त० ३६।४,६६

१९—नं० २१

२०—स० सू० ११९ पृ० ७०

२१—तन्दु० वै०

२२—पुढवी काइयाणं ओरालिए जाव वणस्सइकाइयाणं···बे इन्दियाणं··· अट्ठिमंस सोणिय बद्धे बाहिरए ओरालिए जाव चउरिन्दियाणं······ पंचिंदिय तिरिक्ख जोणियाणं अट्ठिमंस सोणियन्हारु सिराबद्धे बाहिरए ओरालिए—मणुस्साणं वि एव मेव······—स्था० २।१

२३—मनस्त्वपरिणतानिष्ट—पुद्गल-निचयरूपं द्रव्यमनः अनिष्टचिंता-प्रवर्तनेन जीवस्य देहदौर्बल्याद्यापत्त्या ह्यन्निरुद्ध वायुवद् उपघातं जनयति, तदेवच शुभ-पुद्गलपिंडरूपं तस्यानुकूलचिन्ताजनकत्वेन हर्षाद्यभिनिवृंत्या भेषजवदनुग्रहं विधत्ते इति······ —वि० भा० वृ० गाथा २२०

२४—संकेतकाल प्रवृत्तं, श्रुतग्रन्थसम्बन्धिनं वा घटादि शब्दमनुसृत्य वाच्य-वाचक भावेन संयोज्य 'घटोघटः' इत्याद्यन्तर्जल्पाकार मतः शब्दोल्लेखा न्वित-मिन्द्रियादि निमित्तं यज्ज्ञानमुदेति तच्छ्रुत ज्ञानमिति
—वि० भा० वृ० गाथा १००

२५—नं० ३,४,५

२६—जैन० दी० २-२४

२७—,, ,, २-२६

२८—,, ,, २-३०

२९—श्रुतमनिन्द्रियस्य···[त० सू० २।२२···]

३०—जस्स णं नत्थि ईहा, अपोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिन्ता, वीमंसा सेणं असण्णित्ति लब्भई —नं० ४१

३१—जस्स णं अत्थि ईहा, अपोहो, मग्गणा, गवेसणा, चिन्ता, वीमंसा से णं सण्णीति लब्भई—नं० ४०

३२—बृ० भा० १।१

३३—न्याय सू० १-१२

३४—सा० का० २७

३५—श्रुतं पुनः श्रुतज्ञानसमधिगम्यं वस्तूच्यते, विषये विषयिण उपचारात्··· —तत्वा० श्लो० २।११ पृ० ३२८

३६—तत्त्वा० श्लो० २-२१ पृ० ३२८

३७—मणिज्जमाणे मणे·· ···—भग० १३।७

३८—सव्वजीवाणंपिय णं अक्खरस्स अणंत भागो निच्चुग्घाडियो जइ पुण सो वि आवरिज्जा तेणं जीवो अजीवत्तं पावेज्जा··· —नं० ४३

३९—सुट्ठवि मेहसमुदए, होइ पभाचंदसूराणं·······—नं० ४३

४०—सव्वजहण्णं चित्तं एगिन्दियाणं —दशवै० चूर्णि नं०

४१—स्त्यानर्ध्युदयादव्यक्तचेतनानाम्···—आचा० वृ० १।१।२।१७

४२—जैन० दी० —३-४

४३—अणंता आभिणि बोहियं पज्जवा। —भग० ८।२ (देखिए वृत्ति और प्रज्ञा० पद-५)

४४—स्या० मं० पृ० १४८

४५—इनका क्रम—अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा है।

४६—तं० वृ० वृ० २।८ पृ० १५१

४७—प्रज्ञा० प० १८

४८—(क) दिशामूढ़ अवलोय रे, पूरब ने जाणे पश्चिम।
उदय भाव ए जोय रे, पिण क्षयोपशम भाव नहिं॥
है चक्षु में रोग रे, वे चन्दा देखै प्रमुख।
ते छै रोग प्रयोग रे, तिम विपरीतज जाण वो॥
चक्षु रोग मिट जाय रे, तहा पछै देखै तिको।

ए बेहुं जुदा कहाय रे, रोग अने वलि नेत्र ने ॥
उदयभाव छै रोग रे, चक्षु क्षयोपशम भाव छै।
ए बेहुँ जुदा प्रयोग रे, तिण विध ए पिण जाण वो ॥

—[भग० जोड़ ३।६।६८।५१ से ५४ तक]

(ख) चेतनास्वरूपत्वेऽनवरतं जानानेनैन भवितव्यं जीवेन, कुतो वा पूर्वोपलब्धार्थविषयविस्मरणम् ?

ज्ञानस्योपलब्धिरूपत्वेन व्यक्ततेत्यात्मनापि व्यक्तबोधेन भवितव्यं, नाव्यक्तबोधेन।

निश्चयकत्वेन ज्ञानस्य न कदाचित् संशयोद्भवः स्यात्। ज्ञानस्य च निरवधित्वेनाशेषविषयग्रहणमापद्येत इति चेत् ? नैवं, कर्मवशवर्तित्वेनात्मन स्तज्ज्ञानस्य च विचित्रत्वात्। तथाहि कर्म निगडनियन्त्रितोयमात्मा......

...चलस्वभावो नानार्थेषु परिणममानः कृकलासवद् अव्यवस्थितोद् भ्रान्तमनाश्च कथमेकस्मिन्नर्थे चिरमुपयोगवान्। निसर्गत एवोत्कर्षादुपयोगकालस्यान्तर्मुहूर्तमानत्वाच्च। समुन्नतघनाघनघनपटलाभिभूतमूर्तेर्भास्वतः प्रकाशस्वरूपत्वेऽपि अस्पष्टप्रकाशोद् भववच्च... —स्या० पत्त० १७७

४६—(क) मतिज्ञानदर्शनावरणक्षयोपशमावस्थानिर्वृत्तौ यो ज्ञान सद्भावः क्षायोपशमिकः श्रोध लब्धिरुच्यते —जैन० तर्क० २।१८।पृ० १६७

[ख] अर्थ-ग्रहण शक्तिः लब्धिः... —लघी०

५०—(क) उपयोगः पुनरर्थग्रहणव्यापारः —लघी० ५

[ख] क्षायोपशमिक ज्ञान में ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय— दोनो के क्षयोपशम की अपेक्षा होती है।

५१—जैन० दी० २।२८

५२—जैन० दी २।२८

५३—श्रोत्रादिक्षयोपशमलब्धौ सत्यां निर्वृत्तिः शष्कुल्यादिका भवति, यस्य तु लब्धि र्नास्त्येवं प्रकारा न खलु तस्य प्राणिनः शष्कुल्यादयोऽवयवा निवर्तन्ते। तस्माल्लब्ध्यादयश्चत्वारोऽपि समुदिताः शब्दादि-

विषयपरिच्छेदमापादयन्तः इन्द्रिय व्यपदेशमश्नुवते। एकेनाप्यवयवेन विकलमिन्द्रियं वोच्यते, न च स्वविषयग्रहणसमर्थं भवति…

[त० भा० २।१६ पृ० १६८]

५४—स्या० मं० १७, पृ० १५३

५५—यदा शब्दोपयोगवृत्तिरात्मा भवति तदा न शेषकरण-व्यापारः स्वल्पोप्यन्यत्र कान्तद्विशाभ्यस्त विषयकलापात्। अर्थान्तरोपयोगे हि प्राच्यमुपयोगबलमाम्रियते कर्मणा, शंख शब्दोप्युपयुक्तस्य शृङ्ग शब्दविज्ञानमस्तमिततन्निर्मासं भवति, अतः क्रमेण उपयोग एकस्मिन्नपि इन्द्रिय-विषये, किमुत वहुविधविशेषभाजीन्द्रियान्तरे, तस्मादेकेन्द्रियेण सर्वात्मनोपयुक्तः सर्वः प्राण्युपयोगं प्रति एकेन्द्रियो भवति।

—त० भा० २।१६ पृ० १६६]

५६—चेतना व्यापार उपयोगः —जैन० दी० २।३

५७—उपयोगस्तु द्विविधा चेतना…संविज्ञान लक्षणा अनुभवलक्षणा च। तत्र घटाद्युपलब्धिः संविज्ञान लक्षणा, सुख-दुःखादिसंवेदनानुभवलक्षणा, एतदुभयमुपयोग ग्रहणाद् गृह्यते। —[त० भा० २।१६ पृ० १६८]

५८—एगिंदिय विगलिंदियाशरीरवेयणं वेयंति, नो माणसं वेयाणं वेयंति

—(प्रज्ञा० पत्र० ३५)

५९—(क) स्था० १०

(ख) आचा० नि०

६०—संज्ञानं संज्ञा, आभोग इत्यर्थः मनोविज्ञानमित्यन्ये—स्था० वृ० १०-७५२

६१—भग० २०।१,

६२—अकडं करिस्सामित्ति मण्णमाणे…… —आचा० १।२।१

६३—(क) ओघ-ज्ञानम्—ओघः सामान्यम्; अप्रविभक्त रूपम्, यत्र न स्पर्शनादीनीन्द्रियाणि तानि मनो निमित्तमाश्रयन्ते, केवलं मत्यावरणीयक्षयोपशम एव तस्य ज्ञानस्योत्पत्तौ निमित्तम्, यथा वल्ल्यादीनां निम्वादौ अभिसर्पणज्ञानं न स्पर्शननिमित्तं, न मनो निमित्तमिति तस्मात् तत्र मत्यज्ञानावरण क्षयोपशम एव केवलं निमित्तीक्रियते ओघ-ज्ञानस्य।—(त० भा० टी० १।१४ पृ० ७६)

(ख) स्था० वृ० पृ० ५०५

६४—प्रज्ञा० प० ३५

६५—प्रज्ञा० प० २३

६६—स्था० १०-७०८

६७—अपइट्ठिए कोहे—निरालम्बन एव केवल क्रोध वेदनीयोदयादुपजायेत —प्रज्ञा० प०-१४

६८—प्रज्ञा० प० २८

६९—हे ऊवएसेणं जस्स णं अत्थि अभिसंधारण पुव्विया करण सत्ती सेणं सण्णीति लब्भई नं० १।४०

७०—जेसिं केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं, पडिक्कंतं, संकुचियं, पसारियं रुयं, भंत, तसियं, पलाइयं, आगइ-गई-विन्नाया—दशवै० ४।६

७१—यो हि शिक्षाक्रियात्मार्थग्राही संज्ञी स उच्यते··· —त० सा० ६३

७२—अवग्रहेहावाय धारणाः । तत्वा० १।१५

७३—मतिः, स्मृतिः, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध-इत्यनर्थान्तरम् । —तत्वा० १।१३

७४—महा० पु० १८।११८

७५—इन्द्रियार्थधिया बुद्धि, र्ज्ञानं त्वागमपूर्वकम् ।
सदनुष्ठानवच्चैतद् - असंमोहोऽभिधीयते ॥
रत्नोपलम्भतज्ज्ञानं, तत् प्राप्त्यादियथाक्रमम् ।
इहोदाहरणं साधु, ज्ञेयं बुध्यादिसिद्धये ॥

रत्नोपलम्भ—इन्द्रिय और अर्थ के सहारे उत्पन्न होने वाली बुद्धि; जैसे—यह रत्न है।

रत्न-ज्ञान—आगम वर्णित रत्न के लक्षणों का ज्ञान।

रत्न-प्राप्ति—सम्यक् रूप में उसे ग्रहण करना।

७६—तुलना कीजिए—अन्यत्र मना अभूवं नादर्शमन्यत्र मना अभूवं ना श्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति। कामः, संकल्पो विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृतिरधृति र्ह्री र्धी र्भी रित्येतत् सर्वं मनएव —बृ० उप० १।५।३

७७—(क) चउवे भंते ! बुज्झि पासइ, अचक्खुं बुज्झि पासइ, संबुझाणुं बुज्झि पासइ ।

गोयमा ! संवुडे वि सुविणं पासइ, असंवुडे वि सुविणं पासइ, संवुडासंवुडे वि सुविणं पासइ। संवुडे सुविणं पासति अहातच्चं पासति। असंवुडे सुविणं पासति तहा वा तं होज्जा, अन्नहावातं होज्जा संवुडासंवुडे सुविणं पासति एवं चेव। —[भग० १६।६]

(ख) सुमिणं दंसणे वा से असमुप्पण्ण-पुव्वे समुप्पज्जेज्जा अहा तच्चं सुमिणं पासितए।—दशा० ५

७८—कतिविहे णं भंते ! सुविण दंसणे पण्णत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे सुविण दंसणे पण्णत्ते-तंजहा अहातच्चे, पयाणे, चिंता सुविणे, तव्वीवरीए, अवन्त दसणे —भग० १६।६

७६—भग० जोड़ १६।६

८०—सुत्तेणं भंते ! सुविणं पासति जागरे सुविणं पासति सुत्त जागरे सुविणं पासति ?

गोयमा ! नो सुत्ते सुविणं पासई, नो जागरे सुविणं पासई सुत्त जागरे सुविणं पासई —भग० १६।६

८१—शाब्दिक नय की दृष्टि से।

८२—आव० (मलय गिरीय वृत्ति) —पत्र ४६६-५००

८३—शा० सु० १।७

८४—स्था० २।१

८५—स्था० २।१

ण रसे, ण फासे, —आचा० १।५।६ ३३३

० १।५।६-३३२

गच्छ ग्राहग-पओगा।

दव्व विन्नेओ ॥ दशवै० नि० ४ ॥ २४०

एव होई जीवोति।

उप्पायओ अन्नो ॥४। २४६

अत्थि वा नत्थि वा जीवो।

देवदत्तस्स। —दशवै० नि० ४।२५०

-चक्खुणा ॥ —दशवै० नि० ४।२६०

डिसेहओ सिद्धं संजोगाइ चउक्कं पि

भा० गाथा १५७४

६।१।३३२

·उत्त० २८।१०

दुणेय······उत्त०२८।१०

ण फासे······आचा० ६।१।३३३

तसे ण चउरंसे ण परिमंडले, ण किन्हे, ण लद्दे, ण सुक्किल्ले, ण सुरहिगंधे, ण दुरहिगंधे, ण, ण महुरे, ण कक्खडे, ण मउए, ण गरुए, ण णिद्धे, ण लुक्खे, ण काऊ, ण रुहे, ण संगे, हा, परिण्णे सण्णे।

—आचा० ३।१।३३१

० ६।१।३३२

ऽस्म विज्जइ। मई तत्थ ण गाहिता······

आचा० ६।१।३३०

: आठ :

१—सेण सद्दे, ण रूवे, ण गन्धे, ण रसे, ण फासे, —आचा० १।५।६ ३३३

२—अरूवी सत्ता······ ···आचा० १।५।६-३३२

३—ब्रह्म १-१-१

४—देहिंदिया इरित्तो, आया खलु गज्झ ग्राहग-पओगा।
संडासो अय पिण्डो अपकारो इव्व विन्नेओ ॥ दशवै० नि० ४ ॥ ३४०

५—जो चिंतेई सरीरे, नत्थि अहं स एव होई जीवोत्ति।
न ऊ जीवम्मि असंते, संसय उप्पायओ अन्नो ॥४। २४६
जीवस्स एस धम्मो, जा ईहा अत्थि वा नत्थि वा जीवो।
खाणु मणुस्साणुगया, जह ईहा देवदत्तस्स। —दशवै० नि० ४।२५०

६—अणिंदियगुणं जीवं, दुन्नेयं मंस-चक्खुणा ॥ —दशवै० नि० ४।२६०

७—असओ नत्थि निसेहो, संजोगाइपडिसेहओ सिद्धं संजोगाइ चउक्कं पि
सिद्ध मत्थंतरे निययं ॥—वि० भा० गाथा १५७४

८—अरूवी सत्ता·········आचा० ६।१।३३२

९—जीवो उवओग लक्खणो······उत्त० २८।१०

१०—नाणेणं दंसणेण च सुहणेय दुहणेय······उत्त०२८।१०

११—सेण सद्दे ण रूवे ण गंधे ण रसे ण फासे······आचा० ६।१।३३३

१२—सेण दीहे ण हस्से ण वट्टे ण तसे ण चउरंसे ण परिमंडले, ण किन्हे, ण
णीले। ण लोहिए, ण हालिद्दे, ण सुक्किल्ले, ण सुरहिगंधे, ण दुरहिगंधे, ण
तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण महुरे, ण कक्खड़े, ण मउए, ण गरूए, ण
लहुए, ण सीए, ण उन्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे, ण काऊ, ण रुहे, ण संगे,
ण इत्थि, ण पुरिसे, ण अन्नहा, परिण्णे सण्णे।

—आचा० ३।१।३३१

१३—अपयस्स पयं नत्थि······आचा० ६।१।३३२

१४—सव्वे सरा णियट्टंति, तक्का जत्थ ण विज्जइ। मई तत्थ ण गाहिता······
आचा० ६।१।३३०

: आठ :

१—सेण सद्दे, ण रूवे, ण गन्धे, ण रसे, ण फासे, —आचा० १।५।६ ३३३

२—अरूवी सत्ता······ ···आचा० १।५।६-३३२

३—ब्रह्म १-१-१

४—देहिंदिया इरित्तो, आया खलु गज्झ ग्राहग-पओगा।
संडासो अय पिण्डो अपकारो इव्व विन्नेओ॥ दशवै० नि० ४॥ ३४०

५—जो चिंतेई सरीरे, नत्थि अहं स एव होई जीवोति।
न ऊ जीवम्मि असंते, संसय उप्पायओ अन्नो॥४। २४६
जीवस्स एस धम्मो, जा ईहा अत्थि वा नत्थि वा जीवो।
खाणु मणुस्साणुगया, जह ईहा देवदत्तस्स। —दशवै० नि० ४।२५०

६—अणिंदियगुणं जीवं, दुन्नेयं मंस-चक्खुणा॥ —दशवै० नि० ४।२६०

७—असओ नत्थि निसेहो, संजोगाइपडिसेहओ सिद्धं संजोगाइ चउक्कं पि
सिद्ध मत्थंतरे निययं॥—वि० भा० गाथा १५७४

८—अरूवी सत्ता·········आचा० ६।१।३३२

६—जीवो उवओग लक्खणो······उत्त० २८।१०

१०—नाणेणं दंसणेण च सुहेणेय दुहेणेय······उत्त०२८।१०

११—सेण सद्दे ण खे ण गंधे ण रसे ण फासे······आचा० ६।१।३३३

१२—सेण दीहे ण हस्से ण वट्टे ण तंसे ण चउरसे ण परिमंडले, ण किन्हे, ण णीले। ण लोहिए, ण हालिद्दे, ण सुक्किल्ले, ण सुरहिगंधे, ण दुरहिगंधे, ण तित्ते, ण कडुए, ण कसाए, ण महुरे, ण कक्खड़े, ण मउए, ण गरुए, ण लहुए, ण सीए, ण उन्हे, ण णिद्धे, ण लुक्खे, ण काऊ, ण रूहे, ण संगे, ण इत्थि, ण पुरिसे, ण अन्नहा, परिण्णे सण्णे।

—आचा० ३।१।३३१

१३—अपयस्स पयं णत्थि······आचा० ६।१।३३२

१४—सव्वे सरा णियट्टंति, तक्का जत्थ ण विज्जइ। मई तत्थ ण गाहिया······
आचा० ६।१।३३०

१५—अस्तीति शाश्वतग्राही, नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्व-नास्तित्वे, नाश्रीयेत विचक्षणः ॥—मा० का० १८।१०

१६—आत्मेत्यपि प्रज्ञापित-मनात्मत्यपि देशितम्।
बुद्धैर्नात्मा नचानात्मा, कश्चिदित्यपि देशितम् ॥—मा० का० १८।६

१७—सुख-दुख ज्ञान निष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम्। वै० सू० ३।२।१६

१८—(क) व्यवस्थातो नाना। —वै० सू० ३।२।२०
(ख) जीवस्तु प्रति शरीरं भिन्नः—तर्क सं०

१६—न हन्यते हन्यमाने शरीरे……कठ० उप० १—२।१५।१८

२०—इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ या उत्कृष्ट है। मन से बुद्धि, बुद्धि से महत्तत्व, महत्तत्व से अव्यक्त और अव्यक्त से पुरुष श्रेष्ठ है। वह व्यापक तथा अलिङ्ग है। —कठ० उप० २।३।७।८०
पुरुष से पर (श्रेष्ठ या उत्कृष्ट) और कोई कुछ नहीं है। वह सूक्ष्मता की पराकाष्ठा है। —कठ० उप० १।३।१०, ११

२१—ईशावास्यमिदं सर्वं। यत् किञ्च जगत्यां जगत् —ईशा० उप०

२२—अविकार्योऽयमुच्यते……गी० २—२५.

२३—यतो वाचो निवर्तन्ते-अप्राप्य मनसा सह —तैत्त० उप० २।४

२४—स एस नेति नेति……बृह० उप० ४-५-१५

२५—अस्थूल मन एव ह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छाय मतमोऽवाप्वनाकाश मसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागऽश्नोऽतेजस्कमप्राणममुखमनन्तर-मवाह्यम्……बृह० उप०—३।८।८

२६—तैत्त० उप०—२।१।१

२७— „ „—२।२।१

२८— „ „—२।२।१

२९— „ „—२।३।१

३०— „ „—२।४।१

३१— „ „—२।५।१

३२—ण हि इन्दियाणि जीवा, काया पुण छप्प यारपण्णत्ति।
जं हवदि तेसु णाणं, जीवोत्तिय तं परूवन्ति ॥

जाणादि पस्सदि सव्वं, इच्छदि सुखं विभेदि दुक्खादो।
कुव्वदि हिदमहिदं वा, भुंजदि जीवो फलं तेसिं॥

—पञ्चा० १२६, १३०

अर्थात्—इन्द्रियाँ जीव नहीं हैं, छह प्रकार के शरीर भी जीव नही हैं। उनमें जो ज्ञान है, वह जीव है।

उसके लक्षण हैं—ज्ञान, दर्शन, सुख की इच्छा, दुख का भय हित अहित करण उनका फल भोग।

३३— सुह दुःख जाणणावा, हिदपरियम्मं च अहिद भीसत्तं।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं, तं समणा विंति अजीव॥

३४—जिनमें सुख-दुख का ज्ञान, हित का अनुराग, अहित का भय, नहीं होता, वे अजीव हैं।

(क) कृत्रिम उद्‌भिज अपने आप बढ़ जाता है। फिर भी सजीव पौधे की बढ़ती और इसकी बढ़ती में गहरा अन्तर है। सजीव पौधा अपने आप ही अपने कलेवर के भीतर होने वाली स्वाभाविक प्रक्रियाओं के फलस्वरूप बढ़ता है।

इसके विपरीत······जड़ पदार्थ से तैयार किया हुआ उद्‌भिज बाहरी क्रिया का ही परिणाम है। —हि० भा० खण्ड १, पृ० ४१

(ख) सजीव पदार्थ बढ़ते हैं और निर्जीव नहीं बढ़ते, लेकिन क्या चीनी का 'रवा' चीनी के संपृक्त घोल में रक्खे जाने पर नही बढ़ता? यही बात पत्थरों और कुछ चट्टानों के बारे में भी कही जा सकती है, जो पृथ्वी के नीचे से बढ़कर छोटे या बड़े आकार ग्रहण कर लेते हैं। एक ओर हम आम की गुठली से एक पतली शाखा निकलते हुए देखते हैं और इसे एक छोटे पौधे और अन्त में एक पूरे वृक्ष के रूप में बढ़ते हुए पाते हैं, और दूसरी ओर एक पिल्ले को धीरे २ बढ़ते हुए देखते हैं और एक दिन वह पूरे कुत्ते के बराबर हो जाता है। लेकिन इन दोनों प्रकार के बढ़ाव में अन्तर है। चीनी के रवे या पत्थर का बढ़ाव उनकी सतह पर अधिकाधिक नए पर्त के जमाव होने की वजह से होता है। परन्तु इसके विपरीत छोटे पेड़ या पिल्ले अपने शरीर के भीतर खाद्य पदार्थों के ग्रहण करने से बढ़कर पूरे डीलडौल के हो जाते हैं।

अतएव पशुओ और पौधो का वढ़ाव भीतर से होता है और निर्जीव पदार्थों का वढ़ाव यदि होता है तो वाहर से। —हि० भा० खण्ड १ पृ० ५०

३५—प्राणी-सजीव और अजीव दोनो प्रकार का आहार लेते हैं। किन्तु उसे लेने के वाद वह सब अजीव हो जाता है। अजीव-पदार्थों को जीव स्वरूप में कैसे परिवर्तित करते हैं, यह आज भी विज्ञान के लिए रहस्य है। वैज्ञानिकों के अनुसार वृक्ष निर्जीव पदार्थों से बना आहार लेते हैं। वह उनमें पहुँचकर सजीव कोष्ठो का रूप धारण कर लेता है। वे निर्जीव पदार्थ सजीव बन गए इसका श्रेय "क्लोरोफिल" को है। वे इस रहस्यमय पद्धति को नहीं जान सके हैं, जिसके द्वारा 'क्लोरोफिल' निर्जीव को सजीव में परिवर्तित कर देता है। जैन-दृष्टि के अनुसार निर्जीव आहार को स्वरूप में परिणित करने वाली शक्ति आहार-पर्याप्ति है। वह जीवन-शक्ति की आधार-शिला होती है और उसी के सहकार से शरीर आदि का निर्माण होता है।

३६—लजावती की पत्तियाँ स्पर्श करते ही मूर्छित हो जाती हैं। आप जानते हैं कि आकाश में विद्युत् का प्रहार होते ही खेतों में चरते हुए मृगों का झुण्ड भयभीत होकर तितर-बितर हो जाता है। वाटिका मे विहार करते हुए विहंगो में कोलाहल मच जाता है और खाट पर सोया हुआ अबोध बालक चौंक पड़ता है। परन्तु खेत की मेड़, वाटिका के फौव्वारे तथा बालक की खाट पर स्पष्टतया कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा क्यो होता है? क्या कभी आपने इसकी ओर ध्यान दिया? इन सारी घटनाओ की जड़ में एक ही रहस्य है और वह भी सजीव प्रकृति की प्रधानता है। यह जीवों की उत्तेजना शक्ति और प्रतिक्रिया है। यह गुण लजावती, हरिण, विहंग, बालक अथवा अन्य जीवो में उपस्थित है, परन्तु किसी मे कम, किसी में अधिक। आघात के अतिरिक्त अन्य अनेक कारणो का भी प्राणियो पर प्रभाव पड़ता है।

—हि० भा०—खण्ड १ पृ० ४२

३७—भग० २५।४

३८—सुहुमेणं वायुकायेणं फुडं पोग्गलकायं, एयंतं, वे यंतं चलंतं सुब्भंतं कंदंतं घट्टंतं, उदीरंतं, तं भावं परिणमतं सव्वं मियं जीवा— स्था० ७

३९—भग० २।१०

४०—सोडियम (Sodium) धातु के टुकड़े पानी में तैरकुश्रा कीड़ो की तरह तीव्रता से इधर-उधर दौड़ते हैं और शीघ्र ही रासायनिक क्रिया के कारण समाप्त होकर लुप्त हो जाते हैं।

—हि० भा० खण्ड १ पृ० १३५

४१—यथा व्रीहि र्वा यवो वा—वृह० उप० ५।६।१

४२—प्रदेश मात्रम्—छान्दो० उप ५।१८।१

४३—एष प्रज्ञात्मा इदं शरीरमनुप्रविष्टः—कौषी० ३५।४।२०

४४—सर्वगतम्—मुण्डकोप० १।१।६

४५—एप म आत्मान्तर हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षा ज्यायान् दिवो ज्यायानभ्यो लोकेभ्यः। —छांदो० उप० ३।१४।३

४६—जीवत्थि काए—लोए, लोय मेत्ते लोयप्पमाणे।—भग० २।१०

४०—जैन० दी० ८।२

४७—भग० ६।६।१७

४८—चत्तारि पएसग्गेणं तुल्ला………

४९—लोकस्तावदयं सूक्ष्मजीवै निरन्तरं भृतस्तिष्ठति। वादरैश्चाधारवशेन क्वचिदेव।—पर० प्र० वृ० २।१०७

५०— अद्दाऽमलगपमाणे, पुढवीकाए हवंति जे जीवा।
ते पारेवयमित्ता जंबूदीवे न माइंत्ति॥

५१—एगम्मि दगविन्दुम्मिमे जे जिणवरेहिं पण्णत्ता ते जइ सरिसवमित्ता जम्बूदीवे न माइंति।

५२— वरट्टि तन्दुल मित्ता तेऊ जीवा जिणेहिं पण्णत्ता।
मत्थ पलिक्ख पमाणा, जंबूदीवे न माइंति॥

—सेन० उल्लास ३ प्रश्न-२६६

५३— जे लिंबपत्तफरिसा वाऊ जीवा जिणेहिं पण्णत्ता।
ते जइ खसखसमित्ता, जंबूदीवे न माइंति॥

—सेन उल्लास ३-प्रश्न—२६६

५४—होमर—युनान का प्रसिद्ध कवि।

—"Take your dead hydrogen atoms your

अतएव पशुओं और पौधों का बढ़ाव भीतर से होता है और निर्जीव पदार्थों का बढ़ाव यदि होता है तो बाहर से। —हि० भा० खण्ड १ पृ० ५०

३५—प्राणी-सजीव और अजीव दोनों प्रकार का आहार लेते हैं। किन्तु उसे लेने के बाद वह सब अजीव हो जाता है। अजीव-पदार्थों को जीव स्वरूप में कैसे परिवर्तित करते हैं, यह आज भी विज्ञान के लिए रहस्य है। वैज्ञानिकों के अनुसार वृक्ष निर्जीव पदार्थों से बना आहार लेते हैं। वह उनमें पहुँचकर सजीव कोष्ठों का रूप धारण कर लेता है। वे निर्जीव पदार्थ सजीव बन गए इसका श्रेय "क्लोरोफिल" को है। वे इस रहस्यमय पद्धति को नहीं जान सके हैं, जिसके द्वारा 'क्लोरोफिल' निर्जीव को सजीव में परिवर्तित कर देता है। जैन-दृष्टि के अनुसार निर्जीव आहार को स्वरूप में परिणित करने वाली शक्ति आहार-पर्याप्ति है। वह जीवन-शक्ति की आधार-शिला होती है और उसी के सहकार से शरीर आदि का निर्माण होता है।

३६—लज्जावती की पत्तियाँ स्पर्श करते ही मूर्छित हो जाती हैं। आप जानते हैं कि आकाश में विद्युत् का प्रहार होते ही खेतों में चरते हुए मृगों का झुण्ड भयभीत होकर तितर-बितर हो जाता है। वाटिका में विहार करते हुए विहंगों में कोलाहल मच जाता है और खाट पर सोया हुआ अबोध बालक चौंक पड़ता है। परन्तु खेत की मेड़, वाटिका के फौव्वारे तथा बालक की खाट पर स्पष्टतया कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसा क्यों होता है? क्या कभी आपने इसकी ओर ध्यान दिया? इन सारी घटनाओं की जड़ में एक ही रहस्य है और यह भी सजीव प्रकृति की प्रधानता है। यह जीवों की उत्तेजना शक्ति और प्रतिक्रिया है। यह गुण लज्जावती, हरिण, विहंग, बालक अथवा अन्य जीवों में उपस्थित है, परन्तु किसी में कम, किसी में अधिक। आघात के अतिरिक्त अन्य अनेक कारणों का भी प्राणियों पर प्रभाव पड़ता है।

—हि० भा०—खण्ड १ पृ० ४२

३७—भग० २५।४

३८—सुहुमेणं वायुकायेणं फुडं पोग्गलकायं, एयंतं, वे यंतं चलंतं सुब्भंतं फंदंतं घट्टंतं, उदीरंतं, तं भावं परिणमतं सव्वं मिणं जीवा— स्था० ७

३९—भग० २।१०

४०—सोडियम (Sodium) धातु के टुकड़े पानी में तैरकुआ कीड़ो की तरह तीव्रता से इधर-उधर दौड़ते हैं और शीघ्र ही रासायनिक क्रिया के कारण समाप्त होकर लुप्त हो जाते हैं।

—हि० भा० खण्ड १ पृ० १३८

४१—यथा व्रीहि र्वा यवो वा—वृह० उप० ५।६।१

४२—प्रदेश मात्रम्—छान्दो० उप ५।१८।१

४३—एप प्रज्ञात्मा इदं शरीरमनुप्रविष्टः—कौपी० ३५।४।२०

४४—सर्वगतम्—मुण्डकोप० १।१।६

४५—एप म आत्मान्तर हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षा ज्यायान् दिवो ज्यायानभ्यो लोकेभ्यः। —छांदो० उप० ३।१४।३

४६—जीवत्थि काए—लोए, लोय मेत्ते लोयप्पमाणे।—भग० २।१०

४०—जैन० दी० ८।२

४७—भग० ६।६।१७

४८—चत्तारि पएसग्गेणं तुल्ला·········

४६—लोकस्तावदयं सूक्ष्मजीवै निरन्तरं भृतस्तिष्ठति। बादरैश्चाधारवशेन क्वचिदेव।—पर० प्र० वृ० २।१०७

५०— अद्दाऽमलगपमाणे, पुढवीकाए हवंति जे जीवा।
ते पारेवयमित्ता जंबूदीवे न माइंत्ति॥

५१—एगम्मि दगविन्दुम्मिमे जे जिणवरेहि पण्णत्ता ते जइ सरिसवमित्ता जम्बूदीवे न माइंत्ति।

५२— वरट्टि तन्दुल मित्ता तेऊ जीवा जिणेहिं पण्णत्ता।
मत्थ पलिक्ख पमाणा, जंबूदीवे न माइंति॥

—सेन० उल्लास ३ प्रश्न-२६६

५३— जे लिंबपत्तफरिसा वाऊ जीवा जिणेहिं पण्णत्ता।
ते जइ खसखसमित्ता, जंबूदीवे न माइंति॥

—सेन उल्लास ३-प्रश्न-२६६

५४—होमर—युनान का प्रसिद्ध कवि।

—"Take your dead hydrogen atoms your

dead oxygen atoms, your dead carbon atoms, your dead nitrogen atoms, your dead phosphorous atoms and all other atoms dead as grains of shot, of which the braich is formed. Imagine them separate and senseless, observe then runing together and forming all gimaginable combinations. This as a purely mechanical process is seeable by the mind. But can you see or dream or in any way imagine how out of that mechenical act and from these individually dead atoms, sensation, thought and emotion are to arise? Are you likely tacreate Homer out of the rattling of dice or 'Differential calculus' out of the clash of Billiardball?......You can not satisfy the human understanding in its demand for logical continuity between molecular process and the phenomana of consciousness."

५५—नहि आत्मानमेकमाधारभूतमन्तरेण संकलनाप्रत्ययो घटते। तथाहि प्रत्येक मिन्द्रियैः स्वविषयग्रहणे सति परविषये वा प्रवृतेरेकस्य च परिच्छेतुरभावात्, मया पञ्चापि विषयाः परिच्छिन्ना इत्यात्मकस्य संकलनाप्रत्ययस्याऽभाव इति। —सूत्र० वृ० १।८

५६—विज्ञा० रूप० पृष्ठ-३६७.

५७—आया भंते। काये अन्ने काये! गोयमा आया काये वि अन्ने वि काये। रूवि भन्ते! काये अरुवि काये? गोयमा! रुवि पि काये अरु वि पि काये। एवं एकेके पुच्छा-गोयमा! सचित्ते वि काये अचित्ते वि काये।
—भग० १३।७-४६५

५८—भग० १४-४-५१४

५९—भग० १७-२-

६०—भूतेभ्यः कथंचिदन्य एव शरीरेण सह अन्योन्यानुवेधादनन्योपि।
—सूत्र०-१।१।१८

६१—आचा० १।५।६।१७१,१७२, भग०-१७-२-

६२—तथा सहेतुकोपि, नारकतिर्यङ्मनुष्यामरभवोपादानकर्मणा तथा तथा विक्रियमाणत्वात् पर्यायरूपतयेति। तथात्मस्वरूपाऽप्रच्युतेर्नित्यत्वादहेतुकोपि।
—सूत्र० १।१।१८

६३—सूत्र०-१।१।८

६४—पावलोक के सिद्धान्त को प्रवृत्तिवाद कहते हैं। उसका कहना है कि समस्त मानसिक क्रियाएं शारीरिक प्रवृत्ति-गति के साथ होती हैं। मानसिक क्रिया और शारीरिक प्रवृति अभिन्न सहचर क्या अभिन्न ही है?

६५—इमम्मि शरीरए सठिसिरासयं नाभिप्पभवाणं उड्ढगामिणीणं सिरं उवगयाणं जा उ रसहरणिओति बुचइ। जासिं णं निरुवघाएणं चक्खूसोयघाण जिहाबलं भवइ। —तन्दु० वै०

६६—माणवेत्ति वा (अनादित्वात् पुराण इत्यर्थः) अंतरप्पातिवा (अन्तरमध्यरूप आत्मा, न शरीर रूपः) —भग० २०।२

६७—जम्हाणं कसिणे पडिपुण्णे, लोगागासपएसतुल्ले जीवेत्ति वत्तव्वं सिया।...

६८—भिक्षु० न्या० ७-२

६९—ण एवं भूतं वा भरं वा भविस्सइ वा, जं जीवा अजीवा भविस्संति अजीवा वा जीवा भविस्संति। —स्था० १०

७०—जन्नं जीवा उद्दइत्ता उद्दइत्ता तत्थेव तत्थेव भुज्जो भुज्जो पचायंति एवं राणा लोगट्ठिति पण्णत्ता। —स्था० १०

७१—सएण विप्पमाएण पुढो वयं पकुव्वइ। —आचा० १।२।६

७२—कस्मियाए संगियाए। —भग० २।५

७३—स्था० ६-६८६

७४—दशवै० ८।३६

७५—गी० २।२२

७६—गी० ८।२६......

७७—.........

७८—न्याय सू० ३-१-११

७९—न्याय सू० ३-१-१२

८०—बाल सरीरं देहं तरपुव्वं इंदिया इमत्ताओ।
जुवदेहो बालादिव स जस्स देहो स देहित्ति। —वि० भा०

८१—The soul always weaves her garment a-new—
"The soul has a natural strength which will hold out and be borne many times—PLATO.

८२—I have also remarked that it is atonce obvious to every one who hears of it (rebirth) for the frist time Scohonpenhouer.

८३—काल के सबसे सूक्ष्म भाग को अर्थात् जिसके दो टुकड़े न हो सकें, उसे 'समय' कहा जाता है।

८४—भग० १।७

८५—जीवेणं भंते सउट्ठोण सकम्मे, सबले, सवीरिए, सपुरिसक्कार परिकम्मे, आयभावेणं जीवभावं उवदंसेतीति वत्तव्वं सिया। हंता, गोयमा! जीवेणं जाव-उवदंसेतीति वत्तव्वं सिया। —भग० २।१०

८६— से णं भंते! जोए किं पवहे?...गोयमा! वीरियप्पवहे।
से णं भंते! वीरिए किं पवहे? गोयमा! सरीरप्पवहे
से णं भंते! सरीरे किं पवहे? गोयमा! जीवप्पवहे!
—भग०-१-३

८७—जीवा णं भंते! किं सवीरिया, अवीरिया?
गोयमा! सवीरिया वि, अवीरियावि— भग० १-८

८८—कह णं भंते! जीवा गुरुयत्तं हव्वं आगच्छन्ति? गोयमा! पाणाइवाएणं मुसावाएणं, अदिण्णादाणेणं, मेहुणेणं, परिग्गहेणं कोह-माण-माया-लोभ-पेज्ज-दोस-कलह-अब्भक्खाण, पेसुण्णं-अरतिरति परपरिवाय-माया-मोस-मिच्छादंसणसल्लेणं, एवं खलु गोयमा! जीवागरुयत्तं हव्वं आगच्छन्ति। —भग० १।६

८९—कहणं भंते! जीवा लहुयत्तं हव्वं आगच्छन्ति?
गोयमा! पाणाइ वायवेरमणेणं, जाव मिच्छादंसण सल्लविरमणेणं।
—भग० १-६

९०—गंगेया! कम्मोदएणं, कम्मगुरुयत्ताए, कम्मभारियत्ताए, कम्मगुरुसंभारि-

यत्ताए, असुभाणं कम्माणं उदएणं असुभाणं कम्माणं विवागेणं असुभाणं कम्माणं, फलविवागेणं, सेयं नेरइया नेरइएसु उववज्जंति। भग० ६।३२

६१—गंगेया! कम्मोदएणं, कम्मोवसमेणं, कम्माविगतीए, कम्मविसोहीए, कम्मविसुद्धीए, सुभाणं कम्माणं, उदएणं, सुभाणं कम्माणं विवागेणं सुभाणं कम्माणं फलविवागेणं सयं असुरकुमारा असुरकुमारत्ताए उववज्जंति! —भग० ६।३२

६२—एगे जीवे एगेणं समएणं एगं अउयं पडिसवेदइ-इहभवियाउयं वा परभवियाउयं वा·······—भग० ५-३

६३—(क) जीवेणं भंते! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं किं साउए संकमइ?

गोयमा! साउए संकमइ, नो निराउए संकमइ।

से णं भंते! आउए कहिं कडे, कहिं समाइण्णे?

गोयमा! पुरिमे भवेकडे, पुरिमे भवे समाइण्णे, एवं जाव वेमाणियाणं दंडओ!······ —भग०५-३

(ख) (।) जीव स्वप्रयोग से ही दूसरे जन्म में उत्पन्न होते हैं:—

ते णं भंते! जीवा किं आयप्पयोगेणं उववज्जंति, परप्पयोगेणं उववज्जंति?

गोयमा! आयप्पयोगेणं उववज्जंति, नो परप्पयोगेणं उवज्जंति।

—भग० २५-८

(।।) से यं भंते! नेरइया नेरइएसु *उववज्जंति, असयं नेरइया नेरइएसु* उववज्जंति! गगेया! सयं नेरइया नेरइएसु उववज्जंति, नो असयं नेरइया नेरइएसु उववज्जंति —भग० ९-३२

: नौ :

१—कम्मओण भंते जीवे नो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमई।
कम्मओणं जए णो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमई॥
—भग० १२।५,

२—कर्मजं लोकवैचित्र्यं चेतना मानसं च तत् —अभि० चि०

३—जो तुल्लसाहणाणं फले विसेसो ण सो विणा हेउं कज्जतणओ गोयमा।
घडोव्व हेऊय सो कम्म —वि० भा०

४—आत्मनः सदसत्प्रवृत्या ाकृष्टास्तत्प्रायोग्यपुद्गलाः कर्म।
—जै० दी० ४।१

५—ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफलस्य दर्शनात् —न्याय० सू० ४।१

६—अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम्। —पांख्य, सूत्र० ५।२५

७—जम्हा कम्मस्स फलं, विसयं फासेहिं भुंजदे णियय।
जीवेण सुहं दुक्खं, तम्हा कम्माणि मुत्ताणि··· —पञ्चा० १४१

८—मुत्तो फासदि मुत्तं, मुत्तो मुत्तेण बंध मणुहवदि।
जीवो मुत्ति विरहिदो, गाहदि तेतेदिं उग्गहदि··· —पंञ्चा० १४२

६—जीवपरिणाम हेउं कम्मत्ता पोग्गला परिणमंति।
पोग्गल कम्म निमित्तं जीवो वि तहेव परिणमइ॥
—प्र० वृ० पृ० ४५५

१०—रूवि पि काये —भग० १३-७,
जीवस्स सरूविस्स —भग० १७-२
वण्ण रस पंच गन्धा, दो फासा अट्ठणिच्छया जीवे।
णो सति अमुत्ति तदो, ववहारा मुत्ति बंधादो —द्रव्य० सं० गा० ७

११—रूवी जीवा चेव अरूवी जीवा चेव —स्था० २

१२—कर्म वन्ध के हेतु

(१) ज्ञानावरणीय-(१) ज्ञान प्रत्यनीकता, (२) ज्ञान-निह्नव, (३) ज्ञानान्तराय,

(४) ज्ञान-प्रद्वेष, (५) ज्ञानाशातना, (६) ज्ञान-विसंवादन-योग।

(२) दर्शनावरणीय—(१) दर्शन-प्रत्यनीकता, (२) दर्शन-निह्नव, (३) दर्शनान्तराय, (४) दर्शन-प्रद्वेष, (५) दर्शनाशातना, (६) दर्शन-विसंवादन-योग।

(३) क—सात-वेदनीय—(१) अदुःख, (२) अशोक, (३) अझूरण, (४) अटिप्पण, (५) अपिट्टण, (६) अपरितापन।

(ख) असात-वेदनीय—(१) दुःख, (२) शोक, (३) झूरण, (४) टिप्पण, (५) पिट्टन, (६) परितापन।

(४) मोहनीय—(१) तीव्र क्रोध, (२) तीव्र मान, (३) तीव्र माया, (४) तीव्र लोभ, (५) तीव्र दर्शनमोहनीय, (६) तीव्र चारित्रमोहनीय।

(५) आयुष्य—(क) नारकीय—महा आरम्भ, महा परिग्रह, मांसाहार, पंचेन्द्रिय-वध।

(ख) तिर्यंच—(१) माया, (२) वञ्चना (३) असत्य वचन, (४) कूट तौल, कूट माप

(ग) मनुष्य—१ प्रकृति-भद्रता (२) प्रकृति-विनीतता (३) सानुक्रोशता (४) अमत्सरता

(घ) देव—(१) सराग-संयम, (२) संयमासंयम, (३) बाल-तप (४) अकाम निर्जरा।

(६) नाम-शुभ—(१) काय-ऋजुता, (२) भाव-ऋजुता, (३) भाषा ऋजुता, (४) अविसंवादन-योग।

अशुभ— (१) काय-अऋजुता, (२) भाव-अऋजुता, (३) भाषा अऋजुता, (४) विसंवादन-योग।

(७) गोत्र-उच्च—(१) जाति-अमद, (२) कुल-अमद, (३) बल-अमद, (४) रूप-अमद, (५) तप-अमद, (६) श्रुत-अमद, (७) लाभ-अमद, (८) ऐश्वर्य-अमद।

नीच—(१) जाति-मद, (२) कुल-मद, (३) बल-मद,

(४) रूप-मद, (५) तप-मद, (६) श्रुत-मद, (७) लाभ मद, (८) ऐश्वर्य-मद ,

(८) अन्तराय (१) ज्ञानान्तराय, (२) लाभान्तराय, (३) भोगान्तराय, (४) उपभोगान्तराय, (५) वीर्यान्तराय । —भग ८।६

१३—भग० १।२।३४

१४—स्था० ४।१।२५१

१५—प्रज्ञा० २३।१।२६०

१६—भग० १८।३

१७—सम० ४, स्था० ४।४।३६२, ४।२।२६६

१८—बन्धनम्-निर्मापणम् —स्था० ८।५६६

१६—प्रज्ञा० प० २३

२०—स्था० २।४।१०५

२१—शरीर-संघातन-नाम कर्म के उदय से शरीर के पुद्गल सन्निहित, एकत्रित या व्यवस्थित होते हैं और शरीर-बन्धन-नाम-कर्म के उदय से वे परस्पर बंध जाते हैं।

२२—संहनन का अर्थ है अस्थि-रचना विशेष —प्र०वृ० २३

२३—जीव की सहज गति सम श्रेणी में होती है। जीव का उत्पत्ति-स्थान सम श्रेणी में हो तो 'आनुपूर्वी नाम कर्म' का उदय नहीं होता। इसका उदय जन्म-स्थान विश्रेणी में स्थित हो तभी होता है—वह गति में ही होता है। इसकी प्रेरणा से सम श्रेणी से गति करने वाला जीव अपने विश्रेणी-स्थित जन्म-स्थान में पहुँच जाता है।

२४—'आतप-नाम-कर्म' का उदय सूर्य-मंडल के एकेन्द्रिय जीवों के ही होता है। इन जीवो के शरीर शीत हैं। केवल उनमें से निकलने वाली ताप-रश्मियां ही उष्ण होती हैं।

अग्निकायिक जीवों के शरीर से जो उष्ण-प्रकाश फैलता है, वह आतप-नाम कर्म के उदय से नही किन्तु उष्ण-स्पर्श नाम-कर्म तथा लोहित वर्ण नाम कर्म के उदय से फैलता है।

२५—लब्धिधारी मुनि के वैक्रिय शरीर और देवता के उत्तर वैक्रिय-शरीर में से, चांद, नक्षत्र और तारा मंडल से तथा रत्न और औषधियों व लकड़ियों से निकलने वाला शीत-प्रकाश उद्योत होता है।

२६—यहाँ गति का अर्थ है चलना। आकाश के बिना कहीं भी गति नहीं हो सकती। फिर भी गति-नाम-कर्म, जो नरक आदि पर्याय-परिणति का हेतु है, से भिन्न करने के लिए "विहायस्" शब्द का प्रयोग किया है।

२७—सूक्ष्म शरीर चक्षु द्वारा देखे नहीं जा सकते। ये किसी को रोक नहीं सकते और न किसीसे रुकते भी हैं। इन पर प्रहार नहीं किया जा सकता। सूक्ष्म शरीर पांच स्थावर काय के ही होता है। ये जीव समूचे लोक में व्याप्त होते हैं।

२८—बादर शरीर एक-एक चक्षु-गृहीत नहीं होते। इनका समुदाय चक्षु-ग्राह्य हो जाता है। सूक्ष्म शरीरों का समुदाय भी चक्षु-ग्राह्य नहीं होता।

२९—शिर लगाने से प्रसन्नता होती है, पैर लगाने से रोष आता है। इसका आधार यह हो सकता है।

३०—(क) भग० ८।९

(ख) मणवयकाय जोया जीवपएसाण फंदण-विसेसा।
मोहोदएणजुत्ता विजुदा विय आसवा होंति॥

—स्वा० का० ८८

३१—(क) जीवेन कयस्स··· —प्रज्ञा० २३।१।२९२

(ख) सव्विय दुक्खे दुक्खी दुक्खाण मेयं आवट्टं अणुपरियट्टइ—

—आचा० २।६।१०५

३२—भग० ६।

३३—भग० ६

३४—दुःखनिमित्तत्वाद् दुःखं कर्म, तद्वान् जीवो दुःखी

—भग० वृ० ७।१।२६६

३५—भग० ७।१।२६६

३६—मग० ६।३

३७—प्रज्ञा० २३।१।२८८

३८— पुण्णं बंधइ जीवो मंद कसाएहिं परिणदो संतो।
तम्हा मंद कसाया हेऊ पुण्णस्स ण हि वोच्छा—स्वा० का० ४१२

३९—तुल्ला० २२२-२२१

४०—औदारिक वर्गणा, वैक्रिय वर्गणा, आहारक वर्गणा, तैजस वर्गणा, कार्मण वर्गणा, भाषा वर्गणा, श्वासोच्छ्वास वर्गणा, मनो वर्गणा।

४१—जैन० दी० ४।१

४२—कम्मवेयणा णो कम्मनिज्जरा—भग० ७।३

४३—२३।१।२१२

४४—८।५१६

४५—१।१।१२

४६—भग० ७।१०

४७—कर्म-निषेको नाम कर्म-दलिकस्य अनुभवनार्थं रचनाविशेषः
—भग० वृ० ६।३।२३६

४८—बाधा—कर्मण उदयः, न बाधा अबाधा-कर्मणो बन्धस्योदयस्य चान्तरम्
—भग० वृ० ६।३।२३६

४९—द्विविधा स्थिति……दलिकनिषेकः। —प्रज्ञा० वृ० २३ १।२९४

५०—अपतिट्ठिए—आक्रोशादिकारणनिरपेक्षः 'केवलं क्रोधवेदनीयोदयात् यो भवति सोऽप्रतिष्ठितः—स्था० ४।१।२४९

५१—(क) स्था० ४।२।२४९
(ख) आभोगणिव्वत्तिए —स्था० ४।१।२४९

५२—स्था० ४।१।२६९

५३—स्था० ४।१।२४६

५४—प्रज्ञा० २३।१।२९३

५५—प्रदेशाः कर्मपुद्गलाः जीव प्रदेशेष्वोतप्रोताः तद्रूपं कर्म प्रदेशकर्म।
—भग० वृ० १।

५६—अनुभागः तेषामेव कर्मप्रदेशानां संवेद्यमानताविषयः रसः तद्रूपं कर्म अनुभाग-कर्म। —भग० वृ० १।४।४०

५७—जाणियव्वं ण जाणाति; जाणिउ कामे ण याणाति; जाणित्ता विण याणाति; उच्छन्न नाणी या वि भवति—प्रज्ञा० २३।१।२१२

५८—भग० ७।१०

५९— दव्वं, खेतं, कालो, भवोय भावो य हेयवो पंच हेतु।
समासेणुसदओ जायइ सव्वाण पगईणं॥
—पं० सं०

६०—प्रज्ञा० पृ० २३

६१— जीव खोटा खोटा कर्त्तव्य करे, जव पुद्गल लागे ताम।
ते उदय आयां दुःख उपजे, ते आप कमाया काम॥
पाप उदय थी दुःख हुवे, जव कोई मत करज्यो रोष।
किया जिसा फल भोगवे, पुद्गलनों सूं दोष—न० प०

६२—पर० प्र० वृ०—२।५३ पृ०—१६४

६३—पुरुषा २।५३ पृ० १६४

६४—पुरुषा-२११

६५— जो पर दव्वम्मि सुहं असुहं रागेण कुणदि जदि भावं।
सो सग चंरित्त भट्ठो पर चरिम चरो हवदि जीवो॥
आसवदि जेण पुण्णं पावं वा अप्पणो भावेण।
सो तेण पर चरित्त हवदि त्ति जिणा परूवंति॥
जो सव्व संग मुक्कोऽणण्णमणं अप्पाणं सहावेन।
जानदि पस्सदि णियदं सो सग चरियं चरदि जीवो॥
जस्स हि दये णुमत्तं पर दव्वम्मि विज्जदे रागो।
सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागम धरो वि॥
पंचा० १६४-१६५-१६६,१७१

६६— पुण्णेण होई विहवो, विहवेणमओ, मएण मइमोहो।
मइमोहेन य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होऊ॥ २।६०
१८. पूर्वोक्त पुण्यं भेदाभेदरत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगा-

कांक्षारूपनिदानबन्धपरिणामसहितेन जीवेन यदुपार्जितं पूर्वभवे तदेव मदमहंकारं जनयति, बुद्धिविनाशश्च करोति न च पुनः समक्त्वादि गुण सहितम्। —पर० प्र० वृ० २।६० पृ० २०१-२०२

६७—प्र० वृ० २।६१

६८—पर० प्र० वृ० २।६०

६९—पर० प्र० वृ० ५७-५८

७०—उत्त: २६।१०

७१— वत्थुसहावो धम्मो. धम्मो, जो सो समोत्तिणिदिट्ठो।
मोहकोहविहीणो, परिणामो अप्पणो धम्मो—कुन्दकुन्दाचार्य

७२—पुद्गलकर्म शुभंयत्, तत् पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम्
—प्र० र० प्र० गाथा० ।२१६

७३—श्रुतचारित्राख्यात्मके कर्मक्षयकारणे जीवस्यात्मपरिणामे —सू० वृ० २-५

७४—कर्म च पुद्गलपरिणामः, पुद्गलाश्चाजीवा इति। —स्था० वृ० ९

७५—धर्मः श्रुतचारित्रलक्षणः पुण्यं तत्फलभूतं शुभकर्म। —भग० १-७

७६—संसारोद्धरणस्वभावः —सू० वृ० १-६

७७—सौवण्णियं पि णिमलं, बंधदि कालायसं पि जाइ पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं, सुहमसुहं वा कदं कम्म।—समय० १४६

७८—यदशुभ (पुद्गलकर्म) मथ तत् पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम्।
—प्र० र० प्र० २१६

७९—धर्माधर्मौ पुण्यपापलक्षणौ। —आचा० वृ० ४

८०—निरवद्य करणीस्यूं पुण्य नीपजे, सावद्य स्यूं लागे पाप। —न० प०

८१—पुण्यपापकर्मोपादानानुपादानयोरध्यवसायानुरोधित्वात्।
—प्रश्ना० वृ० प० २२

८२—योगः शुद्धः पुण्यास्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः
—सू० वृ० २-५-१७, तत्वा० ६-३

शुद्धा योगा रे यदपि यतात्मनां स्रवन्ते शुभकर्माणि।
कांचननिगडांस्तान्यपि जानीयात्, हतनिर्वृतिशर्माणि॥
—शा० सु० आश्रवभावना

८३—भग० ८ २, तत्त्वा० ६, न० प०

८४—सुह-असुहजुत्ता, पुण्णं पावं हवंति खलु जीवा। —द्रव्य० सं० ३८

८५—पुण्णाइं अकुव्वमाणो—पुण्यानि पुण्यहेतुभूतानि शुभानुष्ठानानि अकुर्वाणः। —उत्त० वृ० १३।२१

एवं पुण्णपयं सोच्चा—पुण्यहेतुत्वात् पुण्यं तत् पद्यते गम्यतेऽर्थोऽनेनेति पदं स्थानं पुण्यपदम्। —उत्त० वृ० १८।३४

८६—त्रिवर्गसंसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य।

तत्रापि धर्मं प्रवरं वदन्ति, न तं विना यद् भवतोऽर्थकामौ। —सू०-मु०

८७—प्राज्यं राज्यं सुभगदयितानन्दनानन्दनानां,

रम्यं रूपं सरस कविता चातुरी सुस्वरत्वम्।

नीरोगत्वं गुणपरिचयः सज्जनत्वं सुबुद्धिः,

किन्तु ब्रूमः फलपरिणतिं धर्मकल्पद्रुमस्य ॥ —शा० सु० धर्म-भावना

८८—ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष, न च कश्चिच्छृणोति माम्,

धर्मादर्थश्च कामश्च, स धर्मः किं न सेव्यते। —पा० यो० २-१३

८९—सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।

ते आह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् —पा० यो० २-१४

९०—यत्र प्रतिक्रमणमेव विषप्रणीतं, तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्। तत् किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः, किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति, निष्प्रमादः॥

—समय० ३० मोक्षाधिकार

९१—पुण्य तणी वांछा कियां, लागै छै एकान्त पाप। —न० प० ५२

९२—नो इह लोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा,

नो परलोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा।

नो कित्तीवण्णसद्दसिलोगट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा,

नन्नत्थनिज्जरट्ठयाए तव महिट्ठिज्जा, —दशवै० ९-४

९३—मोक्षार्थी न प्रवर्तते तत्र काम्यनिषिद्धयोः·········

काम्यानि—स्वर्गादीष्टसाधनानि ज्योतिष्टोमादीनि, निषिद्धानि-नरकाद्यनिष्टसाधनानि ब्राह्मणहननादीनि। —वे० सा० पृ० ४

९४—उत्त० २१-२४

९५—उत्त० १०।१५

९६—बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। —गी० २-५०

९७—आस्रवो भवहेतुः स्यात्, सम्वरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥
—वी० स्तो० १९-६

९८—आस्रवो बन्धो वा बन्धद्वारा पाते च पुण्यपापे,
मुख्यानि तत्त्वानि संसारकारणानि। —स्था० वृ० ९ स्था०

९९—जिण पुण्य तणी वांछा करी, तिण वांछ्यां काम ने भोग।
संसार बधै काम भोग स्यूं, पामै जन्म-मरण ने सोग॥ —न० प० ६०

१००—अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥
—कठ० उप० १-२-१

१०१—भग० १।३।३५

१०२—भग० १।३।३५

१०३—" ४।१। २५०

१०४—स्था० ४।४।३१२

१०५—स्था० ४।२।२१६

१०६—भग० ५।५

१०७—भेद का अर्थ है—उद्वर्तना करण के द्वारा मन्दरस का तीव्र रस होना और अपवर्तना करण द्वारा तीव्र रस का मन्दरस होना।

१०८—भग० ७।३

१०९—जैन० दी० ५।१३

११०—जैन० दी० ५।१५

१११—जैन० दी० ५।१६-३८

११२—जैन० दी० ५।१४

११३—कम्मं चिणंति सवसा, तस्सु दयम्मि उ परवसा होन्ति।
रुक्खं दुरुहइ सवसो, विगलस परवसो वत्तो॥
—वि० भा० १-३

११४···कत्थवि वलिओ जीवो, कत्थवि कम्माइ हुति वलियाइ।
जीवस्स य कमस्स य, पुव्व विरुद्धाइ वैराइ॥
—गा० वा० २-२५

११५—कृतस्याऽविपक्वस्य नाशः—अदत्तफलस्य कस्यचित् पापकर्मणः प्रायश्चित्तादिना नाश इत्येका गतिरित्यर्थः। —पा० यो० २ सूत्र १३

११६—२।१२

११७—स्था० ४।१।२३५

११८—तुलना—द्वे शरीरस्य प्रकती-व्यक्ता च अव्यक्ता च। तत्र अव्यक्तायाः कर्म-समाख्यातायाः प्रकृतेरुपभोगात् प्रक्षयः। प्रक्षीणे च कर्मणि विद्यमानानि भूतानि न शरीरमुत्पादयन्ति—इति उपपन्नोऽपवर्गः।
—न्याय वा० ३।२।६८

११९—प्रज्ञा० (लेश्या पद)

१२०—तत्र द्विविधा विशुद्धलेश्या—'उवसमखइय' त्ति सूत्रत्वादुपशमक्षयजा, कयो पुनरुपशमक्षयौ ? यतो जायत इयमित्याह—कषायाणाम्, अयमर्थः—कषायोपशमजा कषायक्षयजा च, एकान्तविशुद्धि चाश्रित्यैवमभिधानम्, अन्यथा हि क्षायोपशमिक्यपि शुक्लातेजःपद्मे च विशुद्धलेश्ये संभवत एवेति। —उत्त० वृ० ३४ अ०

१२१—प्रज्ञा० १७-४

१२२—उत्त० ३४-५६,५७

१२३—कर्माऽशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्। —पा० यो० ४ सू० ७

१२४—शां की० पृष्ठ २००

१२५—श्वेताश्व उप० ४-५

१२६—अनु० १७०

१२७—अनु० १७०

१२८—अनु० १७१

१२९—अनु० १७२

१३०—अनु० १७३

: दस :

१—भग० १।६

२—आकाशमयोऽलोकः—जैन० दी० १।१०

३—षट्द्रव्यात्मको लोकः-जैन० दी० १।८

४—किमियं भंते ! लोएत्ति पवुच्चति ?

गोयमा ! पंचत्थिकाया—ओसए ओवेत्तिओ लोओत्ति पवुच्चति ।

—भग० १३-४

५—जीवा चेव अजीवाय, ओस लोगे वियाहिए —उत्त० ३६।२

६—दुविहे आगासे पन्नत्ते—लोयागासेय, अलोयागासेय —भग० २।१०

७—स्था० २।४।६५

८—एक राजू असंख्य योजन का होता है।

६—जैन० अक्टूबर १६३४—लेखक प्रोफेसर घासीलालजी

१०—खेत्तओ लोए सअंते—भग० २।१

११—गुणओ गमण गुणे—भग० २।१

१२—खेत्तओ लोगपमाण मेते—भग० २।१

१३—अहोलोए खेत्तलोए, तिरियलोए खेत्तलोए, उड्ढलोए [illegible] ।

—[illegible] ११।१०

१४—भग० ११।६

१५—चउव्विहे लोए पन्नत्ते, तंजहा—दव्वलोए, [illegible], [illegible], भाव-लोए—भग० ११।१०

१६—दव्वओणं ओगे-दव्वेतो लोगे सअंते……[illegible] २।१

१७—खेत्तओ लोए सअन्ते—भग० २।१

१८—एक देवता मेरु पर्वत की चूलिका [illegible] ऊँचाई में खड़ा है, नीचे [illegible] हाथ में. बलिपिण्ड [illegible] साथ फेंकती है। [illegible]

को जमीन पर गिरने से पहले हाथ में ले लेता है। इस गति का नाम 'शीघ्र गति' है।

१६—कालतो लोए अणंते, भावतो लोए अणंते—भग०२-१

२०—भग०—१।६

२१—(क) आकाश स्वप्रतिष्ठ है। तनुवात (सूक्ष्म वायु), घनवात (मोटी वायु), घनोदधि और पृथ्वी इनमें क्रमशः आधार-आधेय सम्बन्ध है। सूक्ष्म जीव आकाश के आश्रय में भी रहते हैं। यहाँ कुछ स्थूल जीवों की अपेक्षा उन्हें पृथ्वी के आश्रित कहा गया है। अजीव शरीर जीव के आश्रित रहता है। उसका निर्माण जीव के द्वारा होता है और वह जीव से लगा हुआ रहता है। संसारी जीवों का आधार कर्म हैं। कर्म मुक्त जीव संसार में नहीं रहते। अजीव, मन, भाषा आदि के पुद्गल, जीव द्वारा ग्रहण किए जाते हैं। जीव कर्म के अधीन हैं। इसलिए वे कर्म संगृहीत हैं।......भग० १।६

(ख) गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा—"याज्ञवल्क्य! यह विश्व जल में ओत-प्रोत है, परन्तु जल किसमें ओत-प्रोत है?"

वायु में गार्गी?

वायु किसमें ओत-प्रोत है?

अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष गन्धर्व-लोक में, गन्धर्व-लोक आदित्य-लोक में, आदित्य-लोक चन्द्र-लोक में, चन्द्र-लोक नक्षत्र-लोक में, नक्षत्र-लोक देव-लोक में, देव-लोक इन्द्र-लोक में, इन्द्र-लोक प्रजापति-लोक में और प्रजापति-लोक ब्रह्म-लोक में ओत-प्रोत है।

ब्रह्म-लोक किसमें ओत-प्रोत है याज्ञवल्क्य? यह अति प्रश्न है गार्गी! तू यह प्रश्न मत कर अन्यथा तेरा सिर कट कर गिर पड़ेगा।

बृह० उप० ३।६।१

२२—असति सत् प्रतिष्ठितम्—सति भूतं प्रतिष्ठितम्।
भूतं ह भव्य आहितं, भव्यं भूते प्रतिष्ठितम्।

(अथर्व० १७।१।२।६)

(क)......असत्, अभाव, शून्य में-निरस्त समस्तोपाधिकनाम-रूप रहित

अप्रत्यक्ष ब्रह्म में ही सत्भाव या प्रत्यक्ष माया का प्रपंच प्रतिष्ठित है। इसी सत् अर्थात् प्रत्यक्ष माया के प्रपंच में सारी सृष्टि (भव्य) के उपादान-भूत पृथिव्यादि पंच महाभूत निहित हैं, इसी से उत्पन्न होते हैं। वे ही पाँचो महाभूत समस्त कार्यों में विद्यमान रहते हैं। समस्त सृष्टि उन्हीं महाभूतों में—पीपल के बीज में पीपल के वृक्ष की तरह वर्त्तमान रहती है।

(ख) "तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैद रूपेण चैव नाम्ना च"—शत० १।१।२।३ ब्रह्म तीनों लोकों से अतीत है। उसने सोचा किस प्रकार मैं इन लोगों में पैठूँ? तब वह नाम और रूप से इन लोगों में पैठा।

२३—स्वभाववाद, आकस्मिकवाद, यदृच्छावाद, अहेतुवाद, क्रम-विकासवाद प्लुतसंचारवाद, आदि-आदि।

२४—"नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।"

"को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ॥

अर्वाग् देव अस्य विसर्जनेनाथा को वेद मत आबभूव।" -६

"इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।

यो अस्याध्यक्षः परमे व्यामन्त्सो अंग वेद यदि वा न वेद"—७

(ऋग० १०।१२६ नासदीय सूक्त)

उस समय प्रलय दशा में असत् भी नहीं था। सत् भी नहीं था। पृथ्वी भी नहीं थी। आकाश भी नहीं था। आकाश में विद्यमान सातों भुवन भी नहीं थे।

प्रकृत तत्त्व को कौन जानता है? कौन उसका वर्णन करता है? यह सृष्टि किस उपादान कारण से हुई? किस निमित्त कारण से ये विविध सृष्टियाँ हुईं? देवता लोग इन सृष्टियों के अनन्तर उत्पन्न हुए हैं। कहाँ से सृष्टि हुई यह कौन जानता है?

ये नाना सृष्टियाँ कहाँ से हुईं, किसने सृष्टियाँ की और किसने नहीं की ये सब वेही जाने, जो इनके स्वामी परमधाम में रहते हैं। हो सकता है वे भी यह सब न जानते हों।

२५—विशेष जानकारी के लिए देखिएः— आचा० नि० ४२, स्था० ३।

२६—'सद् द्रव्यं वा'—भग० सत्-पद प्ररूपणा

२७—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य को मातृपदिका कहते हैं।

२८—द्रव्यानु० त० ६-२

२६—द्रव्यं नित्यमाकृतिरनित्या। सुवर्णं कदाचिदाकृत्या युक्तः पिण्डो भवति पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृतः सुवर्णपिण्डः।……… आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्दन द्रव्यमेवावशिष्यते। —पा० यो०

वर्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदा।
तदापूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥ १ ॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थ्यं, तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावे स्यान्मतित्रयम ॥ २ ॥
न नाशेन विना शोको, नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्यं, तेन सामान्यनित्यता ॥ ३ ॥

—मी० श्लो० वा० पृष्ट ६१६

आविर्भावतिरोभाव-धर्मकेष्वनुयायि यत्।
तद् धर्मी तत्र च ज्ञानं, प्राग् धर्मग्रहणाद् भवेत् ॥ —शास्त्र० दी०

३०—WHAT IS EATHER ?

I am quite sure that you have heard of ETHER *before now*, but please do not confuse it with the liquid Ether used by surgeons, to render a patient unconscious for an operation. If you should ask me just what the Ether is, that is, the ether that conveys electromangnetic-waves. I would answer that. I can not accurately describe it. Nither can anyone else. The best that anyone could do would be to say that Ether is an invisible body and that through it electormagnetic-waves can be propagated.

But let us see from a practical standpoint the

nature of the thing called "ETHER". We are all quite familiar with the existence of solids, liquids and gases. Now, suppose that inside a glass-vassel there are no solids, liquid or gases; that all of these things have been removed including the air as well.

If I were to ask you to describe the condition that now exists within the glass-vassel, you would promptly reply that nothing exists within it, that a "Vaccum" has been created. But I shall have to correct you, and explain that within this vessel there does exist 'ETHER' nothing else.

So, we may say that Ether is a 'something that is not a solid, nor liquid, nor gaseous nor anything else which can be observed by us physically. Therefore, we say that an absolute "Vaccum" or a void does not exist any where, for we know that an absolute vaccum can not be created for Ether can not be removed.

Well, you might say, if we don't know what Ether is, how do we know it exists ?

We get our knowledge of Ether from experiments; by observing results anb deducing facts. For example, if within the glass-vessel, mentioned above, we place a bell and cause it to ring, no sound of anykind reaches our ears, Therefore, we deduce that in the absence of air, sound does not exist and thus, that sound must be due to vibration in the air.

Now let us place a radio transmitter inside the enclosure that is void cf air. We find that radio-signal's are sent out exactly the same as when the transmitter was exposed to the air. So we are right in deducing that elctromagnetic-waves, or Radio waves, do not depend upon air for their propagation

that they are propagated through or by means of 'Something' which remained inside the glass enclosure after the air had been exhausted. This 'something' has been named "ETHER".

We believe that Ether exists throughout all space of the universe, in the most remote region of the stars, and at the same time within the earth; and in the seemingly impossible small space which exists between the atoms of all matter. That is to say, Ether is everywhere; and that electromagnetic wave can be propagated everywhere.

(Hollywood R. and T.)
Instruction Lesson No. 2

३१—भग० १३।४।४८१

३२—एगे धम्मे—एकः प्रदेशार्थतया असंख्यातप्रदेशात्मकत्वेऽपि द्रव्यार्थतया तस्यैकत्वात्। —स्था० १

३३—लोयमेत्ते, लोयपमाणे —भग० २-१०

३४—धर्माधर्मविभुत्वात्, सर्वत्र च जीवपुद्गलविचारात्।
नालोकः कश्चित् स्या, न्न च सम्मतमेतदर्थानाम्॥ १॥
तस्माद् धर्माधर्मौ, अवगाढौ व्याप्य लोकखं सर्वम्।
एवं हि परिच्छिन्नः, सिद्ध्यति लोकस्तद् विभुत्वात्॥ २॥
—प्रज्ञा० वृ० पद १

३५—लोकालोकव्यवस्थानुपपत्ते —प्र० वृ० प०

३६—यो यो व्युत्पत्तिमच्छुद्धपदाभिधेयः, स स सविपक्षः। यथा घटोऽघट विपक्षकः। यश्च लोकस्य विपक्षः सोऽलोकः। —न्याया०

३७—लोक्यन्ते जीवादयोऽस्मिन्निति लोकः, लोकः—धर्माधर्मास्तिकाय व्यवच्छिन्ने, अशेषद्रव्याधारे, वैशाखस्थानकरिन्यस्तकरयुग्मपुरुषोपलक्षिते आकाशखण्डे। —आ० वृ० १-२-१

३८—अलोकाभ्रन्तु भावाद्यैर्भावैः पञ्चभिरुज्झितम्॥
अनेनैव विशेषेण लोकाभ्रात् पृथगीरितम॥—लो० प्र० २२८

३६—तम्हा धम्माधम्मा, लोगपरिच्छेयकारिणो जुत्ता।
इयरहागासे तुल्ले, लोगालोगेत्ति को भेओ॥ —न्याय०

४०—भग० १३।४

४१—भग० १३।४

४२—प्रयोगविस्रसाकर्म, तदभावस्थितिस्तथा।
लोकानुभाववृत्तान्तः, किं धर्माधर्मयोः फलम्॥ —नि० द्वा० २४

४३—वै० सू० २।२।१०

४४—स्था० २।३।८१

४५—उत्त० २८।६

४६—भग० १३।४

४७—दिश्यते-व्यपदिश्यते पूर्वादितया वस्तवनयेति दिक् ···स्था० वृ० ३।३

४८—आचा० नि० ४२।४४

४६—आचा० नि० ४७।४८

५०—आचा० नि० ५१

५१—किमयं भंते! कालोति पवुच्चइ? गोयमा! जीवा चेव अजीवा चेव।

५२—कइणं भंते दव्वा पण्णता? गोयमा! छद्दव्वा पण्णता तंजहा-धम्मत्थिकाए अधम्मत्थिकाए, आगासत्थिकाए, जीवत्थिकाए, पुग्गलत्थिकाए, अद्धासमए······भग०

५३—समयाति वा, आवलियाति वा, जीवाति वा, अजीवाति वा पवुचति।
—स्था० ६५

५४—लोगागास पदेसे, एक्केक्के जे ठिया हु एक्केक्का। रयणाणं रासी इव, ते कालाणु असंख दव्वाणि॥
—द्रव्य सं० २२, गो० जी० ५८६, सर्वा० सि० ५।३६

५५—जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः
—न्या० का० ४५, वै० द० २।२।६—१०

५६—पा० यो० भाष्य—५२ सां० कौ० ३३

५७—तत्त्वा०—५।२२

५८—परापरत्वधीहेतुः क्षणादिः स्यादुपाधितः—न्या० का० ४६

५६—वै० सू० २।२।६

६०—मानव की कहानी पृष्ठ १२२५ का संक्षेप

६१—अयंतु विशेषः समयविशिष्टवृत्ति-प्रचयः शेप द्रव्याणामूर्ध्व-प्रचयः, समय-प्रचय एव कालस्योर्ध्वप्रचयः —प्रव० वृ० १४१

६२—स्था० ४।१

६३—भग० ११।११

६४—पल्योपम—संख्या से ऊपर का काल—असंख्यात काल, उपमा काल—एक चार कोश का लम्बा-चौड़ा और गहरा कुआ है, उसमें नवजात यौगलिक शिशु के केशों को जो मनुष्य के केश के २४०१ हिस्से जितने सूक्ष्म हैं, असंख्य खंड कर खाम-खाम करके भरा जाए, प्रति सौ वर्ष के अन्तर से एक-एक केश-खण्ड निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआ खाली हो, उतने काल को एक पल्य कहते हैं—

६५—जीवेणं भंते ! पोग्गली, पोग्गले ? जीवे पोग्गलीवि, पोग्गलेवि।

—भग० ८।१०।३६१

६६—अचित्त-महास्कन्ध—केवली समुद्घात के पांचवें समय में आत्मा से छुटे हुए जो पुद्गल समूचे लोक में व्याप्त होते हैं, उनको अचित्त-महास्कन्ध कहते हैं—

६७—दुविहा पुग्गला पन्नता, तंजहा—परमाणुपुग्गला, नो परमाणु पुग्गला चेव। —स्था० २

६८—पृ० १२६

६९—स्था० ४, भग० ५।७

७०—परमाणु दुविहे पन्नते, तंजहा—सुहुमेय ववहारियेय।—अनु०प्रमाणद्वार

७१—अणंताणं सुहुमपरमाणुपोग्गलाणं समुदयसमिति समागयेणं ववहारिए परमाणुपोग्गले निप्फज्जंति। —अनु० प्रमाणद्वार

७२—भग० २५।३

७३—परमाणु हि अप्रदेशो गीयते—द्रव्यरूपतया सांशो भवतीति, न तु काल-भावाभ्यामपि 'अप्प रासो दव्वट्ठाए' इति वचनात्, ततः कालभावाभ्यां सप्रदेशत्वेऽपि न कश्चिद्दोषः। —प्रज्ञा० पद ५

७४—चहुविहे पोग्गलपरिणामे पन्नते, तंजहा—वन्न परिणामे, गन्धपरिणामे, रसपरिणामे, फासपरिणामे। —स्था० ४

७५—भग० ५।७

७६—भग० १८।८

७७—दोहि ठाणे हि पोग्गला साहन्नंति, संयवा पोग्गला साहन्नंति, परेण वा पोग्गला साहन्नंति, एवं भिज्जंति, परिसडंति, परिवडंति विद्धंसंति। —स्था० २

७८—भग० ५।७

७९—प्रज्ञा० २८

८०—भग० १२।४

८१—भग० १४।४

८२—भग० १४।४

८३—उत्त० ३६।१०

८४—भग० ५।८

८५—भग० ५।८

८६—भग० ५।८

८७—भग० ५।८

८८—भग० ८।१

८९—भग० ८।१

९०—भग० १६।८

९१—भग० ५।७

९२—भग० ५।७

९३—भग० ५।७

९४—भग० २।१,

९५—उत्त० अ० २८ गा० १२

९६—पओग परिणया, मीसा परिणया, वीसा परिणया। —स्था० ३

९७—स्था० २०

९८—प्रज्ञा० प० ११,

६६—प्रज्ञा० प० ११,

१००—प्रज्ञा० प० ११

१०१—उएणं तीसेमेघोघरसिश्रँगंभीरमहुरयरसद्द जोयण परिमंडलाए सुघोसाए घंटाए तिक्खुत्तो उल्लालिश्राए समाणीए सोहम्मे कप्पे. अण्णेहिं सगूणेहिं वतीसविमाणावाससयसहस्सेहिं अण्णाइं सगूणाइं वत्तीसं घण्टा सयसहस्साइं जमगसमगं कणकणारावं कोउं पयत्ताइं पि हुत्था।

—जम्बू प्र० ५ अ

१०२—प्रज्ञा० ११

१०३—प्रज्ञा० ११

१०४—तत्त्वा० रा० ५।३४

१०५—तत्त्वा० रा० ५।३५

१०६—तत्त्वा० रा० ५।३५

१०७—जघन्येतर-अजघन्य अर्थात् दो अंशवाला। दूसरा परमाणु भी दो अंशवाला होता है तब वह सम जघन्येतर तीन अंश वाला एकाधिक जघन्येतर आदि होता है।

१०८—तत्त्वा० रा० ५।३६

१०९—तत्त्वा० रा० ५।३६

११०—प्रज्ञा० प० १५,

१११—रश्मिः छाया पुद्गलसंहतिः।

११२—भासा उ दिवा छाया, अभासुरगतानिसितु कालाभा।
साचेव भासुर गया, सदेहवन्ना मुणेयव्वा॥ १॥
जे आदरिसं तत्तो, देहावयवा हवंति संकंता।
तेसिं तथ्यऽवलंद्धी, पगासयोगा न इयरेसिं॥ २॥

—प्रज्ञा० वृ० पद १५

११३—अजामेकाम् —सां० कौ० १

११४—सोऽनन्तसमयः। —तत्वा: ५।४०

११५—धम्मं अहम्मं आगासं, दव्वं एक्केक्कमाहियं।
अणंताणिय दव्वानि, कालो पोग्गल जन्तवो। —उत्त० २८।८

११६—हि० भा० अंक १ लेख १

११७—हि० भा० अंक १

११८—हि० भा० अंक १ चित्र १

११६—यूनानी विद्वान् युक्लीड रेखागणित (दिशागणित) का प्रसिद्ध आचार्य हुआ है। युक्लीडीय-रेखागणित का आधार यह है कि विश्व का ओर-छोर नहीं है, वह अनन्त से अनन्त तक फैला हुआ है।

१२०—अनेकान्त वर्ष १ किरण ५ पृ० ३०८
"जैन भूगोलवाद"—ले० श्री बाबू घासीरामजी जैन S. S. C प्रोफेसर "भौतिक शास्त्र"

१२१—'आज०-वर्ष २, संख्या ११ मार्च १९४७।
'फिलिपाइन और उसके वासी—ले० R. वैंकटरामन

१२२—इंगलिशमेन ता० १६ सितम्बर १९२२ के अंक में लिखता है कि—"वैनगनुई कारखाने के स्वामी मि० वाई द्वारा न्यूजीलैंड में बनाई गई १२ इञ्ची दूरबीन द्वारा मैसर्स टाऊनलेंड और हार्ट ने हाल ही में हवेरा में दो चन्द्रमाओं को देखा। जहाँ तक मालूम हुआ यह पहला ही समय है जब न्यूजीलैंड में दो चन्द्रमा दिखाई दिए।

१२३—पृथ्वी के गोलाकार होने के संबंध में यह दलील अक्सर दी जाती है कि कोई आदमी पृथ्वी के किसी भी विन्दु से रवाना हो और सीधा चलता जाए तो वह पृथ्वी की भी परिक्रमा करता हुआ फिर उसी स्थान 'विन्दु' पर पहुँच जाएगा। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि पृथ्वी का धरातल नारंगी की तरह गोल अर्थात् वृत्ताकार है। इससे सिर्फ इतना ही साबित होता है कि यह चिपटी न होकर वर्तुलाकार है। अगर पृथ्वी को लौकी की शक्ल का मान लें तो भी यह सम्भव है कि एक निश्चित बिन्दु से यात्रा आरम्भ करके सीधा चलता हुआ व्यक्ति फिर निश्चित बिन्दु पर ही लौट आए।

—विश्व० भा०—लेखक श्री रमाकान्त—पृष्ठ १६०

१२४—कुछ विद्वानों की गवेषणा तथा खोज के परिणाम स्वरूप पृथ्वी का एक नवीन ही आकार माना गया है जो न पूर्णतया गोल है और न

अण्डाकार। इस आकार को 'पृथिव्याकार' कहें तो ठीक है, क्योंकि उसका अपना निराला ही आकार है। इस आकार की कल्पना इस कारण की गई है कि पृथ्वी का कोई भी अक्षांश—यहाँ तक कि विशवत् रेखा भी-पूर्ण वृत्त नहीं है।

१२५—क्या भूगोल है? The Sunday News of India 2nd May 1954.

(विश्व-लेखक०—रामनारायण B. A. पृ० ३५)

१२६—(क) सु० च०

(ख) अनेक लोगों का मत है कि पृथ्वी गोल है। इसकी पार्श्ववर्ती गोलाई में एक ओर भारत स्थित है। इसके ठीक विपरीत अमेरिका है अतः उनके विचार से अमेरीका ही पाताल लोक है।

[धर्म०—वर्ष ६ अंक ४६ दिसम्बर ४ १६५५

१२७—'जैन०' १ अक्टूबर १६३४

लेखकः-श्रीमान् प्रोफेसर घासीरामजी M. S. C.-A. P. S. लन्दन।

१२८—ज्यो० रत्ना०-भाग १ पृ० २२८—ले० देवकीनन्दन मिश्र।

१२६—सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा परमाणुओं को संयुक्त करता है, उनके संयोग का आरम्भ होने पर ही सृष्टि होती है, इसलिए यह "आरम्भवाद" कहलाता है।

१३०—ईश्वरवादी सांख्य और योगदर्शन के अनुसार सृष्टि का कारण त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। ईश्वर के द्वारा प्रकृति के क्षुब्ध किये जाने पर त्रिगुण का विकास होता है। उससे ही सृष्टि होती है। अनीश्वरवादी सांख्य परिणाम को प्रकृति का स्वभाव मानते हैं। परिणामवाद के दो रूप होते हैं—गुणपरिणामवाद और ब्रह्मपरिणामवाद। पहला सांख्यदर्शन तथा माध्वाचार्य का सिद्धान्त है। दूसरा सिद्धान्त रामानुजाचार्य का है, वे प्रकृति, जीव और ईश्वर—इन तीन तत्त्वों को स्वीकार करते हैं फिर भी इन सबको ब्रह्मरूप ही मानते हैं—ब्रह्म ही अंश विशेष में प्रकृति रूप से परिणत होता है और वही जगत् बनता है।

१३१—(क) बौद्ध दर्शन में परिवर्तन की प्रक्रिया "प्रतीत्य समुत्पादवाद" है। यह सही अर्थ में अहेतुकवाद है। इसमें कारण से कार्य उत्पन्न नहीं होता किन्तु सन्तति प्रवाह में पदार्थ उत्पन्न होते हैं।

(ख) जैन दृष्टि के अनुसार दृश्य विश्व का परिवर्तन जीव और पुद्गल के संयोग से होता है। परिवर्तन स्वाभाविक और प्रायोगिक दोनों प्रकार का होता है। स्वाभाविक परिवर्तन सूक्ष्म होता है, इसलिए दृष्टिगम्य नहीं होता। प्रायोगिक परिवर्तन स्थूल होता है, इसलिए वह दृष्टिगम्य होता है। यही सृष्टि या दृश्य जगत् है। वह जीव और पुद्गल की सांयोगिक अवस्थाओं के बिना नहीं होता।

वैभाविक पर्याय की आधारभूत शक्ति दो प्रकार की होती है—ओघ और समुचित। "घास में घी है"-यह ओघ शक्ति है। "दूध में घी है" -यह समुचित शक्ति है। ओघ शक्ति कार्य की नियामक है—कारण के अनुरूप कार्य पैदा होगा, अन्यथा नहीं। समुचित शक्ति कार्य की उत्पादक है, कारण की समग्रता बनती है और कार्य उत्पन्न हो जाता है।

गुणपर्याययोः शक्तिर्मात्रमोघोद्भवादिमा।
आसन्नकार्ययोग्यत्वाच्छक्तिः समुचिता परा॥
ज्ञायमाना तृणत्वेनाज्यशक्तिरनुमानतः।
किं च दुग्धादि भावेन प्रोक्ता लोकसुखप्रदा॥
प्राक् पुद्गलपरावर्ते, धर्मशक्ति यथौघजा।
अन्त्यावर्ते तथा ख्याता शक्तिः समुचितांगिनाम्॥
कार्यभेदाच्छक्ति भेदो, व्यवहारेण दृश्यते।
युक् निश्चय नयादेकमनेकैः कार्य कारणैः॥
स्वस्वजात्यादि भूयस्यो गुण पर्यायव्यक्तयः।

द्रव्यानु० त० २ अध्याय, ६ से १०

१३२—देखो कार्यकारणवाद।
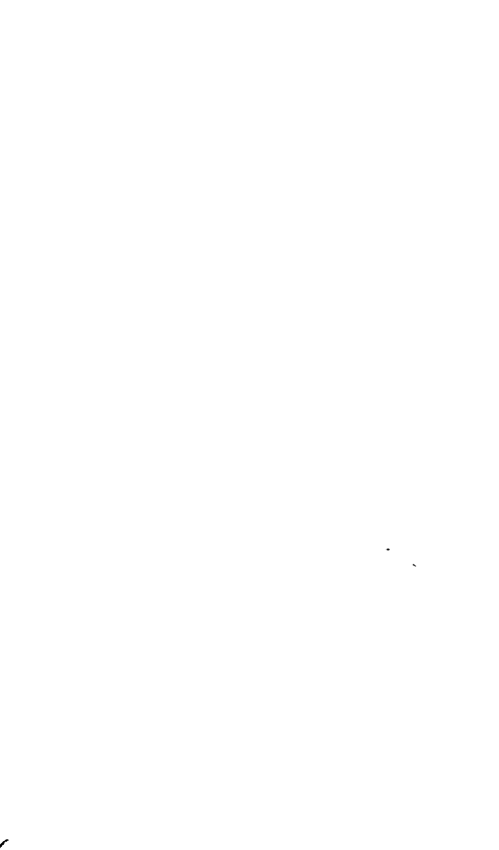
: ग्यारह :

१—भग० ८।१०

२—भग० ८।१०

३—भग० ८।१०

४—भग० ८।१०

५—भग० ८।१०

६—स्था० २।१।७२

७—तिविहे सम्मे पण्णत्ते, तंजहा—णाण सम्मे, दंसण सम्मे, चरित्र सम्मे

—स्था० ३।४।११४

८—ना दंसणिस्स ना णं, नाणेण विना न हुँति चरण गुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥

—उत्त० २८।३०

९—नन्वित्थं तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्त्वमिति पर्यवसन्नम्। तत्र श्रद्धानं च तथेति प्रत्ययः, स च मानसोऽभिलापः। नचायमपर्याप्तकावस्थायामिष्यते, सम्यक्त्वं तु तस्यामपीष्टम्, षट्षष्टिसागरोपमरूपायाः सार्धपर्यवसित-कालरूपायाश्च तस्योत्कृष्टस्थिते प्रतिपादनादिति कथं नागमविरोधः? इत्यत्रोच्यते—तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यक्त्वस्य कार्यम्, सम्यक्त्वं तु मिथ्यात्व-क्षयोपशमादिजन्यः शुभआत्मपरिणामविशेषः। आह च—"से अ सम्मते पसत्थ सम्मत मोहणीयकम्माणु वेअणोवसमखयसमुत्थे पसमसंवेगाई लिंगे सुहे आय परिणामे पण्णत्ते।" इदं च लक्षणममनस्केषु सिद्धादि-ष्वपि व्यापकम्। इत्थं च सम्यक्त्वे सत्येव यथोक्तं श्रद्धानं भवति। यथोक्ते श्रद्धाने च सति सम्यक्त्वं भवतीति श्रद्धानवतां सम्यक्त्वस्या-वश्यम्भावित्वोपदर्शनाय कार्ये कारणोपचारं कृत्वा तत्त्वेषु रुचिरित्यस्य तत्त्वार्थश्रद्धानमित्यर्थपर्यवसानं न दोषाय। तथा चोक्तम्-जीवाइनवपयत्थे जो जाणइ तस्स होई सम्मत्तं। भावेण सद्दहंते आयाणमाणे वि सम्मत्तं॥ १॥ धर्म० सं०—२ अधिकार

१०—नन्ववबोधसामान्याद् ज्ञानसम्यक्त्वयोः कः प्रतिविशेषः ? उच्यते—रुचिः सम्यक्त्वम्, रुचिकारणं तु ज्ञानम्। यथोक्तम्—नाणमवायधिईओ, दंसण मिट्ठं जहोग्गहेहाओ। तह तत्तरुई सम्मं, रोइज्जइ जेण तं नाणं।

—स्था० १

११—स्था० १

१२—स्था० २

१३—देखो कर्म प्रकरण।

१४— ,, ,, ,,

१५— ,, ,, ,,

१६—मिथ्यात्व मोह या अविशुद्धपुंज का उदय होता है।

१७—सम्यक्त्व-मोह या शुद्ध-पुंज का उदय होने पर।

१८—क्षायोपशमिक सम्यग्-दर्शन प्रतिपाति—जो अशुद्ध-परमाणु पुञ्ज का वेग बढ़ने पर मिट भी सके—वैसा सम्यक्-भाव

१९—औपशमिक सम्यग्-दर्शन—अन्तर्मुहूर्त्त तक होने वाला सम्यग्-भाव

२०—क्षायिक सम्यग्-दर्शन—अप्रतिपाति—फिर कभी नहीं जाने वाला।

२१—देखिए—आचार-मीमांसा

२२—उत्त० २८। १६-२७

२३—मिथ्यात्व-मोह की देशोन (पल्य का असंख्याततम भाग न्यून) एक कोड़ा-कोड़ सागर की स्थिति में से अन्तर्-मुहूर्त्त में भोगे जा सकें, उतने परमाणुओं को नीचे खींच लेता है। इस प्रकार उन परमाणुओं के दो भाग हो जाते हैं—(१) अन्तर्-मुहूर्त्त-वैद्य और अन्तर्-मुहूर्त्त कम पल्य का असंख्याततम भाग न्यून एक क्रोड़ाक्रोड़ी-सागर वेद्य।

२४—(१) पहला चरण 'यथा प्रवृत्तिकरण' है। इसमें मिथ्यात्व-ग्रन्थि के समीप गमन होता है। (२) दूसरा चरण 'अपूर्वकरण' है। इसमें मिथ्यात्व-ग्रन्थि का भेद होता है और क्षायोपशमिक सम्यग्-दर्शन पाने वाला मिथ्यात्व-मोह के परमाणुओं का तीन रूपों में पुञ्जीकरण करता है। (३) तीसरा चरण 'अनिवृत्तिकरण' है। इसमें मिथ्यात्व-मोह के परमाणुओं का दो रूपों में पुञ्जीकरण होता है। प्रथम पुंज का शीघ्र

क्षय और दूसरे पुंज का उदय-निरोध (अन्तर् मुहूर्त तक उदय में न आ सके, वैसा विष्कम्भन) होता है। 'अनिवृत्तिकरण' के दो प्रधान कार्य हैं—(१) मिथ्यात्व परमाणुओं को दो रूपों में पुञ्जीकृत कर उनमें अन्तर 'करना' और (२) पहले पुञ्ज के परमाणुओं को खपाना। यहाँ अनिवृत्तिकरण का काल समाप्त हो जाता है। इसके बाद 'अन्तरकरण' की मर्यादा—मिथ्यात्व-परमाणुओं के विपाक से खाली अन्तर्-मुहूर्त का जो काल है, वह औपशमिक सम्यग्-दर्शन है। इनमें पहला विशुद्ध, दूसरा विशुद्धतर और तीसरा विशुद्धतम है। पहले में ग्रन्थि-समीपगमन, दूसरे में ग्रन्थि-भेद और तीसरे में अन्तर करण होता है।

२५—क्षायोपशमिक सम्यग्-दर्शनी के मिथ्यात्व और मिश्र पुञ्ज उपशान्त रहते हैं, सम्यक्त्व पुञ्ज का वेदन रहता है। इस प्रकार द्विपुञ्ज के उपशम और तीसरे पुञ्ज के वेदन (वेदन द्वारा क्षय) के संयोग से क्षायोपशमिक दर्शन बनता है।

२६—तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं। भावेणं सद्दहन्तस्स, सम्मत्तं तं वियाहियं। —उत्त० २८।१५

२७—असंजमं परियाणामि संजमं उवसंपज्जामि, अबंभं परियाणामि बंभं उवसंपज्जामि, अकप्पं परियाणामि कप्पं उवसंपज्जामि, अन्नाणं परियाणामि नाणं उवसंपज्जामि, अकिरियं परियाणामि किरियं उवसं पज्जामि, मिच्छत्तं परियाणामि समत्तं उवसंपज्जामि अबोहिं परियाणामि बोहिं उवसंपज्जामि, अमग्गं परियाणामि, मग्गं उवसंपज्जामि। —आव०

२८—तीर्थ प्रवर्तक वीतराग, राग-द्वेष-विजेता।

२९—मुक्त परमात्मा

३०—सर्वज्ञ-सर्व-दर्शन

३१—चत्तारि मंगलं…केवली पण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।… —आव०

३२—अरिहंतो महदेवो। जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो। जिणपण्णत्तं तत्तं, इय सम्मत्तं मए गहियं। —आव०

३३—स्था० ३-१

३४—स्था० २।४

३५—उत्त० २८।३१ —रत्न० श्रा० १।११।१८

३६—(क) उत्त० २८।२८

(ख) सम्यग्-दर्शी दुर्गति नहीं पाता—देखिए —रत्न० श्रा० १।३२

३७—भग० ३०।१

३८—सम्यग्-दर्शनसम्पन्न-मपि　मातंगदेहजम् ।

देवा देवं विदुर्भस्म-गुढाङ्गारान्तरौज सम् ॥ —रत्न० श्रा० २५

३६—स्था० ६।१।४८०

४०—स्था० ६।१।४७८

४१—न चास्थिराणां भिन्नकालतयाऽन्योन्याऽसम्बद्धाभाञ्च तेषां वाच्यवाचक भावो युज्यते —स्या० मं० १६

४२—तुलना—वाह्य जगत् वास्तविक नहीं है, उसका अस्तित्व केवल हमारे मनके भीतर या किसी अलौकिक शक्ति के मन के भीतर है यह आदर्शवाद कहलाता है। आदर्शवाद के कई प्रकार हैं। परन्तु एक बात वे सभी कहते हैं, वह यह कि मूल वास्तिवकता मन है। वह चाहे मानव-मन हो या अपौरुषेय-मन और वस्तुतः यदि उसमें वास्तविकता का कोई अंश है तो भी वह गौण है। एंगल्स के शब्दों में माक्र्स-वादियों की दृष्टि में—"भौतिकवादी विश्व-दृष्टिकोण प्रकृति को ठीक उसी रूप में देखता है, जिस रूप में वह सचमुच पायी जाती है।" बाह्यजगत् वास्तविक है। हमारे भीतर उसकी चेतना है या नहीं—इस बात से उसकी चेतना स्वतन्त्र है। उसकी गति और विकास हमारे या किसी और के मन द्वारा संचालित नहीं होते।

(माक्र्सवाद क्या है ? ५,६८,६६ ले० एमिल बर्न्स)

४३—ये चारों तथ्य मनोविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

४४—जड़० पृ० ६०-६४

४५—भग० १।३

: बारह :

१—दशवै० ४—गाथा० ११ से २५ तक

२—नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं।

—उत्त० २८।३०

३—भग० ८।१०। ३५४

४—मिथ्या विपरीता दृष्टिर्यस्य स मिथ्यादृष्टिः—मिच्छादिट्ठिगुणट्ठाणा। मिथ्या विपर्यस्ता दृष्टिरर्हत्प्रणीतजीवाजीवादिवस्तुप्रतिपत्तिर्यस्य भक्षित-हृत्पूरपुरुषस्य सिते पीतप्रतिपत्तिवत् स मिथ्यादृष्टिस्तस्य गुणस्थानं ज्ञानादिगुणानामविशुद्धिप्रकर्षविशुद्ध्यपकर्षकृतः स्वरूपविशेषो मिथ्यादृष्टि गुणस्थानम। ननु यदि मिथ्यादृष्टिस्ततः कथं तस्य गुणस्थानसम्भवः, गुणा हि ज्ञानादिरूपास्तत्कथं ते दृष्टौ विपर्यस्तायां भवेयुरिति? उच्यते इह यद्यपि सर्वथाऽतिप्रबलमिथ्यात्वमोहनीयोदयादर्हत्प्रणीतजीवाजीवादिवस्तुप्रति पत्तिरूपा दृष्टिरसुमतो विपर्यस्ता भवति तथापि काचिन्मनुष्यपश्वादि-प्रतिपत्तिरविपर्यस्ता, ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूता व्यक्तस्पर्शमात्र-प्रतिपत्तिरविपर्यस्ता भवति अन्यथा अजीवत्वप्रसङ्गात्, यदाह आगमः—'सव्व जीवाणं पि अणं अक्खरस्स अणंतभागो निच्चुग्घाडिओ चिट्ठइ, जइ पुण सोवि आवरिज्जा, तेणं जीवो अजीवत्तणं पाविज्जा, इत्यादि। तथाहि समुन्नतातिबहलजीमूतपटलेन दिनकररजनीकरकरनिकरतिरस्कारेऽपि नैकान्तेन तत्प्रभानाशः संपद्यते, प्रतिप्राणिप्रसिद्धदिनरजनीविभागाभाव-प्रसङ्गात्। एवमिहापि प्रबलमिथ्यात्वोदये काचिदविपर्यस्तापि दृष्टि-र्भवतीति तदपेक्षया मिथ्यादृष्टेरपि गुणस्थानसंभवः। यद्येवं ततः कथमसौ मिथ्यादृष्टिरेव मनुष्यपश्वाद्यविप्रतिपत्त्यपेक्षयाऽन्ततो निगोदावस्थायामपि तथाभूताव्यक्तस्पर्शमात्रप्रतिपत्त्यपेक्षया वा सम्यग्दृष्टित्वादपि नैव दोषः, यतो भगवदर्हत्प्रणीतं सकलमपि द्वादशाङ्गार्थमभिरोचयमानोऽपि यदि तद् गदितमेकमप्यक्षरं न रोचयति तदानीमप्येष मिथ्यादृष्टिरेवोच्यते तस्य

भगवति सर्वज्ञे प्रत्ययनाशात्। "पयमक्खरंपि एक्कं, पि जो न रोएइ सुत्तनिद्दिट्ठं। सेसं रोयंतो विहु, मिच्छा दिट्ठि जमालिव्व ॥ १ ॥" किं पुनर्भगवदभिहितसकलजीवाजीवादिवस्तुतत्त्वप्रतिपत्तिविकलः।

—कर्म० टी० २

५—सेन प्रश्नोत्तर, उल्लास ४, प्र० १०५

६—उत्त० ५।२२

७—उत्त० ७।२०

८—शा० सु०

९—भग० ७।६

१०—स्तोकमंशं मोक्षमार्गस्याराधयतीत्यर्थः सम्यग्बोधरहितत्वात् क्रिया-परत्वात्। —भग० वृ० ८।१०

११—सम्मदिट्ठिस्स वि अविरयस्स न तवो वहु फलो होई।
हवई उ हत्थिण्हाणं बुंदं छियय्यं व तं तस्स ॥

१२—चरण करणेहिं रहिओ न खिज्झइ सुद्ध-सम्मदिट्ठी वि जेणागमम्मि सिद्धो, रहंधपंगूण दिट्ठंतो ॥ —द० वि० ५२,५३

१३—उत्त० ६।६,१०

१४—भग० १७।२

१५—सू० २।२।३६

१६—भग० १६।६

१७—स्था० ७

१८—दशवै वृ० ४-१६

१९—आचा० १।४।१

२०—उत्त० ६।२

२१—उत्त० २३।२३-२४

२२—जामा तिण्णि उदाहिआ —आचा० १।८।१६

: तेरह :

१—जं सम्मंतिपासहा तं मोणंतिपासहा, जं मोणंति पासहा तं सम्मंति पासहा

आचा० १।५।३।१५६

२—सच्चंमि धिइं कुव्वहा, एत्थो वरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं झोसइ।

—आचा० १।३।२।११३

३—सुत्ता अमुणी सया मुणीणो जागरंति —आचा० १।३।५।१६०

४—प्रमाद के ८ प्रकार हैं—(१) अज्ञान, (२) संशय, (३) मिथ्या-ज्ञान, (४) राग, (५) द्वेष, (६) मति-भ्रंश (७) धर्म के प्रति अनादर, (८) मन, वाणी और शरीर का दुष्प्रयोग।

५—अज्जोति !······किं भया पाणा ?···दुक्खभया पाणा···दुक्खे केण कड़े? जीवेणं कड़े पमादेण, दुक्खे कहं वेइज्जति? अप्पमाएणं।

—स्था० १।३।२।१६६

६—आचा० १।२।३।७८

७—सू० वृ० २-१-१४

८—कसेहि अप्पाणं —आचा० १-४-३-१३६

९—अत्तहियं खु दुहेण लब्भइ —सू० १-६-२-३०

१०—जरेहि अप्पाणं —आचा० १-४-३-१३६

११—देहे दुक्खं महाफलं —दशवै० ८-२७

१२—आचा० १-१-३-५१

१३—आचा० १-३-३-११६

१४—उत्त० ३२-१६

१५—आचा० १,३-१,११०

१६—आचा० १-३-३,११६

१७—दशवै० २।५

१८—आचा० १-३-१-१०७

१६—तुट्टंति पाव कम्माणि, नवं कम्ममकुधश्रो।
    श्रकुघश्रो णवं णत्थि, कम्मं नाम विजाणई॥ —सू० १।१५।६,७
२०—सू० १।१५-१७।
२१—भग० ७।१
२२—सू० ११४-१५
२३—एक्कं चिय एक्कवयं, निद्दिट्टं जिणवरेहिं सव्वेहि।
    पाणाइवायविरमण—सव्वासत्तस्स रक्खट्ठा॥ —पं० सं०
    श्रहिंसैपा मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी।
    एतत्संरक्षणार्थं च, न्याय्यं सत्यादिपालनम्॥—हा० श्र०
२४—श्रहिंसा शस्यसंरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात् सत्यादिव्रतानाम्।
—हा० श्र० १६।५
२५—श्रहिंसा पयसः पालिभूतान्यन्य व्रतानि यत्। —योग०
२६—नाइ वाएज्ज कंचणं।
    नय वित्तासए परं। —उत्त०२।२०
२७—न विरुज्झेज्जकेणई। —सू० १।१५।१३
२८—मेत्तिं भूएसु कप्पए। —उत्त० ६।२
२९—श्राचा० १।५।५।५
३०—श्राचा० २।१५ —प्रश्न० (संवर द्वार)
३१—तं बंभं भगवतं —प्रश्न०.२-४
३२—तवेसु उत्तमं बंभचेरं··· —सू० १।६।२३
३३—जंमिय श्राराहियंमि श्राराहियं वयमिणं सव्वं —प्रश्न० २-४
३४—इत्थिश्रो जे ण सेवंति श्राइमोक्खा उत्तेजणा —सू० १।१५।६
३५—जम्मिय भग्गम्मि होइ सहसा सव्वं सभग्गं —प्रश्न० २।४
३६—नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए —उत्त० ३२।१७
३७—उत्त० ३२।१८
३८—श्राचा० १।५।४।१६०
३९—उत्त० ३२।१०१
४०—उत्त० १६।१०

४१—दशवै० १।४-५—उत्त० ३२।२१

४२—उत्त० ३२।३

४३—उत्त० ३२।४

४४—उत्त० ३२।१५

४५—आचा० १।५।४।१६०

४६—दशवै० ८।५६

४७—उत्त० ३२।१२

४८—सू० १।३।४।१४

४६—सू० १।२।३।२

५०—उत्त० १६

५१—णाउव्व जालमच्चेइ, पिया लोगंसि इत्थिओ···सू० १।१५।८।

५२—सम० ११, दशा० ६

५३—ठाणेणं, मोणणं, झाणेणं, अप्पाणं वोसिरामि। —आव०

५४—औप० (तपोऽधिकार)

५५—वहिया उड्ढमादाय, नाव कंखे कयाइ वि।
पुव्वकम्मक्खयट्ठाए, इमं देहं समुद्धरे॥ —उत्त० ६।१४

५६—अदुःखभावितं ज्ञानं, क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद् यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः॥ —सम० १०२

५७—औप० (तपोऽधिकार)

५८—औप० (तपोऽधिकार)

५६—त० सू० ६।३६ —तत्वा० ४६-४७

६०—प्रशा० १, —त० सू० ६।३७

६१—प्रशा० १

६२—प्रशा० १

६३—त० सू० ६।४०

६४—औप० (तपोऽधिकार)

६५—"नवा जानामि यदिव इदमस्मि" —ऋग्० १।१६४।३७

६६—वै० सू० ३।४।१७-२०

६७—गी० र० पृष्ठ ३४४

६८—कठ० उप०

६९—छान्दो० उप० ७।३४

७०—छान्दो० उप० ५।११।१२

७१—बृह० उप० २।१

७२—यथेयं न प्राक्त्वः पुरा विद्या, ब्राह्मणान् गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच —छान्दो उप० ५।३।७

७३—इह मेगेसिं नो सन्ना भवई—अत्थि में आया उववाइये, नत्थि मे आया उववाइए, के अहमंसि, केवाइओ चुओ इह मेचा भविस्सामि— ···

—आचा० १।१।१२

७४—गी० र०

७५—नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा। —कठ० उप० २।३

७६—ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा, वनाद्वा, यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।

—जावा० उप० ४

७७—द० चि० पृ० १३७-३८

७८—औप०

७९—उत्त० ५।२०

८०—उत्त० ५।२६-२८

८१—उत्त० ५।२३-२४

८२—उत्त० ६।४४

८३—उत्त० ६।२६

८४—"पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं" —आचा० १।५।३।१५६

८५—अन्नलिंगसिद्धा, गिहिलिंग सिद्धा। नं० २०

८६—उत्तर मणुयाण आहियांगाम धम्मा इह ये अणुस्सुयं।
जं सि विरता, समुट्ठिया, कासवस्स अणुधम्म चारिणा॥

—सू० १।२।२।२५

८७—भणंता अकरेंता य बन्धमोक्ख पइण्णिणो।
वाया वीरियं मेते समासासेंति अप्पयं॥ —उत्त० ६।६

८८—सू० १।८।२
८९—सू० १।८।३
९०—सू० १।८।९
९१—सू० १।८।२२
९२—सू० १।८।२३
९३—नेव से अन्तो, नेव से दूरे —आचा०
९४—दशवै० २।२३
९५—गी० र० पृ०३३९
९६—मनु० ६।९
९७—महा० भा० (शान्ति पर्व) २४४।३
९८—गी० र० पृ० ४५
९९—संन्यस्य सर्वकर्माणि —मनु० ६।२५

इस ग्रन्थ के टिप्पण में आए हुए ग्रन्थों के नाम व उनके संकेत

अथर्व वेद—अथर्व०
अध्यात्मोपनिषद्—अध्या० उप०
अनुयोग द्वार—अनु०
अन्तकृत—अन्त०
अन्ययोग व्यवच्छेदद्वात्रिंशिका—अन्य० व्यव०
अभिधर्म कोष—अभि० को०
अभिधान चिन्तामणि कोष—अभि० चि०
आगम अष्टोत्तरी—आ० अ०
आचारांग—आचा०
आचारांग निर्युक्ति—आचा० नि०
आचारांग वृत्ति—आचा० वृ०
आचार्य श्री तुलसी का जीवन चरित्र—आचा० तु०
आवश्यक कथा—आव० कथा
आवश्यक चूर्णि—आव० चू०
आवश्यक निर्युक्ति—आव० नि०
आवश्यक वृत्ति—आव० वृ०
आवश्यक सूत्र—आव०
Indian thought and its Developments.
ईशावास्योपनिषद्—ईशा० उप०
उत्तराध्ययन—उत्त०
उत्तराध्ययन वृत्ति—उत्त० वृ०
ऋग्वेद—ऋग्०
एकविंशति द्वात्रिंशिका—एक० द्वा०
Our oriental Heritage.
औपपातिक—औप०

औपपातिक धर्म देशना—औप० धर्म०
कठोपनिषद—कठो० उप०
कर्नाटक कवि चरित्र—क० क० च०
कर्मग्रन्थ टीका—कर्म० टी०
कल्प सुबोधिका—क० सु०
कल्प सूत्र—कल्प०
कालुयशोविलास—कालु० यशो०
कौषीतकी उपनिषद्—कौषी० उप०
गणवार्तिक—ग० वा०
गीता—गी०
गोमठस्तर (जीवकाण्ड) गो० जी०
चरक सूत्रस्थान—च० सू०
छान्दोग्य उपनिषद—छान्दो० उप०
जड़वाद—जड़०
जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वृत्ति—जम्बू० वृ०
जाबालोपनिषद—जाबा० उप०
जिनाज्ञा उपकरण—जिन० उप०
जीवाभिगम—जीवा०
जैन तर्क भाषा—जैन तर्क०
जैन दर्शन का इतिहास—जैन० द० इ०
जैन भारती—जैन० भा०
जैन सिद्धान्त दीपिका—जैन० दी०
तर्क संग्रह—तर्क सं०
तत्वार्थ भाष्य—त० भा०
तत्वार्थ राजवार्तिक—तत्वा० रा०
तत्वार्थ वृत्ति—त० वृ०
तत्वार्थ बृहद् वृत्ति—त० बृ० वृ०
तत्वार्थ सार—त० सा०

तत्त्वार्थ सूत्र भाषानुसारिणी टीका—त० भा० टी०
तत्त्वानुशासन—तत्त्वा०
तन्दुवैयालीय—तन्दुवै०
तृतीय द्वात्रिंशिका—तृ० द्वा०
तैत्तरीयोपनिषद्—तैत० उप०
दशवैकालिक—दशवै०
दशवैकालिक चूर्णि—दशवै० चू०
दशवैकालिक निर्युक्ति—दशवै० नि०
दर्शन और चिन्तन—द० चि०
दर्शन विशुद्धि—द० वि०
दशाश्रुत स्कन्ध—दशा०
दीर्घ निकाय—दी०
देवेन्द्र सूरि कृत स्वोपज्ञ वृत्ति, गा०
द्रव्यानुयोग तर्कणा—द्रव्यानु० त०
द्रव्य संग्रह—द्रव्य० सं०
धर्मरत्न प्रकरण—धर्म० प्रक०
धर्मसंग्रह टीका—धर्म० सं०
नन्दी वृत्ति—नन्दी वृ०
नन्दी सूत्र—नं०
नववाड—न० वा०
नवभारत टाइम्स
नव सद्भाव पदार्थ—न० प०
नियमसार—नियं०
निरावलिका—निर०
निश्चय द्वात्रिंशिका—नि० द्वा०
निशीथ चूर्णि—नि० चू०
निशीथ सूत्र—निशी०
न्याय कारिकावलि—न्या० का०

न्याय सूत्र—न्या० सू०
न्यायालोक—न्या०
न्याय सिद्धान्त मुक्तावलि कारिका—न्या० सि० मु० क
पद्मानन्द महाकाव्य—पद० महा०
परमात्म प्रकाश —पर० प०
परिशिष्ट पर्व—परि० प०
पाइए भाषाओ अने साहित्य—पा० भा० सा०
पाइए सद महण्णवो—पा० स० म०
पातञ्जलयोग सूत्र—पा० यो०
पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय—पुरुषा०
प्रभाकर चरित्र—प्रभा० च०
प्रमाण नयतत्वालोकालंकार—प्र० न०
प्रमाण नयतत्व रत्नावतारिका—प्र० न० र०
प्रवचन सार—प्र० सा०
प्रवचनसार वृत्ति—प्र० वृ०
प्रश्न व्याकरण—प्रश्न०
प्रशम रति प्रकरण—प्र० र० प्र०
प्रज्ञापना—प्रज्ञा०
प्रज्ञापना वृत्ति—प्रज्ञा० वृ०
पंच संग्रह
पंचास्तिकाय—पंचा०
ब्रह्मभाष्य—ब्रह्म०
भगवती वृत्ति—भग० वृ०
भगवती सूत्र—भग०
भरतबाहुबलि महाकाव्य—भर० महा०
भारतीय प्राचीन लिपिमाला—भा० प्रा० लि० मा०
भारतीय मूर्तिकला—भा० मू०
भारतीय संस्कृति और अहिंसा—भा० सं० अ०

भाषा परिच्छेद—भा० प०
भिक्षु न्याय कर्णिका—भिक्षुन्याय०
मनुस्मृति—मनु०
महापुराण—महा पु०
महाभारत—महा० भा०
महावीर कथा—मह० क०
माध्यमिक कारिका—मा० का०
मीमांसा श्लोक वार्तिक—मी० श्लो० वा०
मुण्डकोपनिषद्—मुण्डकोप०
मुम्बई समाचार—मु०
युक्त्यानुशासन—युक्त्या०
योगशास्त्र-योग०
रत्नकरण्ड श्रावकाचार—रत्न० का०
राजप्रश्नीय-रा० प्र०
लघ्वर्हं नीति—लघ्व०
लघीयस्त्रय—लघी०
वात्स्यायन भाष्य—वा० भा०
विशेष शतक—वि० श०
विश्ववाणी—वि० वा०
विशेषावश्यक भाष्य—वि० भा०
विज्ञान की रूपरेखा—विज्ञा० रूप०
वीतरागस्तव—वीत०
वीतराग स्तोत्र—वी० स्तो०
बृहत्कल्प निर्युक्ति—वृ० नि०
बृहत्कल्प भाष्य—वृ० भा०
बृहदारण्योपनिषद्— बृह० उप०
वेदान्त सार—वे० सा०
वेदान्त सूत्र—वे० सू०

वैशेषिक दर्शन—वै० द०
व्यवहार—व्यव०
सन्मति तर्क प्रकरण—सन्म०
सन्मति प्रकरण टीका—सन्म० टी०
समयसार—समय०
समवायांग—सम०
समाचारी शतक—स० श०
सर्वार्थ सिद्धि—सर्वा० सि०
सांख्य कारिका—सां० का०
साहित्य सन्देश— सा० सं०
सांख्यतत्त्व कौमुदी-सां० कौ०
सुत्तनिपात—सु० नि०
सूत्र कृतांग—सू०
सूत्र कृतांग वृत्ति—सू० वृ०
सेन प्रश्नोत्तर—सेन०
स्थानांग वृत्ति—स्था० वृ०
स्थानांग सूत्र—स्था०
स्याद्वाद मञ्जरी—स्या० मं०
स्वरूप संबोधन—स्व० सं०
स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा—स्वा० का०
श्वेताश्वतरोपनिषद्—श्वेताश्व० उप०
शान्त सुधारस—शा० सु०
शास्त्र दीपिका— शा० दी०
श्रमण—श्र०
षट् दर्शन समुच्चय (लघु वृत्ति)—षट्० (लघु०)
षट् दर्शन समुच्चय (वृहद वृत्ति) षट्० (वृहद्०)
षट्पद प्राभृत—षट्० प्रा०
हारिभद्र अष्टक—हा० अ०

हिन्दी विश्व भारती—हि० भा०
हेम शब्दानुशासन—हेम०
त्रिषष्ठी श्लाका पुरुष चरित्र—त्रिषष्ठी०
ज्ञाता धर्म कथा—ज्ञाता०
ज्ञाता बिन्दु—ज्ञा० बि०
ज्ञानसार—ज्ञा० सा०

लेखक की अन्य कृतियां

जैन दर्शन के मौलिक तत्त्व (पहला भाग)
,, ,, (दूसरा भाग)
जैन परम्परा का इतिहास
जैन दर्शन में ज्ञान-मीमांसा
जैन दर्शन में प्रमाण-मीमांसा
जैन दर्शन में तत्त्व-मीमांसा
जैन दर्शन में आचार मीमांसा
जैन तत्त्व चिन्तन
जीव अजीव
प्रतिक्रमण (सटीक)
अहिंसा तत्त्व दर्शन
अहिंसा
अहिंसा की सही समझ
अहिंसा और उसके विचारक
अश्रु-वीणा (संस्कृत-हिन्दी)
आँखे खोलो
अणुव्रत-दर्शन
अणुव्रत एक प्रगति
अणुव्रत-आन्दोलन : एक अध्ययन
आचार्यश्री तुलसी के जीवन पर एक दृष्टि
अनुभव चिन्तन मनन
आज, कल, परसों
विश्व स्थिति
विजय यात्रा
विजय के आलोक में
बाल दीक्षा पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण
श्रमण संस्कृति की दो धाराएं
संबोधि (संस्कृत-हिन्दी)
कुछ देखा, कुछ सुना, कुछ समझा
फूल और अंगारे (कविता)
मुकुलम् (संस्कृत-हिन्दी)
भिक्षावृत्ति
धर्मबोध (३ भाग)
उन्नीसवीं सदी का नया आविष्कार
नयवाद
दयादान
धर्म और लोक व्यवहार
भिक्षु विचार दर्शन
संस्कृतं भारतीय संस्कृतिश्च